श्री रमण महर्षि से बातचीत

श्री रमण महर्षि से बातचीत

श्री रमण महर्षि से बातचीत

संग्रहकर्ता

श्री मुनगल एस० वैंकटरामैया

भूमिका लेखक

डा० टी० एम० पी० महादेवन

डायरेक्टर,

सेण्टर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन फिलोसोफी

मद्रास विश्वविद्यालय

प्रस्तावना लेखक

मेजर ए० डब्लू० चैडविक, ओ० बी० ई०

अनुवादक

श्री दिनेशचन्द्र शर्मा

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी

पुस्तक-प्रकाशक एवं विक्रेता : आगरा-३

संग्रहकर्ता की टिप्पणी

जीवन के एक अत्यन्त संकटपूर्ण एवं विपत्तिमय समय में एक विनम्र भक्त ने स्वयं अपने मन की शान्ति हेतु भगवान श्री रमण महर्षि के सान्निध्य में सर्वाधिकारी श्री निरंजनानन्द स्वामी की कृपापूर्ण अनुमति से आश्रम में निवास किया। साधक ने स्वतः ही गुरुदेव के आनन्दपूर्ण, शीतल एवं बोधप्रद वचनों का अवसरानुकूल संग्रह करना आरम्भ किया। यह स्वतः-आरोपित कार्य उसके अपने मन की शुद्धि एवं श्री भगवान के सूक्ष्म एवं गहन वचनों को भली-भाँति समझने हेतु किया गया। कुछ समय के पश्चात् सर्वाधिकारी ने अधिकृत रूप से यह संग्रह आश्रम हेतु ले लिया। १९३५-१९३९* से सम्बन्धित यह संग्रह वर्तमान संस्करण में इस आशा से इस ग्रन्थ में सम्मिलित किया जा रहा है जिससे कुछ पाठकों को अपनी आध्यात्मिक खोज में यह रोचक एवं सहायक हो।

श्री रमणाश्रम **संग्रहकर्ता**
१ जनवरी, १९५५

---

* वर्तमान हिन्दी संस्करण केवल ३० दिसम्बर, १९३७ तक है। अगले संस्करण में शेष भाग भी सम्मिलित किया जायगा।

भूमिका

मूलत: तीन* भागों में प्रकाशित वर्तमान ग्रन्थ सुविधा हेतु एक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वर्तमान संस्करण भी विश्व के जिज्ञासुओं द्वारा उसी श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक ग्रहण किया जायगा जिस प्रकार कि उनके द्वारा पूर्ववर्ती संस्करण किये गये। यह पुस्तक हलके-फुलके ढंग से पढ़कर एक ओर रख देने के लिए नहीं है। यह शाश्वत प्रकाश की ओर बढ़ने वाले तीर्थयात्रियों का निश्चित मार्गदर्शन करने में पूर्णतया समर्थ होगी।

१९३५ से १९३९† तक चार वर्षों की इन वार्ताओं को सुरक्षित रखने हेतु श्री मुनगल एस० वैंकटरामैया (अब स्वामी रामानन्द सरस्वती) के प्रति हम जितनी कृतज्ञता प्रदर्शित करें, कम है। जिन भक्तों को भगवान श्री रमण के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है, वे यह "वार्ता" पढ़ते ही स्वभावतया पूर्वस्मृतियों से परिपूर्ण हो जायेंगे और अपने मन में अंकित सद्गुरु द्वारा कहे गये वचनों को प्रेम से पुन: स्मरण करेंगे। इस तथ्य के बावजूद कि अरुणाचल के महान ऋषि ने अधिकतर मौन द्वारा उपदेश प्रदान किया था, उन्होंने वाणी द्वारा भी निर्देश दिया था, और वह भी स्पष्ट, अपने श्रोताओं के मन को निराश तथा मेघाच्छन्न किये बिना। ऐसी इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि श्री भगवान द्वारा कहे गये प्रत्येक शब्द भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रहते। परन्तु उनके द्वारा कहा गया जो कुछ भी लिपिबद्ध हो सका उसके लिए भी हम कृतज्ञ हैं। यह "वार्तालाप" महर्षि की "रचनाओं पर भी प्रकाश डालते हैं: और सम्भवत: यही उत्तम है कि उनका महर्षि की रचनाओं के साथ ही, जिनके अनुवाद उपलब्ध हैं अध्ययन किया जाय।

श्री रमण के उपदेश सामान्यतया नहीं दिये गये थे। वास्तव में महर्षि का 'व्याख्यानों' अथवा 'प्रवचनों' से कोई प्रयोजन ही नहीं था। महर्षि के शब्द मुख्यतया उस साधक के निमित्त होते थे जिसे अपने आध्यात्मिक मार्ग में कोई कठिनाई लगी और जो उसका समाधान खोजता था। चूँकि यही कठिनाइयाँ

---

* वर्तमान हिन्दी संस्करण में केवल दो भाग हैं। अगले संस्करण में तृतीय भाग भी सम्मिलित किया जायगा।

† वर्तमान हिन्दी संस्करण केवल ३० दिसम्बर, १९३७ तक है। अगले संस्करण में शेष भाग भी सम्मिलित किया जायगा।

आत्मा की खोज में उदय होती हैं तथा उनके समाधान की पद्धति भी वही है अतएव महर्षि के उत्तरों में सर्वसामान्यता का गुण है ।

सभी व्यक्ति उचित प्रश्न उक्त ढंग से नहीं पूछ सकते हैं । इसलिए सद्गुरु की यह "वार्ता" केवल उस प्रश्न का उत्तर ही नहीं है जैसे कि एक परीक्षा-पत्र में । उन्हें प्रायः उन शब्दों की पृष्ठभूमि में प्रवेश करना होता था जिनसे प्रश्न बनता है, तथा प्रश्नकर्ता को प्रश्न करने के विषय में भी ठीक करना होता था । और जब निरर्थक एवं असंगत प्रश्न पूछे जाते, वे प्रश्नकर्ता की व्यर्थ उत्सुकता की न तुष्टि करते और न उसकी भ्रान्तियों में उसकी पुष्टि ही करते । श्री रमण सम्भाषण करने वाले व्यक्ति को वहीं नहीं रहने देते जहाँ वह था । एक भक्त के अनुसार, "हमारे समस्त प्रश्न हमारे दृष्टि-बिन्दु के अनुसार हैं, तथा श्री भगवान के उत्तर उनके दृष्टि-बिन्दु से हैं । प्रश्नों का केवल उत्तर ही नहीं दिया जाता है अपितु उनको समाप्त ही कर दिया जाता है ।"

एक सन्त के समीप कोई भी व्यक्ति अनेक प्रकार के मनोभावों से युक्त होकर जा सकता है, सद्ज्ञान-विरोधी एवं संशयवादी, आस्तिक एवं नास्तिक, चमत्कारों को प्राप्त करने की चेष्टा करने वाले एवं मानसिक-दृश्यों के इच्छुक, सभी का महर्षि के समीप आगमन होता था । प्रत्येक दर्शक स्वाभाविक ही वही प्रश्न करता जो उसके मस्तिष्क में सर्वोच्च होते तथा प्रश्नों का स्वरूप व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण तथा अभिरुचि के अनुरूप होता । सद्गुरु का ऐश्वर्य इसमें निहित था कि वे भक्त की उन अभिरुचियों एवं वृत्तियों को समाप्त कर दें जो निकृष्ट थीं तथा भक्त में परम सत्य की अनुभूति प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत कर दें ।

आश्रम में आने वाले दर्शक प्रायः ही श्री रमण से चमत्कारिक शक्तियों एवं मानसिक-दृश्यों के विषय में प्रश्न करते रहते थे । क्या पारेन्द्रिय ज्ञान (telepathy) जैसी रहस्यमय शक्तियों का प्राप्त करना उत्तम नहीं है ? क्या अपनी देह को अदृश्य कर देने की शक्ति परिपक्व ज्ञान का चिह्न नहीं है ? क्या कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति के मन के भावों को जान सकता है ? इस प्रकार के समस्त प्रश्नों का गुरुदेव यही उत्तर देते थे कि रहस्यपूर्ण एवं अद्भुत शक्तियाँ आध्यात्मिक नहीं हैं । अतिसामान्य शक्तियाँ पूर्ण चैतन्य के मार्ग में सहायक होने की अपेक्षा अधिकतर बाधक ही हैं । कुछ प्रश्नकर्ताओं की अभिरुचि मृतकों के विषय में थी : मृतकों को क्या होता है ? क्या उनको देखा जा सकता है ? यहाँ फिर श्री रमण ने यही समझाया कि यह समस्याएँ असंगत हैं तथा सत्य की खोज करने वाले किसी भी साधक को इनसे सम्बद्ध नहीं होना चाहिए ।

एक सम्पन्न तथा विशिष्ट महिला दर्शक ने प्रश्न किया : "महाराज जी, क्या हम मृतकों को देख सकते हैं ?"

गुरुदेव का उत्तर था : 'हाँ ।' महिला ने पूछा : "क्या योगी उन्हें हमें दिखा सकते हैं ?"

गुरुदेव : "हाँ, सम्भवतया वे दिखा सकते हैं । किन्तु तुम उनको दिखाने के लिए मुझसे न कहो; क्योंकि मैं नहीं दिखा सकता ।"

महिला : 'क्या आप उनको देखते हैं ?'

गुरुदेव : "हाँ, स्वप्नों में ।"

श्री रमण का मुख्य उपदेश है : आत्म-विचार । यह तथा वह जानने की अपेक्षा आत्मा को जानने की खोज करो । सैकड़ों दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा पूछो "मैं कौन हूँ ?" आत्म-विचार सब कार्यों से सरल होना चाहिए । किन्तु यह कार्य सर्वाधिक कठिन हो गया है क्योंकि हम अपनी आत्मा से अनभिज्ञ हो गये हैं । व्यक्ति को जो करना है वह सरल है—आत्मभाव से रहना है । यही अन्तिम सत्य है । यही स्वयं की नित्य, सहज, अन्तर्निहित अवस्था है । अज्ञान के कारण हम अपने आपको अनात्मा से मिला लेते हैं । इन समस्त तादात्म्यताओं में सर्वाधिक सूक्ष्म तादात्म्य अहंकार (ego) के साथ है । हम अहंकार की जड़ की खोज करें । इस मिथ्या-मैं का उदय कहाँ से होता है ? खोज के अन्त में हमें ज्ञात होगा कि अहंकार अदृश्य हो जाता है तथा शाश्वत आत्मा ज्योतित हो रहा है । इस प्रकार श्रेष्ठ साधना यह खोज है : "मैं कौन हूँ ?" यही सबसे अधिक महान् जप है । यही वास्तविक प्राणायाम है । "मैं देह नहीं हूँ—" विचार (नाहम्) रेचक है, "मैं कौन हूँ—" खोज (कोहम्) पूरक है, "मैं वही हूँ—" साक्षात्कार (सोहम्) कुम्भक है । आत्म-विचार का फल यह अनुभूति होना है कि आत्मा ही सब कुछ है, तथा इससे अन्य कुछ भी नहीं है । जो साधक इस पद्धति का अनुसरण करते हैं उनके लिए अन्य किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं है । किन्तु भक्ति मार्ग के साधक भी उसी लक्ष्य को प्राप्त करते हैं । यदि जीव अपने अहंकार को किसी एक, गुरु अथवा ईश्वर को समर्पित करता है, वह आत्मा का साक्षात् कर लेता है ।

श्री रमण के उपदेश जो इन 'वार्ताओं' में हैं प्रत्येक व्यक्ति को आशावान करेंगे । किसी भी व्यक्ति को यह चिन्ता नहीं करनी है कि वह उद्धार की सीमा से परे है । एक वृद्ध अमरीकी दर्शक ने गुरुदेव से कहा, "महर्षि : क्या आप समझते हैं हम बुरे लड़के हैं ।" गुरुदेव का विशिष्ट उत्तर था : "मुझसे ऐसा न कहो । किन्तु तुम्हें यह विचार नहीं करना है कि तुम बुरे लड़के हो ।"

यदि हम केवल महर्षि के उन प्रज्ञावान् वचनों को सुनेंगे जो वर्तमान पुस्तक में अंकित है तो हम में जो कुछ भी बुराई है वह निश्चित ही दूर हो जायगी।

और हम इसका इस दृष्टिकोण से अध्ययन करें कि गुरुदेव के उच्चतर उपदेश को जो मौन के माध्यम से था समझने के लिए अपने आपको तैयार करें!

मद्रास विश्वविद्यालय **टी० एम० पी० महादेवन**
११ अगस्त, १९५८

प्रस्तावना

यह बातचीत १९३५-१९३९*, चार वर्षों की है जिसे श्री मुनगल एस० वैंकटरामैया (अब स्वामी रामानन्द सरस्वती) ने संग्रहीत किया था जो श्री रमण महर्षि के बहुत पुराने शिष्य हैं। जन्म से तेलुगू होते हुए भी वे धारा-प्रवाह अंग्रेजी तथा तमिल बोलते हैं तथा संस्कृत जानते हैं। श्री भगवान के साथ उनके अनेक शिष्यों तथा दर्शकों को बातचीत को जो भी अंकित करना चाहेगा उसके लिए ये सब योग्यताएँ आवश्यक हैं।

यहाँ जिन चार वर्षों का जिक्र है, ये वे दिन थे जब आश्रम अपनी कीर्ति के शिखर पर पहुँच गया था। महर्षि का स्वास्थ्य सामान्यतया अच्छा था और उनके बैठने का कक्ष दिन-रात सबके स्वागत के लिए खुला रहता था। दर्शक संसार के प्रत्येक स्थान से वहाँ जाते थे तथा कदाचित ही कोई देश ऐसा हो जहाँ के निवासी किसी न किसी समय वहाँ न आये हों। युद्ध ने स्वभावतया इस समागम में बाधा डाली यद्यपि भारतीय दर्शकों की संख्या स्थायी तौर से समय पाकर बढ़ती गयी। किन्तु ये वे वार्ताएँ थीं, अधिकांश में पाश्चात्य निवासियों के साथ, जो विशेषतया रोचक थीं। भौतिकवाद तथा अधर्म की आधुनिक प्रवृत्ति जिस पर पश्चिम प्रायः गर्व करता है, यहाँ उसे अपना प्रतिद्वन्दी मिला। श्री भगवान सूर्य के समान दमकते थे तथा जो व्यक्ति उन्हें समझने में तथा उनके शब्दों से सहमत होने में असमर्थ रहते थे वे भी उनके दर्शनों से मन्त्रमुग्ध एवं प्रसन्न हुए बिना नहीं रहते थे।

यद्यपि श्री वैंकटरामैया इस कार्य के लिए पूर्णतया सक्षम थे तथापि जब श्री भगवान एक बार बोलना आरम्भ करते तो उनको समझना कोई सरल कार्य नहीं था। उनको अपने विषय पर इतना अधिकार था कि वे चाहे किसी भी भाषा में बोलते उन्हें कभी भी शब्द का अभाव नहीं होता था; इसलिए कुछ लिपिबद्ध किया जा सकता था, श्रोता अत्यधिक एकाग्र रहते थे, उनका सारा प्रयास यह रहता था कि कहा हुआ एक भी शब्द उनसे छूट न जाये, उसमें यह बात भी सम्मिलित थी कि वह सदैव समझने में सरल भी नहीं था। यद्यपि श्री भगवान अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं को पर्याप्त रूप से भलीभाँति पढ़ लेते थे तथापि वे उस भाषा में थोड़े-से शब्दों से अधिक बोलने के अनि-

---

* वर्तमान हिन्दी संस्करण केवल ३० दिसम्बर, १९३७ तक है। अगले संस्करण में शेष भाग भी सम्मिलित किया जायगा।

च्छुक रहते थे। अतएव श्री वेंकटरामैया उन बहुत-से अंग्रेजी भाषा बोलने वाले लोगों के लिए दुभाषिये का कार्य करते थे जो आश्रम में दर्शन हेतु आते थे। किन्तु दुभाषिये का कार्य लिपिबद्ध करने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन था, शब्दों का प्रवाह इतना अविरत था कि उत्साही प्रश्नकर्ता को उनका अर्थ बताने के लिए बीच में अवकाश ही नहीं रहता था। प्रायः श्री भगवान से प्रतीक्षा करने के लिए प्रार्थना की जाती थी जिससे कि उत्सुक श्रोता को उनके शब्दों का अभिप्राय प्रकट किया जा सके। इस प्रकार इस वार्तालाप को लिपिबद्ध करने के कार्य की कठिनता का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है। केवल वही जो वर्षों तक सद्गुरु के श्री चरणों में बैठा है और जिसने उनके दर्शनशास्त्र को एवं जिस प्रकार उन्होंने उसका प्रतिपादन किया है उसको पूर्णतया आत्मसात कर लिया है वही इस कार्य के लिए समर्थ था। सौभाग्य से इस कार्य के लिए आदर्श व्यक्ति श्री वेंकटरामैया मिल गये थे।

यह स्वीकार किया जाता है कि यहाँ जिस भाषा का प्रयोग हुआ है वह सदैव ही प्रांजल नहीं है, इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही है; निस्सन्देह इसमें सुधार हो सकता था, किन्तु अधिकतर यह वैसे ही रहने दिया गया है जैसे था, क्योंकि यह अनुभव किया गया कि इसमें जो एक निश्चित स्वाभाविकता है वह सुधार करने से नष्ट हो जाती। यद्यपि बातचीत विभिन्न दक्षिण भारतीय भाषाओं में होती थी किन्तु उसका अधिकांश अंग्रेजी में अंकित किया गया तथा शेष अंश तमिल एवं तेलुगू में, जिन अंशों का कि वर्तमान पुस्तक हेतु अंग्रेजी में अनुवाद कर लिया गया था। पूरी लिखित वार्ता प्रायः प्रश्नकर्ताओं को दिखा दी जाती थी किन्तु सम्पूर्ण वार्तालाप को स्वयं श्री भगवान की स्वीकृति का प्रमाण प्राप्त था क्योंकि संगृहीत सामग्री उनके अनुमोदन अथवा डायरी में संगृहीत होने पर संशोधन हेतु श्री भगवान के समक्ष अवश्य ही प्रस्तुत की जाती थी। इस प्रकार हमें दृढ़ निश्चय है कि यहाँ हमें गुरुदेव के यथार्थ उपदेश उपलब्ध हैं, जिन्हें पढ़कर हम एक बार फिर प्राचीन कक्ष में उनके श्री चरणों में बैठते हैं एवं उनके अधरों से निकला हुआ प्रत्येक शब्द का पान करते हैं, उनकी मुस्कान एवं कोमल हाथों के संचलन एवं उनके कार्यों से प्रफुल्लित हो उठते हैं, चूँकि वे वास्तविक कलाकार थे, जो प्रसंग वह कहते थे उसे भलीभाँति समझाने के लिए उसका कुछ अंश प्रायः अभिनय रूप में प्रस्तुत करते थे।

सम्भवतया कुछ व्यक्ति इस पुस्तक की आलोचना करने को इस कारण से प्रवृत्त हों कि पुस्तक एकरूप है किन्तु यह कल्पित एकरूपता आयोजित है; वार्ताक्रम कितना भी समरूप हो, कुछ न कुछ नवीन भाव अवश्य दृष्टिगोचर

होता है। श्री भगवान एक सारभूत सत्य पर सदैव ही बल देते जो कि मुक्ति के लिए आवश्यक था, कि केवल एक आत्मा है तथा आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसे जान लो तो अन्य प्रत्येक वस्तु को जान लिया। इसे जितना दोहरायें कम है।

निस्सन्देह इस सत्य का बौद्धिक ज्ञान साधक को मार्ग पर लगा देता है, किन्तु एक बार जिस मार्ग पर चलना आरम्भ किया तब मानसिक ज्ञान वास्तविक अनुभव हो जाना चाहिए। किसी भी वस्तु को पूर्णतया जानने हेतु, केवल ऊपरी ही नहीं, व्यक्ति को वह वस्तु होना होगा अन्यथा ज्ञान अपूर्ण रहेगा। जैसा कि मैंने निर्देशन किया, हम सदैव ही केवल आत्मा हैं और कुछ भी नहीं, किन्तु अज्ञान की सीमितता तथा अहंकार से अपने आपको सम्बद्ध कर हम दृष्टा को भूल जाते हैं और अपने आपको दृष्य से मिला देते हैं। किन्तु हम उसके विषय में क्या कर सकते हैं? स्वभाव इतना अधिक पुराना है, जन्म के बाद जन्म की कल्पना कर ली गयी है, मन ने शताब्दी के पश्चात् शताब्दी की कल्पित रचना कर डाली है जिसने इस प्रकार उत्तरोत्तर अपने आपको अविद्या से अन्तर्ग्रस्त कर लिया है कि अब वह अपने आपको पराङ्मुख पाता है और यदि इच्छा भी हो तो भी स्वतः निर्मित लीला-जगत के बन्धन से अब अपने आपको मुक्त करने में प्रायः असमर्थ है।

वे हमसे कहते हैं, तुम आत्मा हो, आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं; अन्य सब वस्तुएँ केवल कल्पना हैं, अतः अभी और यहीं आत्मा होकर रहो। वन की ओर भागने अथवा अपने को कमरे में बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। अपने आवश्यक कार्यों को करते रहो, किन्तु स्वयं को उसके कर्ता के संसर्ग से मुक्त कर लो। आत्मा साक्षी है, तुम वही हो।

इन वार्ताओं में सभी अभिरुचियों तथा मनोवृत्तियों के अनुरूप भाषा में उदाहरण के बाद उदाहरण दिये गये हैं। पुस्तक का अध्ययन स्वतः ही व्यक्ति को अन्तर्मुखी कर स्रोत की ओर प्रेरित करता है। यह भी अपने आप में पर्याप्त साधना है। स्वयं को भ्रान्त न करो, तुम वही हो, इससे अधिक कुछ भी उपलब्ध नहीं करना है, केवल असत्य संसर्ग को त्यागना है, सीमितता को भ्रान्तिजनक स्वीकार करना है।
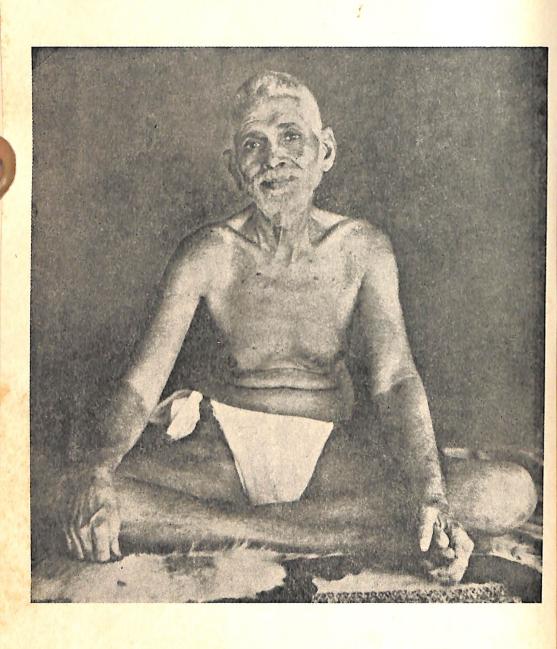
यह करने की उनकी पद्धति सर्वविदित है : आत्म-विचार। सदैव तथा प्रत्येक क्षण अहंकार, प्रत्यक्ष कर्ता, के स्रोत का अनुसन्धान करो और उस लक्ष्य को प्राप्त करने पर, वे हमें बताते हैं, अहंकार स्वतः ही लुप्त हो जायगा तथा सर्व-आनन्दपूर्ण आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहेगा।

किन्तु उस पद्धति के विस्तार में जाने का यह स्थान नहीं है; जिन्हें अभिरुचि हो वे श्री रमणाश्रम से आवश्यक पुस्तकें सरलता से प्राप्त कर सकते हैं ।

सबको केवल यही परामर्श देने के अतिरिक्त कि इस पुस्तक का अध्ययन करें और इसे अपने जीवन का अंग बनाने का प्रयास करें, इससे अधिक क्या कहा जाय ? एक शब्द भी नगण्य न समझा जाय, न एक भी वार्ता अनावश्यक मानी जाय । यह सब शुद्ध स्वर्ण है । और यहाँ फिर हमें शाश्वत श्री रमण महर्षि का अपने समक्ष देह में साक्षात्कार होता है जो अपनी अनुपम वाणी से हमारे लाभ तथा आनन्द हेतु हमें शिक्षण दे रहे हैं ।

इस पुस्तक को प्रेस के लिए तैयार किये जाने पर पाया गया कि प्रथम भाग काल-क्रमानुसार नहीं था, किन्तु प्रकाशन में विलम्ब करने की अपेक्षा यह निश्चय किया गया कि वर्तमान क्रम में कोई परिवर्तन न किया जाय चूँकि इससे सन्दर्भ में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता । दिनांक केवल सन्दर्भ हेतु तथा प्रामाणिकता के विश्वास हेतु ही सम्मिलित किये गये हैं ।

श्री रमणाश्रम — **साधु अरुणाचल**

१ जनवरी, १९५५ — **मेजर ए० डब्लू चैडविक, ओ० बी० ई०**

प्रथम भाग

(पृष्ठ १ से १९७ तक)

द्वितीय भाग

(पृष्ठ १९८ से ४२६ तक)

१५ मई, १९३५

१. एक संन्यासी अपनी शंका का समाधान करने का प्रयास कर रहा था : "यह अनुभूति कैसे हो कि सारा जगत ही ब्रह्म है ?"

म० : यदि तुम्हारी दृष्टि ज्ञानमयी हो जाय तो तुम्हें समग्र संसार ब्रह्म भासित होगा । ब्रह्मज्ञान के बिना तुमको ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व का अनुभव कैसे हो सकता है ?

२. किसी व्यक्ति ने इन्द्रियानुभूति के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा ।

म० : जिस अवस्था में भी व्यक्ति होता है इन्द्रियानुभूति वही रूप ग्रहण कर लेती है । इसकी वास्तविकता इस प्रकार है कि जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर स्थूल नाम रूपों की अनुभूति करता है; स्वप्न में सूक्ष्म शरीर काल्पनिक सृष्टि तथा उसके विविध नाम रूपों की अनुभूति करता है; सुषुप्ति में देह का भान नष्ट हो जाने से वहाँ कोई अनुभूति नहीं होती है । इसी प्रकार गुणातीत अवस्था में ब्रह्म से एकत्व का भान मानव का अखिल जगत से तादात्म्य करा देता है तथा वहाँ उसकी आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता ।

३. आनन्द की अनुभूति के सम्बन्ध में एक प्रश्न किया गया ।

म० : यदि कोई व्यक्ति यह माने कि उसकी प्रसन्नता का हेतु बाहर के साधनों एवं पदार्थों की प्राप्ति में है तो यह निष्कर्ष निकलता है कि वह प्रसन्नता सम्पत्ति की वृद्धि तथा ह्रास से अनुपातत: बढ़नी अथवा कम होनी चाहिए । इसी तर्क से उसकी सम्पत्ति के रहित होने की अवस्था में उसके आनन्द की समाप्ति हो जानी चाहिए । मनुष्य का वास्तविक अनुभव क्या है ? क्या उससे उक्त तर्क की पुष्टि होती है ?

गहरी निद्रा में मनुष्य के पास कोई भी सम्पत्ति नहीं होती, यहाँ तक कि उसे अपनी स्वयं की देह का भी भान नहीं रहता । किन्तु तब आनन्द शून्यता के स्थान पर वह बड़े आनन्द का अनुभव करता है । प्रत्येक व्यक्ति प्रगाढ़ निद्रा की इच्छा करता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आनन्द मनुष्य के अन्दर की वस्तु है, वह आनन्द किसी बाहरी वस्तु पर निर्भर नहीं है । शुद्ध आनन्द के भण्डार की प्राप्ति के लिए अपनी आत्मा का साक्षात्कार परम आवश्यक है ।

४. एक शिक्षित नवयुवक ने प्रश्न किया :

"आप कैसे कहते हैं कि हृदय दायीं ओर स्थित है, जबकि 'जीव-विज्ञान' के विद्वानों ने उसको बायीं ओर पाया है ?" युवक ने इसका प्रमाण माँगा ।

म० : ऐसा ही है । हृदय का स्थूल अंग बायीं ओर है । इसका निषेध नहीं है । पर मैं जिस हृदय की बात कह रहा हूँ वह सूक्ष्म हृदय है तथा वह दायीं ओर ही है । यह मेरा अनुभव है । मुझे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । फिर भी तुम मलयालम भाषा के एक आयुर्वेद के ग्रन्थ में तथा 'सीता उपनिषद' में प्रमाण ढूँढ़ सकते हो । महर्षि ने उपनिषद का मन्त्र दिखा दिया तथा आयुर्वेद की पुस्तक का श्लोक उद्धृत कर दिया ।

५. श्री एम० फ्रायडमैन एक इंजोनियर ने अनुग्रह पर अपने विचार प्रकट किये : "नमक की गुड़िया यदि सागर में डुबकी लगाये तो एक बरसाती कोट भी उसको सुरक्षित नहीं रख पायेगा ।"

उपमा बहुत उपयुक्त थी तथा इसकी काफी प्रशंसा की गयी । महर्षि ने कहा, "देह ही तो वह बरसाती है ।"

६. एक संन्यासी ने मन की व्याकुलता से निवृत्ति का उपाय जानना चाहा ।

म० : तुम अपनी स्वयं की आत्मा को भुलाकर ही बाहर के पदार्थों की अनुभूति करते हो । यदि तुम दृढ़तापूर्वक आत्म-भाव में स्थित रहोगे तो तुम्हें बाह्य जगत भासित नहीं होगा ।

७. जब प्रश्न पूछा गया कि क्या ईश्वरत्व की प्राप्ति के साथ ही सिद्धियों की प्राप्ति भी सम्भव है जैसा कि 'दक्षिणमूर्ति अष्टकम्' के अन्तिम पद्य में लिखा है । महर्षि ने उत्तर दिया : "पहले ईश्वरत्व प्राप्त कर लो और तब दूसरा प्रश्न पूछ सकते हो ।"

८. क्या किसी मन्त्र के अनायास उच्चारण से कोई व्यक्ति कुछ लाभ उठा सकता है ?

म० : नहीं । मन्त्र जाप करने वाला इसका अधिकारी तथा मन्त्र की दीक्षा प्राप्त होना चाहिए । महर्षि ने प्रमाणस्वरूप यह दृष्टान्त दिया—एक राजा अपने प्रधान मन्त्री के निवास-स्थान पर गया । राजा को सूचना दी गयी कि प्रधान मन्त्री मन्त्र के जाप में व्यस्त हैं । प्रतीक्षा करने के उपरान्त प्रधान मन्त्री के उपस्थित होने पर राजा ने जाप के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की । प्रधान मन्त्री ने सूचित किया कि मैं सर्वोत्कृष्ट मन्त्र गायत्री का जाप कर रहा था । राजा ने प्रधान मन्त्री से मन्त्र की दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की । परन्तु प्रधान मन्त्री ने राजा को दीक्षा देने में अपनी असमर्थता बतायी । तदुपरान्त राजा ने अन्य किसी व्यक्ति से गायत्री मन्त्र जान लिया तथा मन्त्री के

मिलने पर उसके समक्ष गायत्री मन्त्र उच्चारण कर मन्त्र की शुद्धता के सम्बन्ध में जानना चाहा। मन्त्री ने कहा कि मन्त्र शुद्ध होते हुए भी उन्हें स्वयं यह बात भी कहने का अधिकार नहीं है। जब उसका कारण बताने का आग्रह किया गया तब मन्त्री ने समीप खड़े एक सेवक को बुलाकर राजा को कैद कर लेने का आदेश दिया। आदेश का पालन नहीं किया गया। पुनः आदेश को अनेक बार दोहराया गया किन्तु उसका पालन नहीं हुआ। राजा बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने उसी सेवक को आदेश दिया कि वह मन्त्री को गिरफ्तार कर ले। सेवक ने आदेश का तुरन्त ही पालन कर दिया। मन्त्री ने हँसकर कहा कि मैंने आपकी जिज्ञासा का उत्तर प्रस्तुत कर दिया है। "वह किस प्रकार ?" राजा ने पूछा। "दोनों बार आदेश समान ही था तथा पालनकर्ता भी वही था, किन्तु आदेशकर्ता भिन्न-भिन्न थे। जब मैंने आदेश दिया तब उसका परिणाम कुछ नहीं हुआ, जबकि आप द्वारा दिये गये आदेश का तुरन्त पालन किया गया। मन्त्रों के विषय में भी इसी प्रकार है।"

९. किसी ने पूछा—धार्मिक ग्रन्थों में ज्ञानी को बालक के समान क्यों बताया गया है ?

म० : एक प्रकार से बालक तथा सन्त (ज्ञानी) समान ही हैं। बालक को बाह्य जगत की घटनाओं से तभी तक सम्बन्ध है जब तक कि घटनाएँ घट रही हैं। घटनाओं के समाप्त होते ही बालक उनका विचार नहीं करता। इससे यह स्पष्ट है कि घटनाएँ बालक पर कोई प्रभाव नहीं छोड़तीं तथा मानसिक रूप से वह उनसे प्रभावित नहीं होता। ज्ञानी के साथ भी ऐसा ही है।

१०. एक सज्जन ने प्रश्न किया कि महर्षि के निर्देशों के अनुसार उनकी पुस्तक 'सत्य निदर्शन'* पद्य ९ पूरक में अंकित पद्धति से आत्म-साक्षात्कार किस प्रकार किया जाये। सारी कठिनाई मन को वश में करने की थी।

म० : यह प्राणायाम द्वारा सम्भव है। यदि तुम बिना दूसरे की सहायता के स्वयं ही प्राणायाम का अभ्यास करो तो मन वश में हो जायेगा। एवं किसी सत्पुरुष के सान्निध्य में भी मन स्वाभाविक ही उनके प्रभाव से वश में हो जाता है। ज्ञानी के संग (सत्संग) की यही महानता है।

११. क्या प्रारब्ध (कर्म) कभी समाप्त हो सकता है ?

म० : कर्मों में ही उनके नाश के बीज विद्यमान रहते हैं।

१२. एक व्यक्ति ने महर्षि से निवेदन किया कि वे कुछ कहें। यह पूछे जाने पर कि वह क्या जानना चाहता है, उसने कहा कि वह कुछ भी नहीं जानता है, तथा महर्षि से कुछ श्रवण करना चाहता है।

---

* *Truth Revealed*

म० : तुम जानते हो कि तुम कुछ नहीं जानते। उसी ज्ञान को खोज लो। यही मोक्ष (मुक्ति) है।

६ जनवरी, १९३५

१३. एक अंग्रेज महिला श्रीमती एम० ए० पिगॉट जिन्होंने 'गुप्त भारत की खोज' पढ़ रखा था, महर्षि के दर्शनार्थ आयीं। दुभाषिये का कार्य करने के लिए एक शिष्य का प्रबन्ध किया गया। उस समय हॉल में बहुत-से दर्शनार्थी उपस्थित थे जिनमें बच्चों सहित कुछ स्त्रियाँ भी थीं। हॉल में शोरगुल हो रहा था। अन्ततः शान्ति स्थापित हो गयी। अचानक महर्षि, जो शून्य में देखते हुए प्रतीत होते थे, धीमे स्वर में बोलते हुए सुने गये, "बन्दर!" दरवाजे में तब एक शिशु का पता लगा (जिसकी माता को द्वार के उस ओर बैठे होने से उसकी जानकारी नहीं थी) तथा एक विशाल वानर पिछले पैरों पर खड़ा होकर बालक को दोनों हाथों से प्यार से थपथपा रहा था पर किंचित भी उसे क्षति नहीं पहुँचा रहा था। महर्षि के समक्ष दोनों ही एक-दूसरे से प्रेम का व्यवहार कर रहे थे। महर्षि के शब्द को सुनकर बन्दर सीधा उछलकर गायब हो गया। इस घटना ने अंग्रेज महिला को बहुत प्रभावित किया।

७ जनवरी, १९३५

श्रीमती पिगॉट का प्रथम प्रश्न था, "क्या साक्षात्कार के लिए गुरु की आवश्यकता है ?"

म० : साक्षात्कार होने में उपदेश, प्रवचन तथा ध्यान की अपेक्षा गुरु-कृपा ही विशेष परिणाम करती है। उपरोक्त तो गौण सहायक हैं, प्रारम्भिक एवं मुख्य कारण तो गुरु-कृपा ही है।

भक्त : आत्म-साक्षात्कार में कौनसी बाधाएँ रुकावट करती हैं ?

म० : बाधाएँ मन की आदतों (वासनाओं) की हैं।

भक्त : मन की आदतों (वासनाओं) पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाय ?

म० : आत्म-साक्षात्कार द्वारा।

भक्त : यह तो एक दूषित चक्र हुआ।

म० : इन कठिनाइयों को अहम् भाव (देहाभिमान) उत्पन्न करता है, बाधाएँ उत्पन्न करता है और फिर वह अवास्तविक विरोधाभासों से दुःखी होता है। यह मालूम करो कि जिज्ञासाएँ कौन करता है, तो आत्मा की अनुभूति हो जायेगी।

भक्त : साक्षात्कार में किन से सहायता मिल सकती है ?

म० : शास्त्रों तथा सत्पुरुषों द्वारा दी गयी शिक्षाओं से।

भक्त : क्या ये शिक्षाएँ चर्चा, प्रवचन तथा ध्यान भी हो सकती हैं ?

म० : हाँ, किन्तु ये सब गौण हैं, मुख्य तो केवल गुरु-कृपा ही है।

भक्त : उसकी प्राप्ति में कितना समय लग सकता है ?

म० : यह तुम क्यों जानना चाहते हो ?

भक्त : जिससे मुझे आशा बनी रहे।

म० : ऐसी इच्छा भी एक बाधा है। आत्मा सदैव ही है। उससे अन्य कुछ भी नहीं। आत्मभाव से रहो, इच्छाएँ तथा संशय निवृत्त हो जायेंगे। यह आत्मा सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं की साक्षी है। ये अवस्थाएँ 'अहम् भाव' (मैं शरीर हूँ) की होती हैं। आत्मा उस अहम् भाव से भी परे है। क्या तुम निद्रा में नहीं थे ? क्या उस समय तुम्हें यह भान था कि तुम सो रहे हो तथा संसार से अनभिज्ञ हो ? जागने पर ही तुम निद्रित अवस्था का यह वर्णन करते हो कि वहाँ कुछ पता नहीं था। इसलिए निद्रा तथा जाग्रत दोनों अवस्थाओं में एक ही चेतन है। यदि तुम जाग्रत अवस्था के चेतन को समझ लोगे तो तुम तीनों अवस्थाओं में साक्षी रूप चेतन को जान लोगे। निद्रा के चेतन के अनुसन्धान से भी उक्त चेतन की प्राप्ति हो जायगी।

भक्त : उस अवस्था में तो मुझे निद्रा आ घेरती है।

म० : कोई हानि नहीं !

भक्त : वह तो शून्यता है।

म० : शून्यता किसके लिए ? इसे मालूम करो। अपने स्वयं का निषेध तुम कभी नहीं कर सकते। आत्मा सर्वत्र है तथा सब अवस्थाओं में विद्यमान रहती है।

भक्त : क्या मुझे निद्रित की भाँति रहते हुए भी सचेत रहने का प्रयास करना चाहिए ?

म० : हाँ ! सचेत रहना ही जाग्रत अवस्था है। अतः उक्त अवस्था निद्रा की न होकर निद्रारहित निद्रा की होगी। किन्तु यदि तुम विचारों के वशीभूत हो गये तो वे तुमको भटकाकर भूल-भूलैया में फँसा देंगे।

भक्त : तो मुझे लौटकर अपने विचारों के मूल स्रोत की खोज करनी चाहिए।

म० : निश्चय ही। इस प्रक्रिया से विचार लुप्त हो जायेंगे तथा केवल आत्मा ही रह जायगी। वास्तव में आत्मा में कोई आन्तर अथवा बाह्य नहीं है। ये भी अहम् से ही उदय होते हैं। आत्मा शुद्ध एवं पूर्ण है।

भक्त : यह तो केवल बुद्धि से समझ में आ गया। क्या बुद्धि साक्षात्कार में सहायक नहीं होती ?

म० : हाँ, किसी अवस्था तक तो होती है। फिर भी यह जानना होगा कि आत्मा बुद्धि से भी परे है—तथा आत्मा तक पहुँचने के लिए स्वयं बुद्धि को भी लोप होना होगा।

भक्त : क्या मुझे साक्षात्कार होने से अन्य व्यक्ति भी लाभान्वित होंगे ?

म० : हाँ, अवश्य होंगे। यही सर्वोत्कृष्ट परोपकार है। किन्तु लाभ पहुँचाने के लिए अन्य कोई है ही नहीं। आत्मज्ञानी आत्मा को उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार एक स्वर्णकार भिन्न-भिन्न आभूषणों में केवल स्वर्ण का मूल्य ही आँकता है। जब तक तुम स्वयं को देह से एकत्व किये हुए हो तभी तक रूप एवं आकार विद्यमान हैं। परन्तु देहाभास से परे होते ही तुम्हारे शरीर भाव के साथ-साथ अन्य भी लुप्त हो जाते हैं।

भक्त : क्या पौधों, वृक्षों आदि के साथ भी यह अनुभव होता है ?

म० : क्या ये वस्तुएँ आत्मा से कोई पृथक अस्तित्व रखती हैं ? इसे मालूम करो। तुम्हारे मन में विचार उठता है कि तुम उन वस्तुओं को देखते हो। यह विचार आत्मा से ही उदय होता है। यह खोज करो कि यह विचार किस मूल स्रोत से उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार विचारों का उठना बन्द हो जायेगा तथा केवल आत्मा रह जायगी।

भक्त : मैं सिद्धान्त रूप से ही समझ पाया हूँ। किन्तु विचार प्रवाह तो चल ही रहा है।

म० : हाँ ! यह सब चलचित्र के खेल की भाँति है। वहाँ पर्दे पर प्रकाश विद्यमान है तथा चलती छायाएँ दर्शकों को नाट्य-क्रिया के रूप में प्रभावित करती रहती हैं। यदि उक्त फिल्म में दर्शक समूह भी दिखाया जाय तो भी इसी प्रकार प्रभाव पड़ेगा। तब दृष्टा तथा दृश्य दोनों ही पर्दे पर रहेंगे। इस दृष्टान्त को स्वयं पर घटाकर देखो। तुम पर्दा हो। आत्मा ने अहम् को जन्म दिया है। अहम् के साथ संकल्प उत्पन्न हो गये हैं। ये संकल्प ही संसार, वृक्ष, पौधों के रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं जिनके सम्बन्ध में तुम जिज्ञासा कर रहे हो। यथार्थ में आत्मा से भिन्न यह सब कुछ भी नहीं। यदि तुम आत्मा का साक्षात्कार कर लो तो तुम सब में उसे ही देखोगे, सदैव एवं सर्वत्र केवल आत्मा की ही सत्ता है, अन्य किसी भी वस्तु की नहीं।

भक्त : हाँ, केवल सिद्धान्ततः तो मेरी समझ में आ गया। किन्तु उत्तर निश्चय ही सरल, सुन्दर तथा समझ में आने योग्य है।

म० : "मैं साक्षात्कार नहीं कर रहा" यह विचार भी बाधक है। वास्तव में केवल आत्मा है।

८ जनवरी, १६३५

१४. एक बूढ़ा व्यक्ति आकर हॉल में बैठ गया। महर्षि 'अरुणाचल, अक्षर मनमलय' (अरुणाचल के प्रति पाँच स्तोत्रों में से प्रथम) शर्मा द्वारा सम्पादित संस्कृत संस्करण का पाठ कर रहे थे। वृद्ध पुरुष ने धीरे से पूछा, "ऐसा कहा जाता है कि आत्म-साक्षात्कार का शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता है तथा साक्षात्कार का शब्दों में जो भी वर्णन होता है वह सदैव ही अधूरा है। ऐसा कैसे है ?"

म० : इस विषय पर 'अरुणाचल अष्टकम्' के तृतीय पद्य में चर्चा की गयी है। उसमें यह तो माना गया है कि साक्षात्कार का वर्णन असम्भव है किन्तु इसके अस्तित्व का संकेत अवश्य मिलता है।

इसके तुरन्त पश्चात उस व्यक्ति में भावावेश के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। उसकी श्वास प्रक्रिया गहरी एवं भारी हो गयी तथा उसने नम्रतापूर्वक भूमि पर साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया एवं एक-दो मिनट पश्चात ही उठ पाया। कुछ समय तक शान्त रहकर वह चला गया। स्पष्ट है, उस व्यक्ति को ज्ञान के प्रकाश का कुछ न कुछ अनुभव अवश्य ही प्राप्त हुआ था। वह महर्षि से उसकी पुष्टि कराने आया था। महर्षि ने ठीक प्रकार से उसका समाधान किया। अपने अनुभव की पुष्टि पाकर तथा इसे ईश्वरीय निर्देश समझ उसने अपनी भावपूर्ण कृतज्ञता प्रकट की थी।

१५. उपनिषद के एक वाक्य 'सर्वोत्तम सत्ता (ब्रह्म) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म एवं संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु से भी बड़ी है' का क्या अर्थ है ?

म० : परमाणु की बनावट की खोज भी मस्तिष्क ने ही की है। इससे सिद्ध है कि मन परमाणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म है और मन से भी परे जो जीव-आत्मा है वह मन की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर है। इसके अतिरिक्त तमिल सन्त मणिक वाचगर ने सूर्य के प्रकाश में तैरते धूल-कणों के लिए कहा है कि यदि प्रत्येक कण एक ब्रह्माण्ड का द्योतक हो तो पूरी सूर्य की ज्योति सर्वोत्तम सत्ता (ब्रह्म) की द्योतक होगी।

१६ जनवरी, १६३५

१६. श्री डगलस एन्सली (श्री ग्रांट डफ) जो एक सम्भ्रान्त एवं सम्पन्न अंग्रेज थे तथा ७० वर्ष की आयु के थे, आये। वे मद्रास के एक भूतपूर्व गवर्नर के भतीजे थे, लेखक व कवि भी थे एवं एथेन्स, पेरिस तथा हेग में अंग्रेज दूतावासों से सम्बन्धित रहे थे एवं मद्रास में राजकीय आवास में मेहमान बनकर पधारे थे। वे महर्षि के दर्शनार्थ पाल ब्रंटन का परिचय-पत्र लेकर आये। दूसरे दिन वे पुनः आये तथा हॉल में एक घण्टे से कुछ कम समय तक रुके। दोनों दिन आपस में सम्भवतया कोई वार्तालाप नहीं हुआ। दोनों ओर से केवल

दृष्टियों का ही मिलन हुआ। स्वभाव से वे बहुत संयमी हैं; वे एक बजे अपराह्न तक बिना किसी प्रकार के भोजन के रहते हैं तथा तदुपरान्त भोजन करते हैं। संध्या को केवल कॉफी तथा बिस्कुट ग्रहण कर रात्रि में फिर बिना किसी अन्य भोजन के विश्राम को चले जाते हैं। प्रारम्भ से ही अविवाहित रहे हैं, खाली पेट कुछ मील रोज पैदल घूमते हैं, बहुत कम बोलते हैं तथा व्यवहार में बहुत सौम्यता है। उनकी आवाज धीमी तथा कोमल है और उनके शब्द हृदय से निकलते प्रतीत होते हैं। उनके मित्रों में स्वर्गीय सर जॉन वुडरोफ, सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन तथा प्रोफेसर टॉमस, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर, गिने जा सकते हैं। उन्होंने वेदों के श्रवण की इच्छा प्रकट की। सोमवार को रीगा नगर से एक पत्र आया जिसमें पूछे गये प्रश्न वे ही निकले जो कि इस यूरोपवासी अतिथि ने पूछे थे। प्रश्न दिवंगत आत्माओं के सम्बन्ध में थे तथा उनकी सर्वोत्तम सेवा क्या हो सकती है।

रीगा भेजा गया पत्रोत्तर उन्हें भी पढ़कर सुनाया गया। उनके समक्ष महर्षि कृत सत्योद्घाटन (*Truth Revealed*) के तमिल गान तथा वेदों का पाठ किया गया। यह गायन उनको अत्यधिक सुन्दर लगा। अगले दिन अपराह्न में वे महाशय पुनः आये तथा उन्होंने गत रात्रि के स्वयं के अनुभव का महर्षि के समक्ष वर्णन किया जिसे सुनकर उपस्थित व्यक्ति आश्चर्यचकित हुए। अनुभव यह था कि उन्होंने दाहिनी ओर हृदय के केन्द्र में विद्युत तुल्य प्रकाश का अनुभव किया था। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हें अपने अन्दर दैदीप्यमान सूर्य के दर्शन हुए। महर्षि किंचित मुस्कराये तथा उन्होंने उनके समक्ष 'आतम-विद्या' (*Self Knowledge*) के अनुवाद को पढ़वाकर सुनाया जिसके एक गूढ़ कथन में अंकित है कि साक्षात्कार आत्मपद की प्राप्ति है जो कि चिद्व्योमन का विस्तार है। यह मन से भिन्न है, जो कि चित्तव्योमन का विस्तार है। इस स्पष्टीकरण से वे प्रभावित हुए।

उन महाशय के बारे में महर्षि ने बाद में कहा, "जरा विचार करो एक ७० वर्ष की आयु का व्यक्ति अपनी अर्जित धन-राशि से अपने घर में शान्ति से जीवनयापन करना पसन्द न करे! उसकी कितनी तीव्र लगन है कि वह अपनी मातृभूमि को छोड़कर छह हजार मील की समुद्र यात्रा का साहस करे तथा भाषा से अनभिज्ञ, अकेलेपन के संकट झेलता, सख्त गर्मी भुगतता, विदेश के अपरिचित, सुविधारहित वातावरण में लम्बी रेलयात्रा करे। अपने घर में वह सुख से रह सकता था। आन्तरिक शान्ति की खोज की इच्छा ही उसे यहाँ तक खींच लायी है।" लोग कह रहे हैं कि बिलकुल सत्य है। यह उसकी लगन की तीव्रता ही तो है कि आगमन के चार दिन के अन्दर ही उसे दिव्य अनुभव हो गया।

जहाँ तक दिवंगत आत्माओं का प्रश्न है, जब तक मनुष्य स्वयं को स्थूल शरीर से युक्त समझता रहता है, यह विचार स्थूल रूप ग्रहण कर उसको वास्तविक भासता रहता है। इस कल्पना के कारण कि उसका शरीर दूसरे शरीर से उत्पन्न हुआ है, उसके स्वयं के शरीर की भाँति अन्य व्यक्तियों के शरीर भी उसे वास्तविक प्रतीत होते हैं। अपनी सन्तान के विद्यमान रहने से तथा उसके यह समझने से कि उसे अन्य व्यक्ति ने जन्म दिया है, जीव मृत्योपरान्त भी विद्यमान रहता है—चूँकि वह पहले भी रह चुका है। इन परिस्थितियों में परलोक भी सत्य है तथा उनके लिए प्रार्थना करने से दिवंगत आत्माओं का उपकार होता है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरे प्रकार से विचार करें तो एकमात्र सत्य आत्मा ही है जिससे अहम् उत्पन्न होता है जिसमें कि पूर्व जन्म कृत संस्कारों के बीज संगृहीत होते हैं। अहम् भाव, संस्कार वृत्ति तथा भौतिक इन्द्रियों को आत्मा ही प्रकाशित करता है। इस कारण से इन्द्रियों की संस्कार वृत्ति ही जगत रूप में भासित होती है तथा उसके अहम् को भी ऐसा ही प्रतीत होता है, जो कि आत्मा का ही प्रकाश है। अहम् स्वयं आत्मा को भूलकर शरीर को ही अपना अस्तित्व मानता है इस असावधानी का परिणाम है अज्ञान, अन्धकार एवं वर्तमान जीवन के कष्ट-क्लेश। आत्मा से अहम् की उत्पत्ति तथा अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति ही जन्म है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का जन्म उसकी माता की मृत्यु का कारण बनता है। अपनी माँ को पुनः प्राप्त करने की वर्तमान आकांक्षा वास्तव में आत्मा की पुनः प्राप्ति की आकांक्षा है जो स्वयं की प्राप्ति अथवा अपने मिथ्या अहम् की मृत्यु से भिन्न नहीं है। यह स्वयं को मातृ चरणों में समर्पण करना है जिससे कि वह अमर रहे।

तदुपरान्त महर्षि ने 'योग वाशिष्ठ' के तमिल संस्करण में से दीर्ग तपसी का प्रसंग पढ़कर सुनाया जिसके पुण्य एवं पाप नामक दो पुत्र थे। माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर छोटी सन्तान शोकातुर हुई जिसे कि उसके बड़े भाई ने सान्त्वना देते हुए समझाया : "हमारे माता-पिता की मृत्यु का शोक क्यों करते हो ? मैं बताता हूँ वे कहाँ हैं। वे केवल हम में ही हैं तथा वे हम ही हैं। जिस प्रकार सरिता की धारा पाषाण, गड्ढे, बालुका तथा ऊँची-नीची भूमि पर होकर बहते हुए भी अप्रभावित रहती है। सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु तो अहम् भाव के मृग-जल में भासित हो रही जल की धारा पर लहरें मात्र हैं। एकमात्र सत्य तो आत्मा ही है जिससे अहम् उदय हुआ तथा जो संकल्पों के प्रवाह से सृष्टि के रूप में प्रकट होती है जहाँ माता-पिता मित्र एवं सुहृद उत्पत्ति तथा विनाश को प्राप्त होते हैं। वे और कुछ नहीं केवल आत्मा का ही प्रकाश हैं और इस प्रकार किसी के माता-पिता आत्मा से पृथक नहीं। इस कारण शोक निरर्थक है। यह जान लो, इसकी अनुभूति कर लो और प्रसन्न रहो।"

२४ जनवरी, १९३५

१७. ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एक अंग्रेज रिसर्च स्कॉलर श्री एम० वाई० इवांस-वैंज श्री ब्रंटन का परिचय-पत्र लेकर दर्शनार्थ आये। यात्रा की थकान होने के कारण उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी। अनेक बार भारत आने के कारण वे भारत के रहन-सहन से भलीभाँति परिचित हैं। वे तिब्बती भाषा सीख चुके हैं तथा तिब्बत के सबसे महान योगी 'मिलरेपा की जीवनी' तथा 'मृतकों की पुस्तक' तथा एक अन्य पुस्तक 'तिब्बत के गुप्त सिद्धान्त' का अनुवाद उनकी सहायता से हुआ।

दोपहर में उन्होंने कुछ प्रश्न पूछने प्रारम्भ किये। प्रश्न योग से सम्बन्धित थे। वे जानना चाहते थे कि योग के आसनों को करने के लिए बाघ, हरिण आदि को उनके चर्म के लिए मारना क्या उचित है?

म० : मन ही बाघ अथवा हरिण है।

भक्त : यदि सब कुछ भ्रम हो, तो जीवन ले सकते हैं?

म० : भ्रम किसको है? उसकी खोज करो! वास्तव में अपने जीवन के प्रति क्षण, प्रति व्यक्ति "आत्मा का हनन" कर रहा है।

भक्त : आसनों में कौनसा श्रेष्ठ है?

म० : आसन कोई भी हो, जैसे सुखासन; कोई भी सरल आसन (अथवा अर्द्ध-बुद्धासन) अच्छा है। परन्तु ज्ञान मार्ग के लिए इन सबका कोई महत्त्व नहीं।

भक्त : क्या आसन से व्यक्ति के स्वभाव का आभास होता है?

म० : हाँ।

भक्त : व्याघ्र चर्म, नमदा तथा हरिण चर्म के क्या-क्या गुण व प्रभाव हैं?

म० : कुछ व्यक्तियों ने उनका अध्ययन कर उनका योग के ग्रन्थों में वर्णन किया है। चुम्बकीयता के संचालन-प्रसंचालन से इनका सम्बन्ध है पर ज्ञानमार्ग का इन चीजों से कोई सम्बन्ध नहीं। वास्तव में आसन का उद्देश्य आत्मा की अनुभूति तथा उसमें दृढ़तापूर्वक स्थिर होना है। यह आन्तरिक है। अन्य आसन बाह्य स्थितियों के वर्णन हैं।

भक्त : ध्यान करने के लिए कौनसा समय सबसे उपयुक्त है?

म० : समय क्या वस्तु है?

भक्त : आप ही बताइए वह क्या है?

म० : समय एक विचार मात्र है। अस्तित्व केवल उस सत्य का है। जो कुछ भी संकल्प आप करते हैं कि वह है, वह वैसा ही दीखता है।

यदि आप इसे समय कहें तो यह समय है; यदि इसे आप अस्तित्व कहें तो यह अस्तित्व है और इसी प्रकार इसे समय मानकर आप उसे दिवस तथा रात्रियों में विभाजित कर लेते हैं तथा मास, वर्ष, घण्टे एवं मिनट आदि में भी । ज्ञान-मार्ग का समय से कोई सम्बन्ध नहीं । किन्तु प्रारम्भ में साधक के लिए इस प्रकार के कुछ अनुशासन एवं नियमादि सहायक हो सकते हैं ।

भक्त : ज्ञानमार्ग क्या है ?

म० : मन की एकाग्रता ज्ञानमार्ग तथा योग दोनों साधनों में समान रूप से आवश्यक है । योग का लक्ष्य जीव का ब्रह्म—परम सत्य—से एकीकरण है । यह सत्य कोई नवीन वस्तु नहीं हो सकती । यह तो अभी भी विद्यमान होनी चाहिए और यह है भी । इसलिए ज्ञानमार्ग यह शोध करता है कि हमारा सत्य से वियोग क्योंकर हुआ । वियोग केवल सत्य से ही हुआ है ।

भक्त : माया क्या है ?

म० : माया किसको है ? इसे खोज लो तो माया का लोप हो जायगा ।

प्राय: लोग माया के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हैं, किन्तु माया किसको प्रभावित कर रही है इसकी परीक्षा नहीं करते । यह मूर्खता है । माया बाहर है तथा अज्ञात है । किन्तु जिज्ञासा करने वाला ज्ञात है तथा अन्तर में है । जो दूर है तथा अज्ञात है उसकी अपेक्षा जो अति समीप तथा अपने अन्दर है उसकी खोज करो ।

भक्त : क्या महर्षि यूरोपवासियों के लिए किसी विशेष आसन की सलाह देंगे ?

म० : आसन निर्दिष्ट किये जा सकते हैं । किन्तु यह जान लीजिए कि आसन, निर्धारित समय, तथा इस प्रकार की अन्य सामग्री के अभाव में ध्यान वर्जित नहीं है ।

भक्त : क्या महर्षि विशेषतया यूरोपवासियों के लिए किसी विशेष पद्धति का निदेशन करेंगे ?

म० : यह साधक के मानसिक विकास के अनुसार ही होता है । वास्तव में कोई निर्धारित एवं निश्चित नियम नहीं हैं ।

श्री इवांस-वैंज अधिकतर योग की प्रारम्भिक साधना से सम्बन्धित प्रश्न करते रहे जिन्हें महर्षि ने योग के साधन मात्र कहा तथा योग को भी आत्म-साक्षात्कार का साधन ही बताया जो सबका लक्ष्य है ।

भक्त : क्या सांसारिक कार्य आत्म-साक्षात्कार में बाधक हैं ?

म० : नहीं। ज्ञानी की दृष्टि में केवल आत्मा ही एकमात्र सत्य है, कर्म तो आभास मात्र हैं, वे आत्मा को प्रभावित नहीं करते। ज्ञानी कार्य करते हुए भी स्वयं को कर्ता नहीं मानता। उसके कार्य भी अपने आप होने जैसे होते हैं तथा वह पूर्णतया निर्लेप रहकर उन कार्यों का केवल साक्षी मात्र रहता है।

इस प्रकार के कार्य का कोई लक्ष्य नहीं होता। ज्ञानमार्ग का साधक कार्यरत रहता हुआ भी साधना कर सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में साधक को कुछ कठिनाई हो सकती है, किन्तु कुछ अभ्यास के बाद शीघ्र ही इसका प्रभाव होगा तथा उसके कार्य से उसके ध्यान में कोई बाधा नहीं होगी।

भक्त : अभ्यास क्या है ?

म० : 'मैं' की निरन्तर खोज, जो कि अहम् भाव का मूल स्रोत है। यह खोज करो कि 'मैं कौन हूँ ?' शुद्ध 'मैं' ही सत्य है, वही परब्रह्म सच्चिदानन्द है। उसको भूलने से ही सारे कष्ट एवं क्लेशों का जन्म होता है। जब इसको दृढ़ कर लिया जाय तो व्यक्ति दुःखों से छुटकारा पा जाता है।

भक्त : क्या आत्म-साक्षात्कार के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक नहीं ?

म० : 'ब्रह्म में रहना' ही ब्रह्मचर्य है। सामान्य धारणा में जिसे ब्रह्मचर्य समझा जाता है, उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं। वास्तविक ब्रह्मचारी अर्थात ब्रह्म में ही स्थित रहने वाला तो ब्रह्म में ही सर्वानन्द की प्राप्ति कर लेता है, वह ब्रह्म आत्मा से भिन्न नहीं। फिर आनन्द के अन्य स्रोतों की खोज क्यों ? वास्तव में आत्मा से बाहर होना ही सारे क्लेशों का मूल है।

भक्त : क्या ब्रह्मचर्य पालन योग के लिए आवश्यक है ?

म० : यह सही है। साक्षात्कार के अनेक साधनों में ब्रह्मचर्य भी एक साधन है।

भक्त : फिर क्या यह अत्यन्त आवश्यक नहीं ? क्या विवाहित पुरुष आत्म-साक्षात्कार कर सकता है ?

म० : निश्चयपूर्वक ! यह तो मन की योग्यता का विषय है। विवाहित हो अथवा अविवाहित, मनुष्य आत्म-साक्षात्कार कर सकता है क्योंकि आत्मा यहीं है तथा अभी है। यदि ऐसा नहीं होता तथा इसकी उपलब्धि कभी आगे होती एवं यह कोई नवीन वस्तु होती जिसे प्राप्त करना होता तो ऐसा प्रयास वृथा ही होता। क्योंकि जो स्वाभाविक नहीं है वह स्थायी भी नहीं हो सकता। पर मैं यह कहता हूँ—आत्मा यहाँ है, अभी है तथा केवल उसी की सत्ता है।

भक्त : ईश्वर सब में सर्वव्यापक है, अतः किसी को किसी जीव का जीवन नहीं लेना चाहिए। क्या हत्यारे का जीवन लेने का समाज का अधिकार

उचित है ? क्या राज्य भी ऐसा कर सकता है ? ईसाई देश इस प्रकार विचार करने लगे हैं कि ऐसा करना उचित नहीं ।

म० : हत्यारे को हत्या करने के लिए किसने प्रेरित किया ? वही शक्ति उसे दण्ड देती है । समाज या राज्य तो उस शक्ति के हाथ में यन्त्र मात्र हैं । तुम एक व्यक्ति के प्राण लेने की बात करते हो, युद्धों में असंख्य प्राणियों के जीवन जाते हैं, उसको क्या कहोगे ?

भक्त : ऐसा ही है । जीवन की हानि तो किसी भी प्रकार हो अनुचित ही है । क्या युद्ध उचित हैं ?

म० : आत्मज्ञानी पुरुष के लिए जो सदैव आत्मा में ही स्थित है इस लोक में अथवा तीनों लोकों में एक जीव की अथवा अनेक जीवों की अथवा सब जीवों की हानि से कोई अन्तर नहीं पड़ता । यदि वह सब को नष्ट कर दे तो भी ऐसी शुद्धात्मा को कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकता । महर्षि ने गीता के अठारहवें अध्याय का सत्रहवाँ श्लोक उद्धृत किया—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

"जो अहम् के भाव से सर्वथा शून्य है जिसकी बुद्धि संसार में लिपायमान नहीं है, यदि वह सब लोकों का भी संहार कर दे तो भी वह किसी को नहीं मारता । और न वह अपने कर्मों के फल से ही बंधायमान होता है ।"

भक्त : व्यक्ति के कर्म क्या उसके बाद के जन्मों पर प्रभाव नहीं डालते ?

म० : क्या तुम अभी जन्मे हो ? तुम दूसरे जन्मों की चिन्ता क्यों करते हो ? यथार्थ में न तो जन्म है न मृत्यु है । जो जन्मा हो उसे मृत्यु तथा शान्ति देने वाले साधनों पर विचार करने दो ।

भक्त : महर्षि को आत्म-साक्षात्कार में कितना समय लगा ?

म० : यह प्रश्न इसलिए पूछा गया है कि नाम एवं रूप की प्रतीति हो रही है । यह प्रतीति अहम् के स्थूल शरीर से तादात्म्य कर लेने से उत्पन्न हुई है ।

यदि अहम् स्वयं को सूक्ष्म मन से मिला लेता है, जैसे कि स्वप्नावस्था में तो प्रतीति भी सूक्ष्म हो जाती है । परन्तु सुषुप्ति में कोई प्रतीति नहीं होती । क्या उस समय भी अहम् का अस्तित्व नहीं रहता ? यदि नहीं रहता तो सुषुप्ति की स्मृति भी नहीं रहती । जो सोया था वह कौन था ? अपनी सुषुप्ति में तुम नहीं कह रहे थे कि तुम सो रहे थे । यह तो तुम अब जागने पर कह रहे हो । इससे सिद्ध हुआ कि 'अहम्' का भाव जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति में यथावत

रहता है। इन अवस्थाओं की तह में जो सत्य (आत्मा) है उसे जानो। वही सत्य इन सब अवस्थाओं की तह में है। उस अवस्था में केवल अस्तित्व अथवा सत्ता है। वहाँ तू, मैं या वह नहीं है; न वर्तमान, भूत या भविष्य है। वह देश अथवा काल से परे है तथा अनिर्वचनीय है। वह तो सदैव है।

जिस प्रकार केले का वृक्ष फल देकर समाप्त होने से पहले मूल की शाखें बढ़ाता है एवं अन्यत्र रोपे जाने पर ये शाखें पुनः फलवती होकर यही कार्य पुनः करती हैं; इसी प्रकार प्रारम्भिक युग के एवं अत्यन्त प्राचीन समय के गुरु (दक्षिणामूर्ति) जिन्होंने अपने ऋषि शिष्यों के सन्देह मौन से निवारण किये थे, ऐसी शाखाएँ छोड़ गये हैं जो निरन्तर बढ़ रही हैं। गुरु उसी दक्षिणा-मूर्ति की शाखा है। यह प्रश्न ही नहीं उठता जबकि आत्मा का साक्षात्कार हो चुका है।

भक्त : क्या महर्षि को निर्विकल्प समाधि होती है ?

म० : यदि नेत्र बन्द हों तो वह निर्विकल्प है; यदि नेत्र खुले हों तो वह सविकल्प है। (यद्यपि इसमें कुछ अन्तर है फिर भी पूर्ण शान्ति रहती है) सर्वथा विद्यमान स्वाभाविक अवस्था सहज समाधि की है।

२६ जनवरी, १९३५

१८. श्री इवांस-वैंज ने पूछा—

"कुछ योगियों के पास चमत्कारिक सिद्धियाँ होती हैं। महर्षि का उनके बारे में क्या विचार है ?"

म० : सिद्धियाँ सुनने से या देखने से जानी जाती हैं। इस प्रकार वे मन के ही क्षेत्र में हैं।

भक्त : श्री ब्रंटन मद्रास के एक योगी के विषय में कहते हैं जो हिमालय स्थित अपने गुरु से सम्पर्क बनाये हुए हैं।

म० : यह कार्य सर्व-परिचित टेलीपैथी से अधिक आश्चर्यजनक नहीं है। बिना श्रोता के टेलीपैथी तथा बिना दृष्टा के टेलीविजन सम्भव नहीं। दूर से श्रवण करने अथवा समीप से श्रवण करने में क्या अन्तर है ? महत्त्व केवल श्रोता का है। बिना श्रोता के श्रवण नहीं और बिना दृष्टा के दर्शन नहीं।

भक्त : आपका निर्देश यह है कि मैं दृष्टा पर ध्यान दूँ, दृश्य पर नहीं ?

म० : दृष्टा और दृश्य तो मन के उदय होने के पश्चात ही भासित होते हैं। दृष्टा, दृश्य एवं सिद्धियाँ भी मन में ही रहती हैं।

भक्त : क्या अरुणाचल पर्वत पर ज्योतियों के प्रादुर्भाव का दर्शन हो सकता है ?

म० : हाँ ।

भक्त : क्या कैलास पर्वत, वाराणसी आदि पवित्र क्षेत्रों में जाने से कोई मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है ?

म० : हाँ पड़ता है ।

भक्त : क्या काशी में देह-त्याग से कुछ लाभ होता है ?

म० : हाँ । इसका अर्थ तो वास्तविक काशी तथा वास्तविक देह-त्याग का अर्थ जानने से ही स्पष्ट होगा ।

भक्त : आपका भाव यह है कि ये सब आत्मा में हैं ?

म० : हाँ ।

भक्त : शरीर में छह केन्द्र हैं तथा उनके अनुरूप जगत में उतने ही केन्द्र हैं ?

म० : हाँ । जो जगत में है वह देह में है तथा जो देह में है वह जगत में भी है ।

भक्त : क्या काशी की पवित्रता केवल विश्वास मात्र है अथवा बाह्य रूप से भी वास्तविक है ?

म० : दोनों हैं ।

भक्त : कुछ लोग एक तीर्थस्थान की ओर आकर्षित होते हैं, कुछ दूसरे की ओर । क्या यह उनके स्वभावानुसार होता है ?

म० : हाँ । तनिक विचार करो, तुम सब लोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर जन्म लेकर, दूसरे देशों में निवास करने वाले आज यहाँ उपस्थित हुए हो । तुम्हें यहाँ किस शक्ति ने आकर्षित किया ? यदि इसको जान लोगे तो दूसरी शक्ति को भी जान लोगे ।

२९ जनवरी, १९३५

१९. श्री ग्रांट डफ ने पूछा—

"स्मृति तथा विस्मृति कहाँ पर स्थित हैं ?"

म० : चित्त में ।

३० जनवरी, १९३५

२०. श्री इवांस-वैंज ने पूछा : क्या ज्ञानी के लिए एकान्त आवश्यक है ?

म० : एकान्त मनुष्य के मन में है । संसार से घिरा हुआ होकर भी व्यक्ति मानसिक शान्ति बनाये रखने में समर्थ है, ऐसा व्यक्ति एकान्त में है । दूसरा व्यक्ति वन में रहकर भी मन को वश में करने में असमर्थ

हो सकता है। उसे एकान्त में रहने वाला नहीं कहा जा सकता। एकान्त मन का कार्य है। वासना में लिप्त रहने वाला व्यक्ति चाहे वह कहीं भी रहे, एकान्त प्राप्त नहीं कर सकता। वासनाओं से निर्लेप व्यक्ति सर्वदा एकान्त में है।

भक्त : तब फिर कर्म करते हुए भी व्यक्ति वासनाओं से मुक्त होने से एकान्त सेवन ही करता है। क्या ऐसा है ?

म० : हाँ। फल की इच्छा से किया कर्म बन्धन है जबकि निष्काम कर्म कर्ता पर कोई प्रभाव नहीं डालता। कर्मरत रहता हुआ भी वह एकान्त में है।

भक्त : ऐसा कहते हैं कि तिब्बत में अनेक सन्त हैं जो एकान्त में रहते हुए भी जगत का भारी उपकार कर रहे हैं। ऐसा कैसे हो सकता है ?

म० : ऐसा हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार मानवता की सबसे बड़ी सहायता है। इसी कारण, वन में रहते हुए भी सन्त सहायक हैं। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि एकान्त केवल जंगलों में ही नहीं है। एकान्त तो नगरों में और सांसारिक कार्यों से घिरे हुए होने पर भी सम्भव है।

भक्त : क्या यह आवश्यक नहीं कि सन्त लोगों से मिलें और उनकी सहायता करें ?

म० : केवल आत्मा ही सत्य है। संसार तथा अन्य वस्तुएँ नहीं। आत्मज्ञानी पुरुष जगत को अपने से भिन्न नहीं देखते।

भक्त : तात्पर्य यह हुआ कि सन्त का आत्म-साक्षात्कार मानवता के उत्थान में सहायक है, चाहे मानवता को इसका भान न हो ? क्या ऐसा है ?

म० : हाँ। उपकार का भान नहीं होता पर फिर भी है। एक सन्त पूरी मानवता का कल्याण करता है पर मानवता को इसका भान नहीं होता।

भक्त : यदि वह अन्य व्यक्तियों से मिलें, तो क्या ठीक नहीं होगा ?

म० : मिलने को दूसरा कोई है ही नहीं। केवल आत्मा है और वही एकमात्र सत्य है।

भक्त : यदि सौ आत्मज्ञानी पुरुष हों तो क्या जगत का अधिक कल्याण नहीं होगा ?

म० : जब तुम 'आत्मा' कहते हो तो असीम का जिक्र करते हो पर जब तुम 'पुरुष' कहते हो तो अर्थ को सीमित कर देते हो। केवल एक अनन्त आत्मा है।

भक्त : हाँ, हाँ, मैं समझा ! श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए तथा इस प्रकार का किया हुआ कर्म आलस्य की अपेक्षा उत्तम है। क्या यही कर्मयोग है ?

म० : जो कहा गया है वह श्रोताओं के स्वभाव के अनुकूल कहा गया है।

भक्त : यूरोप के लोगों की समझ में यह नहीं आता कि एक व्यक्ति एकान्त में रहकर सहायक हो सकता है। वे ऐसा मानते हैं कि जो पुरुष संसार में कार्य कर रहे हैं केवल वे ही हितकर हो सकते हैं। यह भ्रम कब समाप्त होगा ? क्या यूरोपीय मस्तिष्क इसी प्रकार भ्रमित होता रहेगा अथवा सत्य का साक्षात्कार भी कर पायेगा ?

म० : यूरोप अथवा अमरीका की चिन्ता मत करो। ये देश तुम्हारे मस्तिष्क में ही हैं, अन्यत्र कहाँ हैं ? अपनी आत्मा की अनुभूति कर लो, तब सबकी अनुभूति हो जायगी।

यदि तुम स्वप्न में अनेक व्यक्तियों को देखो तो जागने पर स्वप्न की स्मृति होने पर क्या तुम यह मालूम करते हो कि तुम्हारे स्वप्न के वे व्यक्ति भी जाग रहे हैं ?

भक्त : महर्षि का संसार की माया के सिद्धान्त के बारे में क्या मत है ?

म० : माया क्या है ? वह केवल सत्य ही है।

भक्त : क्या माया भ्रम नहीं है ?

म० : माया सत्य के ऐश्वर्य को प्रकट करता है अतः माया भी केवल सत्य ही है।

भक्त : कुछ लोगों का मत है कि श्री शंकराचार्य केवल विद्वान थे, आत्मज्ञानी नहीं। क्या ऐसा ही है ?

म० : शंकराचार्य के सम्बन्ध में क्यों चिन्ता करते हो ? अपनी निज की आत्मा की अनुभूति करो। दूसरे अपनी चिन्ता स्वयं कर सकते हैं।

भक्त : जीसस क्राइस्ट ने लोगों को उनके रोगों से मुक्त कर दिया था। क्या यह केवल सिद्धि है ?

म० : क्या जीसस को उस समय यह भान था कि वे लोगों के रोगों का निवारण कर रहे हैं ? उन्हें अपनी शक्ति का भान भी नहीं रहा होगा। एक ऐसी कथा प्रचलित है कि जीसस ने एक बार एक अन्धे व्यक्ति को दृष्टि प्रदान कर दी। कालान्तर में वह व्यक्ति दुष्ट हो गया। कुछ वर्षों के बाद उस व्यक्ति की दुष्टता का परिचय पाने पर जीसस ने उससे इसका कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि जब मैं अन्धा था तब पाप-कर्म करने में असमर्थ था। किन्तु जीसस द्वारा उसकी दृष्टि का उपचार होने पर वह दुष्ट हो गया, तथा जीसस ही उसकी दुष्टता के लिए उत्तरदायी थे।

भक्त : क्या जीसस सिद्धियों से युक्त पूर्ण पुरुष नहीं थे ?

म० : उन्हें अपनी सिद्धियों का भान होना सम्भव नहीं था।

भक्त : क्या टेलीपैथी आदि सिद्धियाँ प्राप्त करना अच्छा नहीं है ?

म० : टेलीपैथी या रेडियो से दूर के स्वर या दृश्य को सुनना एवं देखना सम्भव होता है। सामान्यतया यह भी सुनना अथवा देखना ही है। हम पास से सुनें अथवा दूरी से, इससे सुनने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। मुख्य तो दृष्टा अथवा सुनने वाला है। श्रोता तथा दृष्टा के अभाव में श्रवण तथा दर्शन सम्भव नहीं। ये सब केवल मन की क्रियाएँ हैं। इसलिए सिद्धियाँ भी केवल मन में ही होती हैं। वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। जो वस्तु मौलिक न होकर प्राप्त की जाती है वह स्थायी नहीं हो सकती तथा प्राप्त करने योग्य नहीं है।

ये सिद्धियाँ विस्तृत शक्तियों की सूचक हैं। व्यक्ति की शक्तियाँ सीमित होती हैं, और वह दुःख अनुभव करता है। सुखी होने के लिए वह इन शक्तियों में वृद्धि करना चाहता है। परन्तु विचार करो, क्या ऐसा होने वाला है ? यदि सीमित वस्तुओं से ही मानव इतना दुःखी है, तब उनमें और अधिक वृद्धि होने से तो उसके क्लेशों का अनुपाततः बढ़ना निश्चित ही है। सिद्धियों की शक्ति किसी मनुष्य को सुखी नहीं कर सकतीं, वे तो उसे और भी अधिक दुःखी करेंगी।

इसके अतिरिक्त इन सिद्धियों का क्या प्रयोजन है ? सिद्धियों का साधक इन सिद्धियों के प्रदर्शन हेतु ही तो इनकी इच्छा करता है जिससे कि अन्य लोग उसकी प्रशंसा करें। प्रशंसा ही उसका लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति न होने पर वह दुःखी होगा। उसे अन्य प्रशंसा करने वालों की भी आवश्यकता होगी। सम्भव है उसको अपने से अधिक शक्तियों वाला पुरुष मिल जाय तो भी वह द्वेषवश दुःखी होगा। बड़े सिद्ध को कोई और भी बड़ा सिद्ध मिल सकता है और इसी प्रकार कोई ऐसा भी हो सकता है जो निमिष-मात्र में सब कुछ नष्ट कर डाले। वही सर्वशक्तिमान सिद्ध है और वह है ईश्वर अथवा आत्मा।

वास्तविक शक्ति कौनसी है ? क्या वह ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए है अथवा शान्ति के लिए ? जिससे शान्ति की उपलब्धि हो वही सर्वोत्तम सिद्धि है।

भक्त : किन्तु यूरोप तथा अमरीका की सामान्य जनता इस प्रकार के दृष्टिकोण को समझ नहीं पायेगी। उनका आग्रह तो शक्तियों का प्रदर्शन तथा भाषण द्वारा शिक्षण का ही रहेगा।

म० : भाषण से व्यक्तियों का बिना उनका सुधार किये कुछ घण्टे मनोरंजन हो सकता है। जबकि मौन स्थायी वस्तु है तथा सारी मानवता के लिए कल्याणकारी है।

भक्त : मगर मौन तो समझ में नहीं आता।

म० : इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। मौन तो भाषण ही है। मौखिक भाषण इतना प्रभावशाली नहीं जितना कि मौन।

मौन तो अनन्त भाषण है। पुरातन गुरु दक्षिणामूर्ति आदर्श हैं। उन्होंने मौन द्वारा ही अपने ऋषि शिष्यों को उपदेश दिया था।

भक्त : परन्तु तब उनको तो शिष्य उपलब्ध थे। वह ठीक था। अब परिस्थिति दूसरी है। अब तो शिष्यों को खोजना और उन्हें लाभान्वित करना है।

म० : यह अज्ञान का सूचक है। जिस शक्ति ने तुम्हें बनाया है उसी ने सारे जगत को रचा है। यदि वह तुम्हारी रक्षा कर सकती है, उसी प्रकार वह जगत की रक्षा कर सकती है।

भक्त : जीसस क्राइस्ट "खोयी हुई आत्मा" का जिक्र करते हैं उसके सम्बन्ध में भगवान के क्या विचार हैं?

म० : सोचो, बिछुड़ने के लिए है ही क्या? क्या ऐसी कोई वस्तु है जिसे खोया जा सके? जो स्वाभाविक है उसी का महत्त्व है। ऐसी वस्तु अनन्त है तथा अनुभव से परे है। जो जन्म लेता है वह तो मरेगा ही। प्राप्त वस्तु तो त्यागनी ही होगी। क्या तुम्हारा जन्म हुआ है? तुम तो सदैव ही हो। आत्मा कभी नहीं खो सकती।

भक्त : बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का निर्देशन किया है तथा इसे सर्वोत्तम मार्ग बताया है; जिससे कोई वियोग ही न हो।

म० : हाँ। हिन्दू इसे ही राजयोग के नाम से कहते हैं।

भक्त : अध्यात्म के जिज्ञासु के लिए क्या योग उपयोगी है?

म० : योग से मन को वश में करने में सहायता मिलती है।

भक्त : किन्तु इससे क्या उन सिद्धियों की प्राप्ति नहीं हो जाती जो घातक कही गयी हैं?

म० : मगर तुमने तो अपने प्रश्न में 'परमार्थ के जिज्ञासु' के बारे में ही पूछा था। तुम्हारा प्रश्न सिद्धियों के साधक के विषय में नहीं था।

३१ जनवरी, १९३५

२१. मद्रास प्रेसीडेंसी की विधान परिषद के सदस्य तथा एक प्रभावशाली हिन्दू श्री ऐलप्पा चैट्टियर ने प्रश्न किया :—

"ऐसा क्यों कहा जाता है कि श्रवण द्वारा प्राप्त किया ज्ञान स्थायी नहीं होता तथा मनन द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान स्थायी होता है?"

म० : दूसरी ओर यह कहा जाता है कि श्रवण द्वारा प्राप्त किया ज्ञान (परोक्ष) स्थिर नहीं होता, तथा व्यक्ति जो ज्ञान स्वयं की अनुभूति से प्राप्त करता है (अपरोक्ष) वही दृढ़ होता है।

यह भी कहा जाता है कि श्रवण से उस सत्य को बौद्धिक रूप से समझने में सहायता मिलती है, मनन करने से स्पष्टतया समझ में आता है तथा ध्यान से सत्य की अनुभूति होती है। इससे भी आगे यह कहा गया है कि यह सब ज्ञान भी स्थिर नहीं है, ज्ञान दृढ़ तभी माना जाता है जब यह हाथ में रखे फल की भाँति स्पष्ट व प्रत्यक्ष हो।

कुछ लोगों का मत है कि श्रवण मात्र ही कल्याण करने में समर्थ है क्योंकि उस सक्षम व्यक्ति ने सम्भवतया पूर्व जन्मों के शुभ एवं पुण्य संस्कारों के फलस्वरूप वह पात्रता प्राप्त कर ली है तथा वह उस सत्य का एक बार श्रवण करते ही उसकी अनुभूति कर परम शान्ति की स्थिति प्राप्त कर लेता है, किन्तु यदि ऐसा अधिकारी पात्र न हुआ तो उसे समाधि की अवस्था प्राप्त होने से पहले उपरोक्त सब अवस्थाओं को पार करना होगा।

२२. श्रीमती पिगॉट मद्रास से पुनः दर्शन के लिए पधारीं। उन्होंने भोजन के संयम के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे।

भक्त : साधक के लिए (जो आध्यात्मिक अभ्यास में लगा है) किस प्रकार का आहार निर्धारित है ?

म० : सीमित मात्रा में सात्विक आहार।

भक्त : सात्विक आहार क्या है ?

म० : रोटी, फल, सब्जी, दुग्ध आदि।

भक्त : उत्तर भारत में कुछ लोग मछली का आहार करते हैं। क्या ऐसा किया जा सकता है ?

महर्षि ने कोई उत्तर नहीं दिया।

भक्त : हम यूरोपवासी एक विशेष प्रकार के आहार के आदी हो गये हैं। आहार के परिवर्तन से स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है तथा मस्तिष्क निर्बल होता है। क्या शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना आवश्यक नहीं है ?

म० : बिलकुल आवश्यक है। शरीर जितना निर्बल होता है, मस्तिष्क उतना ही शक्तिशाली हो जाता है।

भक्त : हमारे स्वाभाविक आहार के अभाव में हमारा स्वास्थ्य गिरता है तथा मस्तिष्क निर्बल हो जाता है।

म० : मस्तिष्क की शक्ति से तुम्हारा क्या आशय है ?

भक्त : वह शक्ति जिससे संसार की आसक्ति न रहे।

म० : आहार के गुणों का मन पर प्रभाव पड़ता है। मन उसी आहार से पोषण पाता है।

भक्त : सचमुच ! परन्तु यूरोपवासी अपने आपको केवल सात्विक आहार के अनुकूल कैसे बनायेंगे ?

म० : (श्री इवांस-वैंज की ओर इंगित कर) तुम हमारा आहार ग्रहण कर रहे हो । क्या इससे तुम्हें असुविधा हुई ?

श्री इवांस-वैंज : नहीं । क्योंकि मैं इसका आदी हो चुका हूँ ।

भक्त : जो इतने आदी नहीं हुए हैं उनके बारे क्या ?

म० : आदत वातावरण के अनुकूल होने का नाम है । महत्त्व तो मन का है । वास्तविकता यह है कि मन में यह बात बैठा दी गयी है कि कुछ खाद्य स्वादिष्ट तथा लाभदायक होते हैं । शाकाहारी तथा सामिष दोनों ही खाद्य समूहों में अच्छे खाद्य पदार्थ उपलब्ध हैं । पर मन तो ऐसे आहार की इच्छा करता है जिसकी उसे आदत है तथा जिसे वह स्वादिष्ट मानता है ।

भक्त : क्या आत्मज्ञानी पुरुष के लिए भी इसी प्रकार के बन्धन हैं ?

म० : नहीं । वह स्थिर रहता है तथा उस पर उसके आहार का प्रभाव नहीं पड़ता ।

भक्त : मांस का भोजन बनाने को क्या जीव की हत्या नहीं मानेंगे ?

म० : योगियों की आचार संहिता में अहिंसा सर्वप्रथम है ।

भक्त : पौधों में भी प्राण होते हैं ।

म० : जिस पत्थर पर तुम बैठे हो उसमें भी प्राण हैं !

भक्त : क्या हमें धीरे-धीरे शाकाहारी भोजन करने का अभ्यास करना चाहिए ?

म० : हाँ । यही मार्ग है ।

२ फरवरी, १९३५

२३. अगले दिन श्री इवांस-वैंज ने प्रश्न किया :

"क्या कोई एक से अधिक आध्यात्मिक गुरु कर सकता है ?

म० : गुरु कौन है ? अन्ततोगत्वा वह आत्मा ही है ? मुमुक्षु के मानसिक विकास की अवस्थानुसार, आत्मा गुरु के रूप में बाहर प्रकट होती है । प्रसिद्ध प्राचीन सन्त अवधूत के अनुसार उनके चौबीस से अधिक गुरु थे। जिससे कोई शिक्षा प्राप्त हो वह गुरु है । कभी जड़ वस्तु भी गुरु हो सकती है जैसे कि अवधूत को हुई । ईश्वर, गुरु तथा आत्मा एक ही हैं ।

आध्यात्मिक भाव का व्यक्ति ईश्वर को सर्वव्यापी मानकर उसे गुरु-रूप में देखता है । यथासमय ईश्वर उसका व्यक्तिगत गुरु से सम्पर्क कराता है जिसे वह व्यक्ति अपना सर्वस्व मान लेता है । अन्त में वह व्यक्ति गुरु-कृपा से यह

अनुभूति कर लेता है कि उसकी आत्मा ही एकमात्र सत्य है तथा अन्य कुछ भी नहीं है । इस प्रकार उसे यह अनुभूति होती है कि आत्मा ही गुरु है ।

भक्त : क्या श्री भगवान अपने शिष्यों को दीक्षा देते हैं ?

महर्षि मौन रहे ।

तदुपरान्त एक भक्त ने इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही देना ठीक समझा और कहा, "महर्षि किसी को भी अपनी आत्मा से बाहर नहीं समझते । अतः उनके लिए कोई शिष्य नहीं हैं । उनकी कृपा सर्वव्यापी है तथा वे मौन रहकर ही वास्तविक योग्य व्यक्ति को अपनी कृपा प्रदान कर देते हैं ।"

भक्त : आत्मज्ञान की प्राप्ति में स्वाध्याय कैसे सहायक होता है ?

उत्तर : व्यक्ति में केवल आध्यात्मिक भाव जाग्रत करने तक ।

भक्त : बुद्धि कहाँ तक सहायक होती है ?

उत्तर : जहाँ तक कि साधक बुद्धि को अहम् भाव में तथा अहम् भाव को आत्मा में लोप कर देता है ।

४ फरवरी, १९३५

२४. श्रीमती पिगॉट ने प्रश्न किया : आप दूध क्यों ग्रहण करते हैं, अण्डे क्यों नहीं ?

म० : पाली हुई गायें बछड़ों की आवश्यकता से अधिक दूध देती हैं, इसलिए उन्हें दूध को दुहाने से आराम मिलता है ।

भक्त : मुर्गी भी तो अण्डों को धारण किये नहीं रह सकतीं ।

म० : अण्डों में शक्तिशाली जीव होते हैं ।

भक्त : विचार संकल्पों के प्रवाह के एकदम रुकते ही "मैं मैं" यकायक उदय हो जाता है तथा बना रहता है । यह अनुभव में होता है बुद्धि में नहीं । क्या यह ठीक हो सकता है ?

म० : यह निश्चय ही ठीक है । संकल्पों का प्रवाह रुकना ही चाहिए तथा तर्क का लोप हो जाना चाहिए जिससे कि 'मैं मैं' प्रकट हो तथा उसकी अनुभूति हो । प्रधान कारण अनुभूति है, तर्क नहीं ।

भक्त : इसके अतिरिक्त यह भी है कि यह आभास मस्तिष्क में न होकर वक्षस्थल के दाहिनी ओर होता है ।

म० : ऐसा ही होना चाहिए, क्योंकि हृदय वहीं पर है ।

भक्त : जब मैं बाहर देखती हूँ तो यह अनुभूति लुप्त हो जाती है । क्या करना चाहिए ?

म० : इसे दृढ़ता से पकड़ना चाहिए ।

भक्त : यदि ऐसी स्मृति सदैव बनी रहे तो क्या सब काम ठीक ही होंगे ?

म० : उनको होना ही चाहिए। फिर भी ऐसे व्यक्ति का कर्मों के शुभ-अशुभ होने से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। ऐसे मनुष्य के कार्य तो ईश्वरीय हैं इसलिए वे शुभ ही होने चाहिए।

भक्त : फिर ऐसे व्यक्ति के लिए आहार का संयम क्यों ?

म० : तुम्हारा वर्तमान अनुभव जिस वातावरण में तुम रहते हो उससे प्रभावित है। इस वातावरण के बाहर भी क्या ये ही अनुभव होंगे ? ये अनुभव आकस्मिक हैं। जब तक यह अनुभव स्थायी न हो जायँ अभ्यास आवश्यक है। ऐसे अनुभवों की पुनरावृत्ति के लिए आहार का संयम सहायक है। सत्य में स्थिर हो जाने के उपरान्त संयम स्वाभाविक ही समाप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त आहार मन को प्रभावित करता है और उसे निर्मल रखना ही चाहिए।

उस महिला ने बाद में किसी भक्त को बताया कि मैं महर्षि के स्फुरण को अधिक तीव्रता से अनुभव करती हूँ तथा 'मैं' के केन्द्र को पहले से अधिक सरलता से प्राप्त करने लगी हूँ।"

२५. इससे पूर्व एक अवसर पर "सैल्फ रियलाइजेशन" (आत्म-साक्षात्कार) के लेखक बी० वी० नरसिंह स्वामी ने प्रश्न किया : 'मैं कौन हूँ' इसकी अनुभूति कैसे प्राप्त की जाय ?

म० : यह प्रश्न अपने से ही करो। शरीर (अन्नमय कोष) तथा इसकी क्रियाएँ 'मैं' नहीं हैं।

इसके भी आगे मन (मनोमय कोष) तथा इसकी क्रियाएँ 'मैं' नहीं हैं।

इससे भी आगे जाने पर प्रश्न उत्पन्न होता है, "ये संकल्प कहाँ से उदय हो रहे हैं ?" यह संकल्प सहज, ऊपरी या विश्लेषणात्मक होते हैं। यह संकल्प बुद्धि में उत्पन्न होते हैं। फिर इनका साक्षी कौन है ? संकल्पों का अस्तित्व, उनकी स्पष्ट धारणा तथा उनका प्रभाव व्यक्ति के समक्ष प्रत्यक्ष हो जायगा। इस सूक्ष्म परीक्षण से यह निश्चय हो जायेगा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व संकल्पों के अस्तित्व तथा उनके क्रम का दृष्टा रूप में साक्षी है। यह व्यक्तित्व ही अहम् है जिसे लोग 'मैं' कहते हैं। विज्ञानमय कोष (बुद्धि) इस 'मैं' का केवल आवरण है, स्वयं 'मैं' नहीं।"

इसका और अधिक अनुसन्धान करने पर यह प्रश्न उठेंगे "यह 'मैं' कौन है ? इसका आगमन कहाँ से होता है ?" निद्रा में 'मैं' का आभास नहीं था। निद्रा से जागरण के साथ ही या तो सुषुप्ति स्वप्न में परिवर्तित हो जाती है अथवा जाग्रति में। अभी मैं स्वप्न की चर्चा नहीं करता। अब इस जाग्रत अवस्था में मैं कौन हूँ ? यदि मैं निद्रा से उत्पन्न हुआ तो 'मैं' अज्ञान से ढका हुआ था। ऐसा अज्ञानी 'मैं' नहीं हो सकता, जिसका वर्णन शास्त्र करते

हैं अथवा जिसकी ज्ञानी पुरुष पुष्टि करते हैं। 'मैं' सुषुप्ति से भी परे हूँ। यहाँ 'मैं' अभी भी वही होना चाहिए जो 'मैं' बराबर सुषुप्ति तथा स्वप्न में भी था। पर उन अवस्थाओं के स्वभाव से परे था। इसलिए 'मैं' इन तीनों अवस्थाओं का असीमित आधार होना चाहिए (आनन्दमय कोष से भी परे)।

संक्षेप में 'मैं' पाँचों कोषों से परे है। सारे अनात्म को त्यागने के पश्चात् जो अवशेष रहता है वह है केवल आत्मा, सत्-चित्-आनन्द।

भक्त : उस आत्मा को किस प्रकार जाना व अनुभव किया जाय ?

म० : वर्तमान सृष्टि सिद्धान्त के धरातल से परे हो जाओ। सबसे अलग (आत्मा) अपने से पृथक जो अनात्म है उसका अनुभव करता प्रतीत होता है, अर्थात् दृष्टा दृश्य की अनुभूति करता है। देखने वाला दृक् है। दीखने वाला दृश्य है।

इन दोनों को संयुक्त कराने वाला भी कोई होगा जो अहम् (अहंकार) के रूप में उत्पन्न होता है। यह अहम् बुद्धि का विषय है। अचित् इस चित् का विरोधी है। इसलिए मूलतत्त्व दृष्टा का ज्ञाता है, दृश्य का नहीं। दृक् का अनुसन्धान करने पर जब सारा दृश्य लोप हो जाय, दृक् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अन्ततः केवल शुद्ध दृक् रहेगा। इस प्रक्रिया को दृश्य विलय (दीखने वाले संसार का गायब होना) कहा गया है।

भक्त : दृश्यों का निरसन क्यों किया जाय ? यदि दृश्य को यथावत् रहने दिया जाय तो क्या सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती ?

म० : नहीं। दृश्य के निरसन का अर्थ है दृष्टा एवं दृश्य के पृथक्-पृथक् भाव का निरसन। दृश्य असत्य है। सब दृश्य (अहम् सहित) पदार्थ हैं। असत्य का निरसन होने के उपरान्त सत्य ही रहता है। जब रस्सी (रज्जु) में सर्प का भ्रम हो तो सर्प की मिथ्या धारणा को हटाने मात्र से वास्तविक सत्य प्रकट हो जाता है। बिना इस प्रकार के निरसन के सत्य का उदय नहीं होगा।

भक्त : बाह्य जगत को कब और किस प्रकार लुप्त (दृष्य विलय) किया जाय ?

म० : यह तभी होता है जबकि सापेक्ष पदार्थ अर्थात् मन का निरसन हो जाय। मन ही दृश्य तथा दृष्टा को जन्म देता है तथा द्वैत के भाव का मूल कारण भी यही है। अतः यही मिथ्या सीमित भाव का कारण है। इसी मिथ्या कल्पना के कारण ही दुःख उठाने पड़ते हैं।

भक्त : यह मन क्या है ?

म० : मन प्राणशक्ति की अभिव्यक्ति का एक आकार है। लकड़ी के टुकड़े को अथवा किसी सूक्ष्म यन्त्र को मन की संज्ञा नहीं दी जाती। प्राणधारक

शक्ति जीवन प्रवाह में भी प्रकट होती है तथा मन रूपी चेतन दृश्य जगत में भी ।

भक्त : मन तथा दृश्य का क्या सम्बन्ध है ? क्या मन स्वयं से भिन्न वस्तु अर्थात् जगत से सम्पर्क करता है ?

म० : जगत की अनुभूति जाग्रत अथवा स्वप्न अवस्था में होती है या इन्द्रियानुभूति एवं संकल्प से होती है। दोनों ही मानसिक क्रियाएँ हैं। यदि जाग्रत तथा स्वप्न की अवस्थाओं का अस्तित्व न होता तो जगत की अनुभूति भी न होती और न अनुमान होता। सुषुप्ति में इस प्रकार की क्रियाएँ नहीं होतीं। तथा सुषुप्ति में हमारे लिये 'दृश्य तथा जगत' का अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार 'जगत की सत्यता' की सृष्टि अहंकार द्वारा सुषुप्ति से जागने पर ही होती है। उसकी सत्यता का निरसन या लोप जीवात्मा का सुषुप्ति में पुनः अपने स्वरूप में प्रवेश करने से होता है। जगत का उदय तथा अभाव मकड़ी द्वारा जाला बनाने और उसे पुनः निगलने के तुल्य है। इस उदाहरण में मकड़ी को तीनों अवस्थाओं में जाग्रत, स्वप्न अथवा सुषुप्ति में समान मानो। व्यक्ति में इस मकड़ी को 'आत्मा' कहते हैं तथा जगत के सन्दर्भ में (जिसकी उत्पत्ति सूर्य से हुई मानी जाती है) इसे ब्रह्म कहते हैं।

"स यश्चायं पुरुषे यश्चस एवादित्ये स एकः ।"

(यह जो पुरुष में है और यह जो सूर्य में है सो एक है)

जब तक आत्मा अप्रकट है तथा निष्क्रिय है, सापेक्ष द्वैत का सृजन नहीं होता अर्थात् द्रष्टा एवं दृश्य (दृक् व दृश्य) का उदय नहीं होता। यदि मन के उदय होने का मूल कारण खोजा जाये तो यह पता चलेगा कि वह उस सत्य से ही उदय हुआ है जिसे आत्मा अथवा ब्रह्म कहते हैं। मन को सूक्ष्म शरीर अथवा संकल्प शरीर की संज्ञा दी गयी है; तथा जीव व्यक्तिगत आत्मा है। व्यक्ति का उदय ही जीव का सार है, व्यक्तित्व को ही जीव उपाधि से पुकारा गया है। संकल्प अथवा मन इसी की एक अवस्था है अथवा एक प्रकार है जिससे कि जीव अपने को प्रकट करता है। इससे पूर्व का स्तर या अवस्था वनस्पति के जीवन के रूप में होता है। मन सर्वथा जड़ पदार्थ से सम्बद्ध रहता है अथवा उसी धरातल पर क्रियाशील रहता है। मन का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। इस प्रकार मन तथा भौतिक पदार्थ एक-दूसरे के सहयोगी हैं। अर्थात् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व कुछ भी नहीं।

२६. **भक्त** : हमें मन की वास्तविकता अर्थात् इसका मूलभूत कारण अथवा सत् का जो मन के रूप में प्रकट होता है किस प्रकार पता लगेगा ?

म० : यदि हम प्राथमिकता तथा महत्त्व के अनुसार संकल्पों को क्रमबद्ध करें तो 'मैं' का भाव सबसे अधिक महत्त्व का स्थान लेगा। व्यक्तिगत

भाव अथवा संकल्प भी सारे अन्य संकल्पों का मूल है, क्योंकि प्रत्येक विचार अथवा संकल्प किसी व्यक्ति के संकल्प के रूप में ही उदय होता है। बिना अहंकार के मन का तथा संकल्पों का स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं। अतः अहंकार के द्वारा ही संकल्प वृत्तियाँ प्रकट होती हैं। उत्तम पुरुष के बिना द्वितीय एवं तृतीय पुरुष प्रकट नहीं हो सकते। उत्तम पुरुष के उद्भव के उपरान्त ही उनका उद्भव सम्भव है। इसलिए इन तीनों ही पुरुषों का उदय तथा लोप एक साथ होता है। अतः 'मैं' या जीव का मूल कारण ढूँढ़ो। 'मैं' का भाव शारीरिक अहम् के लिए ही सम्भव है तथा शरीर या इन्द्रियाँ ही इसका आधार हैं। क्या इसका केन्द्र शरीर में है तथा क्या इसका किसी अंग विशेष से सम्बन्ध है? जैसे कि वाणी का केन्द्र तथा प्रेम का केन्द्र मस्तिष्क में है, क्या इसी प्रकार 'मैं' का केन्द्र मस्तिष्क, रक्त अथवा अन्तरंग में है? संकल्प शक्ति मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड में केन्द्रित होती प्रतीत होती है उनमें जो रक्त प्रवाह हो रहा है, जिसमें वायु तथा भोजन मिला हुआ है, उससे पोषण मिलता है जो मानसिक शक्ति पदार्थ में बदल जाते है। अस्तु, स्थावर जीवन अथवा जीवनदायक शक्ति एवं रक्त प्रवाह, श्वसन, पाचन आदि प्राणी के अस्तित्व हैं। अतः मन जीवन शक्ति का प्रत्यक्षीकरण है, जिसकी हृदय में रहने की कल्पना की जा सकती है।

भक्त : मन को लुप्त करना तथा उसके स्थान पर अन्तर्दृष्टि के विकास की कला के लिए क्या वे दो भिन्न अवस्थाएँ हैं जिनके बीच सम्भावित निष्क्रिय क्षेत्र होगा जो न मन होगा न अन्तर्दृष्टि? क्या आत्म-साक्षात्कार के लिए मानसिक कल्पनाओं का अभाव आवश्यक है?

म० : अभ्यासी के लिए दो मुख्य अवस्थाएँ हैं। इनमें ऐसा निष्क्रिय क्षेत्र भी है जिसमें या तो मानसिक क्रिया का अभाव है अथवा जहाँ आत्मानुभूति भी नहीं हो पाती। ये स्थिति सुषुप्ति, अचेतन, मूर्च्छा, पागलपन आदि हैं।

भक्त : पहले प्रथम अवस्था पर विचार करें तो प्रश्न उठता है कि मन को किस प्रकार निष्क्रिय कर दें अथवा सापेक्ष चेतन के परे किस प्रकार हों?

म० : मन स्वभावतः ही चंचल है। पहले इसको चंचलता से मुक्त करो। इसे शान्त करो। इसे उच्चाटन से मुक्त करो। मन को अन्तर्मुखी होने का अभ्यास करो। यह इसका स्वभाव ही बन जाये।

यह बाह्य जगत की उपेक्षा तथा मानसिक शान्ति के मार्ग में जो भी बाधाएँ हों उनको दूर करने से होगा।

भक्त : मन से चंचलता को कैसे दूर करें?

म० : बाहरी सम्पर्क अर्थात् मन से भिन्न विषयों के संसर्ग से मन चंचल हो उठता है। अनात्म विषयों से विरक्ति (वैराग्य) प्रथम प्रयास है।

इसके बाद आत्म-निरीक्षण तथा एकाग्रता स्वभाव में आ जायें। यह इन्द्रिय-निग्रह, बाह्य एवं आन्तरिक (शम-दमादि) से प्राप्त होती है, जो अन्ततः समाधि (शान्त मन) में समाप्त होती है।

२७. **भक्त** : इनका अभ्यास किस प्रकार से किया जाता है ?

म० : बाहरी दृश्य जगत क्षणभंगुर है, इसके चिन्तन से वैराग्य होगा। अतः सर्वप्रथम एवं महत्त्वपूर्ण यत्न आत्म-विचार का है। जब आत्म-विचार का अभ्यास निरन्तर सहज ही होता है तो उससे स्वतः ही धन, यश, आराम, सुख आदि के प्रति उपेक्षा उत्पन्न हो जाती है। इसके बाद 'मैं' के भाव की शोध स्पष्ट होने लगती है। 'मैं' का स्रोत हृदय है, जो कि साधक का अन्तिम लक्ष्य है। कदाचित आत्म-विचार का मार्ग साधक के स्वभावानुकूल न हो तो उसे किसी इष्ट के प्रति भक्ति भाव धारण करना होगा, इष्ट चाहे ईश्वर हो, गुरु हो, मानव जाति हो, आदर्श आचारों के नियम हों, चाहे सौन्दर्य का भाव ही हो। यदि इनमें से कोई भी साधक को अपनी पकड़ में ले लेगा तो अन्य राग क्षीण होते जायेंगे अथात् वैराग्य की वृद्धि होगी। इससे अपने इष्ट में आस्था दृढ़तर होती जायगी तथा अन्त में पूर्ण दृढ़ हो जायगी। इस प्रकार एकाग्रता स्वतः ही एवं सूक्ष्म रूप से उदय होगी। भावावेश तथा प्रत्यक्ष बाह्य सहायता हो या न हो।

आत्म-विचार तथा भक्ति के अभाव में प्राकृतिक शान्तिप्रद प्राणायाम का अभ्यास किया जा सकता है। इसे योग मार्ग की संज्ञा दी गयी है। यदि प्राण जाने का भय हो तो सारे प्रयास प्राणों की रक्षा के लिए किये जाते हैं। यदि श्वास पर काबू पा लिया जाय तो मन की अपने प्रिय विषयों (बाह्य वस्तुओं) की ओर लपकने की सामर्थ्य नहीं रहती तथा मन ऐसा करता भी नहीं। इस प्रकार श्वास-निरोध की अवधि में मन को विश्रान्ति प्राप्त होती है। श्वास तथा इसके नियमन पर पूरा ध्यान लगा रहने से रुचि अन्य ओर नहीं जाती। वासना के उद्वेग के साथ अनियमित श्वास-प्रश्वास तथा शान्ति व विश्राम के साथ शान्त तथा नियमित श्वास-प्रश्वास का योग है ही। वास्तव में उल्लास का आवेग उतना ही कष्टदायक होता है जितना दुःख का, तथा दोनों अवसरों पर श्वास उद्विग्न हो जाता है। वास्तविक शान्ति का ही नाम आनन्द है। इन्द्रिय-सुख आनन्द नहीं है। अभ्यास से मन ठीक होता है और शुद्ध होता जाता है, जिस प्रकार उस्तरा सान पर घिसने से पैना होता जाता है। तब मन आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओं को अधिक सरलता से हल कर पाता है। यदि प्रकृतिवश साधक इन दोनों मार्गों को अनुकूल न पाये और परिस्थितिवश अधिक आयु के कारण प्राणायाम न कर सके तो उसे कर्म मार्ग (शुभ कर्मों का आचरण—जैसे समाज सेवा आदि) का साधन अपनाना चाहिए। इससे उसकी शुद्ध वृत्तियाँ अधिक प्रकट होने लगती हैं तथा उसे निःस्वार्थ आनन्द की अनुभूति होती है। उसका

संकुचित अहम् क्षीण होने लगता है तथा उसकी शुभ वृत्तियाँ विकास को प्राप्त होती हैं। तब व्यक्ति उपरोक्त तीनों मार्गों में से एक पर चलने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इसी एक साधन से भी उसकी आन्तरिक प्रेरणा का सीधे ही विकास होना सम्भव है।

भक्त : क्या विचार प्रवाह अथवा प्रश्नों की श्रृंखला द्वारा आत्म-मूर्च्छा (सेल्फ-हिप्नोटिज्म) नहीं उत्पन्न की जा सकती ? क्या इसे एक ही बिन्दु पर केन्द्रित नहीं कर देना चाहिए ? जब हम अविश्लेष्य—मूलभूत, अर्द्ध-अनुभूत तथा भ्रमात्मक 'मैं' का विश्लेषण कर रहे हों ?

म० : हाँ। वास्तव में यह एक प्रकार से शून्य में अथवा दैदीप्यमान काँच में अथवा प्रकाश में टकटकी लगाकर देखने के समान है।

भक्त : क्या मन को उस बिन्दु पर स्थिर किया जा सकता है ? किस प्रकार ?

म० : यदि मन भ्रमित हो तो तुरन्त अपने से यह प्रश्न करो, "यह भ्रान्त संकल्प किसको उत्पन्न हो रहे हैं।" यह तुम्हें पुनः तत्क्षण ही 'मैं' (आत्मभाव) तक ले आयेगी।

भक्त : मन को हृदय में कितने समय तक ठहराया अथवा रोका जा सकता है ?

म० : यह समय अभ्यास से बढ़ता जाता है।

भक्त : इस अवधि के बाद क्या होता है ?

म० : मन वर्तमान की सामान्य अवस्था में लौट आता है। हृदयगत एकत्व के स्थान पर विविध दृश्य जगत दृष्टिगोचर होने लगता है। इसे बहिर्गमनोन्मुख मन कहा जाता है। हृदयोन्मुख मन को शान्त मन कहते हैं।

भक्त : क्या यह सारी प्रक्रिया बौद्धिक स्तर पर ही है अथवा इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है ?

म० : प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

भक्त : मन के हृदय में स्थित होने पर वृत्तियाँ क्यों कर शान्त हो जाती हैं ?

म० : यह संकल्प शक्ति तथा गुरु के उपदेशों की सत्यता में दृढ़ आस्था से सम्भव होता है।

भक्त : इस प्रक्रिया से क्या लाभ है ?

म० : (क) इच्छा शक्ति पर विजय अर्थात् एकाग्रता का विकास।

(ख) वासनाओं पर विजय अर्थात् वासना रहित होना।

(ग) समत्व के विकास में वृद्धि, अभेद दर्शन अर्थात् सबके प्रति समानता।

भक्त : विचारातीत बिन्दु पर विचार कर यह आत्म-मूर्च्छा क्यों की जाय ? अन्य पद्धतियों का साधन क्यों न किया जाय, जैसे प्रकाश में लक्ष्य लगाना, प्राणायाम, संगीत श्रवण, आन्तरिक ध्वनियों का श्रवण तथा प्रणव अथवा अन्य मन्त्रों का उच्चारण ?

म० : प्रकाश आदि में लक्ष्य लगाने से मन निष्क्रिय होकर अल्प-काल के लिए इच्छा शक्ति को मूर्च्छित कर देता है पर कोई स्थायी लाभ नहीं होता। प्राणायाम भी इच्छा शक्ति को केवल थोड़े समय के लिए शक्तिहीन कर देता है। ध्वनि श्रवण के फल भी इसी प्रकार के हैं—जब तक कि मन्त्र पवित्र न हो तथा विचारों की शुद्धि तथा उनके विकास के लिए किसी उच्चतर शक्ति की सहायता न प्राप्त करे।

२८. **भक्त** : चित्तवृत्ति निरोध तथा प्राणायाम में क्या सम्बन्ध है ?

म० : विचार (बौद्धिक) तथा श्वसन, रक्त प्रवाह आदि क्रमशः मानसिक तथा शारीरिक प्रक्रियाएँ उसी व्यक्तिगत जीवन के दो भिन्न पहलू हैं। दोनों ही जीवन पर आधारित हैं (अथवा अलंकारिक शब्दावली में जीवन में सन्निहित हैं)। व्यक्तिगत भाव तथा अन्य विचार उसी जीवनी शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। यदि श्वास तथा अन्य प्राणधारक प्रक्रियाओं को बलपूर्वक दबा दिया जाये तो संकल्प भी शान्त हो जाते हैं। यदि संकल्पों को बलपूर्वक शमन कर एक बिन्दु पर केन्द्रित कर दिया जाय तो श्वास की प्राणधारक प्रक्रिया शान्त होते-होते केवल जीवन-निर्वाह हो इतने सूक्ष्म स्तर पर आकर ठहर जाती है। दोनों ही अवस्थाओं में चित्त को चंचल करने वाले संकल्प कुछ समय के लिए शान्त हो जाते हैं। यह पारस्परिक क्रिया अन्य प्रकार से भी प्रकट होती है। जीने की इच्छा को ही लीजिए, यह संकल्प-शक्ति है। जब जीवन की अन्य प्राणधारक प्रक्रियाएँ लगभग समाप्त हो चुकी हों तो भी इस शक्ति के बल पर ही प्राणों को कुछ समय तक रोका जा सकता है तथा मृत्यु को कुछ काल के लिए टाला जा सकता है। इस इच्छा-शक्ति के अभाव में मृत्यु तीव्र गति से आती है। इस कारण यह माना जाता है कि संकल्प शक्ति से ही शरीर में प्राण रहते हैं तथा वही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है।

भक्त : (१) एकाग्र होने, (२) व्याकुलता के निवारण के क्या साधन हैं ?

म० : शरीर में आमाशय तथा दूसरे अंग उत्तेजना से मुक्त रखने होते हैं। इसलिए भोजन की मात्रा तथा उसके प्रकार में संयम रखना होता है। अनुत्तेजक पदार्थों का सेवन करना होता है तथा मिर्च, अधिक नमक, प्याज, मदिरा तथा अफीम आदि का निषेध आवश्यक होता है। कब्ज, सुस्ती, उत्तेजना तथा इन अवस्थाओं को उत्पन्न करने वाले भोजन का निषेध आवश्यक है। मानसिक रूप से किसी एक वस्तु में रुचि लेकर मन को उसी में स्थिर

किया जाना चाहिए। यह रुचि पूर्ण आकर्षक हो उसमें किसी भी अन्य वस्तु का समावेश न हो, ऐसा प्रयास हो। यही वैराग्य तथा मन की एकाग्रता है। ईश्वर (इष्ट) अथवा मन्त्र का चुनाव किया जा सकता है। इस प्रकार मन सूक्ष्म को ग्रहण कर उसमें लय होने की सामर्थ्य पा लेता है।

भक्त : क्लेश संस्कारजनित होते हैं। क्या उनका भी निरोध होना सम्भव है ?

म० : हाँ। ऐसा बहुतों ने किया है। इसमें विश्वास करो ! वे ऐसा करने में समर्थ हो सके, क्योंकि उनका स्वयं की सामर्थ्य में विश्वास था। वासनाओं का उन्मूलन हो सकता है। इसको करने का सरल उपाय है, मन को एक ऐसे केन्द्र पर एकाग्र करना जहाँ कोई भी वासना न हो पर जो उनका अन्तस्तल है।

भक्त : कितने समय तक अभ्यास आवश्यक है ?

म० : जब तक पूर्ण सफलता प्राप्त न कर ली जाय एवं जब तक योग—मुक्ति—स्थायी न हो जाये। सफलता से सफलता होती है। एक क्लेश पर विजय पाकर दूसरे पर विजय पाना सरल हो जाता है। इस प्रकार सब क्लेशों पर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार किसी दुर्ग को विजय करने के लिए शत्रु की सेना के बाहर आते एक-एक योद्धा को हनन कर उसे समाप्त किया जाता है वैसे ही यह भी सम्भव है।

भक्त : इस प्रक्रिया का लक्ष्य क्या है ?

म० : सत्य का साक्षात्कार अथवा अनुभूति करना।

भक्त : सत्य का स्वभाव क्या है ?

म० : (क) आदि-अन्त रहित शाश्वत सत्ता।

(ख) सर्वव्यापी, अविनाशी, अनन्त सत्ता।

(ग) अखिल आकार, रूप-परिवर्तन, शक्ति, पदार्थ एवं जीव में व्याप्त सत्ता। और सब दृश्य परिवर्तनशील तथा नाशवान हैं जबकि वही एक सत्य सदैव रहता है।

(घ) वही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी का भंजन करने वाला। त्रिपुटी काल तथा आकाश में भासमान होने वाले दृश्य मात्र हैं; जबकि आत्मसत्ता इनसे परे तथा इनका आधार है। त्रिपुटी सत्य पर मृग-जल के समान है। ये भ्रम के कारण हैं।

भक्त : यदि 'मैं' भी भ्रम है तो भ्रम का निवारण कौन करता है ?

म० : 'मैं' (आत्मभाव) ही 'मैं' (देहभाव) के भ्रम का निवारण करता है और फिर भी 'मैं' बना रहता है। आत्म-साक्षात्कार का ऐसा ही विरोधाभास है। आत्मज्ञानी के लिए इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। भक्ति का

उदाहरण लें। मैं ईश्वर की शरण में जाकर उसमें लीन होने के लिए प्रार्थना करता हूँ। फिर मैं एकाग्र होकर निष्ठापूर्वक आत्म-समर्पण करता हूँ। अब क्या शेष रहा ? पूर्ण आत्म-समर्पण के पश्चात् मूल 'मैं' के स्थान पर ईश्वरीय तत्त्व अवशिष्ट रहता है; जिसमें 'मैं' समाप्त हो जाता है। यही सर्वोच्च भक्ति है। यही (पराभक्ति), प्रपत्ति, समर्पण तथा वैराग्य का शिखर है। इस तथा उस वस्तु के प्रति मोह का त्याग तुम कर देते हो पर यदि इसके बजाय तुम 'मैं' और 'मेरा' का त्याग कर दो तो तुम एक ही प्रयत्न में सबका त्याग कर देते हो। परिग्रह का बीज ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार विकार पूर्णतया निर्मूल हो जाता है अथवा उसकी जड़ ही समाप्त हो जाती है। इसके लिए अत्यन्त तीव्र वैराग्य की आवश्यकता है। इसके लिए ऐसी व्याकुलता चाहिए जितनी कि जल में डूबे हुए मनुष्य में ऊपर आकर प्राण बचाने की होती है।

भक्त : क्या गुरु तथा इष्ट देवता की सहायता से इसमें आने वाली कठिनाई एवं परिश्रम को सरल बनाना सम्भव नहीं ? क्या वे हमें अपने स्वरूप के दर्शन कराने की शक्ति नहीं प्रदान कर सकते हैं तथा इस प्रकार—हमें अपना जैसा बना—आत्म-साक्षात्कार करा सकें ?

म० : इस मार्ग में गुरु तथा इष्ट देवता सहायक हैं, बहुत बड़े सहायक हैं। किन्तु सहायता तभी प्रभावशाली होती है जब तुम स्वयं भी प्रयास करो। तुम्हारा स्वयं का पुरुषार्थ अनिवार्य है। सूर्य को तुम्हें स्वयं ही देखना होगा। क्या चश्मा अथवा सूर्य तुम्हारी ओर से देखने का काम कर सकते हैं। अपने स्वयं के वास्तविक स्वरूप का दर्शन तो तुम्हें स्वयं ही करना होगा। इसके लिए अधिक सहायता की आवश्यकता नहीं है ?

भक्त : मेरी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति तथा सर्वशक्तिमान की अतुलनीय सामर्थ्य में क्या सम्बन्ध है ?

(क) क्या ईश्वरीय सर्वज्ञता तथा अहम् की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति में अनुरूपता है ?

(ख) क्या ईश्वरीय सर्वशक्तिमत्ता तथा अहम् की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति में अनुरूपता है ?

(ग) क्या प्राकृतिक नियमों में तथा ईश्वरीय स्वतन्त्र इच्छा शक्ति में अनुरूपता है ?

म० : हाँ। स्वतन्त्र इच्छा शक्ति सीमित दृष्टि तथा संकल्प को प्रदर्शित करती है। यही अहम् अपने पूर्व किये हुए कार्यों को ईश्वरीय नियमों से बँधा हुआ अनुभव करता है। उस अहम् की अपनी इच्छा शक्ति भी उसी ईश्वरीय नियम की एक कड़ी होती है।

ईश्वरीय सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता को उक्त अहम् स्वयं की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति द्वारा सक्रिय होते अनुभव करता है। इस प्रकार वह इस निष्कर्ष पर आता है कि उसका देहभाव जाना ही चाहिए। प्राकृतिक नियम ईश्वरीय संकल्प की अभिव्यक्ति हैं, तथा वे पहले से बने हुए हैं।

भक्त : क्या विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान तथा दर्शन का अध्ययन (१) योग-मुक्ति तथा (२) सत्य की ऐक्यता के अन्तर्ज्ञानीय बोध में सहायक होता है ?

म० : बहुत कम। योग की जानकारी के लिए कुछ ज्ञान की आवश्यकता है जो प्रायः पुस्तकों में है। वास्तविक आवश्यकता तो व्यावहारिक प्रयोग की है। जिसमें सर्वाधिक उपयोगी व्यक्तिगत उदाहरण, व्यक्तिगत सम्पर्क तथा व्यक्तिगत दीक्षा है। अन्य उपलब्धि के लिए व्यक्ति परिश्रम द्वारा पराबुद्धि गृहीत ज्ञान में आस्था प्राप्त कर सकता है किन्तु पराबुद्धि वास्तव में अनुभूति के अनुरूप है तथा उसमें अभ्यास एवं व्यक्तिगत सम्पर्क की आवश्यकता है। केवल पुस्तक का ज्ञान अधिक उपयोगी नहीं है। साक्षात्कार के उपरान्त बौद्धिक ज्ञान वृथा के भार-मात्र हैं, जिसे जहाज के अनावश्यक भार की भाँति फेंक देना होता है। अहम् का भार दूर करना आवश्यक तथा स्वाभाविक है।

भक्त : स्वप्न तथा जागृति में क्या अन्तर है ?

म० : निद्रा में व्यक्ति अनेक देह धारण करता है पर इन्द्रियानुभूति का स्वप्न देखते समय वे सब फिर अपने उसी शरीर में वापस आ जाते हैं।

भक्त : आनन्द क्या है ? क्या इसकी स्थिति आत्मा में है अथवा दृश्य में अथवा देखने वाले (दृक्) तथा दीखने वाले (दृश्य) पदार्थ के सम्पर्क में है ? पर हम अपने व्यवहार में आनन्द का अनुभव नहीं करते। वास्तव में इसका उदय कब होता है ?

म० : जब हमारी इच्छा की वस्तु एवं स्मृति से हमारा सम्पर्क होता है तथा जब हमारा विपरीत पदार्थों तथा उनकी स्मृति से सम्पर्क हट जाता है तब हम उसे आनन्द कहते हैं। यह आनन्द केवल तुलना से है तथा इसे हर्ष कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु मनुष्य पूर्ण तथा स्थायी आनन्द चाहते हैं। यह आनन्द पदार्थों में नहीं है अपितु परब्रह्म में है। इसी का नाम परम शान्ति है तथा यह अवस्था दुःख-सुख से परे है। यह एक तटस्थ स्थिति है।

भक्त : हमारा वास्तविक स्वरूप आनन्द किस अर्थ में है ?

म० : पूर्ण आनन्द ही ब्रह्म है। पूर्ण शान्ति आत्मा की है। उसी की एकमात्र सत्ता है तथा वह चेतन है। तत्त्वज्ञान अथवा भक्ति मार्ग से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

प्रभु से हम परम आनन्द की याचना करते हैं और उनके अनुग्रह से उसे प्राप्त करते हैं। परम आनन्द का देने वाला स्वयं भी तो परम आनन्द ही होगा, तथा परिपूर्ण भी। अतः वह इष्ट जो ईश्वर है असीम शक्ति तथा परम आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म पूर्ण, अव्यक्त एवं आनन्द है। जो ईश्वर से अपना निज आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से वे स्वतः ही आनन्दस्वरूप हैं। जीव-विज्ञान की दृष्टि से जीव आनन्द की प्राप्ति के लिए ही सब शारीरिक क्रियाएँ करता है। सुख ही हमारी उन्नति में सहायक है : भोजन, व्यायाम, विश्राम, समूह में रहने की इच्छाएँ। सुख का मनोविज्ञान (तथा तत्त्वज्ञान) कदाचित इस प्रकार है—हमारा वास्तविक स्वरूप है : पूर्ण आनन्द। इस कल्पना को मानकर चलिए। सृष्टि का कारण ब्रह्म है जो ईश्वर तथा माया में बँटा हुआ दीखता है। इस माया के दो भाग हैं—परा जो आधार तत्त्व है, तथा अपरा जिसमें पंच तत्त्व तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार आठ तत्त्व आते हैं।

अहम् की पूर्णता सहसा तब भंग होती है जब किसी वस्तु का अभाव प्रतीत होता है तथा किसी वस्तु की इच्छा अथवा कुछ कार्य करने की कामना उत्पन्न होती है। उस इच्छा की सन्तुष्टि होने के बाद उस अभाव की पूर्ति होंने से अहम् के प्रसन्न हो जाने से मूल पूर्णता पुनः अपने स्वरूप में आ जाती है। इसलिए आनन्द हमारी स्वाभाविक स्थिति अथवा स्वभाव कहा गया है। सुख-दुःख तुलनात्मक होने से हमारी सीमित स्थिति के परिचायक हैं तथा इस स्थिति में हमारी इच्छा की पूर्ति प्रगति की द्योतक है। यदि तुलनात्मक प्रगति रोकी जा सके तथा जीव-आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाय—जिसका स्वभाव परिपूर्ण शान्ति है—तो वह जीव-आत्मा पूर्ण शान्ति—आनन्द की प्राप्ति कर तुलनात्मक एवं अस्थायी सुख-दुःख से मुक्त हो जाती है। इसलिए आत्म-साक्षात्कार परिपूर्ण आनन्द ही है। यह आत्म-साक्षात्कार असीमित ज्ञान दृष्टि है। परोक्ष अनुभूति के ज्ञाता के रूप में नहीं। यही सर्वोच्च आत्म-समर्पण है। संसार दुःख है।

भक्त : तब संसार इतने अधिक दुःखों से परिपूर्ण तथा विकारयुक्त क्यों है ?

म० : ईश्वरेच्छा।

भक्त : ईश्वर की ऐसी इच्छा क्यों हुई ?

म० : यह अतर्क्य है। उस परिपूर्ण, ज्ञानाधार, असीम, सर्वशक्तिमान पर किसी इच्छा अथवा किसी लक्ष्य की प्राप्ति का आरोप नहीं किया जा सकता। जिन क्रियाओं का उसकी सत्ता से सम्पादन होता है, उन क्रियाओं से ईश्वर सर्वथा अछूता है। इस सन्दर्भ में सूर्य तथा सांसारिक क्रियाओं का उदाहरण दिया जा सकता है। उस एकमात्र के अनेक होने से पूर्व उस पर उत्तरदायित्व

अथवा प्रेरक का आरोप करना निरर्थक है। किन्तु होने वाली घटनाओं को ही ईश्वर की इच्छा मानकर ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा के प्रश्न को हल किया जा सकता है। यदि कष्टदायक तथा असन्तोषजनक घटनाओं के होने से अथवा किये गये अथवा न किये गये कार्यों से मन उद्विग्न हो जाय तो अपने उत्तरदायित्व तथा स्वतन्त्र संकल्प का भाव त्यागकर, स्वयं को परिपूर्ण एवं ज्ञानाधार सर्व-शक्तिमान के हाथों में यन्त्र मात्र मानकर उसकी इच्छानुसार कार्य किया जाय एवं दुःख भोगा जाय यही बुद्धिमानी होगी। सारे भारों का वहनकर्ता तो वही है तथा वही हमें शान्ति प्रदान करता है।

२९. एक अन्य अवसर पर संध्या शान्त तथा मेघयुक्त थी। रुक-रुककर बूँदा-बाँदी भी हो रही थी, परिणामस्वरूप वातावरण शीतल हो गया था। आश्रम के हॉल की खिड़कियाँ बन्द कर दी गयी थीं और महर्षि सदा की तरह सोफे पर आसीन थे। उनके सामने भक्त बैठे थे। कुछ दर्शक कुडलोर से आये थे। जिनमें एक सब-जज तथा उनके साथ आयी दो वृद्ध स्त्रियाँ थीं। सब-जज सांसारिक वस्तुओं की क्षण-भंगुरता की चर्चा प्रारम्भ करते हुए प्रश्न करने लगे—"क्या सद्-असद् विवेक से हम उस अविनाशी परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते हैं ?"

म० : सभी सच्चे साधकों एवं साक्षात्कार करने वाले महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट तथा अनुभूत बात तो यह है कि केवल ब्रह्मनिष्ठा से ही यह ज्ञान तथा साक्षात्कार सम्भव है। यह ज्ञान तो हम में है तथा हमारा है। अतः जितना भी विवेचन हो वह हमें केवल एक कदम ही आगे बढ़ा सकता है जिससे कि हमें विरक्ति पैदा हो तथा हम आभास को भ्रममात्र मानने लगें। पर अन्ततोगत्वा हमें परम लक्ष्य की प्राप्ति उस शाश्वत सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ने से ही होगी।

वार्ता-क्रम इस प्रश्न की ओर मुड़ गया कि क्या ईश्वर प्रसाद से ही साम्राज्य (सर्वव्यापी ऐश्वर्य) सम्भव है अथवा जीव अपने सच्चे तथा अथक परिश्रम से क्या उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है, जहाँ से जन्म-मृत्यु के चक्र में फिर नहीं आना पड़ता। अवर्णनीय मुस्कान महर्षि के पवित्र मुखमण्डल को प्रकाशित करती सर्वत्र व्याप्त होकर समीप आसीन भक्त मण्डली को उद्‌भासित होने लगी। महर्षि ने निश्चयात्मक तथा सहज सत्यानुभूत स्वर में कहा—साक्षात्कार हेतु ईश्वरीय कृपा आवश्यक है। इससे ईश्वर का साक्षात्कार होता है। किन्तु यह कृपा सच्चे भक्त अथवा योगी तथा जिसने मुक्ति के पथ पर चलने के लिए निरन्तर कठिन तपस्या की हैं उसी को प्राप्त होती है।

भक्त : योगशास्त्र में छह केन्द्रों का वर्णन मिलता है परन्तु जीव हृदय में स्थित कहा जाता है, क्या यह ऐसा नहीं है ?

म० : हाँ ! ऐसा कहा जाता है कि सुषुप्ति में जीव हृदय में रहता है तथा जागृति में मस्तिष्क में। हृदय से आशय मांसपेशियों वाले रक्त प्रवाहक चतुष्कोष्ठीय अंग से नहीं है। वास्तव में अनेक उद्धरणों में इस तर्क की पुष्टि मिलती है। अन्य विचारक इसका आशय उक्त क्षेत्र के समीप के तन्तु गुच्छ अथवा नाड़ी केन्द्रों से मानते हैं। कौनसा दृष्टिकोण सही है इसका हमारे लिये कोई महत्त्व नहीं। हमें केवल अपने आप से ही सम्बन्ध है, अन्य से नहीं। वह निश्चय ही हमारे पास हम में है, इसके बारे में कोई शंका अथवा विवाद नहीं हो सकता।

वेदों व शास्त्रों में हृदय वह स्थान कहा गया है जहाँ से 'मैं' प्रकट होता है। क्या यह केवल मांस पिंड से प्रकट हो सकता है? यह हमारे शरीर के मध्य के कहीं सीधी ओर उत्पन्न होता प्रतीत होता है। 'मैं' का कोई स्थान नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है। उसके अलावा और कुछ नहीं है। अतः हृदय हमारी पूरी देह तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है जिसे हम 'मैं' के नाम से जानते हैं। किन्तु अभ्यास करने वाले की सुविधा के लिए हमें ब्रह्माण्ड अथवा देह के विशिष्ट अंग को इंगित करना पड़ता है। इस प्रकार हृदय को आत्मा का स्थान बताना होता है। पर वास्तविक सत्य यह है कि हम सर्वत्र हैं, सब कुछ हम ही हैं तथा और कुछ भी नहीं है।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि मन की व्याकुलता को दूर (समाधि अवस्था की प्राप्ति) करने के लिए ईश्वरीय कृपा आवश्यक है। क्या यह ऐसा है?

म० : हम ईश्वर हैं। ईश्वर दृष्टि (अपने आपको ईश्वर देखना) स्वयं ईश्वरीय कृपा ही है। इस प्रकार हमें ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए ईश्वर की कृपा की आवश्यकता है।

महर्षि मुस्कराये तथा सभी भक्तगण भी हँसने लगे।

भक्त : क्या ईश्वर अनुग्रह ईश्वर कृपा से भिन्न है? क्या ऐसा है?

म० : ईश्वर स्मरण भी ईश्वर अनुग्रह ही है। उसका स्वभाव ही प्रसाद है। ईश्वर की कृपा से तुम ईश्वर का स्मरण करते हो।

भक्त : क्या गुरु-कृपा ईश्वरीय कृपा का परिणाम नहीं?

म० : दोनों में अन्तर क्यों करते हो? गुरु भी ईश्वर ही है, उससे भिन्न नहीं।

भक्त : जब कभी सत्याचरण का प्रयास किया जाता है और आत्मा पर ध्यान एकाग्र किया जाता है तभी कुछ रुकावट तथा गिरावट आ जाती है। इसका क्या उपाय है?

म० : अन्त में सब ठीक हो जायगा। तुम्हारे दृढ़ संकल्प की प्रेरणा प्रत्येक असफलता अथवा पतन के बाद तुमको फिर उठ खड़ा होने की क्षमता

प्रदान करेगी । धीरे-धीरे सारी बाधाएँ पराजित हो जाती हैं एवं तुम्हारी प्रवृत्ति शक्तिशाली हो जाती है । अन्त में सब ठीक हो जाता है । स्थिर एवं दृढ़ निश्चय ही इसका उपाय है ।

३०. दक्षिण भारत के एक नगर के वकील संघ के प्रधान तथा कट्टर ब्राह्मण श्री एन० नटेसा आयर ने प्रश्न किया : "क्या देवता, ईश्वर अथवा विष्णु तथा उनके पवित्र धाम यथा कैलास अथवा वैकुण्ठ वास्तविक हैं ?

म० : उतने ही वास्तविक जितने कि तुम इस शरीर में हो ।

भक्त : क्या वे भी मेरे शरीर की तरह ही सशरीर हैं अथवा वे खरगोश के सींग के समान कल्पित हैं ?

म० : उनकी स्थिति वास्तविक है ।

भक्त : यदि ऐसा है तो वे कहीं अवश्य ही होंगे । वे कहाँ हैं ?

म० : जिन व्यक्तियों ने उनके दर्शन किये हैं वे कहते हैं कि वे कहीं पर स्थित हैं, हमें उनके कथन पर विश्वास करना ही चाहिए ।

भक्त : वे कहाँ हैं ?

म० : वे तुम में हैं ।

भक्त : तब तो वे केवल मेरी काल्पनिक सृष्टि हुए, जिन्हें मैं निर्माण कर सकता हूँ तथा नियन्त्रित कर सकता हूँ ।

म० : प्रत्येक वस्तु इसी प्रकार है ।

भक्त : किन्तु मैं काल्पनिक सृष्टि भी कर सकता हूँ, जैसे—खरगोश के सींग अथवा आंशिक सत्य यथा मृग-जल । जबकि कुछ ऐसे तथ्य भी हैं जो मेरी कल्पना में नहीं हैं । क्या देव, ईश्वर अथवा विष्णु इसी प्रकार स्थित हैं ?

म० : हाँ ।

भक्त : क्या ईश्वर प्रलय के अधीन है ?

म० : क्यों ? मनुष्य ही आत्मानुभव के फलस्वरूप प्रलयातीत होकर मुक्ति-लाभ कर लेता है । ईश्वर तो अनन्त बुद्धि वाला व योग्य है । वह ईश्वर प्रलयरहित क्यों न होगा ?

भक्त : क्या देव तथा पिशाच भी इसी प्रकार होते है ?

म० : हाँ ।

भक्त : हम चैतन्य ब्रह्म का चिन्तन किस प्रकार करें ?

म० : केवल अस्तित्व से ।

भक्त : क्या उसे आत्म प्रकाशमान मानें ?

म० : वह प्रकाश तथा अन्धकार दोनों से परे है। मनुष्य (जीव) दोनों का अनुभव करता है। आत्मा ही जीव को प्रकाश एवं अन्धकार अनुभव करने का ज्ञान प्रदान करता है।

भक्त : क्या ऐसा अनुभव करें कि "मैं शरीर नहीं हूँ, न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, इत्यादि ?"

म० : यह विचार क्यों ? क्या इस समय हम यह विचार कर रहे हैं कि हम मनुष्य हैं ? इन विचारों के न रहने से क्या हम मनुष्य नहीं रहते ?

भक्त : फिर क्या हमें शास्त्र वाक्य यथा "नेह नानास्ति किंचन" आदि द्वारा यह अनुभूति प्राप्त करनी चाहिए ?

म० : वह भी क्यों ?

भक्त : यदि हम यह अनुभव करें कि "मैं ही वास्तविक हूँ" क्या यह पर्याप्त होगा ?

म० : साक्षात्कार के साथ सारे संकल्प असंगत हैं। सही स्थिति तो यह है कि हम अपने सम्बन्ध के तथा अन्य सब प्रकार के संकल्पों को बाहर निकाल दें। संकल्प एक वस्तु है तथा साक्षात्कार पूर्णतया दूसरी।

भक्त : आध्यात्मिक प्रगति के लिए क्या यह कम से कम लाभदायक अथवा आवश्यक नहीं कि देह दृष्टिगोचर ही न हो ?

म० : तुम उसके विषय में क्यों सोचते हो ? क्या तुम देह हो ?

भक्त : नहीं। किन्तु उच्च आध्यात्मिक स्थिति में देहगत परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं। क्या ऐसा नहीं है ?

म० : तुम देह में क्या परिवर्तन चाहते हो ? और क्यों ?

भक्त : अदृश्य हो जाना क्या ज्ञान का द्योतक नहीं ?

म० : इस दृष्टि से वे सब लोग जो भाषण व लेखन का कार्य करते रहे अथवा जिन्होंने दूसरों की दृष्टि में रहकर जीवन व्यतीत किया वे सब अज्ञानी माने जाने चाहिए !

भक्त : किन्तु वशिष्ठ, वाल्मीकि आदि ऋषियों को ये सिद्धियाँ उपलब्ध थीं।

म० : उनका ऐसा ही प्रारब्ध होगा कि उनके ज्ञान के साथ-साथ उनकी सिद्धियाँ भी विकसित हों। तुम ऐसी वस्तु की कामना क्यों करते हो जो आवश्यक नहीं है, अपितु ज्ञानमार्ग में बाधक है ? देह के दिखायी पड़ने से क्या ज्ञानी को कोई कष्ट होता है ?

भक्त : नहीं।

म० : हिप्नोटिज्म (जादू) का ज्ञाता स्वयं को सहसा अदृश्य कर सकता है। क्या इससे वह ज्ञानी हो जाता है ?

भक्त : नहीं।

म० : दृश्य तथा अदृश्य का सम्बन्ध दृष्टा से है। वह दृष्टा कौन है ? पहले इसका निश्चय करो। अन्य विषयों का कोई महत्त्व नहीं।

भक्त : ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदों में परस्पर विरोधी मत हैं। एक स्थान पर आकाश तत्त्व की सृष्टि प्रथम हुई बतायी गयी है अन्यत्र प्राण की, पुनः किसी अन्य वस्तु की, कहीं जल की और इसी प्रकार। इनका समन्वय किस प्रकार हो ? क्या इससे वेदों की प्रामाणिकता में कमी नहीं आती ?

म० : विभिन्न ऋषियों ने अन्य काल में सत्य के विविध पक्ष अनुभव किये तथा प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण से विशेष मत का प्रतिपादन किया। उनके परस्पर विरोधी विचारों से तुम क्यों चिन्तित होते हो ? वेदों का मुख्य उद्देश्य तो हमें अविनाशी आत्मा का ज्ञान कराना है तथा हम वही आत्मा हैं यह दिखाना है।

भक्त : उतने अंश से मैं सन्तुष्ट हूँ।

म० : तो बाकी सबको अर्थवाद मानो जो अज्ञानियों को वस्तु व पदार्थों की उत्पत्ति समझने हेतु कहा गया है।

भक्त : मैं पापी हूँ, मैं हवन इत्यादि धार्मिक कृत्य नहीं करता हूँ। क्या इस कारण मुझे कष्टदायक पुनर्जन्म लेने पड़ेंगे ? कृपया मेरी रक्षा करें !

म० : ऐसा क्यों कहते हो कि तुम पापी हो ? ईश्वर में दृढ़ आस्था ही तुम्हें पुनर्जन्म से बचाने में समर्थ है। सारा भार ईश्वर पर डाल दो।

'तिरुवाचगम्' में कहा गया है : यद्यपि "मैं श्वान से भी अधिक निकृष्ट हूँ, किन्तु तुमने कृपापूर्वक मेरी रक्षा का भार ग्रहण कर लिया है। जन्म-मृत्यु रूपी इस भ्रम का संचालन तुम ही कर रहे हो। इसके अतिरिक्त मैं सद्-असद् का विवेचन अथवा निर्णय करने वाला कौन ? क्या मैं इस जगत का स्वामी हूँ ? हे महेश्वर ! चाहे तू मुझे देहों में भटका (जन्म-मृत्यु द्वारा) अथवा स्वयं अपने चरणों में स्थिर रहने दे।" अतः श्रद्धा रखो, उसी से तुम्हारी रक्षा होगी।

भक्त : पूज्यवर ! मुझे श्रद्धा है—फिर भी मार्ग में बाधाएँ आती हैं। ध्यान के अभ्यास के बाद मुझे दुर्बलता तथा चक्कर पीड़ित करते हैं।

म० : ठीक प्रकार से प्राणायाम करने से शक्ति में वृद्धि होती है।

भक्त : मैं अपने व्यवसाय का काम करते हुए भी सदैव ध्यान में रहना चाहता हूँ। इन दोनों में विरोध तो नहीं है ?

म० : इनमें कोई विरोध नहीं होगा। दोनों का अभ्यास करते रहने से तथा अपनी शक्तियों का विकास करने से तुम दोनों कार्य साथ-साथ कर

सकोगे। फिर तुम्हें व्यवसाय स्वप्नवत भासित होने लगेगा। भगवद्गीता का कथन है :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (२–६९)

अर्थ—सब प्राणियों के लिए जो रात्रि है उस ब्रह्म में संयमी जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं वह संसार आत्मदृष्टा मुनि के लिए रात्रि है।

३१. एक यात्री ने पूछा : मोक्ष प्राप्ति के लिए क्या करें ?

म० : यह जानो कि मोक्ष क्या है ?

भक्त : क्या इसके लिए मुझे उपासना करनी चाहिए ?

म० : उपासना का उपयोग चित्त-निरोध तथा एकाग्रता के लिए है।

भक्त : क्या मुझे मूर्ति-पूजा करनी चाहिए ? क्या इसमें कोई दोष है ?

म० : जहाँ तक तुम स्वयं को देह समझते हो वहाँ तक कोई हानि नहीं।

भक्त : जन्म-मृत्यु के चक्र से कैसे बचें ?

म० : इसका अर्थ समझ लो।

भक्त : क्या मुझे अपनी पत्नी तथा परिवार नहीं त्यागना चाहिए ?

म० : वे तुम्हें कैसे हानि पहुँचाते हैं ? सर्वप्रथम यह जानो कि तुम कौन हो ?

भक्त : क्या पत्नी, धन, गृह का त्याग नहीं करना चाहिए ?

म० : पहले यह जान लो कि संसार क्या है। क्या ये वस्तुएँ ही संसार हैं ? क्या ऐसे व्यक्ति नहीं हुए जिन्होंने उनके मध्य में रहकर भी साक्षात्कार प्राप्त किया ?

भक्त : उसके लिए कौनसी व्यावहारिक साधनाएँ करनी होती हैं ?

म० : यह साधक की योग्यता तथा स्वभाव पर निर्भर करता है।

भक्त : मैं मूर्ति-पूजा करता हूँ।

म० : इसे करते रहो। इससे मन एकाग्र होने लगता है। पूर्ण एकाग्रता प्राप्त कर लो। सब कुछ ठीक हो जायगा। लोग यह समझते हैं कि मोक्ष कहीं अन्यत्र है, जिसे प्राप्त करना होगा। यह उनकी भूल है। मोक्ष केवल स्वयं में स्थित आत्मा को जान लेना है। चित्त एकाग्र करो और यह तुम्हें प्राप्त हो जायेगा। संसार अथवा जन्म-मरण तो तुम्हारा मन ही है।

भक्त : मेरा चित्त बहुत चंचल है। मुझे क्या करना चाहिए ?

म० : किसी भी एक वस्तु पर एकाग्र हो जाओ और उस पर डटे रहने का प्रयास करो। सब कुछ ठीक होगा।

भक्त : मुझे एकाग्र होना कठिन लगता है।

म० : अभ्यास करते रहो, तदुपरान्त एकाग्रता उसी प्रकार स्वाभाविक हो जायेगी, जिस प्रकार कि श्वास लेना। तब वह तुम्हारी सफलता का मुकुट होगा।

भक्त : क्या संयम तथा शुद्ध भोजन सहायक नहीं होंगे ?

म० : हाँ, यह सब उत्तम है। (इसके उपरान्त महर्षि एकाग्र होते हैं तथा मौन हो शून्य में दृष्टि को स्थिर करते हैं, तथा प्रश्नकर्ता के समक्ष इस अभ्यास का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।)

भक्त : क्या मुझे योग की आवश्यकता नहीं है ?

म० : यह केवल मन को एकाग्र करने के अतिरिक्त और क्या है ?

भक्त : क्या एकाग्रता हेतु अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती ?

म० : प्राणायाम आदि ऐसे साधन हैं।

भक्त : क्या ईश्वर का दर्शन सम्भव नहीं ?

म० : सम्भव है। तुम यह वह देखते हो। ईश्वर को क्यों नहीं देखते ? केवल यह जान लेना आवश्यक है कि ईश्वर है क्या ? ईश्वर को सर्वदा सब ही देख रहे हैं। परन्तु वे उससे अनभिज्ञ हैं। तुम यह जान लो कि ईश्वर है क्या ? मनुष्य उसे देखते हुए भी नहीं देखते हैं, क्योंकि वे ईश्वर को नहीं जानते।

भक्त : क्या मुझे मूर्ति-पूजा करते समय (मन्त्र जाप) उदाहरणार्थ— कृष्ण एवं राम का जाप नहीं करना चाहिए ?

म० : मानसिक जप बहुत अच्छा है। इससे ध्यान में सहायता मिलती है। जब मन जप से परिचित हो जाता है तभी तुम यह अनुभव करने में समर्थ होते हो कि वास्तविक पूजा क्या है—यह अपने स्वयं के व्यक्तित्व को अपने इष्ट में खो देना है।

भक्त : क्या परमात्मा हमसे सर्वदा भिन्न है ?

म० : सामान्यतया लोग ऐसा ही मानते हैं, किन्तु यह भूल है। उसे अपने से भिन्न न मानो तभी आत्मा तथा परमात्मा की अनन्यता की अनुभूति होगी।

भक्त : क्या ईश्वर के अतिरिक्त गुरु द्वारा मार्गदर्शन आवश्यक नहीं ?

म० : होना क्या है ? विचार करने वाला सर्वदा वह सत्य ही है। अन्ततोगत्वा वह इस तथ्य की अनुभूति कर लेता है। हम अपने आपको यदा-कदा भूल जाते हैं जैसे कि सुषुप्ति तथा स्वप्नावस्था में। परन्तु ईश्वर सर्वदा जाग्रत है।

भक्त : मूर्ति-पूजा के अतिरिक्त क्या गुरु के उपदेश की आवश्यकता नहीं है ?

म० : बिना उपदेश के तुमने इसे प्रारम्भ कैसे किया ?

भक्त : पुराणों के सहारे।

म० : ठीक है। ईश्वर का ज्ञान या तो तुम्हें कोई व्यक्ति देगा अथवा स्वयं भगवान। दूसरी अवस्था में स्वयं भगवान ही तुम्हारा गुरु हुआ। यह महत्त्व का नहीं है कि गुरु कौन है? हम भगवान अथवा गुरु से सर्वथा अभिन्न हैं। अन्त में व्यक्ति यह जान लेता है कि गुरु ही ईश्वर है। मानव-गुरु तथा ईश्वर-गुरु में कोई भेद नहीं।

भक्त : यदि हमने पुण्य-कार्य किये हैं तो मुझे आशा है सफलता अवश्य मिलेगी।

म० : प्रारब्ध के अनुसार ही फल भोगना होगा।

भक्त : क्या ज्ञानी गुरु हमें मार्गदर्शन में अत्यधिक सहायक सिद्ध नहीं होगा ?

म० : हाँ। यदि तुम प्राप्त ज्ञान का आश्रय लेकर साधना करते रहोगे, तो तुम्हें गुरु मिल जायेगा जो स्वयं ही तुम्हारी खोज में होगा।

भक्त : ऋषियों के योगमार्ग में तथा प्रपत्ति (आत्म-समर्पण) में क्या कोई अन्तर है ?

म० : ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग (प्रपत्ति) एक ही हैं। आत्म-समर्पण से भी साक्षात्कार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार (आत्म-विचार) अनुसन्धान से। पूर्ण आत्म-समर्पण का अर्थ है, 'मैं' (देहभाव) का पूरी तरह लोप हो जाना। इस अवस्था में सब पूर्व संस्कार नष्ट होकर, मुक्ति प्राप्त हो जाती है। दोनों प्रकार के साधनों में अन्त में अपना अलग व्यक्तित्व समाप्त करना ही होता है।

भक्त : अपने कर्मों के फलस्वरूप क्या हम स्वर्गादि में जाते हैं ?

म० : वे अवस्थाएँ भी उतनी ही सत्य हैं जितनी कि हमारी वर्तमान अवस्था; परन्तु यदि हम खोजें कि हम कौन हैं और आत्मा को (स्वयं को) जान लें, उसके उपरान्त स्वर्ग आदि के चिन्तन की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

भक्त : क्या मुझे पुनर्जन्म से बचने का उपाय नहीं करना चाहिए ?

म० : हाँ ! यह मालूम करो कि जन्म किसका होता है, तथा वर्तमान जीवन के दुख कौन भोगता है ? जब तुम सुषुप्ति में होते हो तब क्या तुम्हें पुनर्जन्म अथवा वर्तमान जीवन का विचार आता है ? अतः वर्तमान की समस्या के मूल को खोजो और वही समस्या का समाधान भी है। तुम्हें स्पष्ट

होगा कि न जन्म है, न वर्तमान के दुःख व क्लेश। केवल आत्मा है, सब परमानन्द है। वास्तव में इस बोध से हम पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं। पुनर्जन्म के दुःख को लेकर इतना सन्ताप क्यों ?

३२. एक यात्री : श्री चैतन्य महाप्रभु तथा श्री रामकृष्ण परमहंस ईश्वर के समक्ष अश्रुपात करते थे तथा इसी से उनको सफलता मिली। क्या हमें इस मार्ग पर नहीं चलना चाहिए ?

म० : हाँ। एक महान शक्ति ने उन्हें इस सब मार्ग पर चलने को प्रेरित किया। उसी महान शक्ति पर विश्वास रखो, जो तुम्हें भी तुम्हारे लक्ष्य तक ले जायगी। सामान्यतया अश्रु दुर्बलता के प्रतीक समझे जाते हैं। किन्तु ये महान पुरुष वास्तव में दुर्बल नहीं थे। उनके ये बाहरी लक्षण तो उनके आन्तर में ईश्वर दर्शन की व्याकुलता की जो प्रचण्ड धारा बह रही थी उसके संकेत मात्र हैं। हमारी दृष्टि में उन्होंने जो लक्ष्य प्राप्त किया वही रहना चाहिए।

भक्त : क्या इस भौतिक शरीर को शून्य में लोप किया जा सकता है ?

म० : यह प्रश्न क्यों ? क्या तुम्हारे लिये यह सम्भव नहीं कि तुम यह जान लो कि क्या तुम देह हो ?

भक्त : क्या हम योगी वशिष्ठ तथा विश्वामित्र की तरह अन्तर्ध्यान हो सकते हैं ?

म० : ये केवल शारीरिक विषय हैं। क्या हमारा वास्तविक लक्ष्य इसी वस्तु में है ? क्या तुम आत्मा नहीं हो ? दूसरी बातों की क्यों चिन्ता करते हो ? सार ग्रहण करो। शेष पाण्डित्यपूर्ण सिद्धान्तों को सारहीन मानकर छोड़ दो। जो शरीर लोप हो जाने को मुक्ति मान बैठे हैं वे भ्रम में हैं। ऐसी किसी भी बात की आवश्यकता नहीं है। तुम देह नहीं हो; फिर यह एक प्रकार से लोप हो जाती है अथवा दूसरी प्रकार से तो इससे क्या अन्तर पड़ने वाला है ? इन सबका कोई बड़ा महत्त्व नहीं। बड़प्पन अथवा छोटापन किसमें होता है ? केवल सत्य की प्राप्ति ही वास्तविक लक्ष्य है। 'मैं' (देहाभिमान) का नाश ही मुख्य वस्तु है, देह त्याग नहीं। आत्मा का देह से एकत्व ही वास्तविक बन्धन है। इस मिथ्या विचार को त्यागो तथा उस परम सत्य की अनुभूति करो। केवल यही महत्त्वपूर्ण है। यदि स्वर्ण के आभूषण को कसौटी पर कसे बिना गलाया जाय तो उसे किस भाँति गलाया गया, टुकड़े करके अथवा पूरा आभूषण; अथवा अलंकार का आकार क्या था, इस सबसे क्या तात्पर्य ? तुम्हारी अभिरुचि केवल यह जानने में है कि क्या यह स्वर्ण है। मृत पुरुष अपनी देह को नहीं देखता। अन्य जीवित व्यक्ति ही यह विचार करते हैं कि शरीर पात किस भाँति हुआ। जिन्होंने अपने स्वरूप का दर्शन कर लिया है, उनकी न देह-सहित न देह-रहित ही कोई मृत्यु होती है। ज्ञानी पुरुष स्वयं इस बात को जानते हैं,

और इसमें उनको तनिक भी अन्तर नहीं दीखता। उनके लिए एक अवस्था दूसरी अवस्था की अपेक्षा उत्तम नहीं है। मुक्त पुरुष की शारीरिक उपलब्धियों से अन्य व्यक्तियों का सम्बन्ध ही क्या ? अपनी चिन्ता स्वयं करो। आत्मा का साक्षात्कार करने के बाद यह निश्चय किया जा सकता है कि तुम्हें किस प्रकार देह-त्यागना श्रेयस्कर होगा। आत्मा का देह से मिथ्या एकत्व करने के कारण ही प्राथमिकता का विचार आता है। क्या तुम देह हो ? पिछली रात जब तुम गाढ़ी निद्रा में सोते थे तब क्या तुम्हें देह की अनुभूति थी ? नहीं थी। अब इस क्षण वह क्या है, जो तुम्हें दुखी कर रहा है ? वह 'मैं' है इसका निवारण कर लो और आनन्द से रहो।

३३. एक यात्री—जगद्गुरु शंकराचार्य प्रायः 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' "ब्रह्म सत्य है, जगत भ्रम है" का उपदेश करते रहते थे। फिर दूसरे कहते हैं जगत ही सत्य है। सत्य क्या है ?

म० : दोनों कथन सत्य हैं। वे विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा दृष्टिकोणों के सूचक हैं। प्रारम्भ में अभ्यासी यह अर्थ लेता है कि जो सत्य है वह सदा ही रहता है तथा जगत् के परिवर्तनशील होने के कारण उसकी उपेक्षा कर उसे असत्य मानता है। यह सत्य नहीं हो सकता; 'यह नहीं' 'यह नहीं' अन्ततोगत्वा साधक आत्मा तक पहुँचता है, जिसका प्रमुख गुण एकत्व है। तब पहले जिसे असत्य मानकर छोड़ दिया था वह भी इसी एकत्व का अंग प्रतीत होता है। सत्य तत्त्व में आत्मसात होने के कारण जगत भी सत्य है। आत्म-साक्षात्कार में केवल आत्मभाव होना है। आत्मभाव होने के अतिरिक्त कुछ नहीं। सत्य का व्यवहार विभिन्न भावना से होता है तथा अनेक विचारक इसे स्वच्छन्द ढंग से भौतिक पदार्थों के आशय से प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार अध्यासिक सत्य की अनेक कोटियाँ हैं।

(१) व्यावहारिक सत्य (दैनिक जीवन); यह कुर्सी मुझे दृष्टिगोचर होती है अतः सत्य है।

(२) प्रातिभासिक सत्य (भ्रम); कुण्डली युक्त रस्सी में सर्प का आभास हो। आभास को सच्चा समझने वाले को तो वह सत्य ही भासित होगा। यह दृश्य विशेष समय तथा परिस्थितियों में ही दीखता है।

(३) पारमार्थिक सत्य (परम सत्य); सत्य वह है जो सर्वथा एकसा रहने वाला है तथा जिसमें परिवर्तन न हो।

यदि सत्य को व्यापक अर्थ में लें तो सारा जगत व्यावहारिक व प्रातिभासिक सत्य माना जा सकता है। कुछ लोग व्यावहारिक जीवन के सत्य को भी स्वीकार नहीं करते तथा उसे मन का संकल्प मात्र ही मानते हैं। उनके अनुसार यह भी प्रातिभासिक सत्य अर्थात भ्रम ही है।

योगी रमैया के अनुभव का वर्णन

३४. महर्षि के सान्निध्य में बैठने से आन्तरिक शान्ति मिलती है। मैं एक साथ तीन-चार घण्टे समाधि में बैठा करता था। मुझे अनुभव हुआ कि मेरे मन ने एक आकृति बनायी तथा अन्दर से बाहर आ गया। निरन्तर अभ्यास तथा ध्यान से मन हृदय में प्रवेश कर उसी में लीन हो गया। मेरा निश्चय है कि मन की विश्राम-स्थली हृदय है। इसका परिणाम शान्ति है। मन के हृदय में लीन हो जाने पर आत्मा का अनुभव हो जाता है। एकाग्रता (धारना) की अवस्था में भी यह अनुभूति हो सकती है।

मैंने महर्षि से मनन के बारे में पूछा। उन्होंने मुझे निम्न प्रकार से बताया :—मनुष्य की मृत्यु होने पर चिता निर्माण कर देह को उस पर लिटाते हैं। चिता को अग्नि दी जाती है। त्वचा जलती है, तदुपरान्त मांस व अस्थियाँ तथा सारा शरीर ही जलकर राख बन जाता है। तत्पश्चात क्या रहता है ? मन रहता है। प्रश्न होता है "शरीर में कितने मन हैं ? एक अथवा दो ?" यदि दो होते तो लोग "मैं" शब्द का प्रयोग क्यों करते "हम" शब्द का क्यों नहीं ? अतः मन एक ही है। इसकी उत्पत्ति कहाँ से होती है ? इसका स्वरूप क्या है ? इस क्रम से खोज करते-करते मन का भी लोप हो जाता है। तदुपरान्त 'मैं' ही शेष रह जाता है। तब प्रश्न उठता है "मैं कौन हूँ ?" केवल आत्मा। यही मनन है। मैंने इसी क्रम से मनन किया। इस प्रक्रिया से देह-वासना नष्ट हो जाती है। अहंकार का लोप हो जाता है। केवल आत्मा प्रकाशित होती है। मन के लय (मनोलय) करने का एक दूसरा उपाय है सत्पुरुषों का संग। वे समाधि के पूर्ण ज्ञाता हैं। उन्हें आत्म-साक्षात्कार स्वाभाविक व सहज रूप से सदैव है। जो उनके साथ रहते हैं वे उनकी कृपा से समाधि का स्वभाव क्रमशः आत्मसात् कर लेते हैं।

३५. एक शिक्षित यात्री ने द्वैत तथा अद्वैत विषय पर भगवान से प्रश्न किया।

म० : देह भाव से युक्त होना ही द्वैत है। देह भाव से रहित होना ही अद्वैत है।

१३ अगस्त, १९३६

३६. उत्तर भारत की एक ऊँचे घराने की एक विशिष्ट महिला अपने निजी सचिव के साथ दोपहर को आयी। कुछ क्षणों की प्रतीक्षा के बाद महर्षि जब भोजनोपरान्त कक्ष में पधारे तो उसने प्रश्न किया :

महाराजजी क्या हम मृतकों को देख सकते हैं ?

म० : हाँ।

भक्त : क्या योगी हमें उनके दर्शन करा सकते हैं ?

म० : हाँ करा सकते हैं। किन्तु मुझसे ऐसी आशा न करें। चूँकि मैं नहीं करा सकता।

भक्त : आप क्या उनको देखते हैं ?

म० : हाँ, स्वप्न में।

भक्त : क्या हम योग द्वारा लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं ?

म० : कर सकते हैं।

भक्त : क्या आपने योग पर लिखा है ? क्या इस विषय पर आप द्वारा लिखित पुस्तकें हैं ?

म० : हाँ।

३७. किसी ने प्रश्न किया : "कर्म क्या है ?"

म० : जिनकी फल प्राप्ति का क्रम प्रारम्भ हो चुका है उनको प्रारब्ध कर्म (भूतकाल के कर्म) कहते हैं। जो जमा हैं और जिनकी फल प्राप्ति आगे होगी वे संचित कर्म कहे जाते हैं। ग्रामीणों द्वारा शाक-पात के बदले में धान प्राप्त करने की तरह यह भी अनेक प्रकार के हैं। बदले में प्राप्त धान में चावल, रागी, जौ, इत्यादि; कोई जल पर तैरने वाला, कोई जल में डूबने वाला, कोई अच्छा है, कोई बुरा, कोई बीच का। अनेक प्रकार के अत्यन्त प्रभावशाली संचित कर्म जब अगले जन्म में फल देने लगते हैं तो उन्हें उस जन्म का प्रारब्ध कहा जाता है।

३८. वर्तमान में कार्य कर रहे सेवकों में से एक जब वह सर्वप्रथम आया था तो उसने प्रश्न किया ? "मोक्ष का क्या मार्ग है ?" महर्षि ने उत्तर दिया "जो मार्ग अपनाया गया है वही मोक्ष तक ले जायगा।"

२२ सितम्बर, १९३६

३९. एक यात्री आर० शेषगिरि राव से वार्तालाप करते हुए महर्षि ने बताया कि आत्मज्ञानी ही उत्तम कर्म योगी हो सकता है। "जब कर्तापन का भाव न रहे तो देखो क्या होता है ? श्री शंकर ने अकर्म का आदेश दिया था। किन्तु क्या उन्होंने स्वयं भाष्य नहीं लिखे अथवा शास्त्रार्थ नहीं किये ? कर्म करना अथवा नहीं करना, इस विवाद में मत पड़ो। अपने आपको जान लो। तब देखो कि यह कर्म किसका है ? यह किसका है ? कर्म को स्वयं होने दो। जब तक कर्तापन का भाव है तब तक उसे अपने कर्मों के फल भोगने ही होंगे। यदि वह अपने को कर्ता नहीं मानता तो उसके लिए कोई कर्म नहीं रहता। जिसने सांसारिक जीवन का त्याग कर दिया है वह संन्यासी है।"

भक्त : अहम् भाव का उदय कैसे हुआ ?

म० : यह जानना आवश्यक नहीं। वर्तमान को जानो। जब तुम इसे नहीं जानते तो अन्य काल की चिन्ता क्यों करते हो ? एक प्रश्न के उत्तर में महर्षि ने कहा "जगत तुम में है अथवा तुमसे बाहर ? क्या वह तुमसे अलग है ? क्या जगत तुमसे आकर कहता है कि 'मैं हूँ' ?"

४०. प्रशनकर्ता ब्राह्मण ने पुनः पूछा "हम किस प्रकार जानें कि वह कर्म हमारा है अथवा नहीं ?"

म० : यदि कर्म का फल व्यक्ति को प्रभावित नहीं करता तो वह कर्म से मुक्त है।

भक्त : क्या बौद्धिक ज्ञान ही पर्याप्त है ?

म० : बुद्धि से जाने बिना उसका अभ्यास कैसे होगा ? अतः पहले बुद्धि से जानो। फिर वहीं रुको नहीं। उसका अभ्यास करो। तब महर्षि ने इसके बाद कुछ निरूपण किया। "जब तुम एक दार्शनिक सिद्धान्त का पालन करते हो तो अन्य सिद्धान्तों का खण्डन करना ही पड़ता है। मठाधिपतियों की यही स्थिति है।

सब लोगों से एक ही प्रकार के कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव तथा पूर्व-जन्म के संस्कार के अनुसार ही कर्म करता है। ज्ञान, भक्ति, कर्म एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। ध्यान करने के लिए आकार अपनी स्वयं की रुचि के अनुसार होता है। इसका उद्देश्य है अन्य आकारों से बचना तथा एक ही आकार में लगना। इससे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। प्रारम्भ में मन को हृदय में एकाग्र करना असम्भव है। इसी कारण इन साधनों की आवश्यकता है। कृष्ण का कथन है कि मेरे, तुम्हारे इत्यादि किसी के कोई जन्म नहीं हुए। और बाद में वह कहते हैं कि उन्होंने आदित्य से पहले जन्म लिया था। अर्जुन को इस कथन में शंका होती है। इससे यह निश्चय हुआ कि हर व्यक्ति अपने विकास के अनुरूप ही ईश्वर की धारणा बनाता है।

तुम जाग्रत अवस्था में स्वयं को देह मानते हो, पर सुषुप्ति में ऐसा नहीं मानते। एक व्यक्ति के शरीर भी तो अनेक परतों में होते हैं, ईश्वर की अनन्त सामर्थ्य क्यों न होंगी ? जो भी मार्ग अपनाया जाय, ज्ञानी पुरुष उसे ही प्रोत्साहन देते हैं। क्योंकि वह मार्ग भी अन्य मार्गों की तरह लक्ष्य तक ले जाता है।

४१. **भक्त** : क्या स्वर्ग तथा नरक हैं ?

म० : वहाँ जाने के लिए कोई अवश्य होना चाहिए। वे स्वप्नवत हैं। हमें स्वप्न में भी समय तथा आकाश का आभास होता है। सत्य क्या है, स्वप्न या जागृति ?

भक्त : इसलिए हमें काम, क्रोध आदि से अपने आप को बचाना चाहिए।

म० : संकल्पों का त्याग कर दो। अन्य किसी चीज के त्याग की आवश्यकता नहीं। कुछ भी देखने के लिए तुम्हारा होना आवश्यक है। वह आत्मा है। आत्मा नित्य जाग्रत है।

भक्त : क्या तीर्थयात्रा आदि लाभदायक हैं ?

म० : हाँ।

भक्त : आत्मा तक पहुँचने के लिए कौनसा प्रयास आवश्यक है।

म० : 'मैं' को नष्ट कर देना चाहिए। आत्मा तक पहुँचना नहीं पड़ता। क्या ऐसा कोई क्षण है जब आत्मा नहीं है ? यह नवीन नहीं है। तुम जो हो वही ही रहो। जो नवीन है वह स्थायी नहीं हो सकता। जो सत्य है वही सदैव रहेगा।

भक्त : ज्ञान यज्ञ अथवा अन्य यज्ञ क्या हैं ?

म० : इसके लिए अन्य पद्धतियाँ हैं। साधना का उद्देश्य तो ज्ञान की प्राप्ति है।

भक्त : क्या जीवन्मुक्त भिन्न प्रकार के होते हैं ?

म० : यदि वे बाह्य रूप से भिन्न हों तो भी क्या हुआ ? उनके ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है।

भक्त : एक गुरु का भक्त रहकर भी क्या अन्यों के प्रति आदर किया जा सकता है ?

म० : गुरु केवल एक ही है। वह शरीरधारी नहीं है। जब तक दुर्बलता हो तब तक शक्ति की सहायता की आवश्यकता रहेगी।

भक्त : जे० कृष्णमूर्ति के अनुसार किसी गुरु की आवश्यकता नहीं है ?

म० : उन्होंने ऐसा कैसे जाना ? आत्मज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त ही ऐसा कहा जा सकता है उससे पूर्व नहीं।

भक्त : आपने परम पुरुषार्थ के पश्चात ही यह अवस्था प्राप्त की है। हम निर्बल आत्माएँ क्या कर सकते हैं ?

म० : हम अपनी आत्मा में हैं। हम संसार में नहीं हैं।

भक्त : स्वर्ग तथा नरक—यह क्या हैं ?

म० : स्वर्ग तथा नरक तुम्हारे साथ-साथ चलते हैं। तुम्हारे काम-क्रोध ही इनके जनक हैं। वे स्वप्न तुल्य हैं।

भक्त : गीता का कथन है कि यदि भ्रू-मध्य में एकाग्र होकर श्वास पर संयम किया जाये तो परम अवस्था प्राप्त होती है। यह कैसे किया जाता है ?

म० : तुम सदैव आत्मा में हो। आत्मा तक जाना नहीं पड़ता। भ्रू-मध्य केवल एक स्थान है जहाँ एकाग्रता करनी चाहिए (उपासना स्थान)।

भक्त : आपने हृदय को उपासना का स्थान कहा था।

म० : हाँ, वह भी है।

भक्त : हृदय क्या है ?

म० : हृदय आत्मा का केन्द्र है। आत्मा केन्द्रों का केन्द्र है। हृदय मानसिक केन्द्र का प्रतीक है। शारीरिक केन्द्र का नहीं।

भक्त : 'ज्ञान' शब्द आत्मज्ञान का द्योतक है। इसी शब्द का प्रयोग साधन के रूप में भी करते हैं। ऐसा क्यों ?

म० : ज्ञान शब्द को साधन के लिए भी व्यवहार करते हैं, क्योंकि अन्त में उसका परिणाम साक्षात्कार है।

भक्त : क्या एक व्यक्ति को चाहे उसका ज्ञान कितना ही अपूर्ण हो उपदेश में प्रवृत्त होना चाहिए ?

म० : यदि उसका प्रारब्ध उस प्रकार का हो।

गीता के सप्तम् अध्याय में अर्जुन प्रश्न करता है कि क्या कर्म साधन है ? कृष्ण उत्तर देते हैं कि ऐसा ही है यदि अकर्तापन के भाव से किया जाय।

ऐसा ही उन शास्त्र सम्मत कर्मों के बारे में जानो, जिन्होंने कर्म का निषेध किया है। उनके द्वारा उन्हीं कर्मों को निषिद्ध ठहराया है जो कर्तापन के भाव से किये जाते हैं। कर्मों को त्यागो मत। तुम ऐसा कर भी नहीं सकते। कर्तापन के भाव को त्यागो। कर्म स्वतः ही होते रहेंगे। अथवा कर्म तुमसे छूट जायेंगे। यदि तुम्हारे प्रारब्ध में कर्म करना है, तो वे तुमसे होंगे ही तुम चाहो या न चाहो। यदि तुम्हारे प्रारब्ध में कर्म नहीं हैं तो तुम कितने ही आग्रह से उनमें प्रवृत्त होओ वे नहीं होंगे। जनक, शुक आदि अहंकार रहित होकर कर्मरत थे। यश के लिए भी कर्म किया जा सकता है तथा निःस्वार्थ भाव से समाज के लाभ के लिए भी किया जा सकता है। फिर भी उन्हें प्रशंसा की इच्छा रहती है। इसलिए वे भी वास्तव में स्वार्थपूर्ण होते हैं।

भक्त : वह एक वस्तु क्या है जिसे जानकर सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं ?

म० : संशयकर्ता को जान लो। यदि संशयकर्ता पकड़ में आ जाये तो संशय उत्पन्न नहीं होंगे। यहाँ संशयकर्ता के परे जाना है। फिर जब संशयकर्ता ही नहीं रहता तब संशय उदय नहीं होंगे। फिर वे कहाँ से उत्पन्न होंगे ? सभी मनुष्य ज्ञानी तथा जीवन्मुक्त हैं। उन्हें केवल इस वास्तविकता का भान नहीं है। संशयों को निर्मूल करना ही होगा। इसका तात्पर्य यही है कि संशयकर्ता को निर्मूल करना आवश्यक है। यहाँ संशयकर्ता मन है।

भक्त : इसके लिए क्या क्रम है ?

म० : 'मैं कौन हूँ ?' इसकी खोज करो।

भक्त : क्या हम इसका जाप करें ?

म० : तुम यह विचार क्यों करो कि मैं यह हूँ ? खोज करने से संकल्प समाप्त हो जायेंगे। तब जो अनिवार्य अवशेष आत्मा है वह प्रकट होगी।

भक्त : क्या हठयोग आवश्यक है ?

म० : यह भी एक साधन है—यह सदैव आवश्यक हो ऐसा नहीं है। यह व्यक्ति पर निर्भर करता है। आत्म-विचार प्राणायाम से आगे है। 'योग वाशिष्ठ' में चूड़ाला शिखिध्वज के अहंकार को मारने के लिए आत्म-विचार का परामर्श देती है।

प्राण अथवा बुद्धि दोनों को ही संयम में रखने से सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। हठयोग प्राण का है; आत्म-विचार बुद्धि का है।

भक्त : क्या ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञानी का कोई व्यक्तित्व रहता है ?

म० : वह व्यक्तित्व कैसे रख सकता है ?

सामान्यतया दैनिक-जीवन में भी श्रेष्ठ व्यक्ति, किसी कार्य के प्रारम्भ से पहले आचमन तथा प्राणायाम का निर्देश देते हैं—कर्म चाहे लौकिक हों अथवा पारलौकिक। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मन की एकाग्रता से ही सफलता प्राप्त होती है।

भक्त : मैं नेति-नेति (यह नहीं, यह नहीं) का ध्यान करता हूँ।

म० : नहीं, यह ध्यान नहीं है। स्रोत को खोजो। तुमको स्रोत तक पहुँचना ही है। असत्य 'मैं' (देहभाव) नष्ट हो जायगा। तथा सत्य 'मैं' (आतमभाव) की अनुभूति हो जायेगी । 'मैं' (देहभाव) वास्तविक 'मैं' (आतमभाव) से भिन्न नहीं रह सकता।

२४ सितम्बर, १६३६

४२. मदनपल्ली से श्री डंकन ग्रीसलैस ने निम्न प्रकार से लिखा—कभी-कभी चैतन्य का स्पष्ट प्रकाश दिखायी देता है; जिसका केन्द्र सामान्य अहम् से बाहर है तथा जो सम्मिलित करने वाला प्रतीत होता है। मन को दार्शनिक सिद्धान्तों से अलग रखते हुए भगवान हमें किस प्रकार से मार्गदर्शन करेंगे जिससे कि वे प्रकाश हमें प्राप्त हों, स्थिर रहें तथा उनकी वृद्धि हो। क्या इस प्रकार के अनुभवों के अभ्यास के लिए एकान्तवास आवश्यक है ?

श्री भगवान ने उत्तर दिया : "बाहर"—अन्दर या बाहर किसके लिए है ? जब तक दृष्टा एवं दृश्य हैं, वे केवल तभी तक हैं। फिर यह दोनों किसके

लिए हैं ? ये दोनों एक होकर केवल द्दष्टा रह जायेंगे। देखो द्दष्टा में कौन है ? विचार प्रक्रिया तुम्हें दृष्टा से परे शुद्ध चैतन्य तक ले जायेगी।

सामान्य अहम् मन है। इस मन की अपनी सीमाएँ हैं। किन्तु शुद्ध चैतन्य निस्सीम है तथा उपरोक्त आत्म-विचार की प्रक्रिया से उस तक पहुँचा जा सकता है।

प्राप्ति—आत्मा सर्वदा है। आत्म-साक्षात्कार के मार्ग की बाधाओं को हटाना है।

प्राप्ति को चिरस्थायी रखना—एक बार आत्म-प्राप्ति होने के पश्चात् वह सदैव रहेगी। वह कभी खोती नहीं।

विस्तारित करना—आत्मा का विस्तार नहीं होता, क्योंकि आत्मा न कभी घटती है न कभी बढ़ती है।

एकान्तवास—आत्मा में स्थित रहना ही एकान्त है। चूँकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। एकान्तवास के लिए एक स्थान से अन्य स्थान में जाना होता है। आत्मा से भिन्न कहीं कोई भी स्थान नहीं है। सब कुछ आत्मा होने से कहीं भी जाना असम्भव एवं असंगत है। अभ्यास करना ही आत्मा की खोज है।

२८ मार्च, १९३५

४३. श्री एस० रंगनाथन, आई० सी० एस०, जिलाधीश, बैलोर; श्री एस० वी० राममूर्ति, आई० सी० एस० तथा पुदूकोटा राज्य के भूतपूर्व दीवान श्री टी० राघवैया आश्रम में आये।

श्री रंगनाथन ने पूछा—"कृपया मुझे निर्देश करें कि मन को वश में कैसे किया जाये ?"

म० : इसके दो साधन हैं : एक यह है कि देखो मन क्या है; तो यह नहीं रहता। दूसरा साधन किसी वस्तु पर अपने ध्यान को स्थिर करना है। इससे मन शान्त हो जायेगा।

प्रश्नकर्ता ने अधिक स्पष्टीकरण के लिए पुनः उस प्रश्न को दोहराया। कुछ विस्तार के साथ पुनः वही उत्तर दिया गया। प्रश्नकर्ता सन्तुष्ट प्रतीत नहीं हुआ।

श्री राघवैया : चूँकि हम लोग सांसारिक हैं, कुछ न कुछ व्यथा हमें लगी रहती हैं, और नहीं जानते कि उनसे कैसे छुटकारा पायें ? ईश्वर की प्रार्थना करने से भी हमें सन्तोष नहीं होता; हम क्या करें ?

म० : ईश्वर में विश्वास करो।

भक्त : हम आत्म-समर्पण करते हैं फिर भी कोई सहायता नहीं।

म० : हाँ। यदि तुमने ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया है तो तुमको ईश्वर की इच्छा के अनुसार रहने की क्षमता होनी चाहिए और तुमको जो अच्छा न लगे उस पर असन्तोष प्रकट नहीं करना चाहिए। घटना-क्रम जैसा तुम्हें दीखता है; उसका परिणाम उससे भिन्न भी हो सकता है। अनेक बार दुःख मनुष्य को ईश्वर में विश्वास पैदा करा देता है।

भक्त : पर हम सांसारिक ठहरे। पत्नी है, बच्चे हैं, मित्र हैं, सम्बन्धी हैं। उन सबकी स्थिति की उपेक्षा कर तथा अपने व्यक्तित्व को बिना कुछ रखे, हम कैसे ईश्वरेच्छा अंगीकार करें।

म० : इसका अर्थ यह है कि तुमने अपने कहे अनुसार समर्पण नहीं किया है। तुम्हें केवल ईश्वर में ही विश्वास करना चाहिए।

श्री राममूर्ति—स्वामीजी ! मैंने ब्रंटन की पुस्तक "गुप्त भारत की खोज" पढ़ी है। मैं अन्तिम परिच्छेद से बहुत प्रभावित हुआ हूँ। जिसमें वह कहते हैं कि बिना विचार के भी जागृति रखी जा सकती है। मैं जानता हूँ कि भौतिक शरीर का भान त्यागकर भी विचार करना सम्भव है। क्या मन के बिना भी विचार किया जाना सम्भव है ? संकल्पों से परे जो चैतन्य है क्या उसकी अनुभूति सम्भव है ?

म० : हाँ। चैतन्य केवल एक ही है जो जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं में यथावत रहता है। सुषुप्ति में 'मैं' का लोप हो जाता है। जागृति में 'मैं' का भाव उदय होता है और तब संसार भासित होता है। सुषुप्ति में यह 'मैं' कहाँ था ? यह वहाँ था अथवा नहीं था ? यह वहाँ भी रहा होगा किन्तु उस रूप में नहीं जिसमें तुम्हें अब प्रतीत होता है। जागृति का वर्तमान 'मैं' केवल 'मैं' का संकल्प मात्र है, जबकि सुषुप्ति का 'मैं' ही वास्तविक 'मैं' है। इसी की निरन्तर सत्ता है। यही चैतन्य है। यदि इसका अनुभव हो जाय तो तुम देखोगे कि यह संकल्पों से परे है।

भक्त : क्या हम बिना मन के विचार कर सकते हैं ?

म० : अन्य क्रियाओं के समान परम चैतन्य को अशान्त किये बिना विचार प्रक्रिया भी चल सकती है।

भक्त : क्या दूसरों के मन के विचार जाने जा सकते हैं ?

सदैव की भाँति महर्षि ने दूसरों की चिन्ता करने से पहले उनको अपनी आत्मा के अनुसन्धान का आदेश दिया।

महर्षि ने पूछा, अपनी स्वयं की आत्मा से भिन्न और कोई दूसरा है कहाँ ?

श्री राघवैया : हम आध्यात्मिक तथा सांसारिक अनुभवों में परस्पर सम्बन्ध कैसे करें ?

म० : अनुभव केवल एक ही है। सांसारिक अनुभव जिनका मिथ्या 'मैं' पर निर्माण होता है, उसके अलावा और है क्या ? संसार के सर्वाधिक सफल मनुष्य से प्रश्न पूछिए, क्या वह स्वयं की आत्मा को जानता है ? वह कहेगा 'नहीं'। आत्मा को जाने बिना कोई क्या जान सकता है ? सारा सांसारिक ज्ञान ऐसी क्षुद्र नींव पर आधारित है।

श्री राममूर्ति : वास्तविक 'मैं' को मिथ्या 'मैं' से भिन्न कैसे जानें ?

म० : क्या कोई ऐसा है जो स्वयं से अनभिज्ञ हो ? हर व्यक्ति स्वयं को जानता है, पर फिर भी आत्मा से अनभिज्ञ है। क्या ही विचित्र विरोधाभास है ?

महर्षि ने पुनः कहा, "यदि यह अनुसन्धान किया जाय कि मन है अथवा नहीं तो ज्ञात होगा कि मन है ही नहीं। यही मन का नियन्त्रण है। इसके विपरीत यदि मन की सत्ता मान ली जाये और इसको नियन्त्रित किया जाय तो मन ही मन पर नियन्त्रणकर्ता हो जायेगा। जिस प्रकार चोर ही सिपाही बनकर चोर को पकड़े (स्वयं को पकड़े)। मन का अस्तित्व भी इसी प्रकार है; किन्तु यह स्वयं को धोखा देता है।"

३ अप्रेल, १९३५

४४. श्री एकनाथ राव एक इन्जीनियर ने श्री भगवान से प्रश्न किया, क्या आत्म-विचार के लिए एकान्त आवश्यक है ?

म० : एकान्त सर्वत्र है। व्यक्ति सदव अकेला है। उसको अपने अन्दर खोज (अन्तरमुख होना) करना है। उसकी खोज बाहर नहीं करना है।

भक्त : व्यावहारिक जगत क्लेशमय है।

म० : अपने आपको दुःखी मत होने हो। विचार करो क्लेश किसे है ? थोड़े-से अभ्यास के बाद वह तुम्हें व्यथित नहीं करेगा।

भक्त : अभ्यास भी असम्भव है।

म० : अभ्यास करोगे तो इतना कठिन नहीं लगेगा।

भक्त : आन्तरिक अनुसन्धान से भी उत्तर नहीं मिलता।

म० : अनुसन्धानकर्ता ही उत्तर है। अन्य कोई उत्तर नहीं आ सकता। जो नवीन है वह सत्य नहीं हो सकता। जो सनातन है वही सत्य है।

६ अप्रेल, १९३५

४५. एक व्यक्ति ने प्रश्न किया : साक्षात्कार का मार्ग कठिन है। सांसारिक विषय सरलता से समझ में आ जाते हैं, जबकि यह समझ में नहीं आते।

म० : हाँ। मन सदा बाहरी ज्ञान की खोज में रहता है। वह अपने स्वयं के आन्तरिक ज्ञान की उपेक्षा करता है।

भक्त : श्री भगवान के सान्निध्य में एक दिन रहना अच्छा है। दो दिन रहना उत्तम है, तीन दिन रहना और भी अधिक उत्तम है और इसी प्रकार है। यदि हम यहीं निवास करने लगें, तो हम सांसारिक कार्य कैसे कर सकेंगे ?

म० : यहाँ निवास करना या अन्यत्र निवास करना समान ही मानना चाहिए। उसका फल भी समान ही है।

१२ अप्रेल, १९३५

४६. मलयालय भाषा में 'उपदेश सार' का सस्वर पाठ सुनने के बाद नागरकोइल के श्री रामचन्द्र अय्यर ने अपनी स्वाभाविक सरलता से मन, उसकी एकाग्रता तथा नियन्त्रण के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा। महर्षि ने बताया कि देह तथा आत्मा को एक मानना ही मन है। यह मिथ्या अहम् है जो उत्पन्न किया गया है। फिर यह स्वयं मिथ्या दृश्यावलि की सृष्टि करता है और उनमें व्याप्त प्रतीत होता है। यह सब मिथ्या हैं। केवल आत्मा ही सत्य है। यदि मिथ्या 'मैं' (देहभाव) नष्ट हो जाय तो सत्य की निरन्तर सत्ता स्पष्ट होगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्य की सत्ता अभी एवं यहाँ नहीं है। सत्य शाश्वत एवं सदैव विद्यमान है। प्रत्येक के अनुभव में भी यही है। चूँकि हर व्यक्ति जानता है कि वह है। 'वह कौन है ?' आत्मिक दृष्टि से सोचें 'मैं कौन हूँ ?' मिथ्या अहम् दृश्यों से लिपायमान हो जाता है; यह अहम् स्वयं भी स्वयं का दृश्य बन जाता है। दृश्य भाव ही मिथ्या है। केवल दृष्टा ही सत्य है। अपने आपको दृश्य अर्थात् शरीर से युक्त मत करो। इससे मिथ्या अहंकार (देहाभिमान) का प्रादुर्भाव होकर मिथ्या संसार की सृष्टि होती है तथा इसी से हमारा व्यवहार चलता है जो सारे क्लेश का कारण बनता है। अपने आपको यह व वह एवं अन्य कुछ ऐसा होना, वैसा होना, यह होना, वह होना मत मानो। केवल मिथ्या को त्यागो। परम सत्य आत्म-सत्ता स्वयं को प्रकाशित करेगी। शास्त्रों का कथन है कि आत्मा सदैव है, नित्य सिद्ध है; फिर भी अज्ञान के त्याग का उपदेश करते हैं। यदि आत्मा सदैव (नित्य) है तथा वर्तमान (सिद्ध) है तो अज्ञान कैसे हो सकता है ? अज्ञान किसके लिए है ? यह कथन परस्पर विरोधी हैं। किन्तु इनका प्रयोजन वास्तविक मुमुक्षु को सही दिशा प्रदान करना है। यदि सादे शब्दों में "न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः" (न तू है, न मैं हूँ, न ये सारे राजा ही हैं) कहकर केवल सत्य का उपदेश स्पष्ट शब्दों में करें जैसा कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया तो वह उसकी समझ में सरलता से नहीं आयेगा। श्रीकृष्ण ने सत्य का उपदेश दिया पर अर्जुन उसे

ग्रहण नहीं कर सका। बाद में कृष्ण उसे स्पष्टतः समझाते हैं कि, लोग (कृष्ण को जो कि आत्मा है) उसे उनके शरीर से (श्रीकृष्ण के शरीर से) सम्बद्ध कर देते हैं जबकि वास्तव में (कृष्ण का) उनका न जन्म हुआ था, न उनका मरण होगा। फिर भी कृष्ण ने सत्य को स्पष्ट करने के लिए अर्जुन को पूरी गीता सुनायी। देखो, केवल आत्मा की ही सत्ता है। यह होना अथवा वह होना नहीं। वह अस्तित्व मात्र है। केवल आत्मभाव से रहो और सारा अज्ञान सदैव के लिए समाप्त हो जायेगा। विचार करो अज्ञान किसके लिए है। जब तुम निद्रा से जागते हो तब अहम् (देहभाव) उदय होता है। गाढ़ी निद्रा में तुम नहीं कहते कि तुम सो रहे हो, और तुम जागने वाले हो अथवा तुम इतनी देर से सो रहे थे। किन्तु फिर भी तुम वहाँ हो। केवल जागने पर ही तुम कहते हो कि तुम सो चुके। निद्रा तुम्हारी जागृति का ही अंश है। अपनी शुद्ध सत्ता को जानो। देह से भ्रमित न हो। देह तो संकल्पों का परिणाम है। संकल्पों का खेल यथावत चलता ही रहेगा। किन्तु तुम प्रभावित नहीं होगे। सुषुप्ति में तुम्हें देह से सम्बन्ध नहीं था। इसी प्रकार तुम सर्वदा रह सकते हो।

श्री एकनाथ राव—इस साधन का धन कमाने से सामंजस्य कैसे हो जोकि सांसारिक लोगों के लिए आवश्यक है ?

म० : कर्मों के करने से बन्धन नहीं होता। बन्धन का कारण केवल यह मिथ्या कल्पना कि 'मैं कर्ता हूँ' है। ऐसे संकल्पों को त्यागो तथा बिना अपने हस्पक्षेप के शरीर तथा इन्द्रियों को अपना कार्य करने दो।

२० अप्रेल, १९३५

४७. एक मलयालम भाषी यात्री ने जगत के दुःख-क्लेशों के प्रति अपनी चिन्ता प्रकट करते हुए आत्मानुसन्धान की बात को ऐसे दुःख-दैन्य के वातावरण के बीच स्वार्थपूर्ण पाया। उनको निःस्वार्थ सेवा ही एकमात्र समाधान दीखा।

म० : समुद्र को अपनी लहर का भान नहीं है। इसी प्रकार आत्मा को अपने अहम् (देहाभिमान) का भान नहीं है।

नोट—इससे यह स्पष्ट होता है कि अहम् के मूल के अनुसन्धान से श्री भगवान का क्या तात्पर्य है।

४८. एक व्यक्ति ने श्री भगवान से प्रश्न किया "आप भगवान हैं। इसलिए आपको ज्ञात होगा कि मुझे ज्ञान की प्राप्ति कब होगी ? कृपया बतायें कि मैं ज्ञानी कब होऊँगा ?

श्री भगवान ने उत्तर दिया, "यदि मैं भगवान् हूँ तो आत्मा के अतिरिक्त कोई भी नहीं है, इसलिए न ज्ञानी न अज्ञानी। यदि इसके विपरीत मैं तुम्हारे ही समान हूँ तो मैं तुम जितना ही जानता हूँ। इन दोनों स्थितियों में मैं तुम्हारा उत्तर नहीं दे सकता।"

२४ अप्रेल, १९३५

४९. कुछ व्यक्तियों ने श्री भगवान से प्रश्न किये, जिनका सारांश यह निकला कि बहुत अभ्यास के बाद भी 'मैं' (आत्मा) की अनुभूति नहीं होती।

महर्षि ने सदैव की भाँति उत्तर दिया : "वह कौन है जो कहता है कि 'मैं' की अनुभूति नहीं होती, क्या एक अज्ञानी 'मैं' है तथा एक 'मैं' भ्रान्तिजनक। क्या एक ही व्यक्ति में दो 'मैं' हैं ? अपने आप से यह प्रश्न कीजिए। यह तो मन है जो कहता है कि 'मैं' की अनुभूति नहीं होती है। यह मन आया कहाँ से ? मन को जानो। जान लेने पर यह तुम्हें मिथ्या लगेगा। राजा जनक ने कहा था : "मैंने उस चोर को पकड़ लिया है जो इतने दिनों से मुझे नष्ट कर रहा था। अब मैं उससे तुरन्त ही निपट लूँगा। तभी मुझे आनन्द की प्राप्ति होगी।" दूसरों के साथ भी ऐसा ही होगा।"

भक्त : 'मैं' को किस प्रकार जानें ?

म० : 'मैं'—'मैं' सदैव ही है। इसे जानना नहीं है। यह कोई नवीन ज्ञान प्राप्त करना नहीं है। जो नवीन है तथा सर्वदा सर्वत्र सुलभ नहीं है वह क्षणिक होगा। 'मैं' सर्वदा विद्यमान है। इसके ज्ञान में जो बाधा है वही अज्ञान है। अज्ञान को हटाते ही ज्ञान प्रकाशित होगा। वास्तव में यह अज्ञान तथा ज्ञान भी आत्मा के लिए नहीं है। ये तो आवरण हैं, जिन्हें हटाना होगा। इसी कारण आत्मा को ज्ञान तथा अज्ञान दोनों से परे कहा जाता है। आत्मा तो जैसी स्वभावतः है, वैसी ही रहेगी—यह इतना ही है।

भक्त : हमारे प्रयास करने पर भी सुस्पष्ट प्रगति नहीं है।

म० : नवीन वस्तुओं की प्राप्ति के सन्दर्भ में ही प्रगति की बात कही जाती है। जबकि यहाँ अज्ञान को हटाना है, न कि ज्ञान की प्राप्ति करनी है। आत्मानुसन्धान में किस प्रकार की प्रगति की अपेक्षा हो सकती है ?

भक्त : अज्ञान निवारण किस प्रकार करें ?

म० : जबकि तुम तिरुवन्नामलाई में पलंग पर सोये हुए हो, तुम स्वप्न में स्वयं को किसी दूसरे नगर में देखते हो। यह दृश्य तुम्हारे लिये वास्तविक है। तुम्हारा शरीर यहाँ एक कमरे में बिस्तर पर पड़ा है। क्या एक नगर तुम्हारे कमरे में प्रवेश कर सकता है, अथवा क्या तुम यहाँ शरीर छोड़कर यहाँ से कहीं अन्यत्र जा सकते थे ? दोनों ही असम्भव हैं। अतः तुम्हारा यहाँ रहना तथा दूसरा नगर देखना दोनों ही बातें असत्य हैं। ये तुम्हारे मन को सत्य प्रतीत होती हैं। स्वप्न का 'मैं' शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तब दूसरा 'मैं' स्वप्न का वर्णन करता है। यह 'मैं' स्वप्न में नहीं था। यह दोनों ही 'मैं' असत्य हैं। मन का अधिष्ठान ही सदैव विद्यमान रहता है, उसी से नाना प्रकार के दृश्य उदय होते हैं। प्रत्येक संकल्प के साथ एक 'मैं' उदय होता है और उसके

लुप्त होने पर उस 'मैं' का भी लोप हो जाता है । प्रति क्षण अनेक 'मैं' उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं । सदैव रहने वाला मन ही वास्तविक दुःख का कारण है । जनक के अनुसार वही चोर है । उसको खोज लो और तुम सुखी रहोगे ।

५०. श्री भगवान ने 'प्रबुद्ध भारत' में से कबीर के एक कथन को उद्धृत किया कि सागर में बिन्दु के विलय को तो सब जानते हैं पर बिन्दु में सागर के विलय को कुछ ही जानते हैं । श्री भगवान ने कहा, यह पराभक्ति है ।

५ जून, १९३५

५१. एक पच्चीस वर्षीय ब्राह्मण युवक महर्षि के पास दर्शनार्थ आया । महर्षि को देखते ही युवक उन्मादी होकर चिल्लाने लगा, शिवोहम् अहं ब्रह्मास्मि, "आप ईश्वर हैं ।" "आप परब्रह्म हैं", "आप मेरे पिता हैं ।" "पिता मेरी रक्षा करो" और इसी प्रकार कहने लगा । उसका उन्माद बढ़ने पर वह दोनों हाथों से एक के बाद एक अपने वक्षस्थल पर तेजी से प्रहार करने लगा तथा शिवोहम्, शिवोहम् जोर-जोर से बोलने लगा । पुनः वह दाँत पीसकर उन्माद से पुकारने लगा, "मैं भौतिकवाद को नष्ट कर दूँगा", जैसे कि वह भौतिकवाद को अपने दाँतों से पीस रहा हो । फिर वह बोला "या तो मुझे शक्ति दो, मुझे शक्ति दो—अन्यथा—अन्यथा—अन्यथा—मैं……" और इस प्रकार करने लगा जैसे अपना गला घोंट रहा हो ।

जब उसे अन्य व्यक्तियों द्वारा सावधानी से हटाया गया तो वह महर्षि के समक्ष साष्टांग दण्डवत प्रणाम कर बोला "मैं अपने पिता के चरणों की शरण लूँगा । पिता । पिता ! आप पार्थसारथी हैं, मैं अर्जुन हूँ । हम लोग भौतिकवाद को निकाल बाहर करेंगे" आदि-आदि । अन्त में उसे महर्षि के समीप से हटा दिया गया । उसने स्नान किया, कुछ हलका जलपान किया तथा कुछ घण्टों तक वह कक्ष में शान्त बैठा रहा । उसने दोपहर का भोजन नहीं किया । दोपहर के बाद उसे पुनः दौरा पड़ा । तब वह चिल्लाने लगा "यदि अभी कृष्ण आ जायें तो मैं उनका सिर काट लूँ । उसने मुझे नौकरी छोड़ने की सम्मति दी और अब वे मेरी माँ की रक्षा नहीं करते । अथवा वे मेरा सिर ही काट दें", और इसी प्रकार कहने लगा ।

उसके कुछ घण्टों तक शान्त रहने के बाद महर्षि ने श्री के० एल० शर्मा से उनकी अनुबन्ध की टीका (परिशिष्ट से चालीस छन्द) के कुछ अंश पढ़ने को कहा उसका सारांश यह था कि जो लोग आत्मनिर्भर नहीं हैं, वे मानव कल्याण हेतु दैवी सहायता की इच्छा करते रहते हैं । यह उस लँगड़े की कथा के समान है, जिसने दम्भ से कहा था कि यदि कोई उसे केवल खड़ा कर दे तो वह शत्रु को परास्त करने में समर्थ है । ध्येय तो अच्छा है, पर अनुपात के सम्बन्ध में

विवेकशीलता नहीं है। युवक यह सुनकर सहसा उछल पड़ा। श्री भगवान को प्रणाम करता हुआ कहने लगा "पिता ! पिता ! मुझसे भूल हुई। मुझे क्षमा करें। मुझे निर्देश दें। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा," और इसी प्रकार कहने लगा। संध्या को पुनः युवक ने साष्टांग दण्डवत कर कहा, "मैं समर्पण करता हूँ।"

६ जून, १६३५

५२. कोकानद के एक व्यक्ति ने प्रश्न किया "मेरा मस्तिष्क दो अथवा तीन दिन निर्मल रहता है और फिर दो-तीन दिन के लिए मलिन हो जाता है और क्रम से ऐसा ही होता रहता है। इसका क्या कारण है ?

म० : यह स्वाभाविक है। यह प्रकाश (सत्व), क्रियाशीलता (राजस) एवं अज्ञान (तामस) का क्रमानुसार खेल है। तामस के आगमन पर दुःख मत करो, किन्तु जब सत्व का अवसर हो तो उसे दृढ़ता से पकड़ लो और उसका सदुपयोग करो।

भक्त : हृदय क्या है ?

म० : यह आत्मा का (यदि उसके लिए ऐसा कहा जा सके) स्थान है।

भक्त : क्या यह शारीरिक हृदय है ?

म० : नहीं। यह वह स्थान है जहाँ से 'मैं', 'मैं' उदय होता है।

भक्त : मृत्योपरान्त जीव का क्या होता है ?

म० : इस समय जीवित जीव के लिए यह प्रश्न उचित नहीं है। देह रहित होने के बाद जीव मुझसे प्रश्न करे, यदि सम्भव हो। अभी तो देहधारी जीव अपनी वर्तमान समस्या का हल करे, तथा यह खोजे कि वह कौन है। तब ऐसे सारे संशय समाप्त हो जायेंगे।

भक्त : ध्यान क्या है ?

म० : ध्यान का प्रायः यह आशय है कि किसी वस्तु पर एकाग्र होकर ध्यान लगाना। जबकि, निदिध्यासन का आशय आत्मानुसन्धान अथवा आत्म-विचार करना है। जब तक अपने स्वरूप की अनुभूति नहीं होगी तब तक त्रिगुण बने रहेंगे। जहाँ तक मुमुक्षु का सम्बन्ध है, ध्यान तथा निदिध्यासन एक ही हैं, क्योंकि वे त्रिपुटी के अन्तर्गत हैं तथा भक्ति के पर्याय हैं।

भक्त : ध्यान का अभ्यास किस प्रकार किया जाये ?

म० : ध्यान का उद्देश्य मन को एकाग्र करना है। मुख्य विचार अन्य विचारों को दूर रखता है। ध्यान व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार भिन्न प्रकार का होगा। ध्यान ईश्वर के किसी एक रूप तथा आकृति पर, मन्त्र अथवा आत्मा पर हो सकता है।

१५ जून, १९३५

५३. एक युवक, श्री नोयल्स, दर्शनार्थ आये। उन्होंने पाल ब्रंटन की दो पुस्तकें पढ़ी थीं। उनका प्रश्न था : "बौद्धों के मतानुसार 'मैं' वास्तविक नहीं है जबकि पाल ब्रंटन 'गुप्त मार्ग' में 'मैं' (देहाभिमान) के विचार से मुक्ति तथा 'मैं' की अवस्था (आत्मभाव) की प्राप्ति करने को कहते हैं। कौनसा विचार ठीक है ?"

म० : 'मैं' दो प्रकार के माने गये हैं। एक निम्न तथा मिथ्या है जिससे सब परिचित हैं। दूसरा उच्चतर तथा सत्य है (मैं आत्मा हूँ) जिसकी अनुभूति करनी है।

सुषुप्ति में तुम्हें स्वयं का भान नहीं रहता, जबकि जागृति में तुम्हें भान रहता है। जागकर तुम कहते हो कि तुम सो रहे थे; गहन निद्रा में तुम्हें इसका भान नहीं था। तात्पर्य यह है कि देहाभिमान (मैं देह हूँ) नानात्व की भावना को जन्म देता है। यह देहाभिमान एक विशेष क्षण में उदय हुआ; यह आदि अन्त वाला है। जिसका आरम्भ है वह निश्चय ही कोई वस्तु होगी। वह वस्तु क्या है ? वह 'मैं' की भावना है। 'मैं' कौन हूँ ? 'मैं' कहाँ से आया ? स्रोत का बोध होने पर तुम असीम चैतन्य की अवस्था को प्राप्त कर लोगे।

भक्त : यह 'मैं' कौन है ? यह इन्द्रियों की अनुभूति की अविच्छिन्नता ही प्रतीत होती है। बौद्ध मत भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

म० : संसार बाह्य नहीं है। इन्द्रियानुभूति का उद्गम बाहर होना सम्भव नहीं। कारण, जगत का भान चैतन्य से ही सम्भव है। संसार नहीं कहता कि वह है। यह तो तुम्हारी धारणा है। यह भान भी असंगत है तथा सदैव नहीं रहता है। गहन निद्रा में जगत का भान नहीं होता, अतः सोने वाले मनुष्य के लिए वह नहीं रहता। इस प्रकार संसार अहम् का परिणाम है। अहम् को जान लो। इसके उद्गम का अनुसन्धान ही अन्तिम लक्ष्य है।

भक्त : मेरी सम्मति में अन्य जीवों को पीड़ा पहुँचाना अनुचित है, तो क्या हमें मच्छर आदि का काटना सहन कर लेना चाहिए और शान्त रहना चाहिए ?

म० : तुमको स्वयं कष्ट सहन करना पसन्द नहीं है। तुम दूसरों को कैसे कष्ट दे सकते हो ? चूँकि मच्छर-दंश कष्टकर है, इसलिए उनसे बचो।

भक्त : मच्छर, खटमल आदि जीवों को मारना क्या उचित है ?

म० : यह सब आत्महत्या है। हमारे अज्ञानमय जीवन के कारण, हमारा वास्तविक स्वरूप जो शाश्वत है, आनन्दमय है, तथा सहज है वह ढक गया है। इस प्रकार हमारा वर्तमान जीवन शाश्वत, मूल सत्ता की हिंसा के कारण से ही सम्भव हुआ है। क्या यह स्थिति आत्महत्या की नहीं है ? इस प्रकार सब आत्महत्या है। फिर हिंसा और हत्या की क्या चिन्ता ?

कुछ समय उपरान्त हुई वार्ता में आगन्तुक ने कहा, "संसार संकेत भेजता है और मैं जग जाता हूँ !"

म० : क्या अनुभूतिकर्ता के अभाव में जगत रह सकता है ? प्रथमतः कौन है ? चैतन्य सत्ता अथवा उदय होने वाली चेतनता ? शाश्वत, शुद्ध एवं चैतन्य सत्ता सर्वदा है। उदय होने वाली चेतनता उदय होती है तथा लुप्त होती है। यह अनित्य है।

भक्त : मेरी सुषुप्ति के समय भी क्या अन्य व्यक्तियों के लिए संसार नहीं रहता ?

म० : ऐसा संसार तुम्हारी इस बात पर भी हँसता है कि तुम स्वयं को जाने बिना उसे जानते हो। संसार तुम्हारे मन का परिणाम है। अपने मन को जानो। तब संसार को देखो। तुम अनुभव करोगे कि संसार आत्मा से भिन्न नहीं।

भक्त : क्या महर्षि को स्वयं अपने आपका तथा अपने वातावरण का मेरे समान ही स्पष्ट भान नहीं है ?

म० : यह संशय किसे होता है ? आत्मज्ञानी के लिए संशय नहीं हैं। वे केवल अज्ञानी के लिए हैं।

१६ जून, १९३५

५४. आन्ध्र के एक वयोवृद्ध पण्डित को काव्यकन्थ के अद्वैत निरूपण पर कुछ शंकाएँ थीं। उसने ग्रन्थों में पढ़ा था कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से मुक्त है। उपरोक्त नियम विवर्तवाद में लागू होते हैं परन्तु परिणामवाद में नहीं होते। परिणामवाद में स्वगत भेद अनिवार्य है। महर्षि ने बताया कि दक्षिणामूर्ति ने इस प्रकार का कुछ भी निर्देश नहीं किया है। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि ब्रह्म शक्ति से सम्बद्ध है अथवा नहीं। जो था वह केवल मौन था और शिष्यों के संशय दूर हो गये। महत्त्वपूर्ण यह है कि न तो कुछ सीखना है, न विचार-विमर्श करना है और न निष्कर्ष निकालना है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है 'मैं हूँ'। भ्रम यह है कि 'मैं' देह है। क्योंकि 'मैं' परब्रह्म से उदय होकर बुद्धि को जन्म देता है। बुद्धि से 'मैं' शरीर का रूप तथा आकार देखता है। 'न मेधया' का अर्थ है—ब्रह्म को बुद्धि से अनुभव नहीं किया जा सकता।

ब्रह्म→ अहम्→ बुद्धि।

ऐसी बुद्धि अहम् को लाँघकर किस प्रकार ब्रह्म को खोज सकती है ? यह असम्भव है। केवल 'मैं' के देह होने के मिथ्या संकल्प से परे हो जाओ। यह खोज करो कि संकल्प किसको उठते हैं। यदि वर्तमान 'मैं' का भाव समाप्त

हो जाये तो खोज पूर्ण हो जायेगी। तब केवल शुद्ध आत्मा शेष रहेगी। गाढ़ी निद्रा तथा जाग्रत अवस्था की तुलना करो। नानात्व तथा शरीर केवल जाग्रत अवस्था में ही रहते हैं। सुषुप्ति में आत्मा को देह अथवा संसार की अनुभूति नहीं होती। वहाँ आनन्द का साम्राज्य है।

श्रुति के वाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' का तात्पर्य स्थिति से है; मन की वृत्ति से नहीं। केवल लगातार मन्त्र जाप से कोई ब्रह्म नहीं बन सकता। इसका भाव यही है कि ब्रह्म अन्यत्र नहीं है। वह तुम्हारी आत्मा है। इस आत्मा को खोज लो, ब्रह्म प्राप्त हो जायेगा। ब्रह्म तक पहुँचने का प्रयास इस प्रकार मत करो जैसे ब्रह्म किसी बहुत दूर जगह पर है।

पण्डित ने कहा कि संकल्प इतने प्रबल हैं कि अहम् तक नहीं पहुँचा जा सकता।

महर्षि ने कहा : ब्रह्माकार वृत्ति मन को अन्य संकल्पों से विमुख करने में सहायक होती है। ऐसी कोई साधना करें अन्यथा साधु संगत करें। साधु ने पहले ही से मन पर विजय प्राप्त करली है तथा शान्ति में स्थित है। उसका सामीप्य अन्य व्यक्तियों में भी ऐसी अवस्था लाने में सहायक है। अन्यथा साधु संगत का क्या लाभ ?

देहो अहम् (मैं देह हूँ) सीमा निर्धारण है और सारे अधम एवं स्वार्थपूर्ण क्रियाओं एवं वासनाओं का मूल है।

ब्रह्म अहम् (मैं ब्रह्म हूँ) सीमा से परे जाना है, एवं करुणा, दान, प्रेम आदि का सूचक है, जो कि दैवी एवं सात्विक गुण हैं।

भक्त : एक गृहस्थ के मोक्ष की क्या सम्भावना है ?

म० : तुम ऐसा क्यों समझते हो कि तुम गृहस्थ हो ? यदि तुम संन्यासी होकर बाहर जाओ तो यह विचार बार-बार तुम्हारी स्मृति में आता ही रहेगा कि तुम संन्यासी हो। चाहे गृहस्थ में रहो अथवा गृहस्थ त्यागकर वन में जाओ, तुम्हारा मन तुम्हारे पीछे पड़ा ही रहता है। अहम् भाव (देहाभिमान) ही संकल्पों का मूल है। यही देह तथा संसार की सृष्टि कर तुम्हें गृहस्थ होने का भान कराता है। यदि तुम संसार से विरक्त हो जाओ तो गृहस्थ के स्थान पर संन्यासी का संकल्प उत्पन्न हो जायेगा तथा परिवार के स्थान पर वन का वातावरण। पर मानसिक बाधाएँ सदैव ही यथावत् बनी रहेंगी। नये वातावरण में वे बढ़ भी जाती हैं। वातावरण का परिवर्तन सहायक नहीं होता। बाधा मन की है। इसे जीतना होगा, चाहे घर में रहो या जंगल में। यदि तुम इसे जंगल में कर सकते हो तो घर में क्यों नहीं ? इसलिए वातावरण को क्यों बदलते हो ? तुम किसी भी वातावरण में हो—तुम इसी क्षण से प्रयास कर सकते हो।

वातावरण तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हारा परित्याग नहीं करेगा। मुझे देखो। मैंने घर छोड़ा। अपने आप को देखो। तुम घर का वातावरण छोड़कर यहाँ आये हो। यहाँ तुम क्या देखते हो? तुम्हारे घर के वातावरण से क्या यह कुछ भिन्न है? यदि कोई व्यक्ति वर्षों तक निर्विकल्प समाधि में लीन होने के बाद भी जब वह उससे बाहर आता है तो वह अपने को उस वातावरण में पायेगा जो कि उसे अनिवार्य मिलना है। इसी कारण आचार्य शंकर ने अपनी सर्वोत्तम कृति 'विवेक चूड़ामणि' में निर्विकल्प समाधि की अपेक्षा सहज समाधि को प्राथमिकता दी है।

मनुष्य को प्रत्येक वातावरण के मध्य में सहज समाधि अर्थात अपनी मूल अवस्था में रहना चाहिए।

श्री भगवान ने बाद में कहा : "प्राणायाम आन्तरिक हो अथवा बाह्य।"

अन्तः प्राणायाम (आन्तरिक श्वास संयम) इस प्रकार है :—

नाहम चिन्ता (मैं देह नहीं हूँ, विचार) रेचक है। (श्वास बाहर निकालना)

कोहम् (मैं कौन हूँ) पूरक है। (श्वास लेना)

सोहम् (मैं वही हूँ) कुम्भक। (श्वास रोकना)

इस प्रकार करने से श्वास का संयम स्वतः ही हो जाता है।

बाह्य प्राणायाम (बाहरी संयम) उसके लिए है जो मन पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ है। उस जैसा निश्चयात्मक अन्य मार्ग नहीं है; अथवा साधु का संग। यदि साधु का संग उपलब्ध न हो तो बुद्धिमान मनुष्य को बाह्य प्राणायाम का अभ्यास करना अनिवार्य है। यदि वह साधु के सान्निध्य में है, साधु आवश्यक शक्ति प्रदान करता है, चाहे वह दूसरों की दृष्टि में न दीखे। हठयोग में वर्णित प्रक्रियानुसार ही प्राणायाम हो यह आवश्यक नहीं। यदि साधक जप, ध्यान, भक्ति आदि में लगा हो तो थोड़ी मात्रा में किया प्राणायाम भी मन पर विजय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त होगा। श्वास रूपी अश्व पर मन रूपी सवार है। प्राणायाम उस घोड़े को नियन्त्रित करता है। इस नियन्त्रण से सवार पर भी नियन्त्रण हो जाता है।

प्राणायाम अल्प-मात्रा में भी किया जा सकता है। श्वास के प्रति सतर्क रहना भी इसका एक प्रकार है। अन्य कार्यों से बेसुध हुआ मन श्वास के प्रति सजग रह सकता है। इससे श्वास का संयम होगा। और इस प्रकार मन का संयम हो जाता है। यदि यह न कर सको तो रेचक, पूरक न किये जायँ। जप, ध्यान आदि में कुछ देर तक श्वास रोक रखा जाय। इसके भी उत्तम परिणाम निकलेंगे।

१८ जून, १९३५

५५. **भक्त** : क्या राम, कृष्ण के पावन नाम के उच्चारण से अद्वैत की अनुभूति हो सकती है ?

म० : हाँ ।

भक्त : क्या यह निम्न-कोटि का साधन नहीं है ?

म० : तुम्हें जप करने को कहा गया है अथवा उसकी विशद चर्चा करने को कहा गया है ।

भक्त मौन रहा ।

२२ जून, १९३५

५६. एक बीस वर्ष के युवक ने पूछा : आत्मा की अनुभूति कैसे करें । एक घण्टे तक वह मौन बैठा प्रतीक्षा करता रहा । वह जाने ही वाला था कि चलते-चलते उसने प्रश्न किया :

भक्त : आत्मा की अनुभूति कैसे हो ?

म० : किसकी आत्मा ? इसकी खोज करो ।

भक्त : मैं कौन हूँ ?

म० : स्वयं इसकी खोज करो ।

भक्त : मैं नहीं जानता ।

म० : विचार करो । यह कौन है जो कहता है 'मैं नहीं जानता ?' क्या नहीं मालूम है ? इस वक्तव्य में, 'मैं' कौन है ?

भक्त : मुझ में कोई होगा ।

म० : वह कोई कौन है ? किसमें है ?

भक्त : कदाचित कोई शक्ति हो ।

म० : उसकी खोज करो ।

भक्त : ब्रह्म की प्राप्ति कैसे हो ?

म० : आत्मा को जाने बिना तुम ब्रह्म को क्यों जानना चाहते हो ?

भक्त : शास्त्र का कथन है कि ब्रह्म सर्व जगत में तथा मुझ में व्याप्त है ।

म० : 'मुझ में' 'मैं' का पता लगा लो । तदुपरान्त तुम्हें ब्रह्म का विचार करने को समय मिलेगा ।

भक्त : मेरा जन्म क्यों हुआ ?

म० : जन्म किसका हुआ ? तुम्हारे सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर है ।

भक्त : फिर मैं कौन हूँ ?

म० : (मुस्कराते हुए) क्या तुम मेरी परीक्षा करने आये हो तथा मुझसे प्रश्न करने आये हो ? तुम ही कहो तुम कौन हो ?

भक्त : गाढ़ी निद्रा में आत्मा देह को त्यागकर अन्यत्र रहता है। जब वह पुनः प्रविष्ट होता है, तब मैं जाग जाता हूँ ? क्या ऐसा ही है ?

म० : वह क्या है जो देह छोड़कर जाता है ?

भक्त : कदाचित कोई शक्ति।

म० : उस शक्ति को खोजो।

भक्त : शरीर पाँच तत्त्वों से बना है, वे तत्त्व क्या हैं ?

म० : आत्मा (स्वयं) को जाने बिना तुम पंच तत्त्व कैसे जानोगे ?

युवक कुछ समय तक बैठा रहा तथा आज्ञा लेकर चला गया। महर्षि ने कुछ समय पश्चात् कहा "ठीक है इससे सफलता मिलेगी।"

२३ जून, १९३५

५७. श्री भगवान ने कहा कि शास्त्रों में अधिकतर सुषुम्ना के नाम का ही वर्णन किया गया है। दूसरे शब्द परा, आत्मा, अमृता आदि भी आते हैं। यह भी कहा गया है कि सुषुम्ना (परा में) लीन हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि परा ज्ञान की परिभाषा है तथा सुषुम्ना योग की।

२४ जून, १९३५

"रमण गीता" के एक संशय का निवारण

चतुर्दश अध्याय के दशम् छन्द का भावार्थ यह है—"और अधिक प्रगति होने पर अन्तर्ध्यान होना भी सम्भव है। इस तरह के व्यक्ति, केवल शुद्ध चैतन्य होने से, सिद्ध की तरह रहते हैं।

अष्टादश अध्याय का अन्तिम छन्द इस प्रकार है "सिद्धों का ऐश्वर्य कल्पना से परे है। वे शिव के तुल्य हैं, तथा वरदान देने में शिव ही हैं।"

भाव यह है कि आत्म-साक्षात्कार के साथ वास्तविक तथा अविच्छिन्न तप प्राप्त होता है। ऐसे तप के सिद्ध होने पर कुछ ज्ञानी अपने शरीर को अति सूक्ष्म तथा अदृश्य बना सकते हैं। वे सिद्ध कहे गये हैं।

श्री भगवान ने पुनः कहा "सिद्धों की महानता असीम है। वे शिव तुल्य हैं तथा वरदान प्रदान करने में भी समर्थ हैं।"

उपनिषद का एक मन्त्र है—**(१) आत्मज्ञम ह्यर्चयेत भूतिकामाः** (अर्थ अथवा मोक्ष की कामना करने वाले को आत्मज्ञानी सन्त की सेवा करनी होगी।) यहाँ सिद्धों द्वारा वरदान प्रदान करने की चर्चा नहीं है। ज्ञानी ऐसा कर सकते हैं। उपरोक्त श्लोकों के साथ यदि **(२) स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः** (अपने ऐश्वर्य में रहने वाला), तथा **(३) अनन्तं ब्रह्म** (ब्रह्म अनन्त है) मन्त्र पढ़ें तो भ्रम पैदा होगा। **"सर्वम् खल्विदं ब्रह्म"** (यह सब ब्रह्म है) तथा **(४) ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति** (ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है), इससे प्रकट है कि

ज्ञानी सर्वज्ञ होता है। तब ज्ञानी तथा सिद्ध में क्या अन्तर है ? सिद्ध में वरदान प्रदान करने की क्षमता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञानी में वह क्षमता नहीं है।

इस सन्देह का महर्षि ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया--"गीता में उठाये गये प्रश्न एक विशेष भावना के अन्तर्गत थे। उत्तर भी उसी के अनुरूप दिये गये। लोग केवल शरीर को देखते हैं और वे सिद्धि की भी कामना करते हैं। आत्मज्ञान के बाद सिद्धियों का जब उसमें प्रवेश तक नहीं तब वे उससे परे कैसे जा सकती हैं ? सिद्धियों के इच्छुक मनुष्य ज्ञान मात्र के विचार से सन्तुष्ट नहीं होते; अतः साथ में सिद्धियों को भी प्राप्त करना चाहते हैं। आगे चलकर वे ज्ञान के परमानन्द की उपेक्षा कर केवल सिद्धियों की महत्त्वाकांक्षा कर सकते हैं। इस उद्देश्य से वे राजमार्ग छोड़कर संकुचित गलियों में जा रहे हैं। जिससे उनके पथभ्रष्ट होने की सम्भावना हो जाती है। उनका सही मार्गदर्शन करने के निमित्त उनको राजपथ पर रखने हेतु ज्ञान के साथ सिद्धियों की बात कही जाती है। वास्तव में ज्ञान में सम्पूर्ण अन्तर्व्याप्त है, तथा ज्ञानी सिद्धियों के लिए किंचित विचार तक भी नहीं करेगा। मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और तब सिद्धियों को, यदि उनकी ऐसी इच्छा हो।

मैं कह चुका हूँ : "शरीर समाश्रयाः सिद्धयः" तात्पर्य यह है कि सिद्धियों का सम्बन्ध शरीर से है, क्योंकि उनका दृष्टिकोण शरीर है। ज्ञानी तथा सिद्ध में भेद नहीं। वरों के देने में "वरान दातुम" आत्मलाभ भी वर की श्रेणी में आता है। सिद्ध केवल निम्न-कोटि के ही नहीं होते किन्तु उच्चतम कोटि के होते हैं।

शास्त्रों का उद्देश्य परिवर्तित परिस्थितियों में अनुकूल होना है। उनकी मूल भावना एक ही है। 'हालस्य महिमा' में अष्टविध सिद्धियों पर एक अध्याय है। उस प्रसंग में शिव का कथन है कि उनका भक्त सिद्धियों का विचार मात्र भी नहीं करता। शिव पुनः कहते हैं कि वे कभी भी वरदान प्रदान नहीं करते। भक्तों की इच्छाओं की पूर्ति उनके प्रारब्धानुसार होती है। जब स्वयं ईश्वर इस प्रकार कहते हैं तो दूसरों की बात ही क्या ? सिद्धियों के प्रदर्शन हेतु अन्य मान्यता देने वालों की आवश्यकता होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धि के प्रदर्शन करने वाले में ज्ञान का नितान्त अभाव है। अतः सिद्धियाँ किसी भी विचार के योग्य नहीं हैं। केवल ज्ञान का ही लक्ष्य करना है और उसी को प्राप्त करना है।

श्री रमण गीता के सप्तदश अध्याय के चतुर्थ छन्द का तमिल अनुवाद अशुद्ध हुआ है।

श्री भगवान ने अशुद्धि सूचित की तथा उसे शुद्ध किया। वैदर्भ का प्रश्न था : "व्यवहार में संकल्प उदय होकर क्रमशः लय होते रहते हैं। क्या यह ज्ञान है ?" महर्षि ने संशय का निवारण इस प्रकार किया :

कुछ लोगों की कल्पना में ज्ञान की अनेक अवस्थाएँ हैं। आत्मा नित्य अपरोक्ष है, सदैव सिद्ध है, हम जानें या न जानें। अतः वे कहते हैं, श्रवण भी अपरोक्ष ज्ञान है; परोक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु ज्ञान का परिणाम सर्व दुःख निवृत्ति है जो श्रवण मात्र से सुलभ नहीं। अतः उनका कहना है कि यह अपरोक्ष होते हुए भी दृढ़ नहीं है। वासनाओं का उदय इसे निर्बल व अस्थिर बना देता है। जब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तभी ज्ञान दृढ़ एवं फलदायक होता है।

कुछ लोगों का मत है कि श्रवण केवल परोक्ष ज्ञान है। मनन से यह कभी-कभी अपरोक्ष हो जाता है। इसके बराबर रहने में वासनाएँ बाधक हैं। वे मनन के बाद और भी अधिक शक्तिशाली होकर उठती हैं। वासनाओं पर नियन्त्रण आवश्यक है। ऐसी जागरूकता 'देहो नाऽहम्' (मैं देह नहीं हूँ) की स्मृति तथा मनन काल में हुए अपरोक्ष अनुभव पर दृढ़ रहने से होती है। यह अभ्यास निदिध्यासन के नाम से कहा गया है; यह वासनाओं को निर्मूल कर देता है। तदुपरान्त सहज अवस्था का उदय होता है। यही निश्चित ज्ञान है।

मनन से प्राप्त अपरोक्ष ज्ञान न दुःख की निवृत्ति करता है न मोक्ष दे सकता है, चूँकि वासनाएँ समय-समय पर ज्ञान को आवृत्त करती रहती हैं। अतः यह निर्बल है, जो निदिध्यासन (पूर्ण एकाग्र भाव) द्वारा वासनाओं के निर्मूल होने से ही दृढ़ होता है।

पुनः रमण गीता पर चर्चा

एक भक्त श्री टी० के० एस० अय्यर चक्रों पर वार्तालाप कर रहे थे।

श्री भगवान ने कहा : केवल आत्मा का साक्षात्कार करना है। यह अनुभूति अन्य सबको अपने क्षेत्र में व्याप्त कर लेती है। शक्ति, गणपति, सिद्धियाँ आदि सब इसी में सम्मिलित हैं। जो इनकी चर्चा करते हैं उन्होंने आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है। आत्मा हृदय में है; स्वयं हृदय ही है। इसका मस्तिष्क में अनुभव होता है। हृदय से मस्तिष्क तक का मार्ग सुषुम्ना अथवा अन्य किसी नाड़ी में होकर माना जा सकता है। उपनिषदों का कथन है—परा लीना—अर्थात् सुषुम्ना अथवा अन्य नाड़ियाँ परा अथवा आत्मनाड़ी में व्याप्त हैं। योगियों का कथन है कि विद्युत-शक्ति का प्रवाह जो सहस्रार (मस्तिष्क) तक उठता है वहीं समाप्त होता है। यह अनुभव सम्पूर्ण नहीं है। ज्ञान हेतु, उन्हें हृदय तक आना होगा। अथ से इति तक हृदय ही है।

४ जुलाई, १९३५

श्रीमद्भगवद्गीता

५८. श्री रंगनाथन, आई० सी० एस० :—

श्रीमद्भगवद्गीता में एक जगह कहा है : व्यक्ति का स्वयं का धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है; दूसरे का धर्म भय का देने वाला है। स्वधर्म का क्या महत्त्व है ?

म० : सामान्यतया स्वधर्म से तात्पर्य विशिष्ट कोटि तथा जातिगत कर्तव्यों से है। भौतिक वातावरण भी ध्यान में रखना चाहिए।

भक्त : यदि वर्णाश्रम धर्म से आशय है तो इस प्रकार के धर्म का प्रचलन तो भारत में ही है। जबकि गीता का उपयोग तो अखिल जगत के हेतु होना चाहिए।

म० : हर देश में किसी न किसी रूप में वर्णाश्रम विद्यमान है। महत्त्व इस बात का है कि एकमात्र आत्मा में स्थित रहो, वहाँ से बाहर भटको नहीं। इसका वास्तविक भाव यही है।

स्व=स्वयं का अर्थात् आत्मा का।

पर=दूसरे का अर्थात् अनात्मा का।

आत्मधर्म का प्रतिष्ठान आत्मा में है। कलेश अथवा भय नहीं होंगे। जब कोई अन्य होता है तभी दुःख उत्पन्न होता है। यदि यह अनुभूति हो कि केवल एकमात्र आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है तब भय नहीं होगा। आज मानव भ्रमवश अनात्म धर्म को आत्म धर्म समझकर दुःख उठाता है। उसे आत्मा को जानकर उसी में स्थित रहना चाहिए। तब भय का अन्त हो जाता है और संशय भी नहीं रहते।

यदि इसका अर्थ वर्णाश्रम धर्म लें तो भी यही आशय निकलेगा। ऐसा धर्म तभी फलदायक होगा जब निःस्वार्थ भाव से किया जाये। अर्थात् यह मान लिया जाय कि वह कर्ता नहीं है परन्तु किसी उच्चतर सत्ता का यन्त्र मात्र है। उच्चतर सत्ता अवश्यम्भावी को होने दे और मैं केवल उसके आदेशों का ही पालन करूँ। कर्म मेरे नहीं हैं। इसलिए कर्मों के परिणाम भी मेरे नहीं हो सकते। यदि इसके अनुरूप विचार तथा कर्म हों तो कष्ट है कहाँ ? चाहे वर्णाश्रम धर्म हो अथवा लौकिक धर्म यह महत्त्व का नहीं है। अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यह निकला :

स्व=आत्मनः

पर=अनात्मनः

ऐसे संशय स्वाभाविक हैं। शास्त्रानुसार व्याख्या का आधुनिक मानव के जीवन से सामंजस्य नहीं हो सकता, जिसे जीवनयापन हेतु अनेक प्रकार से कार्य करना होता है।

पोंडी से आये एक व्यक्ति ने बीच में टोका :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । सब कर्तव्यों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ ।

श्री भगवान : सर्व अनात्मनः ही है; महत्त्व 'एक' का है । जिस मनुष्य की दृढ़ स्थिति 'एक' पर है, उसके लिए धर्म कहाँ हैं ? तात्पर्य यह है कि "आत्मा में निमग्न हो जाओ ।"

भक्त : गीता का उपदेश तो कार्य करने के लिए किया गया था ।

म० : गीता क्या कहती है ? अर्जुन ने युद्ध करने से इन्कार कर दिया । कृष्ण ने कहा, "जब तक तुम लड़ने से इन्कार करते रहोगे; तुम में कर्तापन का भाव रहेगा । युद्ध करने वाले अथवा न करने वाले तुम हो कौन ? कर्ता भाव को त्यागो । जब तक उस भाव का निवारण नहीं करोगे तुम्हें कर्म तो करना ही होगा । उच्चतर सत्ता तुम्हारा उपयोग कर रही है । उसके आदेश के पालन की अवहेलना कर तुम स्वयं उसी सत्ता को स्वीकार कर रहे हो । इसकी अपेक्षा उस सत्ता को अंगीकार कर उसके आदेशों का यन्त्रवत पालन करो । (अन्य प्रकार से कहें तो) यदि तुम इन्कार करोगे तो तुम्हें बलपूर्वक युद्ध में खींच लिया जायेगा । अनिच्छुक कर्ता की अपेक्षा इच्छापूर्वक कार्य करना श्रेयस्कर है ।"

"अथवा आत्मा में स्थित हो कर्तापन के भाव से रहित होकर स्वभावानुसार कर्म करो । तब कर्म का फल तुम्हें प्रभावित नहीं करेगा । यही पुरुषार्थ एवं वीरता है ।"

'आत्मा में संस्थिति' ही गीता के उपदेश का सार है । अन्त में महर्षि ने स्वयं फिर कहा, "यदि मनुष्य आत्मा में स्थित है, ये संशय उदय नहीं होंगे । वे तभी तक उदय होते हैं जब तक वह वहाँ स्थित नहीं होता ।"

भक्त : जिज्ञासु का ऐसे उत्तर से क्या हित होगा ?

म० : फिर भी शब्दों में शक्ति होती है जो यथासमय निश्चय ही परिणाम करेंगे ।

५९. एक मौलवी ने प्रश्न किया निद्रा कैसे आती है ?

म० : यदि प्रश्नकर्ता जान ले जागृति में कौन जाग रहा है तो वह यह भी जान लेगा कि निद्रा कैसे आती है ? जिज्ञासा जाग्रत मनुष्य को ही होती है, सोने वाले को नहीं । सुषुप्त आत्मा की अपेक्षा जाग्रत आत्मा को जानना सरल है ।

भक्त : मैं कैसे जगा यह जानता हूँ । किन्तु निद्रा कैसे आयी, यह मैं नहीं जानता । मुझे अपनी जाग्रत अवस्था का भान है । उदाहरणार्थ, यदि

कोई मेरा बेंत ले जाय तो मैं उसे रोक देता हूँ किन्तु निद्रा या स्वप्न में ऐसा नहीं कर सकता। जागृति का प्रमाण स्पष्ट है। परन्तु निद्रा का क्या प्रमाण है ?

म० : तुम्हारा अज्ञान निद्रा का प्रमाण है। तुम्हारा ज्ञान जागृति का।

भक्त : मेरी आँखों के खुलने से जागृति का पता चल जाता है। किन्तु मुझे निद्रा किस प्रकार घेर लेती है ?

म० : जिस प्रकार निद्रा तुमको घेर लेती है उसी प्रकार जागृति भी तुमको घेर लेती है।

भक्त : किन्तु मैं निद्रा का आगमन उसी प्रकार अनुभव नहीं करता जिस प्रकार अपनी जागृति का।

म० : कोई बात नहीं।

भक्त : कृपया निद्रा का वर्णन वगैर उदाहरण के दें। निद्रा स्वयं क्या है यह जानना आवश्यक है ? मैं निद्रा का वास्तविक चित्र चाहता हूँ।

म० : ऐसा चित्र तो निद्रा ही है।

भक्त : मुक्ति विवाहित रहकर पाना उत्तम है, अथवा संन्यासी बनकर ?

म० : तुम जिसे भी उत्तम समझ लो।

भक्त : विश्वामित्र विवाहित अवस्था में नहीं गिरे किन्तु संन्यासी जीवन में एक बार फिसल गये। क्या यह दूसरों पर भी लागू नहीं होता ?

म० : संन्यासी जीवन में भी विश्वामित्र उतने ही पवित्र थे जितने कि विवाहित जीवन में। उनमें तनिक भी अन्तर नहीं था। विवाहित अवस्था में भी वे उतने ही अपवित्र थे जितने कि संन्यासी अवस्था में थे।

भक्त : क्या वे ऋषि थे ?

म० : अपवित्र अवस्था में वे ऋषि नहीं थे।

भक्त : क्या वे पुनः ऋषि बन सकते थे ?

म० : हाँ। उपयुक्त भक्ति से वे अच्छे ऋषि बन सकते थे। प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना से वह ठीक हो जाता है।

भक्त : इतने वर्षों की तपस्या से आपने क्या प्राप्त किया ?

म० : जो प्राप्त करने योग्य था वही मैंने प्राप्त किया। जो देखने के योग्य है, वही मैं देखता हूँ।

भक्त : क्या सभी वही देखने में समर्थ हैं ?

म० : जो दूसरे देखते हैं वही मैं देखता हूँ। वह तो सभी में अनुस्यूत है।

भक्त : क्या उसे देखने का यही मार्ग है ?

म० : पद्धति कोई भी हो। हज करने वाले किसी भी दिशा से आयें, उन्हें एक ही मार्ग से काबा में जाना होगा अथवा काबा जाने को एकत्रित होना होगा।

भक्त : आपके स्वयं के अनुभूत मुक्ति पथ पर चलने के लिए दो उपदेश बताने की कृपा करें।

म० : मैं क्या उपदेश जानता हूँ ? हर वस्तु उपदेश है ? ईश्वर की आराधना ही एकमात्र उपदेश है।

५ जुलाई, १९३५

मौन के विषय में

६०. श्री भगवान : एकान्त का मौन मजबूरी का है। समाज में रहकर वाणी पर संयम रखना मौन के तुल्य है। तब मनुष्य वाणी पर नियन्त्रण रखता है। कुछ भी कहने से पूर्व वक्ता को सचेत होना होगा। अन्य प्रकार संलग्न रहने पर वाणी संयमित रहती है। अन्तर्मुखी मन अन्य प्रकार संलग्न रहता है तथा बोलने को उत्सुक नहीं होता।

बोलने से जो मानसिक चेष्टाएँ होती हैं उनके संयम के लिए मौन का संयम आवश्यक है। यदि मन पहले ही से नियन्त्रित है, तो संयम सम्बन्धी मौन अनावश्यक है। उस अवस्था में मौन स्वाभाविक हो जाता है।

विद्यारण्य के अनुसार बारह वर्ष तक बलपूर्वक मौन रखने से पूर्ण मौन हो जाता है—इससे बोलने की शक्ति समाप्त हो जाती है। ऐसा व्यक्ति गूंगे पशु के समान है। यह मौन नहीं है। मौन सतत वाणी है। अकर्म ही निरन्तर कर्म है।

६ जुलाई, १९३५

६१. श्री एकनाथ राव : ध्यान का अभ्यास किस प्रकार हो—खुले नेत्रों से अथवा बन्द नेत्रों से ?

म० : वह किसी प्रकार भी हो सकता है। उद्देश्य है मन को अन्तर्मुखी कर अपनी खोज में बराबर लगाये रखना। कभी ऐसा होता है कि नेत्र बन्द रखने पर भीतरी संकल्प अधिक शक्तिशाली होकर बाहर निकल पड़ते हैं। नेत्र खुले रखकर भी मन का अन्तर्मुख करना कठिन हो जाता है। इसके लिए मनोबल की आवश्यकता है। विषयों को ग्रहण करने से मन दूषित हो जाता है। वैसे वह शुद्ध है। ध्यान करते समय मुख्य लक्ष्य इस बात पर हो कि मन बाहरी संस्कार डालने वाली वस्तुओं का अथवा दूसरी बातों का चिन्तन न कर अपनी खोज में सक्रिय रहे।

६२. एकनाथराव : स्फुरण (हृदय केन्द्र में होने वाली एक प्रकार की अवर्णनीय किन्तु प्रत्यक्ष चेतना) क्या है ?

म० : स्फुरण का अनुभव अनेक बार होता है, यथा—भय, उत्तेजना, आदि में। यद्यपि यह सदैव तथा सर्वत्र विद्यमान है, तथापि यह एक विशिष्ट

केन्द्र में तथा विशेष अवसरों पर ही अनुभव में आता है। इसका सम्बन्ध पूर्व घटित घटनाओं से भी है तथा भ्रम से इसे शरीरगत मान लिया जाता है। जबकि, यही केवल एवं शुद्ध है; यही आत्मा है। यदि मन को स्फुरण में स्थित कर इसका निरन्तर एवं स्वतः ही अनुभव किया जाय तो यही साक्षात्कार है।

स्फुरण साक्षात्कार की पूर्व स्थिति है। वह शुद्ध है। दृष्टा एवं दृश्य इसी से उदय होते हैं। यदि मनुष्य स्वयं को दृष्टा मानने की भूल करे तो उसे दृश्य निश्चय ही अपने से भिन्न प्रतीत होंगे। दृश्य समय-समय पर अदृश्य हो जाते हैं तथा प्रदर्शित होते हैं तथा संसार की सृष्टि होती है जिसका दृष्टा उपभोग करता है। इसकी अपेक्षा यदि मनुष्य स्वयं को वह पर्दा माने जिस पर दृष्टा तथा दृश्य प्रदर्शित होते हैं तो उसे कोई भ्रम न हो तथा वह उनके उदय एवं विलय का दृष्टामात्र रहेगा तथा उसे आत्मा में कोई भी व्याकुलता नहीं होगी।

६३. एक उच्च अधिकारी ने पूछा : यदि छोटे पद वालों को अपने ऊपर पदोन्नत कर दिया जाता है तो मन में विषाद होता है।

क्या यह अन्वेषण कि, "मैं कौन हूँ" ऐसी परिस्थिति में उस मनुष्य के मन को शान्ति प्रदान करेगी।

म० : हाँ। निश्चय ही। 'मैं कौन हूँ' ? यह खोज मन को अन्तर्मुखी करेगी।

भक्त : मेरी मूर्ति-ध्यान में आस्था है। क्या मुझे इससे ज्ञान की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलेगी ?

म० : अवश्य मिलेगी। उपासना से मन एकाग्र होता है। तब मन अन्य विचारों से मुक्त होकर ध्यान के आकार से पूर्ण होता है। मन वही हो जाता है—और इस प्रकार नितान्त शुद्ध हो जाता है। तब विचार करो उपासक कौन है ? उत्तर होगा 'मैं' अर्थात् आत्मा। और इस प्रकार अन्ततोगत्वा आत्मपद की प्राप्ति हो जाती है।

इस समय कठिनाई यह है कि मनुष्य स्वयं को कर्ता मानता है। परन्तु यह भूल है। सारे कार्य उच्चतर सत्ता ही करती है और मनुष्य उसके हाथ का यन्त्र मात्र है। यदि वह यह स्थिति स्वीकार कर ले तो वह क्लेश रहित हो जाय; अन्यथा वह क्लेशों को निमन्त्रित करता है। उदाहरण के लिए गोपुरम् (मन्दिर का शिखर) पर बनी आकृति को लो, जो कंधों पर स्तूप का भार ढोती प्रतीत होती है। उसका आकार ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह स्तूप के भारी भार से बहुत बोझिल है। पर अब यहाँ विचार की आवश्यकता है। स्तूप तो भूमि पर बना हुआ है तथा अपनी नींवों पर खड़ा है। आकृति (पृथ्वी को

उठाये हुए एटलस के समान) स्तूप का ही अंश है किन्तु दीखता ऐसा है मानो स्तूप का भार इसी पर हो। क्या यह हास्यास्पद नहीं है ? ऐसा ही वह व्यक्ति है जो अपने को कर्ता मानता है।

तदुपरान्त 'उल्लाडु नरपाडु' के मलयालम संस्करण का पाठ एक भक्त ने प्रश्नकर्ता के हितार्थ किया।

इसे सुनकर उसने पुनः प्रश्न किया : अभ्यास में द्वैत तथा अन्ततः एकत्व के सन्दर्भ में कुछ कहें।

म० : कुछ लोगों का अनुमान है कि साधना का आरम्भ द्वैत भाव से करना आवश्यक है। यह उसी सन्दर्भ में है। वे कहते हैं कि ईश्वर है; जिसकी पूजा एवं आराधना मनुष्य को करना परम आवश्यक है, अन्ततोगत्वा जीव का ईश्वर में विलय हो जाता है। कुछ लोगों का मत है कि ब्रह्म तथा जीव सदैव पृथक् हैं तथा एक-दूसरे में कभी विलय नहीं होते। अन्ततः क्या होगा इसकी हमें अभी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इसमें सभी एकमत हैं कि जीव की सत्ता है। मानव को यही उचित है कि वह जीव को खोजे, अर्थात् स्वयं की आत्मा को खोजे। तभी हम यह जान सकेंगे कि क्या आत्मा को ब्रह्म में विलीन होना है, उसका एक अंश है, अथवा उससे भिन्न रहती है। पहले से ही अन्तिम निष्कर्ष की कल्पना न करें। खुले मन से आन्तर में डुबकी लगाकर आत्मपद की प्राप्ति करना चाहिए। तुमको सत्य स्वयं ही प्रकाशित होगा। पहले से ही क्यों निश्चय करते हो कि पूर्णावस्था अद्वैत है, अथवा विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैत ? इसमें कोई सार नहीं है। वर्तमान अनुसन्धान तर्क एवं बुद्धि पर अवलम्बित है। बुद्धि आत्मा (उच्चतर सत्ता) से प्रकाश ग्रहण करती है। बुद्धि द्वारा प्राप्त बिम्बित तथा आंशिक प्रकाश मूल परम ज्योति का दर्शन किस भाँति कर सकती है ? जब बुद्धि आत्मा तक नहीं पहुँच सकती है तो फिर इसका स्वरूप कैसे जान सकती है।

इस सन्दर्भ का ऐसा महत्त्व है।

भक्त : एक छन्द में कहा गया है कि प्रारम्भ में जिन शास्त्रों का इतना गहन अध्ययन किया जाता है अन्ततः ये उपयोगी नहीं रहते। किस अवस्था में वे वृथा हो जाते हैं ?

म० : जब उनका सार ग्रहण कर लिया जाय। शास्त्रों का उपयोग यह है कि वे उच्चतर सत्ता (आत्मा) के अस्तित्व का तथा उसे प्राप्त करने का मार्ग प्रकट कर दें। उनका सार केवल इतना ही है। जब यह आत्मसात हो जाय तब शेष वृथा है। किन्तु शास्त्र बहुत बड़े ग्रन्थ हैं तथा साधक के विकास के अनुकूल अंशतः उपयोगी हैं। ज्यों-ज्यों साधक विकास को प्राप्त होता है पूर्व में उपयोग किये गये अंशों को आरोहण कर ली गयी सीढ़ियों के समान पाता है तथा इस प्रकार चढ़ी जा चुकी सीढ़ियाँ पूर्ण सफलता की स्थिति तक क्रमानुसार पूर्वपक्ष बनकर

रह जाती हैं। लक्ष्य प्राप्ति के उपरान्त केवल वही रह जाता है शेष सब वृथा हो जाता है। इस प्रकार शास्त्र वृथा हो जाते हैं। हम कितना अधिक पढ़ते हैं। क्या उस सबको जो हमने पढ़ा है हम स्मरण रख पाते हैं ? पर क्या हम उसके सारांश को भूल जाते हैं ? मन सार को पचा लेता है, शेष भुला देता है। शास्त्रों के साथ भी ऐसा ही है। वास्तविकता यह है कि मानव स्वयं को सीमित मानकर ही कष्ट उत्पन्न कर लेता है। यही भूल है। वह स्वयं ही इसको देख सकता है। सुषुप्ति में कोई संसार नहीं था, न अहम्भाव (सीमित आत्मा) था और न कष्ट था। उस आनन्दयुक्त स्थिति से कोई वस्तु जागकर कहती है—''मैं।'' उस अहम्भाव को संसार भासित होने लगता है। जगत में स्वयं अणुमात्र होने से वह अधिक की इच्छा करता है और कठिनाइयों में फँस जाता है।

अहम्भाव के उदय से पूर्व वह कितना सुखी था ! अहम्भाव का उदय ही वर्तमान क्लेशों की जड़ है। यदि वह अहम्भाव के मूल की खोज कर ले तो वह उस अवस्था में पहुँच जायेगा जहाँ असीम आनन्द है और है निद्राहीन निद्रा। आत्मा सदैव वहीं रहती है; तथा अभी और यहीं है। इससे अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं करना है। चूँकि हमने भूल से अपने को सीमित बना दिया है; हमें उनसे परे जाना होगा—उस सीमा को पार करना होगा। यह स्थिति उन दस मूर्खों जैसी है जिन्होंने नदी को तैरकर पार किया तथा दूसरे तट पर पहुँचने के बाद गिनने पर स्वयं को नौ ही पाया। अज्ञात दशम व्यक्ति के खो जाने से वे चिन्तित तथा दुःखी हो गये। समीप से गुजरते अन्य यात्री ने उनके दुःख का कारण जान उन्हें गिनकर पूरे दस पाया। किन्तु उनमें से प्रत्येक ने स्वयं को छोड़कर बाकी सबको गिन लिया था। यात्री ने क्रमशः प्रत्येक को एक-एक मुक्का मारा और उनसे मुक्कों की गिनती करने को कहा। उन्होंने दस तक की गिनती गिनी और सन्तुष्ट हो गये। यहाँ बोध यह है कि दसवाँ व्यक्ति नया नहीं आया। वह तो बराबर वहीं था पर अज्ञानवश वे सब शोकग्रस्त हो रहे थे।

एक और कथा है। एक स्त्री ने अपने गले में हार पहन रखा था किन्तु उसे भूल गयी। वह उसे तलाश करने लगी और पूछताछ करने लगी। उसकी एक सहेली को जब यह पता चला कि वह क्या खोज रही है तो उसने उसी के गले में पड़े हुए हार की ओर संकेत किया। इसने उसे हाथों से स्पर्श किया और प्रसन्न हो गयी। क्या उसे नया हार प्राप्त हुआ था ? यहाँ भी अज्ञान ही दुख का कारण था तथा ज्ञान आनन्द का।

मनुष्य तथा आत्मा की स्थिति भी इसी प्रकार है। कोई भी नवीन वस्तु प्राप्त नहीं करनी है। आत्मा का अज्ञान ही वर्तमान दुःख का कारण है। आत्मा के ज्ञान से आनन्द प्राप्त होता है ?

इसके अतिरिक्त, यदि किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति होती हो तो पूर्व में उसका अभाव माना जायगा। जो वस्तु पूर्व में नहीं थी वह पुनः नष्ट हो सकती है। इस प्रकार मोक्ष स्थायी नहीं होगा। मोक्ष स्थायी है, चूँकि आत्मा यहीं है अभी है तथा नित्य है।

इस प्रकार मनुष्य का प्रयास अज्ञान के निवारणार्थ है। ज्ञान उदित होता प्रतीत होता है, यद्यपि यह स्वाभाविक तथा सदैव ही है।

आगन्तुक ने विदा होते समय महर्षि को प्रणाम किया तथा कहा, "ऐसा कथन है कि सिंह के मुख में प्रविष्ट हुआ शिकार हमेशा के लिए ठिकाने लग जाता है।"

"वक्ता का अभिप्राय" 'मैं कौन हूँ' के एक छन्द से था जिसमें कहा गया है कि गुरु की कृपा दृष्टि में प्रवेश पाने के उपरान्त शिष्य कभी भी पुनः संसार में नहीं फँसेगा जैसा कि सिंह के जबड़े में पड़ा निश्चय ही कभी भी नहीं बच सकता।

६४. श्री भगवान को किसी की मृत्यु की सूचना दी गयी। महर्षि ने कहा, "ठीक हुआ। वास्तव में मृत व्यक्ति ही सुखी हैं। वे इस कष्टकारक शरीर से छुटकारा पा जाते हैं। मृतक व्यक्ति शोक नहीं करता। पीछे रहने वाले लोग मृतक व्यक्ति के लिए शोक करते हैं। क्या मनुष्य निद्रा से भय खाता है? इसके विपरीत निद्रा की आकांक्षा की जाती है और जागने पर प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि वह आनन्द से सोया था। गहन निद्रा के लिए सभी शैय्या तैयार करते हैं। निद्रा अल्पकालीन मृत्यु है। मृत्यु दीर्घ निद्रा है। यदि जीवित अवस्था में ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो उसे दूसरों की मृत्यु पर दुःख नहीं करना चाहिए। मनुष्य का अस्तित्व देह सहित अथवा देह रहित स्वयं सिद्ध है, जैसे जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति में। तब फिर कोई शारीरिक बन्धनों को बनाये रखने का मोह क्यों करे। मनुष्य मृत्यु रहित आत्मा को खोज ले फिर देह त्याग कर भी अमर व आनन्दयुक्त रहे।"

१३ जुलाई, १९३५

६५. एक यात्री : आत्मज्ञान के पश्चात् भी क्या जगत भासित होता है?

म० : यह प्रश्न किसने किया है? यह प्रश्न ज्ञानी ने किया है अथवा अज्ञानी ने?

भक्त : अज्ञानी ने।

म० : यह अनुभूति करो कि प्रश्न किसको उठता है। सन्देह करने वाले का पता लगने के बाद भी यदि प्रश्न उठे तो इसका उत्तर दिया जा सकता

है। क्या जगत अथवा देह कह सकते हैं कि वह है ? अथवा देखने वाला कहता है कि जगत अथवा शरीर है। दृश्य को देखने के लिए दृष्टा होना चाहिए। पहले (दृष्टा) देखने वाले को ढूँढ़ो। बाद में क्या होने वाला है उसकी अभी चिन्ता क्यों ?

श्री भगवान ने फिर कहा : क्या इससे कोई अन्तर पड़ता है कि जगत भासित होता है अथवा भासित नहीं होता है ? क्या जगत के अभी भासित होने से तुम्हारी कोई हानि हो गयी ? अथवा जब तुम्हें गहन निद्रा में संसार भासित नहीं होता था तब क्या तुम्हें कुछ प्राप्ति हो गयी थी ? संसार भासित होता है अथवा भासित नहीं होता इसका कोई महत्त्व नहीं है।

अज्ञानी पुरुष ज्ञानी को कर्मरत देखकर भ्रमित हो जाता है। जगत दोनों को भासता है, किन्तु उनका दृष्टिकोण भिन्न है। चित्रपट का उदाहरण लो। पट पर चित्र चलते रहते हैं। जाकर उन्हें पकड़ो। तुमने क्या पकड़ा ? केवल पर्दा ही। चित्रों को समाप्त हो जाने दो। तब क्या बचता है ? फिर वही पर्दा। यहाँ भी ऐसा ही है। जबकि जगत भासित हो रहा है; यह देखो कि जगत किसे भासित हो रहा है। 'मैं' के आधार को पकड़ लो। आधार को पकड़ लेने के पश्चात् जगत भासित होता है अथवा नहीं, इससे क्या अन्तर पड़ता है ?

अज्ञानी जगत को सत्य मानता है; जबकि ज्ञानी इसे केवल आत्मा की अभिव्यक्ति मानता है। आत्मा अपने को व्यक्त करती है अथवा नहीं इसका कोई महत्त्व नहीं।

१५ जुलाई, १९३५

६६. आश्रम में एक पत्र आया था जिसमें स्मृति, निद्रा तथा मृत्यु से सम्बन्धित कुछ विद्वत्तापूर्ण प्रश्न पूछे गये थे। पहले देखने में प्रश्न तर्कयुक्त प्रतीत हुए किन्तु उत्तर देने में कठिन लगे। किन्तु महर्षि के समक्ष उस विषय को रखने पर उन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से उलझन को सुलझाकर बताया कि सत्य "मैं" को असत "मैं" से पृथक न करने से ही यह सब भ्रम उत्पन्न हुआ है। विशेषण तथा वृत्तियाँ असत "मैं" की हैं, सत्य "मैं" की नहीं। मनुष्य के प्रयास का उद्देश्य अपने अज्ञान का निवारण ही है। बाद में वे समाप्त हो जाते हैं, और वास्तविक आत्मसत्ता वहाँ सदैव ही रहती है। आत्मभाव से रहने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं है।

२१ जुलाई, १९३५

६७. एक यात्री, दक्षिण रेलवे के श्री के० एस० एन० अय्यर ने कहा, "मेरे ध्यान में तनिक-सा विश्रान्ति-स्थल आता है। जब मैं अपने आपसे प्रश्न

करता हूँ "मैं कौन हूँ" तो मेरा तर्क इस प्रकार चलता है : मैं अपने हाथ को देखता हूँ। इसे कौन देखता है ? मेरी आँख। आँख को किस प्रकार देखूँ ? एक शीशे में। इसी प्रकार स्वयं को देखने के लिए भी शीशा अवश्य ही होना चाहिए। मेरा प्रश्न है मुझमें शीशे का स्थान कौन उपलब्ध करायेगा ?"

म० : तब तुम यह प्रश्न क्यों करते हो "मैं कौन हूँ ?" तुम ऐसा क्यों कहते हो कि तुम दुःखी होते हो इत्यादि ? तुम शान्त भी रह सकते थे। तुम अपनी आत्म-शान्ति से बाहर क्यों आते हो ?

भक्त : इस प्रकार जिज्ञासा करने से मुझे एकाग्र होने में सहायता मिलती है। क्या एकाग्रता ही एकमात्र लाभ है ?

म० : इससे अधिक तुम क्या चाहते हो ? एकाग्रता ही मुख्य वस्तु है। तुमको अपनी शान्ति से बाहर क्यों आना पड़ता है ?

भक्त : क्योंकि मैं बाहर खींचा जाता हूँ।

म० : "मैं कौन हूँ ?" का तात्पर्य है "मैं" के स्रोत की खोज करना। यह जान लेने पर जिसके लिए तुम प्रयत्न करते हो उसकी प्राप्ति हो जाती है।

(महर्षि के शब्दों का सारांश यह प्रतीत होता है कि प्रयास पूरी क्षमता से करना आवश्यक है तथा पराजय की भावनावश, घबराकर प्रयास छोड़ देना उचित नहीं।)

६८. मध्यम वय के गौर वर्ण, शान्त व्यक्तित्व वाले, विख्यात प्राध्यापक डा० राधाकमल मुखर्जी, योग अथवा ध्यान का अभ्यास करते हैं, अनेक अलौकिक अनुभव कर चुके हैं, महर्षि से उन रहस्यों का समाधान कराना चाहते हैं। उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी है जिसका प्रकाशन मैसर्स लोंगमैन ग्रीन एण्ड कम्पनी, लन्दन से करा चुके हैं। आत्मज्ञान की प्राप्ति उन्हें कठिन प्रतीत होती है। तथा महर्षि की सहायता चाहते हैं।

उनका प्रश्न : "उपनिषद में वर्णित ध्यान की पद्धति अब लुप्त हो चुकी है। बंगाल के एक महान सन्त ने मुझे यह पद्धति समझायी। अनेक वर्षों के संयम तथा अभ्यास के बाद मुझे कुछ रहस्यमय अनुभव होने लगे हैं। कभी मुझे ऐसा आभास होता है कि भूमा (परम चैतन्य) अनन्त है तथा मैं सीमित चेतन हूँ। क्या यह सही है ?"

म० : केवल भूमा (पूर्णता) की ही सत्ता है। वह अनन्त है। उसी में से सीमित चेतन उपाधि सहित उदय होता है। यह आभास अथवा बिम्ब है। इस व्यक्तिगत चेतन को परम चैतन्य में विलीन कर दो। बस यही करना है।

भक्त : भूमा परम चैतन्य का विशेषण है ।

म० : भूमा ही सर्वोपरि है—यत्र नान्यत् पश्यति यत्र नान्यत श्रुणोति स भूमा (जहाँ उसे कोई दूसरा प्रतीत नहीं होता, सुनता कुछ नहीं, वही पूर्णता है ।) इसकी परिभाषा तथा वर्णन नहीं हो सकता । यह यथावत है ।

भक्त : एक अपरिमितता का अनुभव होता है । कदाचित् यह भूमा से तनिक नीचे किन्तु उसके निकट है । क्या मैं सही हूँ ?

म० : केवल भूमा ही है । अन्य कुछ भी नहीं । यह सारा कथन तो मन का है ।

भक्त : मन से परे जाने पर ही मुझे इस विशालता की अनुभूति होती है ।

म० : हाँ—हाँ........

प्रोफेसर महाशय ने उनसे तनिक आगे बैठी महिला को इसका भाव हिन्दी में समझाया ।

महिला : ध्यान तथा विक्षेप में क्या अन्तर है ?

म० : कोई अन्तर नहीं । जब संकल्प हैं तब विक्षेप है । जब कोई संकल्प नहीं हैं तब ध्यान है । किन्तु ध्यान केवल अभ्यास है जो वास्तविक शान्ति की अवस्था से भिन्न है ।

महिला : ध्यान का अभ्यास किस प्रकार हो ?

म० : संकल्पों को मत आने दो ।

महिला : कार्य तथा ध्यान में सामंजस्य कैसे करें ।

म० : कर्ता कौन है ? जो कार्य कर रहा है उसे यह प्रश्न करने दो । तुम सदैव आत्मा हो । तुम मन नहीं हो । यह प्रश्न तो मन उठाता है । कार्य सदैव आत्मा की समक्षता में ही होता है । आत्मज्ञान की प्राप्ति में कार्य बाधा नहीं करता । कर्ता का मिथ्या देहाभिमान ही इसमें बाधक होता है । इस मिथ्या देहाभिमान से छुटकारा पाना है ।

प्रोफेसर : क्या चेतन रहित अवस्था अनन्त चैतन्य के समीप नहीं है ?

म० : केवल चैतन्य ही रहता है, अन्य कुछ नहीं ।

भक्त : श्री भगवान का मौन स्वयं एक महान शक्ति है । यह हमें कुछ मानसिक शान्ति प्रदान करती है ।

म० : मौन अनन्त वाणी है । मौखिक वाणी मौन की इस अन्य वाणी में बाधक होती है । मौन में हम आसपास के वातावरण के घनिष्ठ सम्पर्क में होते हैं । दक्षिणामूर्ति के मौन ने चार ऋषियों के संशय निवृत्त कर दिये । 'मौन व्याख्या प्रकटित तत्वम्' (मौन द्वारा सत्य का निरूपण) । मौन को ही प्रतिपादन कहा गया है । मौन इतना अधिक शक्तिशाली है ।

बात कहने के लिए वाणी के अंगों की आवश्यकता होती है, जो वाणी से पहले की वस्तु हैं। किन्तु अन्य वाणी विचारों से भी परे होती है। संक्षेप में यह अनुभवातीत वाणी है अथवा मौन शब्द, 'परावाक'।

भक्त : क्या साक्षात्कार में ज्ञान होता है ?

म० : ज्ञान का अभाव निद्रा है। साक्षात्कार में ज्ञान होता है। किन्तु यह ज्ञान सामान्य ज्ञान, दृष्टा—दृश्य के सम्बन्ध से भिन्न है। यह पूर्ण ज्ञान है। ज्ञान के दो अर्थ हैं :

(१) वाच्यार्थ = वृत्ति = शब्दार्थ।

(२) लक्ष्यार्थ = ज्ञान = आत्मा = स्वरूप = द्वितीय महत्त्व का।

भक्त : वृत्ति से ज्ञान का दर्शन होता है।

म० : सही है, पर साधक भ्रमवश वृत्ति को भी ज्ञान समझ लेता है। वृत्ति मन का एक प्रकार है। तुम मन नहीं हो। तुम मन से अतीत हो।

महिला—कभी-कभी ब्रह्माकार वृत्ति में रहने की अनिवार्य इच्छा होती है।

म० : यह अच्छा है। इस पर और भी अधिक ध्यान देना चाहिए जब तक कि यह सहज न हो जाय। तब यह स्वरूप की सर्वोच्च सीमा को प्राप्त करेगी।

बाद में महर्षि ने कहा : वृत्ति को प्राय: भूल से चैतन्य मान लिया जाता है। वृत्ति दृश्य मात्र है, तथा आभास के क्षेत्र में कार्य करती है। यथार्थ ज्ञान, सापेक्ष ज्ञान एवं अज्ञान से परे है। यह वृत्ति के रूप में नहीं है। इसमें दृष्टा दृश्य नहीं हैं।

वृत्ति राजसिक मन से उत्पन्न होती है। सात्विक मन इससे मुक्त है। सात्विक राजसिक का साक्षी है। वास्तव में यही वास्तविक चैतन्य है। फिर भी इसे सात्विक मन कहा जाता है, क्योंकि साक्षी होने का ज्ञान आभास का ही कार्य है। मन आभास है। ऐसा ज्ञान मन से ही साध्य है। किन्तु मन स्वयं में गतिशील नहीं। अत: इसे सात्विक मन कहा गया है। यह जीवन्मुक्त की अवस्था है। ऐसा भी कहा गया है कि जीवन्मुक्त का मन मृतक है। क्या इसमें विरोधाभास नहीं कि, जीवन्मुक्त के मन तो हो किन्तु वह मृतक हो ? अनभिज्ञ जन से तर्क करते समय यह स्वीकार करना ही पड़ता हैं।

यह भी कहते हैं कि ब्रह्म जीवन्मुक्त का मन ही है। ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मविद कैसे कहा जा सकता है। ब्रह्म कभी जानने की वस्तु थोड़े ही हो सकता है। किन्तु यह सामान्य वार्तालाप के अनुसार है।

जीवन्मुक्त एवं ईश्वर का मन सात्विक है ऐसा अनुमान किया जाता है। "अन्यथा", वे तर्क करते हैं, "जीवन्मुक्त कैसे जीवित रहता है तथा कार्य

करता है ?" तर्क के समक्ष रियायतन सात्विक मन को स्वीकार करना ही पड़ता है।

यथार्थ में सात्विक मन पूर्ण चैतन्य है। अन्ततः दृश्य तथा दृष्टा आपस में विलीन हो जाते हैं तथा केवल पूर्ण चैतन्य सर्वोपरि व्याप्त रहता है। यह अज्ञान अथवा शून्य की स्थिति नहीं है। यह तो स्वरूप ही है। ऐसा भी कहते हैं कि मन का उदय चैतन्य से होता है; और फिर आभास होता है। अन्य लोगों का मत है कि, पहले आभास का उदय होता है और फिर मन का उदय होता है। वास्तव में दोनों एक ही समय में होते हैं।

प्रोफेसर ने महर्षि से उनके अनुग्रह प्राप्ति के लिए प्रार्थना की, यद्यपि उन्हें शीघ्र ही एक सहस्र मील दूर चले जाना है। महर्षि ने कहा, देश तथा काल मन की धारणा हैं। परन्तु स्वरूप (वास्तविक आत्मा) मन, देश तथा काल से परे है। आत्मा में दूरी नहीं होती।

प्रोफेसर महाशय के साथ आयी महिला घर वापस जाने व महर्षि का सामीप्य त्यागने को अत्यधिक अनिच्छुक थी। महर्षि ने कहा, "अपने को सदैव ही मेरे समीप समझो। इससे तुमको समाधान रहेगा।" संध्या बीतने पर उन्होंने विदा ली।

६९. उपरोक्त प्रोफेसर के विश्वविद्यालय में दिये गये भाषणों की रिपोर्ट "हिन्दू" में छपी थीं। प्राध्यापक ने परिवार नियोजन की आवश्यकता पर बल देते हुए मानव को अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करने की अनेक सम्भावनाओं की आवश्यकता पर विचार किया था, जिससे कि सन्तति निरोध स्वतः ही हो जाय। यह सुनकर महर्षि ने सामान्य भाव से कहा, "उन्हें मरण की विधि जाननी चाहिए।" [यहाँ अहंकार (देहभाव) की मृत्यु से अभिप्राय है]

२४ जुलाई, १९३५

७०. श्री राजू शास्त्रीगल ने महर्षि से नाद, बिन्दु तथा कला के विषय में पूछा।

म० : वेदान्त की शब्दावली में ये प्राण, मन तथा बुद्धि हैं। तन्त्र शास्त्रानुसार नाद तेजस् युक्त सूक्ष्म स्वर है। यह प्रकाश (तेजस्) शिव की देह कहीं जाती है। जब इसका विकास होता है और स्वर निमग्न हो जाता है तो यह बिन्दु हो जाता है। प्रकाशमय (तेजोमय) होना ही लक्ष्य है। कला बिन्दु का एक अंश है।

१७. तिरुवन्नामलाई के भिन्न-भिन्न स्थानों पर महर्षि के निवास की काल-क्रमानुसार सूची :

१८९६ तिरुवन्नामलाई में आगमन तथा मन्दिर के भवन में, वृक्ष के नीचे, भूमि के नीचे की गुफा के भीतरी भाग में, पाताल लिंगम में तथा यदाकदा गोपुरम आदि में ।

१८९७ के प्रारम्भ में, गुरुमूर्तम में ले जाये गये । मन्दिर में तथा समीप के आम्रकुञ्ज में रहे (१८ मास) ।

सितम्बर, १८९८ पावलकुन्रु में ।

फरवरी, १८९९ पर्वत पर गुफाओं में, आम्र वृक्ष गुफा एवं विरुपाक्ष गुफा ।

१९०५, पचियम्मन कोइल में प्लेग की महामारी के अवसर पर छह माह व्यतीत किये ।

पुनः पर्वत पर ।

१९०८, जनवरी, फरवरी तथा मार्च में पचियम्मन कोइल में ।
पुनः पर्वत पर ।

१९१६, स्कन्दाश्रम ।

१९२२, पर्वत के दक्षिण के ढाल पर रमणाश्रम स्थान पर ।

२५ सितम्बर, १९३५

७२. श्री के० एस० एन० अय्यर एक रेलवे अधिकारी ने, जप के सम्बन्ध में प्रश्न किया ।

म० : उच्चारण और तब स्मरण एवं बाद में ध्यान क्रमानुसार अवस्थाएँ हैं जिनकी अन्ततोगत्वा अनैच्छिक एवं सतत जाप में समाप्ति होती है । उस प्रकार काजपकर्ता आत्मा है । सब प्रकार के जपों में "मैं कौन हूँ ?" सर्वश्रेष्ठ है ।

२७ सितम्बर, १९३५

७३. श्री एकनाथराव, इंजीनियर, ने प्रश्न किया, "गुरु का आशीर्वाद न सही—पर यदि उनसे प्रोत्साहन भी न मिले तो उस नैराश्य के बारे में क्या ?"

म० : यह केवल अज्ञान ही है । यह खोज आवश्यक है कि निराशा आदि किसे हुई है । सुषुप्ति के पश्चात् उत्पन्न अहम्भाव का भूत ही ऐसे संकल्पों का शिकार बनता है । गाढ़ी निद्रा में उस व्यक्ति को यह सब व्यथित नहीं करता था । अब जाग्रत अवस्था में इससे कौन दुःखित हुआ ? सुषुप्ति की अवस्था ही सहज अवस्था के समान है । उसको यही खोजना एवं जानना होगा ।

भक्त : परन्तु बिना प्रोत्साहन के उत्साह नहीं होता ।

म० : क्या ध्यान करते समय व्यक्ति को किसी प्रकार की शान्ति का अनुभव नहीं होता ? यही प्रगति का चिह्न है । निरन्तर अभ्यास द्वारा यह शान्ति अधिक गहन तथा अधिक दीर्घकालीन होती जायेगी । इससे लक्ष्य की प्राप्ति भी होगी । श्रीमदभगवद्गीता के चतुर्दश अध्याय के अन्तिम श्लोकों में गुणातीत का वर्णन है । यही अन्तिम अवस्था है ।

इससे पूर्व की अवस्थाएँ अशुद्ध सत्व, मिश्रित सत्व तथा शुद्ध सत्व हैं ।

इनमें से जब राजस एवं तामस दबा देते हैं तब अशुद्ध सत्व है । मिश्रित सत्व अवस्था में सत्व यदाकदा प्रकाशित होता रहता है; तथा शुद्ध सत्व राजस तथा तामस को दबा देता है । इन क्रमानुगत अवस्थाओं के बाद गुणातीत अवस्था का प्रादुर्भाव होता है ।

७४. इंजीनियर श्री फ्रायडमैन अपने एक पत्र में लिखते हैं : "महर्षि सदा ही मेरे साथ हैं, चाहे मैं उनका स्मरण करूँ अथवा मैं उनका स्मरण न करूँ । अन्यथा मैं कैसे जीवित हूँ ।"

७५. श्री ग्राण्ट डफ, जो इससे पूर्व किसी विदेशी दूतावास में थे, लिखते हैं : ……महर्षि को मेरा सादर प्रणाम कहें । वे मेरे विचारों में मेरे प्रश्नों के उत्तर के रूप में ही नहीं अपितु उपस्थिति के रूप में भी प्रतीत होते हैं……

२९ सितम्बर, १९३५

७६. श्री के० एस० एन० अय्यर ने कहा कि मेरी समझ में नहीं आता कि आध्यात्मिक जीवन तथा सांसारिक कार्य-कलापों में कैसे सामंजस्य स्थापित हो सकता है । महर्षि ने उत्तर में "योग वाशिष्ठ" के कुछ श्लोक सुनाये । (मूल ग्रन्थ में लाखों छन्द बताये जाते हैं, जिनमें से अब मूल संस्कृत में केवल ३२,००० श्लोक मिलते हैं । इनका भी ६,००० श्लोकों में संक्षिप्तीकरण कर लिया गया है जिसे "लघु वाशिष्ठ" कहते हैं । उसका तमिल में २,०५० श्लोकों में अनुवाद कर लिया गया है ।)

भक्त : मन को उस पर एकाग्र किये बिना कार्य सन्तोषजनक रूप से सम्पादित नहीं किये जा सकते । यह कैसे हो कि मन आध्यात्मिकता में स्थिर रहे और साथ ही कार्य भी होता रहे ?

म० : मन जाग्रत अवस्था में प्रतीत होता है जो केवल आत्मा का प्रक्षेप मात्र है । गाढ़ी निद्रा में तुम नहीं कहते तुम किसके पुत्र आदि हो । जैसे ही तुम जाग्रत होते हो तुम कहते हो कि तुम अमुक हो तथा अमुक एवं जगत को मान्यता देते हो । और इसी प्रकार अन्य बातें कहने लगते हो । जगत लोक: मात्र है । 'लोक: लोक्यते इति लोक:' जिसकी अनुभूति हो वही लोक: अर्थात् जगत है । कौनसा

चक्षु इसे देखता है ? वह चक्षु अहंकार है, जो समय-समय पर उदय होकर लुप्त होता रहता है । पर तुम स्वयं सदैव ही रहते हो ।

अतः जो अहंकार के परे है, वही चैतन्य—आत्मा है ।

मन गाढ़ी निद्रा में विलीन होता है, नष्ट नहीं होता । जो विलीन होता है वही पुनः उदय होता है । यह ध्यान में भी सम्भव है । किन्तु यदि मन को नष्ट कर दिया जाय तो वह पुनः उदय नहीं होगा । योगी का लक्ष्य मन को समाप्त करना आवश्यक है, लय करना नहीं । ध्यान की शान्ति में मन लय हो जाता है किन्तु यह पर्याप्त नहीं है । मन को अन्य पूरक साधनाओं द्वारा नष्ट करना होगा । कुछ व्यक्ति साधारण संकल्प लेकर समाधि में गये और दीर्घकाल के उपरान्त भी पुनः उसी विचार की धुन में जागृति में आये । इस अवधि में संसार में अनेक पीढ़ियाँ व्यतीत हो चुकी थीं । ऐसे योगी ने अपने मन को नष्ट नहीं किया था । मन को नष्ट करना, उसे आत्मा से किंचित भी पृथक् न मानना है । इस क्षण भी मन नहीं है । इस सत्य को जान लो । यदि दैनिक कार्यकलापों में नहीं तो फिर कैसे इस सत्य को जानोगे ? ये स्वतः ही होते रहते हैं । यह जान लो कि इनका प्रेरक मन यथार्थ नहीं है बल्कि काल्पनिक है जो आत्मा से उत्पन्न होता है । इसी प्रकार मन नष्ट किया जा सकता है ।

७७. श्री भगवान ने बाइबिल का उद्धरण देते हुए (*Psalm* 46, Found in the *Ecclesiastes*) कहा, "शान्त हो जाओ और जान लो कि मैं ईश्वर हूँ", "केवल एक ही है, अन्य कुछ भी नहीं" तथा "बुद्धिमान का हृदय दक्षिण भाग में स्थित है और मूर्ख का वाम में ।"

७८. मसूला के एक व्यक्ति ने जिज्ञासा की, "आत्मा की अनुभूति कैसे करें ।"

म० : प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में आत्मा का अनुभव कर रहा है ।

भक्त : परन्तु जैसी आकांक्षा है उस प्रकार आत्मा का अनुभव नहीं हो रहा है ।

म० : हाँ, वर्तमान अनुभव विपरीत है—वास्तविकता से भिन्न । जो नहीं है, उसे भ्रमवश जो है उससे युक्त कर लिया जाता है ।

भक्त : आत्मा को कैसे जानें ?

म० : आत्मा की आन्तर में खोज नहीं होती । खोज अनात्मा की ही हो सकती है । केवल अनात्मा का ही लोप हो सकता है । आत्मा सदैव स्वयं प्रत्यक्ष होने से स्वयं अपने आप में प्रकाशित होगी ।

आत्मा को अनेक नामों से कहा जाता है—आत्मा, ईश्वर, कुण्डलिनी मन्त्र आदि । इनमें से किसी को भी अपना लो और आत्मा व्यक्त हो जायगी । आत्मा

से भिन्न ईश्वर नहीं है । इस समय कुण्डलिनी मन के रूप में प्रकट हो रही है । मन के मूल को खोजने पर कुण्डलिनी प्रकट होती है । मन्त्र के जप से अन्य विचारों का लोप होकर मन्त्र पर ध्यान केन्द्रित होता है । अन्ततः मन्त्र आत्मा में विलय होकर, आत्म रूप प्रकाशित होता है ।

भक्त : आत्म-ज्ञान हेतु गुरु की आवश्यकता कब तक रहती है ?

म० : जब तक लघु (हल्का) है तब तक गुरु (भारी) की आवश्यकता रहती है । लघु का कारण है, स्वयं आरोपित किन्तु भ्रम से अपने आप (आत्मा) को सीमित मानना । ईश्वर आराधना के फलस्वरूप उनसे दृढ़ भक्ति प्राप्त होती है जिससे समर्पण होता है । भक्त के समर्पण के फलस्वरूप ईश्वरीय कृपा गुरु के रूप में व्यक्त होती है । गुरु जो वास्तव में ईश्वर ही है, भक्त का मार्गदर्शन कर बताता है कि ईश्वर तुममें है और वह आत्मा है । इससे मन अन्तर्मुख हो अन्ततः साक्षात्कार करता है ।

आत्मानुभव करने की अवस्था तक साधन की आवश्यकता है । तब आत्मा का स्वतः प्रकाशित होना आवश्यक है अन्यथा आनन्द पूर्ण नहीं होगा । इस सहज अवस्था की प्राप्ति तक कुछ न कुछ प्रयास आवश्यक है ।

भक्त : इन प्रयासों से हमारे सांसारिक जीवन की संगति नहीं बैठती ।

म० : तुम क्यों विचार करते हो कि तुम क्रियाशील हो । तुम्हारे यहाँ आने का पूरा उदाहरण लें, तुम घर से बैलगाड़ी में चले, रेल में बैठे, यहाँ रेलवे स्टेशन पर उतरे । वहाँ बैलगाड़ी में बैठे और स्वयं को इस आश्रम में पाया । किसी के पूछने पर तुम कहते हो कि तुम अपने शहर से पूरा मार्ग चलकर यहाँ आये हो । क्या यह सत्य है ? क्या वास्तविकता यह नहीं है कि तुम जैसे थे वैसे ही रहे और समस्त मार्ग वाहन ही चेष्टा करते रहे । जिस प्रकार उस कार्य को भी तुम भ्रान्तिवश अपने स्वयं का कार्य मान लेते हो, उसी प्रकार अन्य कार्यों के लिए भी ऐसा ही समझो । वे स्वयं तुम्हारे नहीं हैं । वे ईश्वरीय कार्य हैं ।

भक्त : इस विचार का परिणाम मानसिक शून्यता होगी और कार्य की ठीक-ठीक प्रगति नहीं होगी ।

म० : इस शून्यता तक पहुँच जाओ तब बाद में मुझसे कहना ।

भक्त : ऐसा कहा जाता है ज्ञानियों का दर्शन आत्म-साक्षात्कार में सहायक होता है ।

म० : हाँ, वह सहायक होता है ।

भक्त : क्या आपके पास मेरी वर्तमान यात्रा मुझे वह प्राप्त नहीं करायेगी ?

म० : (कुछ रुककर) क्या प्राप्त करना है ? किसको ? विचार

करो; अनुसन्धान करो। यह संशय किसको है ? यदि स्रोत को खोज लें; संशय लुप्त हो जायगा।

७६. एक इन्जीनियर ने पूछा : "पशु वातावरण व परिवर्तनों के होते हुए भी अपने प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए दीखते हैं। जबकि मनुष्य सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता है तथा किसी भी निर्धारित नियम से बँधा हुआ नहीं है। पशु तो पूर्ववत आचरण कर रहे हैं, परन्तु मानव पतन की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है। क्या यह ऐसा नहीं है ?

म० : (पर्याप्त समय पश्चात) उपनिषद व शास्त्रों का कहना है कि बिना साक्षात्कार के मानव पशु ही हैं। सम्भवतया वे अधिक निकृष्ट हैं।

३ अक्टूबर, १९३५

८०. एक सरल और अत्यन्त श्रद्धालु भक्त का एकमात्र तीन वर्षीय बालक दिवंगत हो गया। अगले दिन वह सपरिवार आश्रम में आया। महर्षि ने उनके सन्दर्भ में कहा : "मन के अभ्यास से मनुष्य दुःख तथा शोक को धैर्य के साथ सहन कर सकता है। सन्तान का वियोग सब दुःखों से कठोरतम है ? जब तक तुम अपने को एक निश्चित आकार मानोगे तभी तक दुःख रहेगा। उस आकार से अतीत होने पर यह अनुभव होगा कि आत्मा अमर है। वहाँ न मृत्यु है न जन्म। जन्म केवल शरीर का है। शरीर देहभाव की सृष्टि है। किन्तु सामान्यतया अहंकार देह से पृथक दृष्टिगोचर नहीं होता। उसका सदैव देह से तादात्म्य माना जाता है। विचार ही महत्त्वपूर्ण है। बुद्धिमान मनुष्य को विचार करना चाहिए कि क्या वह गाढ़ी निद्रा में अपने शरीर से परिचित था। वह उसे जाग्रत अवस्था में क्यों अनुभव करता है ? किन्तु, यद्यपि सुषुप्ति में देहानुभूति नहीं थीं पर क्या तब आत्मा का अस्तित्व नहीं था ? गाढ़ी निद्रा में वह कैसे था ? जागृति में वह कैसे है ? क्या अन्तर है ? अहंकार का उदय होना ही जागना है। उसी समय संकल्प उदय होते हैं। उसको मालूम करने दो कि संकल्प किसको हैं ? वे कहाँ से उदय होते हैं ? उनका उदय चैतन्य आत्मा से ही हो सकता है। इसकी अस्पष्ट अनुभूति भी अहंकार के निराकरण में सहायक होती है। तदुपरान्त एक अनन्त सत्ता की अनुभूति सम्भव हो जाती है। उस अवस्था में शाश्वत सत्ता के अतिरिक्त अन्य व्यक्तित्व नहीं रहता। तब वहाँ न मृत्यु का विचार है, न शोक का।

"यदि मनुष्य यह मानता है कि उसका जन्म हुआ है तो वह मृत्यु के भय को टाल नहीं सकता। उसे यह मालूम करना है कि क्या उसका जन्म हुआ है अथवा क्या आत्मा का जन्म होता है। उसे यह ज्ञात होगा कि आत्मा सदैव ही रहती है। जन्म लेने वाला शरीर संकल्पों में परिवर्तित हो जाता है तथा संकल्प

का उदय ही सारे अनिष्ट की जड़ है। यह मालूम करो कि संकल्प कहाँ से उदय होते हैं। तभी तुम सदैव सत्तावान अन्तस्थ आत्मा में रमण करोगे तथा जन्म की कल्पना एवं मृत्यु के भय से मुक्त हो जाओगे।''

एक भक्त ने पूछा, ''यह कैसे किया जाय ?''

म० : संकल्प असंख्य पूर्व-जन्मों की संचित वासनाएँ मात्र ही हैं। उन वासनाओं का क्षय करना ही लक्ष्य है। वासना मुक्त अवस्था मूल अवस्था है एवं शुद्धता की नित्य अवस्था है।

भक्त : यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ ?

म० : सबको नित्य आत्मा का भान है। मनुष्य बहुतों को मरते देखकर भी स्वयं अपने को अमर मानता है। क्योंकि यही सत्य है। बिना जाने भी वास्तविक सत्य अपने आपको प्रकाशित करता है। चैतन्य आत्मा के जड़ शरीर के मिलने से मनुष्य को भ्रान्ति हो जाती है। इस भ्रान्ति का अन्त होना चाहिए।

भक्त : इसका अन्त कैसे होगा ?

म० : जिसका जन्म हुआ है उसका अन्त अनिवार्य है। भ्रान्ति तथा देहभाव (अहंकार) साथी हैं। इसका उदय तथा लोप होता रहता है। परन्तु सत्यता का न कभी उदय होता है न लोप होता है। वह तो नित्य ही है। जिस गुरु ने ऐसी अनुभूति कर ली है वह ऐसा कहता है; शिष्य सुनता है; शब्दों पर मनन करता है तथा आत्मा की अनुभूति करता है। इसको दो प्रकार से कहा जा सकता है :

नित्य सिद्ध आत्मा की अनुभूति के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं है। अनुभूति वहाँ पहले से ही है। केवल भ्रान्ति को हटाना है। कुछ लोग कहते हैं गुरु के शब्द मात्र से ही भ्रान्ति का तत्काल निवारण हो जाता है। कुछ कहते हैं कि अनुभूति के लिए ध्यानादि आवश्यक हैं। दोनों ही सही हैं; केवल दृष्टि-बिन्दु का अन्तर है।

भक्त : क्या ध्यान आवश्यक है ?

म० : उपनिषदों के अनुसार तो पृथ्वी भी नित्य ध्यान में है।

भक्त : कर्म किस प्रकार उसे सहायता करते हैं। क्या इससे पूर्व संचित कर्मों के भारी बोझ को जिन्हें हमें हटाना है, उनमें वृद्धि नहीं होगी ?

म० : निष्काम कर्म करने से मन निर्मल होता है और उसे ध्यान में स्थिर होने में सहायता मिलती है।

भक्त : यदि बिना कर्म के निरन्तर ध्यान करें तो ?

म० : प्रयास करो और देखो। वासनाएँ तुम्हें यह नहीं करने देंगी। गुरु कृपा से वासनाएँ धीरे-धीरे क्षीण होकर क्रमशः ही ध्यान सुलभ होता है।

१५ अक्टूबर, १९३५

८१. डाक्टर बर्नार्ड बे, अमरीका के एक रसायनशास्त्री हैं जो पिछले बीस वर्ष से वेदान्त में रुचि ले रहे हैं। अब भारत आने पर महर्षि के दर्शनार्थ आये। उन्होंने प्रश्न किया : "अभ्यास कैसे किया जाय ? मैं प्रकाश की खोज में हूँ।" (उन्होंने स्वयं ही अभ्यास का अर्थ एकाग्र होना बताया=मन की एकाग्रता)।

महर्षि ने पूछा, अब तक उनका क्या अभ्यास था। यात्री ने कहा कि वे नासिका के अग्र-भाग पर एकाग्र होते थे। किन्तु उनका मन भटकता था।

म० : क्या मन भी है ?

एक अन्य भक्त ने नम्रता से निवेदन किया : मन केवल संकल्पों का समूह है।

म० : संकल्प किसको आते हैं ? यदि तुम मन के स्थान को जानने का प्रयास करोगे तो मन लुप्त हो जायगा तथा केवल आत्मा रहती है। केवल अस्तित्व है तो एकाग्रता अथवा अन्यथा नहीं हो सकता।

भक्त : यह समझना बहुत कठिन है। यदि कोई निश्चयात्मक बात कही जाय तो वह सरलता से समझी जा सकती है। जप, ध्यान आदि अधिक स्पष्ट हैं।

म० : मैं कौन हूँ ? सर्वोत्तम जाप है।

आत्मा से अधिक स्पष्ट क्या हो सकता है ? प्रत्येक व्यक्ति को हर क्षण इसका अनुभव है। वह आत्मा को छोड़ बाहर की कोई वस्तु क्यों ग्रहण करे। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अज्ञात अन्य वस्तु की अपेक्षा ज्ञात आत्मा की खोज करने का प्रयास करना चाहिए।

भक्त : आत्मा का ध्यान कहाँ करूँ ? मेरा आशय है शरीर के किस भाग में करूँ ?

म० : आत्मा अपने को व्यक्त करे। बस इतना ही आवश्यक है।

एक भक्त ने नम्रतापूर्वक कहा : वक्ष के दाहिनी ओर हृदय है। यही आत्मा का स्थान है।

अन्य भक्त : आत्मानुभूति होने पर उस केन्द्र में प्रकाश होता है।

म० : ऐसा ही है।

भक्त : मन को जगत से किस प्रकार हटायें ?

म० : क्या संसार है ? मेरा आशय है, क्या आत्मा से परे ? क्या जगत कहता है कि वह है ? यह तो तुम हो जो कहते हो कि संसार है। उस आत्मा को मालूम करो जो यह कहता है।

१६ अक्टूबर, १६३५

८२. अनेक प्रकार की समाधियों में क्या अन्तर है ? इसके सम्बन्ध में प्रश्न पूछा गया।

म० : जब इन्द्रियों का अन्धकार में विलय होता है, तब वह गाढ़ी निद्रा है; जब इन्द्रियों का प्रकाश में विलय होता है, तब वह समाधि है। जिस प्रकार गाड़ी में सोता हुआ यात्री गाड़ी के चलने, रुकने तथा घोड़ों के खोले जाने पर भी उससे अनभिज्ञ रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी जो सहज समाधि में है घटनाक्रम, जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति से अनभिज्ञ रहता है। इस उदाहरण में निद्रा घोड़ों के खुलने के समान है। तथा समाधि घोड़ों के विश्राम के समान है। चूंकि इन्द्रियाँ कर्म करने को उसी प्रकार प्रस्तुत रहती हैं, जिस प्रकार कि विश्राम के बाद घोड़े चलने को तत्पर रहते हैं।

समाधि में सिर नीचे नहीं झुकता, चूँकि निष्क्रिय होते हुए भी इन्द्रियाँ विद्यमान हैं; जबकि निद्रा में सिर नीचे झुक जाता है, क्योंकि इन्द्रियाँ अन्धकार में विलीन हो जाती हैं। 'कैवल्य समाधि' में क्रियाएँ (प्राणधारक एवं मानसिक) जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति, केवल विलीन होकर समाधि से अन्य अवस्था होते ही प्रकट हो जाती हैं। सहज समाधि में प्राणधारक तथा मानसिक क्रियाएँ एवं तीनों अवस्थाएँ पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं; और फिर कभी भी पुनः प्रकट नहीं होतीं। यद्यपि अन्य व्यक्ति ज्ञानी को खाता, बात करता, चलता देखकर उसे क्रियाशील मानते हैं। वह स्वयं इन क्रियाओं से अनभिज्ञ रहता है, जबकि अन्य व्यक्तियों को उसकी सक्रियता का भान है। ये क्रियाएँ उसकी देह की हैं, उसके स्वरूप की नहीं। जहाँ तक उसका सम्बन्ध है, वह सोते हुए उस यात्री—अथवा उस बालक के समान है, जिसे गहन निद्रा में बाधा डालकर दुग्ध-पान करा दिया जाय, जिसका उसे भान नहीं है। अगले दिन बालक कहता है कि मैंने दूध बिलकुल नहीं पीया तथा मैं बिना उसके सो गया था। स्मरण कराने पर भी उसे विश्वास नहीं कराया जा सकता। सहज समाधि में भी ऐसा ही है।

'सुषुम्ना परालीन'। यहाँ सुषुम्ना तपो मार्ग का निर्देश करती है तथा परा नाड़ी ज्ञान मार्ग का निर्देश करती है।

८३. महर्षि ने कुछ भक्तों की कथाएँ सुनाते हुए बताया कि श्रीकृष्ण ने एकनाथ की बारह वर्ष तक सेवा की, तथा पाण्डुरंग द्वारा किस प्रकार सक्कू बाई को गृह के कारागार से मुक्त कर पंढरपुर की यात्रा करने में सहायता की।

तत्पश्चात महर्षि ने सन् १८९६ में मदुरा के तिरुवन्नामलाई जाते समय

एक रहस्यमय मौलवी के प्रकट होने का संस्मरण सुनाया कि वह किस प्रकार प्रकट हुआ, बातचीत की तथा अचानक अदृश्य हो गया।

८४. श्री ग्राण्ट डफ ने महर्षि से पूछा, "क्या किसी नेवले का आपसे कुछ सम्बन्ध था ?"

महर्षि ने कहा, "हाँ, आर्द्र तथा जयन्ति के अवसर पर, मैं पर्वत पर स्कन्दाश्रम में निवास करता था। नगर से बहुत-से यात्री पर्वत पर चढ़कर आ रहे थे। एक नेवला सामान्य आकार से बड़ा, सुनहरे रंग का, न कि सामान्य नेवलों की तरह भूरे रंग का तथा जंगली नेवले की पूँछ के काले बिन्दु से रहित, जन-समुदाय के मध्य निर्भय बिचर रहा था। लोगों ने इसे भीड़ में से किसी यात्री का पालतू नेवला समझा। जानवर सीधा विरुपाक्ष गुफा के समीप झरने में स्नान करते पलानी स्वामी के निकट गया। उन्होंने नेवले को सहलाया तथा उसे प्यार से थपथपाया। नेवला उनके साथ गुफा तक गया, कन्दरा के प्रत्येक कोनों तथा स्थानों का निरीक्षण किया, तथा तदुपरान्त जन-समुदाय के साथ स्कन्दाश्रम तक आया। मैंने उसे देखा। उसके आकर्षक रूप तथा उसकी निःशंक चेष्टा से सभी चकित थे। नेवला मेरे पास आया, मेरी गोद में बैठ गया और कुछ देर तक विश्राम करता रहा। फिर वह उठा, और चारों ओर देखकर नीचे उतरने लगा। वह पूरे आश्रम का चक्कर लगाता रहा, और मैं असावधान यात्री, अथवा मोरों से उसको कदाचित हानि से बचाने हेतु साथ-साथ चलता रहा। वहाँ के दो मोर उसे उत्सुकता के साथ देखते रहे, किन्तु नेवला एक जगह से दूसरी ओर अविचलित भाव से फिरता रहा तथा अन्त में आश्रम की दक्षिण-पूर्व चट्टानों में अदृश्य हो गया।"

८५. उन्हीं महाशय ने महर्षि से स्मृति व इच्छा के मुख्य आपसी सम्बन्ध के बारे में तथा उनका मन से क्या सम्बन्ध है, इसके बारे में प्रश्न किया।

म० : ये मन के कार्य हैं। मन अहंकार का परिणाम है तथा अहंकार आत्मा से उदय होता है।

६ नवम्बर, १९३५

८६. महर्षि ने ईसाई मत का वास्तविक महत्त्व इस प्रकार समझाया :

ईसा अहंकार है।

सलीब देह है।

जब अहंकार को सलीब पर चढ़ाया जाता है, और वह नष्ट होता है, जो शेष रहता है, वह पूर्ण ब्रह्म है। (तुलना करें "मैं और मेरे पिता एक हैं") और बाद के इस श्रेष्ठ जीवन को पुनर्जीवन कहते हैं।

८७. एक निष्ठावान अंग्रेज भक्त मेजर ए० डब्ल्यू चैडविक ने प्रश्न किया, "ईसामसीह ने सलीब पर चढ़ाये जाते समय 'मेरे प्रभु ! मेरे प्रभु !' क्यों पुकारा ?

म० : सम्भवतया प्रभु के लिए उनकी यह पुकार उनके साथ ही दो अन्य सलीब पर चढ़ाये जाने वाले चोरों के लिए थी। फिर ज्ञानी ने तो जीवित अवस्था में ही, यहाँ और अभी मुक्ति प्राप्त कर ली है। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह कैसे, कहाँ और कब अपने शरीर का त्याग करता है। कुछ ज्ञानियों को कष्ट होता-सा प्रतीत होता है, अन्य समाधिस्थ हो सकते हैं, तथापि दूसरे मृत्यु से पूर्व दृष्टि से ओझल हो सकते हैं। पर इससे उनके ज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस तरह के कष्ट का आभास दर्शक को ही होता है ज्ञानी को नहीं, क्योंकि वह पहले ही आत्मा एवं शरीर की मिथ्या ऐक्यता की सीमा को पार कर चुका है।

८८. उपरोक्त महाशय ने प्रश्न किया : सन्त पॉल के दिव्य दर्शन में ईसा का क्या महत्त्व है ?

म० : दिव्य दर्शन पूर्ण है, उसका आकार से सम्बन्ध नहीं है। जब सन्त पॉल को आत्म-अनुभव हुआ तब उस प्रकाश को उन्होंने ईसा का प्रकाश माना।

भक्त : किन्तु तब तक पॉल ईसा के प्रेमी नहीं थे।

म० : प्रेम तथा घृणा का कोई महत्त्व नहीं। ईसा का भाव मन में था ही। यह रावण जैसी स्थिति थी। ईसा का प्रकाश तथा आत्म-साक्षात्कार एक ही हैं।

८९. कपूर की आरती ज्ञान के प्रकाश से मन के नष्ट होने की प्रतीक है। विभूति शिव है तथा कुंकुम शक्ति है।

विभूति दो प्रकार की है : परा विभूति तथा अपरा विभूति। पवित्र विभूति अपरा है। साक्षात्कार की अग्नि से जब सारा मैल कट जाता है तब जो शेष रहता है उसे परा कहते हैं। यह परब्रह्म है।

९०. ईसाई धर्म की त्रयी इस प्रकार स्पष्ट की गयी :

प्रभु पिता ईश्वर के सदृश हैं।
प्रभु पवित्र आत्मा आत्मा के सदृश हैं।
प्रभु पुत्र गुरु के सदृश हैं।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदा विभागिने,
व्योमवद् व्याप्त देहाय दक्षिणामूर्तये नमः।

आशय यह है कि ईश्वर भक्तों को गुरु (ईश्वर का पुत्र) रूप में दर्शन देता है तथा पवित्र आत्मा की सर्व-व्यापकता को प्रकट करता है। अर्थात ईश्वर आत्मा

है, तथा यह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है; तथा आत्मा का साक्षात्कार आवश्यक है, जो कि ईश्वर के साक्षात्कार के तुल्य है।

६१. एक बंगाली यात्री ने प्रश्न किया कि मन पर नियन्त्रण कैसे करें?

म० : तुम मन किसे मानते हो?

भक्त : जब मैं ईश्वर पर विचार करने बैठता हूँ तो विचार अन्य विषयों में भटकने लगते हैं। मैं इन विचारों पर संयम करना चाहता हूँ।

म० : भगवद्गीता में ऐसा कहा गया है कि मन का स्वभाव ही चंचल है। व्यक्ति को अपने विचारों को ईश्वरोन्मुख करना चाहिए। चिरकालीन अभ्यास से मन संयमित तथा स्थिर हो जाता है।

मन की चंचलता एक दुर्बलता है जो संकल्पों के रूप में और उसके कारण शक्ति के अपव्यय से उत्पन्न होती है। मन के एक ही विचार पर केन्द्रित करने से शक्ति का संचय होता है तथा मन अधिक बलवान होता है।

भक्त : मन की शक्ति से क्या तात्पर्य है?

म० : बिना किसी विक्षेप के एक ही विचार पर एकाग्र होने की योग्यता।

भक्त : यह कैसे प्राप्त होती है?

म० : अभ्यास द्वारा। एक भक्त ईश्वर का ध्यान करता है; ज्ञान-मार्ग का साधक आत्मा की खोज करता है। दोनों के लिए साधना एकसी कठिन है।

भक्त : मन को आत्मा की खोज में संलग्न करने पर भी काफी समय तक संघर्ष करने के बाद मन व्यक्ति को धोखा देने लगता है। मन की इस दुष्टता की जानकारी व्यक्ति को बहुत बाद में होती है।

म० : ऐसा तो होगा ही। प्रारम्भिक अवस्था में मन खोज में काफी समय तक रुक-रुककर तब लगता है; पर निरन्तर अभ्यास से थोड़े समय के बाद ही फिर लगने लगेगा तथा अन्ततः कदापि भी चंचल नहीं होगा। तब अव्यक्त शक्ति व्यक्त होगी। सात्विक मन संकल्पों से रहित हो जाता है। जबकि राजसिक मन संकल्पों से भरा रहता है। सात्विक मन प्राण-धारा में परिवर्तित हो जाता है।

भक्त : क्या प्राण-धारा का अनुभव करने से पहले ही मन को संकल्पों से दूर रखा जा सकता है?

म० : हाँ। धारा तो पूर्व से ही विद्यमान है।

७ नवम्बर, १९३५

९२. एक यात्री ने पूछा : एक मत है कि स्थूल पदार्थों पर ही ध्यान का अभ्यास करना उचित है। मन के नष्ट करने का निरन्तर अभ्यास घातक हो सकता है।

म० : किसके लिए घातक हो सकता है ? क्या आत्मा से परे भी कोई हनन हो सकता है ?

शाश्वत 'मैं—मैं' असीमित समुद्र है; अहंकार, 'मैं—भाव' इस पर एक बुलबुला मात्र है जिसे जीव कहते हैं अर्थात जीवात्मा। बुलबुला भी जल ही है जब वह फूटता है तब केवल समुद्र में मिल जाता है। बुलबुले के रूप में भी यह सागर का ही अंश है। उस सहज सत्य से अनभिज्ञ होने के कारण अनेक विवरण वाले असंख्य मार्गों—योग, भक्ति, कम आदि का·······प्रत्येक फिर अनेक रूपान्तर सहित साधकों को बड़े कौशल एवं जटिल विस्तार से बतायी जाती हैं जो उनके मन को और भी अधिक मोहित एवं भ्रमित कर देती हैं। अनेक धर्म, पंथ तथा मत भी इसी प्रकार हैं। इन सबका उद्देश्य क्या है ? केवल आत्मा को जानने के लिए। ये आत्मा के ज्ञान के साधन तथा अभ्यास हैं।

इन्द्रियानुभूत विषयों को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। क्या आत्मा से अधिक प्रत्यक्ष और कोई वस्तु हो सकती है—जिसका किसी इन्द्रिय की सहायता के बिना प्रति क्षण अनुभव हो रहा है ? इन्द्रियानुभूति तो अप्रत्यक्ष ज्ञान ही हो सकता है प्रत्यक्ष नहीं। केवल स्वयं की चेतना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है जैसा कि प्रत्येक का अनुभव है। व्यक्ति को स्वयं अपनी आत्मा को अर्थात चेतन को जानने के लिए किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

एक असीमित, शाश्वत, पूर्ण अपने आपको 'मैं' के रूप में अनुभव करता है अर्थात सचेत होना। यही इसकी मूल संज्ञा है। अन्य सभी संज्ञाएँ यथा 'ओउम्' बाद की उत्पत्ति है; आत्मा के भान का ही नाम मोक्ष है। महावाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' इसका प्रमाण है। यद्यपि 'मैं' की अनुभूति सदैव ही होती है फिर भी व्यक्ति का ध्यान इस ओर आकर्षित कराया जाना आवश्यक है। केवल तभी ज्ञान का उदय होता है। इसी कारण उपनिषदों तथा ज्ञानी सन्तों की आवश्यकता है।

९ नवम्बर, १९३५

९३. सब केवल स्वयं की आत्मा से परिचित हैं। आश्चर्यों का आश्चर्य ! जो नहीं है उसको वे है मानते हैं; अथवा वे दृश्य जगत को आत्मा

से पृथक मानते हैं। जब तक ज्ञाता है तब तक सर्व प्रकार के ज्ञान होते हैं (प्रत्यक्ष, अनुमानिक, बौद्धिक आदि); जानने वाले का नाश होते ही उसके साथ उन सबका भी नाश हो जाता है; उनकी सत्यता उसी मात्रा में है जितनी कि उसकी।

६४. एक व्यक्ति ने महर्षि से अपने पापों के लिए क्षमायाचना की। उसे बताया गया कि यदि वह इतनी सावधानी बरते जिससे कि उसका मन उसे दुखी न कर सके तो उसके लिए यही पर्याप्त होगा।

१३ नवम्बर, १९३५

६५. मेजर ए० डब्लू चैडविक द्वारा निम्नलिखित प्रश्न उठाया गया :—

एक योगी श्री एडवर्ड कारपैण्टर ने एक पुस्तक में लिखा है कि उन्हें कुछ अवसरों पर आत्मानुभूति हुई जिसका प्रभाव कुछ समय पश्चात तक रहकर क्रमशः नष्ट हो गया। जबकि श्री रमण गीता का कथन है, "एक बार ग्रन्थि तड़ से टूटने के बाद सदैव के लिए ही टूट जाती है।" इस योगी के उदाहरण में आत्म-साक्षात्कार के उपरान्त भी बन्धन बने रहे। ऐसा कैसे हो सकता है ?

महर्षि ने 'कैवल्य' का उद्धरण इस प्रकार दिया :—

सच्चिदानन्द की ज्योतिर्मय, एकात्मक, निरन्तर स्थिति की उपलब्धि कर शिष्य ने गुरु को आत्म-समर्पण कर विनम्र प्रार्थना की कि वह गुरु की कृपा के लिए दक्षिणा में क्या समर्पित करे। गुरु ने आदेश दिया :

"तुम सदैव शाश्वत, निरन्तर, परमानन्द में स्थित रहो। यही मेरी दक्षिणा है। उससे फिसलकर दूर न जाना।"

भक्त : पूर्ण आनन्द का अनुभव कर कोई किस प्रकार उस मार्ग से च्युत हो दूर जा सकता है ?

म० : अरे हाँ ! ऐसा होता है। पूर्व-जन्म के अनन्त काल के संचित संस्कार उसे हठात् बाहर लाते हैं और इस प्रकार अविद्या उसे घेर लेती है।

भक्त : अनन्त आनन्द में स्थिर रहने के लिए कौन-कौनसी बाधाएँ आती हैं ? उन पर कैसे काबू पाया जाय ?

म० : कठिनाइयाँ निम्न हैं :

(१) अज्ञान : निज के शुद्ध अस्तित्व की विस्मृति।

(२) संशय : जो अनुभव हुआ उस पर आश्चर्य कि वह सत्य का था अथवा असत्य का।

(३) भ्रान्ति : "मैं देह हूँ" विचार तथा जगत् को सत्य मानना।

सत्य का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने से इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

महर्षि ने आगे कहा :

अनुभव अस्थायी तथा स्थायी कहा गया है। प्रारम्भिक अनुभव अस्थायी होता है किन्तु एकाग्रता द्वारा स्थायी हो जाता है। प्रारम्भिक अनुभव से बन्धन पूर्णतया नष्ट नहीं होता; वह सूक्ष्म रूप में बना रहता है और समय पाकर पुनः बलपूर्वक प्रकट होता है। परन्तु स्थायी अनुभव से बन्धन समूल नष्ट हो जाता है और फिर कभी प्रतीत नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीता में योगभ्रष्ट से तात्पर्य पूर्व प्रकार के व्यक्तियों से है।

भक्त : तब क्या सत्य का श्रवण केवल कुछ सीमित व्यक्तियों के लिए ही है ?

म० : वह दो प्रकार का है। सामान्य गुरुमुख से उसका निरूपण तथा स्पष्टीकरण श्रवण करना है। तथापि सही पद्धति यह है कि वह स्वयं से प्रश्न करे, एवं स्वयं में ही उसकी खोज एवं उसकी प्राप्ति करे कि वह स्वयं ही शाश्वत 'मैं—मैं' है। इस अनुभव का मनन करना ही द्वितीय सोपान है। तथा एकाग्र हो उसी भाव में स्थिर रहना तृतीय सोपान है।

भक्त : क्या अस्थायी आनन्द को समाधि कह सकते हैं ?

म० : नहीं। समाधि तृतीय सोपान का भाग है।

भक्त : तब तो ऐसा लगता है कि जैसे सत्य का श्रवण भी बहुत थोड़ों के लिए ही सीमित है।

म० : साधक दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं, कृतोपासक तथा अकृतोपासक। कृतोपासक दृढ़ भक्ति द्वारा अपने पूर्व-संस्कारों पर पहले से ही विजय प्राप्त कर चुका है, इस प्रकार उसका मन निर्मल हो चुका है, उसे कुछ अनुभव भी हो चुके हैं परन्तु उनका बोध ग्रहण नहीं किया है; जैसे ही समर्थ गुरु द्वारा निर्देश मिलते हैं, उसे स्थायी अनुभव होता है।

द्वितीय श्रेणी के साधक को इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अत्यधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। सत्य का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन उसकी सहायता कैसे करेगा ?

वे उपासना कहे गये हैं (सत्य के निकटतम) जो अतन्तः उसे आत्म-साक्षात्कार करा देते हैं।

अन्तिम तथा चतुर्थ सोपान मोक्ष है। इस अवस्था का भी विभाजन किया गया है :

(१) ब्रह्म को जानने वाला (ब्रह्मविद्)
(२) ब्रह्मविद्-वर
(३) ब्रह्मविद्-वर्य
(४) ब्रह्मविद्-वरिष्ट

किन्तु वास्तव में उपरोक्त सभी जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाते हैं।

९६. मेजर ए० डब्लू चैडविक : पश्चिम के निवासियों का ज्ञान किस प्रकार का है जो कहते हैं कि उन्हें सार्वभौम चैतन्य के प्रकाश का दर्शन हुआ है।

म० : वह ज्योति के रूप में प्रकट हुआ और इसी प्रकार अदृश्य हो गया। जिसका आदि है उसका अन्त भी है। जब केवल नित्य सिद्ध चैतन्य की अनुभूति होगी तभी वह स्थायी होगी। वास्तव में, चैतन्य सदैव ही हमें उपलब्ध है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है 'मैं हूँ !' कोई भी अपने अस्तित्व से मना नहीं कर सकता। गहन निद्रा में व्यक्ति को इसका भान नहीं होता; जब जाग्रत है तब वह उससे अवगत जान पड़ता है। किन्तु यह वही व्यक्ति है। जो सोया था तथा जो अब जाग्रत है उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। गहन निद्रा में उसे देह का भान नहीं था; वहाँ देह-चेतना नहीं थी। जाग्रत अवस्था में उसे देह का भान है, वहाँ देह-चेतना है। अतः देह-चेतना के उदय होने के कारण अन्तर होता है, वास्तविक चैतन्य में किसी प्रकार अन्तर नहीं है।

देह तथा देह-चेतना साथ ही उदय होती हैं तथा साथ ही विलीन होती हैं। यह सब कहने का आशय यह है कि गाढ़ी निद्रा में कोई सीमाएँ नहीं होतीं जबकि जागृति में सीमाएँ होती हैं। ये सीमाएँ ही बन्धन हैं; यह अनुभूति कि 'मैं देह हूँ' भूल है। 'मैं' की इस मिथ्या भावना को जाना होगा। वास्तविक 'मैं' सदैव ही है। यह यहीं और अभी है। वह कभी भी नये ढंग से न उदय होती है और न फिर लुप्त। जिसकी सत्ता है वह सदैव ही रहता है। जो नया प्रकट होगा वह नष्ट भी होगा। गहरी निद्रा तथा जागृति की तुलना करो। एक अवस्था में देह का भास होता है दूसरी में नहीं। अतः देह नष्ट ही होगी। चैतन्य की सत्ता पहले भी थी अतः यह देह के बाद भी रहेगी। वास्तव में, ऐसा कोई भी नहीं है जो यह न कहता हो कि 'मैं हूँ'। यह मिथ्या ज्ञान कि 'मैं देह हूँ' सारे अनिष्ट की जड़ है। इस मिथ्या ज्ञान को हटाना आवश्यक है। यही साक्षात्कार है। साक्षात्कार किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं है और न यह कोई नवीन क्षमता है। यह सब मायाछद्म को हटाना मात्र है।

मेजर चैडविक— मैं देह से निवृत्त होने का प्रयास करता हूँ।

म० : मनुष्य अपने वस्त्रों को उतारकर अकेला एवं स्वतन्त्र रहता है। आत्मा निस्सीम है एवं देह तक ही सीमित नहीं है। देह से निवृत्ति कैसे होगी ? वह उसे कहाँ त्यागेगा ? वह जहाँ कहीं भी है, तब भी उसी की है।

मेजर चैडविक (हँसते हैं)।

म० : अन्तिम सत्य कितना सरल है ? वह मूल अवस्था में रहने से अधिक कुछ भी नहीं है। केवल इतना कहना ही पर्याप्त है। फिर भी आश्चर्य

तो इस बात का है कि इस सरल सत्य को समझने के लिए इतने धर्म, पन्थ, प्रणाली उत्पन्न हुए हैं और जिनके मध्य इतने विवाद हो गये हैं ! अहा कितने खेद की बात है ! अहा कितने खेद की बात है !

मेजर चैडविक—किन्तु लोग सरलता से सन्तुष्ट नहीं होंगे, वे तो जटिलता ही चाहते हैं।

म० : ऐसा ही है। चूँकि लोगों की रुचि विस्तार सहित, आकर्षक तथा जटिल वस्तु में है। इसलिए इतने अधिक धर्मों की सृष्टि हो गयी है जिनमें से प्रत्येक अत्यधिक जटिल है तथा प्रत्येक धर्म के, प्रत्येक पन्थ में अपने-अपने अनुयायी तथा विरोधी हैं।

उदाहरणस्वरूप साधारण ईसाई तब तक सन्तुष्ट नहीं होगा जब तक उसे यह न बताया जाय कि परमात्मा दूरस्थ स्वर्ग में विराजमान है जहाँ हम बिना सहायता के नहीं पहुँच सकते। उस परमात्मा को केवल ईसा ही जानते थे तथा केवल ईसा ही हमें मार्ग दिखाने में समर्थ है। ईसा की आराधना करके ही बचना सम्भव है। यदि उसे सरल सत्य बताया जाय—"स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अन्दर ही विद्यमान है" वह सन्तुष्ट नहीं होगा तथा ऐसे वक्तव्यों में गूढ़ तथा विलक्षण अर्थ खोजने लगेगा। केवल परिपक्व मस्तिष्क ही सरल सत्य की पूर्ण वास्तविकता को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

फिर मेजर चैडविक ने ध्यान के समय एक निश्चित अनैच्छिक भय की चर्चा की। वे आत्मा को स्थूल देह से अलग होती हुई अनुभव करते हैं तथा यह अनुभूति भय उत्पन्न करती है।

म० : यह भय किसको है ? यह सब शरीर को आत्मा के समान मानने का परिणाम है। वियोग के अनुभव की पुनरावृत्ति उसे परिचित करा देगी और भय नहीं रहेगा।

१९ नवम्बर, १९३५

९७. अम्बाला के एक सज्जन श्री रामचन्द्र ने जिज्ञासा की, हृदय कहाँ है तथा साक्षात्कार क्या है ?

म० : हृदय भौतिक नहीं है वह आध्यात्मिक है। हृदयम्=हृत्+अयम=यह केन्द्र है। यहाँ से संकल्प उदय होते हैं, उसी पर वे ठहरते हैं तथा वहीं पर वे घुल जाते हैं। संकल्प ही मन का विषय है तथा वे ही जगत् की सृष्टि करते हैं। हृदय सबका केन्द्र है। यतो वा इमानि भूतानि जायंते—जिससे ये जीव उत्पन्न होते हैं उसे उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है। वह हृदय ही है। ब्रह्म ही हृदय है।

भक्त : हृदय की अनुभूति कैसे हो ?

म० : ऐसा कोई भी नहीं है जो क्षण मात्र को भी आत्मा के अनुभव से वंचित रहता हो। चूँकि कोई भी यह स्वीकार नहीं करता कि वह कभी भी आत्मा से पृथक रहता है। वह आत्मा है। आत्मा ही हृदय है।

भक्त : यह स्पष्ट नहीं हुआ।

म० : गहन निद्रा में तुम्हारी सत्ता होती है; जागृति में तुम रहते हो। दोनों अवस्थाओं में वही आत्मा है। अन्तर केवल जगत के भान का तथा उक्त भान के अभाव का ही है। जगत का उदय तथा अस्त मन से होता है। जो उदय तथा अस्त होता है वह आत्मा नहीं है। आत्मा भिन्न वस्तु है, मन को उत्पन्न करती है, जीवित रखती है, तथा विलीन कर देती है। इस प्रकार आत्मा आन्तर्निहित मूलस्रोत है।

जब तुमसे प्रश्न किया जाता है तुम कौन हो, तुम वक्षस्थल के दाहिनी ओर हाथ रखकर कहते हो, 'मैं हूँ'। इस प्रकार तुम अनजाने ही आत्मा की ओर संकेत करते हो। इस प्रकार आत्मा का भान होता है। किन्तु व्यक्ति दुखी है, क्योंकि वह भ्रान्तिवश मन तथा शरीर को आत्मा से मिला देता है। यह भ्रान्ति मिथ्या ज्ञान के कारण है। केवल इस अज्ञान का निवारण आवश्यक है। इस निवारण से साक्षात्कार होता है।

भक्त : मन को वश में कैसे करें ?

म० : मन क्या है ? मन किसका है ?

भक्त : मन सदैव चंचल रहता है। मैं इसको वश में नहीं कर सकता।

म० : मन का स्वभाव ही चंचल होना है। तुम मन नहीं हो, मन उदय होता है और अस्त होता है। यह अस्थायी तथा अनित्य है, जबकि तुम नित्य हो। आत्मा से अन्य कुछ नहीं है। आत्मा में अधिष्ठित होना ही आवश्यक है। मन की चिन्ता त्याग दो। यदि इसके स्रोत को खोज लोगे तो यह नष्ट हो जायगा और शुद्ध आत्मा शेष रहेगी।

भक्त : क्या मन को वश में करने की आवश्यकता नहीं ?

म० : आत्मा की अनुभूति होने के बाद नियन्त्रण करने को कोई मन नहीं रहेगा। मन के नष्ट होने के बाद आत्मा प्रकाशित होगी। जिसने साक्षात्कार कर लिया है, उसका मन सक्रिय हो अथवा निष्क्रिय, उसके लिए केवल आत्मा रहती है। चूँकि मन, देह तथा जगत आत्मा से पृथक नहीं है। वे आत्मा में उदय होते तथा आत्मा में अस्त होते हैं। आत्मा से पृथक उनकी सत्ता नहीं है। क्या वे आत्मा से भिन्न हो सकते हैं ? केवल आत्मा का बोध रखो। इन मिथ्या वस्तुओं की चिन्ता क्यों ? वे आत्मा को कैसे प्रभावित कर सकते हैं ?

९८. श्री भगवान ने पुनः स्पष्ट किया : आत्मा हृदय है। हृदय स्वतः ज्योतिर्मय है। प्रकाश हृदय से उदय होकर मस्तिष्क में पहुँचता है, जो मन का स्थान है। मन के द्वारा ही जगत दीखता है अर्थात् आत्मा से प्रतिबिम्बित प्रकाश द्वारा जगत दीखता है। मन की सहायता से जगत की अनुभूति होती है। जब मन प्रदीप्त होता है, तब उसे संसार का भान होता है। जब मन स्वयं इस प्रकार प्रदीप्त नहीं होता, उसे जगत का भान नहीं होता। यदि मन को अन्तर्मुखी कर प्रकाश के स्रोत की ओर मोड़ लें तो दृश्य जगत का लोप हो जाता है और केवल आत्मा हृदय के रूप में प्रकाशित होती है।

चन्द्रमा सूर्य के प्रतिबिम्बित प्रकाश से प्रकाश देता है। सूर्य के अस्त होने पर चन्द्रमा का प्रकाश पदार्थों को भासित कराने में सहायता करता है। जब सूर्य उदय हो जाता है, चन्द्रमा से किसी को प्रयोजन नहीं रहता, यद्यपि चन्द्रमा का मन्द बिम्ब आकाश में दीखता है।

मन तथा हृदय के साथ भी ऐसा ही है। मन हृदय की प्रतिबिम्बित ज्योति के कारण ही उपयोगी है। इसका उपयोग दृश्य पदार्थों को देखने के लिए है। इसके अन्तर्मुखी होने पर ज्योति का मूल स्रोत स्वयं प्रदीप्त हो उठता है और मन दिन के चन्द्रमा की भाँति मन्द तथा वृथा हो जाता है।

९९. एक संन्यासी ने जिज्ञासा की—ऐसा कहा जाता है कि आत्मा मन से परे है, फिर भी साक्षात्कार मन द्वारा ही होता है। मनो न मनुते, मनसा न मतम तथा मनसैवेदमाप्तव्यम्—मन उसका मनन नहीं कर सकता, मन उस पर विचार करने में समर्थ नहीं तथा मन ही उसका अनुभव कर सकता है। इन विरोधाभासों में समाधान कैसे हो ?

म० : आत्मा का ज्ञान मृत मनस अर्थात् संकल्प शून्य तथा अन्तर्मुखी मन से होता है। तब मन स्वयं के स्रोत को देखकर वही हो जाता है। यह दृष्टा द्वारा दृश्य को देखने जैसा नहीं है।

जब कमरे में अँधेरा होता है तो प्रकाश के लिए दीपक और पदार्थों को देखने के लिए चक्षुओं की आवश्यकता होती है। किन्तु सूर्य के उदय हो जाने के पश्चात् किसी दीपक की आवश्यकता नहीं होती और दृश्य पदार्थ दीखते हैं। सूर्य को देखने के लिए किसी दीपक की आवश्यकता नहीं है। स्व-प्रकाशित सूर्य की ओर तुम अपने नेत्रों को मोड़ लो, यही पर्याप्त है।

मन के साथ भी ऐसा ही है। दृश्यों को देखने के लिए मन के प्रतिबिम्बित प्रकाश की आवश्यकता है। हृदय को देखने के लिए मन को अन्तर्मुख करना ही पर्याप्त है। तब मन अपने आपको खो लेता है तथा हृदय प्रकाशित होता है।

१००. तदुपरान्त महर्षि ने 'कैवल्य' से कुछ श्लोक उद्धृत कर समझाया :

क

परमात्मा

↓

(पूर्ण ज्ञान; साक्षी; स्वप्रकाशित केन्द्र; हृदय; आत्मा)

↓

व्यक्ति

[वृत्तियों को, एवं अव्यक्त रूप में प्रतिबिम्बित प्रकाश को जानने वाला जीव]

आन्तरिक बुद्धि तथा बहिर्मुख मन

[बुद्धि एवं मनस जिसमें वृत्ति तथा प्रतिबिम्बित प्रकाश का एक अंकुर के रूप में समावेश है; यही अन्तःकरण है]

दृश्य रूप वृत्तियाँ — सामान्य ज्ञान

मिलकर जगत की सृष्टि होती है जैसा कि हम देखते हैं।

ख

आत्मा (शुद्ध ज्ञान)

↓

जीव (प्रमात्र=ज्ञाता)

↓

बुद्धि तथा मन

(प्रमाण=देखना)

दृश्य रूप में भासित वृत्तियाँ — ज्ञान (फल चैतन्य)

मन की वृत्तियाँ बाह्य पदार्थों का आकार ग्रहण कर लेती हैं तथा वृत्तियों पर प्रतिबिम्बित प्रकाश दृश्यों को प्रकाशित करता है। अब वृत्तियों की उपेक्षा कर इन्हें प्रकाशित करने वाले प्रकाश की ओर देखिए। मन शान्त हो जाता है तथा ज्योति स्व-प्रकाशित रहती है। तरंगित मन (अर्थात् वह मन जो राजस=सक्रियता एवं तामस=अन्धकार से युक्त है) को सामान्यतया मन की संज्ञा दी जाती है। राजस एवं तामस से रहित होकर मन शुद्ध तथा स्व-प्रकाशित है। यही आत्म-साक्षात्कार है। इस कारण मन उसका साधन है।

ग

शुद्ध चैतन्य
(शाश्वत अथवा नित्य-सिद्ध साक्षी)
↓
अन्तःकरण + प्रतिबिम्बित प्रकाश (जीव; प्रमात्र)
↓
प्रकाश सहित वृत्तियाँ प्रमेय कहलाती हैं=
जानी हुई; इनमें, पदार्थ स्थूल हैं तथा प्रकाश फल चैतन्य कहा जाता है।

घ

जीव में अन्तःकरण के अंश इस प्रकार हैं :—

सत्व	राजस	तामस
ज्ञान प्रकाश	मन की वृत्तियाँ बुद्धि मन	स्थूल पदार्थ जगत

इसी प्रकार ब्रह्माण्ड है :—
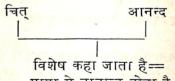
विश्वीय मन (शाश्वत सत्ता)

सत्व	राजस	तामस
ईश्वर विश्व का अधिष्ठाता	व्यक्ति जीव	जगत

ङ

ब्रह्मः=सत्
अस्तित्व
इसे आधार कहते हैं।

प्राकृतिक — ब्रह्माण्ड अथवा जगत

कृत्रिम — पदार्थों का बाहुल्य

[माया सत् को निस्तेज नहीं कर सकती किन्तु चित् तथा आनन्द को निस्तेज कर देती है और वे पृथक भासित होते हैं।]

च

रज्जु	मन्द प्रकाश में	सर्प भासित होती है
सदृश है	↓	↓
अस्तित्व	माया	'ङ' में वर्णित कृत्रिम भिन्नता
आधार	भ्रम	

छ

सत्=अस्तित्व=आधार। इससे विशिष्ट अर्थात् जीव की सृष्टि होती है जो अज्ञान के आवरण के वशीभूत होकर अपने को स्थूल देह मान लेता है। यहाँ अज्ञान का अर्थ है, आत्मा की खोज न करना। जीव वास्तव में ज्ञान ही है; किन्तु अज्ञान के कारण भूल से स्थूल देह से तादात्म्यता हो जाती है।

ज

फिर महर्षि ने लोहे की लाल गरम गेंद का उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया (तप्त-अयः-पिंडवत्)

लोहे की एक गेंद+अग्नि मिलकर गरम लाल लोहे की एक गेंद बनते हैं। जगत+चित्=(शुद्ध ज्ञान) मिलकर जीव बनता है=व्यक्ति।

१०१. अम्बाला के एक सज्जन ने जिज्ञासा की: द्रोपद्री की साड़ी के अन्त रहित हो जाने का युक्तिपूर्ण उत्तर क्या है?

म० : आध्यात्मिक विषयों को बुद्धिवाद के दायरे में नहीं बैठा सकते। अध्यात्म बुद्धि से परे का विषय है। द्रोपदी के आत्मसमर्पण के पश्चात् यह चमत्कार हुआ। रहस्य समर्पण में है।

भक्त : हृदय तक कैसे पहुँचें?

म० : अभी तुम कहाँ हो जो हृदय तक जाना चाहते हो? क्या तुम आत्मा से अन्यत्र खड़े हो?

भक्त : मैं अपनी देह में हूँ।

म० : किसी एक खास जगह अथवा पूरी देह में हो?

भक्त : पूरी देह में। मैं पूरी देह में व्याप्त हूँ।

म० : व्याप्त कहाँ से हुए?

भक्त : मैं नहीं जानता।

म० : ठीक है, तुम सदैव हृदय में हो। तुम कभी इससे दूर नहीं हो जिससे कि तुम उसके पास जाओ। विचार करो तुम गहन निद्रा में तथा जागृति में कैसे हो। ये अवस्थाएँ भी तुम्हारी नहीं हैं। वे अहंकार की अवस्थाएँ हैं। चैतन्य सदैव वही तथा अपरिवर्तित रहता है।

भक्त : मैं समझ तो गया किन्तु मैं ऐसा अनुभव नहीं करता ।

म० : यह अज्ञान किसको है ? इसे मालूम करो ।

भक्त : यह सब बहुत कठिन है ।

म० : कठिन का विचार भी भूल है । इससे तुम्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलेगी । मेरा प्रश्न अब भी यही है । "किसे कठिन प्रतीत होता है ?"

भक्त : मैं देख रहा हूँ कि मैं 'मैं' के समीप आ रहा हूँ ।

म० : चूँकि तुम सदैव वही हो तथा उससे दूर कभी नहीं जाते । आत्म-भाव से रहने के समान सरल कुछ भी नहीं है । इसके लिए किसी प्रयास अथवा सहायता की आवश्यकता नहीं है । केवल भ्रान्त तादात्म्य की विपरीत भावना को त्याग अपनी नित्य, स्वाभाविक एवं सहज अवस्था में रहना है ।

१०२. अगले दिन वह फिर एक प्रार्थना लेकर आया । उसने कहा— "ऐसा कहते हैं कि गुरु से बोध लेना आवश्यक है । केवल पुस्तक अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है । मैंने बहुत-से ग्रन्थ पढ़े; किन्तु उनके पढ़ने से व्यावहारिक लाभ नहीं हुआ । कृपया मुझे बतायें मैं क्या करूँ, मैं उसे किस प्रकार करूँ, किस समय और कहाँ करूँ आदि ।"

महर्षि मौन रहे । उनके मौन का यह भाव प्रतीत हुआ, "इसी क्षण यहीं शान्त और निश्चल हो जाओ । बस इतना ही ।" किन्तु जिज्ञासु यह भाव ग्रहण नहीं कर सका । वह कुछ निश्चित आदेश चाहता था ।

१०३. अगले दिन श्री भगवान ने कहा : ये लोग किसी जप, ध्यान, योग अथवा ऐसी किसी वस्तु की इच्छा करते हैं । जब तक वे यह न कहें कि वे अब तक क्या करते रहे हैं, उन्हें और क्या कहा जा सकता है ? फिर, जप और उसकी फल श्रुति आदि क्यों ? कौन जप करता है ? उसका फल किसे प्राप्त होता है ? क्या वे अन्तर्मुख नहीं हो सकते ? और फिर यदि कोई जप या ध्यान करने का आदेश भी दे तो वे कुछ समय तक उसे करेंगे किन्तु निरन्तर परिणाम की प्रतीक्षा करते रहेंगे । जैसे दिव्य दर्शन, स्वप्न अथवा चमत्कार-पूर्ण शक्तियाँ आदि । यदि ये प्राप्त न हों तो वे कहते हैं कि प्रगति नहीं हो रही है अथवा तप प्रभावशाली नहीं है । चमत्कारिक अनुभूतियाँ प्रगति की सूचक नहीं हैं । केवल तप करना उसकी प्रगति भी है । स्थिरता की आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त उन्हें अपने मन्त्र अथवा अपने ईश्वर के प्रति समर्पण भाव रखकर उसकी कृपा की प्रतीक्षा करनी चाहिए । वे ऐसा नहीं करते हैं । एक बार किये हुए जप का भी शुभ परिणाम होता है । साधक जाने या न जाने ।

२८ नवम्बर, १९३५

१०४. भारत सरकार के रेलवे बोर्ड के एक अधिकारी श्री किशोरीलाल दिल्ली के निवासी हैं। देखने में सरल व शिष्ट तथा व्यवहार में गौरवपूर्ण हैं। वे आमाशय की सूजन से पीड़ित हैं तथा उन्होंने भोजन व निवास का प्रबन्ध नगर में किया है।

पाँच वर्ष पूर्व उन्होंने भक्ति-साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया। वे श्रीकृष्ण के भक्त हैं। जो भी देखते हैं उसमें श्रीकृष्ण की अनुभूति करते हैं। कृष्ण उन्हें प्राय: दर्शन देकर आनन्दित करते हैं। उनके कार्य बिना उनके स्वयं के प्रयास के होते हैं। ऐसा आभास होता था कि स्वयं श्रीकृष्ण उनके सारे कार्य उनके लिए कर रहे हों। बाद में वे एक महात्मा के सम्पर्क में आये जिन्होंने उन्हें वेदान्त का अध्ययन तथा निराकार उपासना का परामर्श दिया। तब से उन्होंने उपनिषद्, अष्टावक्र, अवधूत, श्रीमद्भगवदगीता सहित दर्शन तथा वेदान्त के लगभग सात सौ ग्रन्थों का अध्ययन किया है। उन्होंने श्री भगवान (महर्षि रमण) के अंग्रेजी ग्रन्थों का अध्ययन किया है तथा बहुत प्रभावित हुए हैं।

एक समय जब वे काल के गाल में थे, तब केवल एक ही संकल्प उनकी स्मृति में सदैव आता रहता था कि उन्होंने अभी तक अपने जीवन में रमण महर्षि का दर्शन नहीं किया है। इस कारण वे यहाँ थोड़े समय के लिए आये हैं। वे केवल महर्षि के स्पर्श तथा कृपा हेतु प्रार्थना करते हैं।

उनसे महर्षि ने कहा : आत्मैवाहम गुडाकेश, अर्थात् मैं आत्मा हूँ; आत्मा ही गुरु है; तथा आत्मा ही कृपा है। आत्मा के बिना कोई नहीं रहता। वह सदा सम्पर्क में है, बाह्य स्पर्श की कोई आवश्यकता नहीं है।

भक्त : मैं समझा। मेरा प्रयोजन बाह्य स्पर्श से नहीं है।

म० : आत्मा से अधिक समीप कुछ भी नहीं है।

भक्त : तीन माह पूर्व मुझे श्रीकृष्ण ने दर्शन देकर कहा, "मुझसे निराकार उपासना की प्रार्थना क्यों करते हो ?

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (६–२९)

(आत्मा सब में हैं तथा सब आत्मा में हैं।)

म० : इसमें सम्पूर्ण सत्य निहित है। यह भी औपचारिक है। वास्तव में आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जगत मन का प्रक्षेपण मात्र है। मन का उदय आत्मा से होता है। अत: आत्मा ही एकमात्र सत्ता है।

भक्त : किन्तु इसका अनुभव होना कठिन है।

म० : कुछ भी अनुभव नहीं करना है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त

अवस्था है। यह अवस्था सहज तथा नित्य है। किसी नवीन वस्तु को प्राप्त नहीं करना है। इसके विपरीत मनुष्य को अपना अज्ञान त्यागना है। बस इतना ही करना है।

इस अज्ञान के मूल को खोजना होगा। यह अज्ञान किसको है? व्यक्ति किससे अनभिज्ञ हैं। वहाँ दृष्टा एवं दृश्य हैं। यह द्वैत भाव तो केवल मन का गुण है। मन आत्मा से है।

भक्त : हाँ, अज्ञान स्वतः नहीं रह सकता।

(अन्त में उसने समर्पण करते हुए निवेदन किया, "जिस प्रकार चिकित्सक रोगी का रोग जानकर उसी प्रकार उसकी चिकित्सा करता है, कृपा कर श्री भगवान वैसे ही मेरी चिकित्सा करें।" उसने यह भी कहा कि उसकी ग्रन्थों के अध्ययन तथा उनसे ज्ञान प्राप्त करने की सारी प्रवृत्ति नष्ट हो गयी है।)

१०५. **म०** : येन अश्रुतम् श्रुतम भवति (छान्दोग्य उपनिषद्) (जिसे जानकर, न जाना हुआ भी जाना जाता है)।

श्री भगवान के परिचारक माधवस्वामी : क्या छान्दोग्य उपनिषद में महावाक्य 'तत्वमसि' की दीक्षा की नौ पद्धतियाँ हैं?

म० : नहीं, ऐसा नहीं। पद्धति एक ही है। उद्दालका ने उपदेश प्रारम्भ किया—सत् एवं सोम्य........(केवल अस्तित्व है........) इसको स्पष्ट करने हेतु स्वेतकेतु के उपवास का दृष्टान्त दिया।

(१) उपवास से सत्, व्यक्ति में अस्तित्व, स्पष्ट हो जाता है।

(२) यह (सत्) अस्तित्व भिन्न-भिन्न पुष्पों से संगृहीत मधु की भाँति सब में एकसा ही है।

(३) गहन निद्रा के उदाहरण से जाना जाता है कि व्यक्तियों के सत् में कोई अन्तर नहीं है। प्रश्न उठता है—यदि ऐसा है, तो सुषुप्ति में प्रत्येक व्यक्ति उसे क्यों नहीं जान पाता?

(४) चूँकि वहाँ व्यक्तित्व नहीं रहता, वहाँ केवल सत् ही रहता है। उदाहरणार्थ : सरिताएँ सागर में विलीन हो जाती हैं। यदि विलीन होती हैं, तो क्या वहाँ सत् है?

(५) निश्चय है—जैसे वृक्ष को तराशने से वह पुनः उगता है। यह उसकी जीवनी शक्ति का निश्चित प्रमाण है, किन्तु क्या यह शक्ति उस सुषुप्त अवस्था में भी विद्यमान रहती है?

(६) अवश्य, लवण तथा जल का उदाहरण लो। जल में लवण सूक्ष्म रूप से है। यद्यपि यह दृष्टिगोचर नहीं है किन्तु अन्य इन्द्रियों से अनुभूत है। इसका ज्ञान कैसे हो? अन्य साधन क्या हैं?

(७) खोज से, जिस प्रकार गान्धार वन में भूला हुआ व्यक्ति घर तक पुनः आ गया।

(८) विकास और संकोच में व्यक्त एवं अव्यक्त में केवल सत् की ही सत्ता है। तेजः परस्याम देवतायम—(प्रकाश ब्रह्म में लीन हो जाता है।)

(९) अग्नि परीक्षा में दोषी पीड़ित हो जाता है। अग्नि उसके दोष को प्रकट कर देती है। सरलता स्वतः प्रकट है। सत्पुरुष तथा आत्म-ज्ञानी पुरुष प्रसन्न रहता है। उस पर दृश्य प्रपंच का (अर्थात जगत, जन्म-मृत्यु आदि का) प्रभाव नहीं पड़ता। जबकि कपटी तथा अज्ञानी व्यक्ति दुखी रहता है।

२९ नवम्बर, १९३५

१०६. स्वामी योगानन्द चार अन्य व्यक्तियों के साथ प्रातः पौने नौ बजे आये। उनका व्यक्तित्व महान है, किन्तु कोमल तथा सुव्यवस्थित हैं। कन्धों तक लहराती श्याम केशराशि है। मण्डली ने दोपहर का भोजन आश्रम में किया।

उनके सचिव श्री सी० आर० राइट ने प्रश्न किया : मैं ईश्वर का साक्षात्कार कैसे कर सकूँगा ?

म० : ईश्वर अज्ञात सत्ता है। इसके अतिरिक्त वह बाह्य है। जबकि आत्मा सदैव तुम्हारे साथ है तथा वह तुम हो। जो तुम्हारे आन्तर में है, उसे छोड़कर जो बाह्य है, उसकी तलाश क्यों ?

भक्त : फिर यह आत्मा है क्या ?

म० : आत्मा से सब परिचित हैं किन्तु स्पष्टतया नहीं। तुम्हारा अस्तित्व सदा ही है। अस्तित्व ही आत्मा है। अहम् 'मैं हूँ' ईश्वर का नाम है। ईश्वर की जितनी भी परिभाषाएँ हैं, उनमें बाइबिल के इस कथन से श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है : *'I AM THAT I AM'* (बाइबिल के EXODUS, Chap. 3 में है) "मैं हूँ वही मैं हूँ" अन्य कथन भी हैं जैसे कि "ब्रह्मैवहम", "अहम् ब्रह्मास्मि" तथा "सोहम्"। किन्तु जेहोवा (*JEHOVAH=I AM*)='मैं हूँ' से अधिक प्रत्यक्ष अन्य नाम नहीं है। परब्रह्म है जो है—वह आत्मा है। वही ईश्वर है। आत्मा का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान है। वास्तव में आत्मा के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है।

भक्त : शुभ अशुभ क्यों हैं ?

म० : ये तुलनात्मक शब्द हैं। शुभ अशुभ का दृष्टा होना आवश्यक है। यह दृष्टा ही अहंकार है, अहंकार के स्रोत को खोजो। वह आत्मा में समाप्त होता है। अहंकार का स्रोत ईश्वर है, ईश्वर की यह परिभाषा कदाचित तुम्हारे लिये अधिक स्पष्ट व सुलभ होगी।

भक्त : ऐसा ही है। आनन्द की प्राप्ति कैसे हो ?

म० : आनन्द कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है। इसके विपरीत तुम निरन्तर आनन्द हो। आनन्द की इच्छा अपूर्णता के भाव से उत्पन्न होती है। यह अपूर्णता का भाव किसको है ? खोजो ? गहन निद्रा में तुम सानन्द थे। अब तुम वैसे नहीं हो। उस आनन्द तथा अब की निरानन्द अवस्था के मध्य कौनसी बाधा है ? वह बाधा अहंकार है। उसके मूल को खोजो और जान लो कि तुम आनन्द हो।

कुछ नवीन प्राप्त करना नहीं है। इसके विपरीत, तुम्हें तो केवल उस अज्ञान से बचना है जिससे तुम समझते हो कि तुम आनन्द से अन्यथा हो। यह अज्ञान किसको है। यह अहंकार को है। अहंकार के मूल को खोजो। तब अहंकार नष्ट हो जायगा एवं आनन्द ही रहेगा। वह नित्य है, तुम वही हो, यहीं और अभी·······सारे संशयों के निवारण के लिए यही सर्वोत्तम उपाय है। संशय मन में उदय होते हैं। मन की उत्पत्ति अहंकार से है। अहंकार आत्मा से उदय होता है। अहंकार के स्रोत को खोजो तो आत्मा प्रकट होगी। केवल उसी की सत्ता है। जगत आत्मा का ही विराट रूप है। यह आत्मा से भिन्न नहीं है।

भक्त : जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग क्या है ?

म० : व्यक्ति ज्ञानी है अथवा अज्ञानी उसके अनुसार भेद होगा। ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा से परे अथवा भिन्न कुछ भी नहीं है। सब आत्मा में है। यह अनुमान मिथ्या है कि जगत है, उसमें एक शरीर है तथा उस शरीर में तुम निवास करते हो। यदि सत्य जान लिया जाय, तो जगत तथा उसके परे जो भी है केवल आत्मा में ही प्रतीत होगा। व्यक्ति की दृष्टि के अनुसार भिन्न दृष्टिकोण होता है। दृष्टि चक्षु से है। नेत्र कहीं एक केन्द्र में स्थित होंगे। यदि तुम स्थूल नेत्रों से देख रहे हो तो तुमको दूसरे भी स्थूल दीखेंगे। यदि सूक्ष्म दृष्टि (अर्थात् मन) से देखोगे तो दूसरे भी सूक्ष्म दीखेंगे। यदि नेत्र आत्मा हो जायँ तो आत्मा के निस्सीम होने के कारण नेत्र भी निस्सीम हो जायेंगे। आत्मा से भिन्न दीखने को अन्य कुछ भी नहीं है।

उन्होंने महर्षि के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की। उन्हें बताया गया कि कृतज्ञता ज्ञापन करने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग सदैव आत्म-भाव से रहना है।

१०७. इसके बाद योगी ने पूछा : जनता की आध्यात्मिक प्रगति कैसे हो सकती है। उनको क्या निर्देश दिये जायँ ?

म० : यह व्यक्तियों के स्वभाव तथा उनके मन की आध्यात्मिक परिपक्वता के अनुसार भिन्न होगा। सबके लिए सामान्य निर्देश नहीं हो सकता।

भक्त : ईश्वर जगत में कष्ट क्यों कर होने देता है ? क्या उसे अपनी सर्व-सामर्थ्य से उसका उन्मूलन एक ही बार में कर देना तथा सर्व-साधारण को ईश्वर का साक्षात्कार सुलभ कर देना उचित नहीं ?

म० : कष्ट ही ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग है ।

भक्त : क्या उसे अन्य व्यवस्था करना उचित नहीं ?

म० : यही मार्ग है ।

भक्त : क्या योग धर्म आदि दुख के उपचार हैं ?

म० : वे दुख पर विजय पाने में सहायता करते हैं ।

भक्त : दुख क्यों है ?

म० : कौन दुख भोगता है ? दुख क्या है ?

कोई उत्तर नहीं ! अन्ततः योगी खड़े हुए अपने निजी कार्य हेतु महर्षि के आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की एवं इतना शीघ्र वापस जाने पर अत्यधिक खेद प्रकट किया । वे अत्यन्त सरल, श्रद्धावान एवं भावुक भी प्रतीत हो रहे थे ।

१०८. क्रमांक १०५ की वार्तालाप के क्रम में : उद्दालक ने स्पष्ट किया कि सबका उद्गम सत् से है (जैसा कि गहन निद्रा के उदाहरण से स्पष्ट है ।)

देह भोजन करती है, भोजन के लिए जल की आवश्यकता होती है । भोजन के पाचन हेतु जल को तेज की आवश्यकता होती है (तेजो मूल-मान्विच्छा ।) वह 'सत् परस्याम देवतायम' (अस्तित्व में विलीन) है । यदि हम 'सत् सम्पन्नः (अस्तित्व में विलीन) हैं तो हमें इसका अनुभव क्यों नहीं है ?

म० : जिस प्रकार विविध पुष्पों से संचित मधु छत्ते का संग्रह बनता है एवं प्रत्येक मधु बिन्दु यह संकेत नहीं करती कि वह कहाँ से संचित की गयी, इसी प्रकार 'सत् सम्पन्नः' गहन निद्रा, मृत्यु आदि अवस्थाओं में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को नहीं पहचानता । वे उस अवस्था में अनजाने ही चले जाते हैं । परन्तु जागने पर वे अपने मूल व्यक्तिगत गुणों को फिर से ग्रहण कर लेते हैं ।

भक्त : मधु, यद्यपि भिन्न-भिन्न पुष्पों से संचित हो, छत्ते का निर्माण करता है तथा उसमें व्यक्तिगत गुण नहीं होते । किन्तु मधु बिन्दुओं का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं होता और वे अपने स्रोत में पुनः नहीं जाते । जबकि व्यक्ति गहन निद्रा में जाने के बाद पहले के व्यक्ति के समान ही जागता है । ऐसा क्यों ?

म० : जिस प्रकार सरिताएँ समुद्र में लुप्त हो, अपना अस्तित्व समाप्त कर देती हैं, तथापि पुनः जल भाप बनकर पर्वतों पर वर्षा के रूप में फिर वापस आता है तथा सरिता के मार्ग से पुनः समुद्र में आता है । इसी प्रकार जीव निद्रा में अपना व्यक्तित्व खो देते हैं किन्तु फिर पहले की वासनाओं

के कारण बिना जाने ही व्यक्ति के रूप में वापस आते हैं। इस प्रकार मृत्यु में भी, सत् का अभाव नहीं होता।

भक्त : यह कैसे हो सकता है ?

म० : देखो एक पेड़ कैसे, जिसकी शाखाएँ काट दी गयी हैं, फिर बढ़ता है। जब तक उसका जीवन-स्रोत प्रभावित नहीं होगा वह बढ़ेगा। इसी प्रकार मृत्यु में संस्कार हृदय में अस्त हो जाते हैं। उनका नाश नहीं होता। उपयुक्त अवसर आने पर वे फिर हृदय से उदय होंगे। इसी प्रकार जीव का पुनर्जन्म होता है।

भक्त : हृदय में अस्त इन सूक्ष्म संस्कारों से इस विशाल विश्व का अंकुरित होना किस प्रकार सम्भव है ?

म० : जिस प्रकार एक विशाल वट वृक्ष एक छोटे-से बीज से अंकुरित होता है, उसी प्रकार यह नाम रूप युक्त विशाल सृष्टि हृदय से अंकुरित होती है।

भक्त : यदि सत् ही मूल स्रोत है तो उसका अनुभव क्यों नहीं होता ?

म० : डली के रूप में नमक दीखता है किन्तु वह विलयन में नहीं दीखता तथापि उसके स्वाद से उसके अस्तित्व का भान होता है। इसी प्रकार यद्यपि सत् बुद्धिगम्य नहीं है तथापि अन्य प्रकार से उससे परे होकर इसकी अनुभूति हो सकती है।

भक्त : किस प्रकार ?

म० : जिस प्रकार चोरों द्वारा नेत्रों पर कपड़ा बाँधकर वन में छोड़ा गया मनुष्य पूछता हुआ अपने घर का पता लगाकर लौट आता है। उसी प्रकार भ्रान्त पुरुष (अज्ञानान्ध) अन्य पुरुषों से जो इस प्रकार अज्ञानी नहीं हैं, जिज्ञासा कर अपने उद्‌गम स्थान को खोजकर वहीं लौट आता है।

तत्पश्चात गुरुपदेश—"वाङ मनसि सम्पाद्यते मनः।

प्राणे, प्राणास्तेजसि, तेजः परस्याम देवतायाम इति ।।"

भक्त : यदि ऐसा है, तो ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, देह त्याग का प्रकार तो एक ही है। फिर अज्ञानी का पुनर्जन्म क्यों होता है, जबकि ज्ञानी का नहीं ?

म० : जिस प्रकार एक निर्दोष 'सत्याभिसंध' व्यक्ति गरम लोहे के स्पर्श से प्रभावित नहीं होता; किन्तु एक चोर उससे प्रभावित होता है, उसी प्रकार सद्ब्रह्म सत्याभिसंध' अर्थात ज्ञानी सत् में जानबूझकर प्रवेश करता है और विलीन हो जाता है, जबकि अज्ञानी बिना जाने वहाँ प्रवेश करता है और बिना जाने ही बाहर धकेल दिया जाता है।

१३ दिसम्बर, १६३५

१०६. अम्बाला (पंजाब) के दो सज्जन कुछ सप्ताह से यहाँ ठहरे हुए थे। महर्षि से आज्ञा लेने से पूर्व एक ने जिज्ञासा की कि वह अपने मित्रों तथा अन्य व्यक्तियों की आध्यात्मिक तन्द्रा किस प्रकार निवारण करे।

म० : क्या तुमने स्वयं की 'आध्यात्मिक तन्द्रा' का निवारण कर लिया है? जिस शक्ति के माध्यम से तुम्हारी स्वयं की 'तन्द्रा' निवारण होगी, वही अन्य केन्द्रों में भी परिचालन करेगी। वह इच्छा शक्ति ही है जिसके द्वारा तुम अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर सकते हो। किन्तु यह निम्न-स्तर पर है एवं अवांछनीय है। पहले अपनी चिन्ता करो।

भक्त : अपनी स्वयं की 'तन्द्रा' का निवारण कैसे करूँ?

म० : यह 'तन्द्रा' किसकी है? खोजो, अन्तर्मुख होओ, अपनी सारी शक्ति आत्मा की खोज में लगा दो। इस प्रकार तुम्हारे अन्दर जो शक्ति उत्पन्न होगी वह अन्य व्यक्तियों का भी परिचालन करेगी।

१४ दिसम्बर, १६३५

११०. एक अमरीकी महिला ने श्री भगवान से उनके अपने समाधि के अनुभवों के सम्बन्ध में जानना चाहा। जब उसे सुझाव दिया गया कि वह स्वयं के अनुभवों का विवरण देकर जिज्ञासा करे कि क्या वे अनुभव सही हैं; उसने उत्तर दिया कि उसके सामान्य अनुभवों की अपेक्षा श्री भगवान के अनुभव ही यथार्थ होने चाहिए और उनका जानना आवश्यक है। इस प्रकार वह यह जानना चाहती थीं कि समाधि में श्री भगवान की देह शीतल रहती थी अथवा उष्ण; क्या उन्होंने तिरुवन्नामलाई में आने पर अपने प्रथम साढ़े तीन वर्ष प्रार्थना में व्यतीत किये, और इसी प्रकार।

म० : समाधि, मन एवं वाणी से अतीत होने से वर्णन नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, गहन निद्रा की अवस्था का वर्णन नहीं हो सकता है; समाधि अवस्था का उससे और भी कम वर्णन हो सकता है।

भक्त : किन्तु मुझे गहन निद्रा में अचेत होने का भान है।

म० : सचेत-अचेत अवस्थाएँ केवल मन की वृत्तियाँ हैं। समाधि मन से परे है।

भक्त : फिर भी आप बता सकते हैं वह किस प्रकार है?

म० : जब तुम समाधि में होगे, तभी तुम जानोगे।

१६ दिसम्बर, १९३५

१११. एक तेलुगु सज्जन ने ब्रह्म भावना के विषय में पूछा ।

म० : "मैं ब्रह्म हूँ" अथवा "सर्व ब्रह्म है" के विचारों से परे रहना ही जीवन-मुक्ति है ।

उसने प्रेरित कर्म के बारे में पूछा ।

म० : कर्म होने दो । वे शुद्ध आत्मा को प्रभावित नहीं करते ।

१७ दिसम्बर, १९३५

११२. उपदेश मंजरी का पाठ करते हुए श्री पी० ब्रंटन, को वह वाक्य मिला कि अहंकार, जगत तथा ईश्वर सब असत्य हैं । वे ईश्वर के लिए एक अन्य अथवा कम से कम एक विशेषक विशेषण शब्द प्रयोग करना चाहते थे जैसे सृजन शक्ति अथवा परमात्मा का व्यक्तित्व ।

श्री भगवान ने स्पष्ट किया कि ईश्वर से तात्पर्य समष्टि से है । अर्थात सम्पूर्ण सृष्टि तथा अस्तित्व—उसी प्रकार जिस प्रकार 'मैं' अर्थात् व्यक्ति तथा अस्तित्व तथा जगत से तात्पर्य नानात्व तथा अस्तित्व से है । अस्तित्व प्रत्येक में वास्तविक है । सम्पूर्ण सृष्टि, नानात्व एवं व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में मिथ्या है । इसी प्रकार सत् तथा असत् के संयोग में सम्मिश्रण अथवा मिथ्या देहभाव भूल है । इस कथन को सद्-असद्-विलक्षण कहा जा सकता है अर्थात् सत् एवं असत् से परे जाना है । सत्य वह है जो ईश्वर सहित समस्त कल्पनाओं से परे है । जहाँ तक ईश्वर के नाम का प्रयोग होता है, वह सत्य नहीं हो सकता । हिब्रू शब्द 'जिहोवा' (=मैं हूँ) ईश्वर को सही रूप से व्यक्त करता है । पूर्ण सत्ता अनिर्वचनीय है ।

इस शब्द को बदला नहीं जा सकता, बदलना आवश्यक भी नहीं है । उस अंग्रेज सज्जन ने अकस्मात बताया कि पूर्व ऐतिहासिक युग में आध्यात्मिकता थी किन्तु उच्चतर बुद्धि नहीं थी, जबकि आज बुद्धि का विकास हो गया है । श्री भगवान ने बताया कि बुद्धि प्रश्न उत्पन्न करती है "किसकी बुद्धि" ? उत्तर है—आत्मा की । इस प्रकार बुद्धि आत्मा का यन्त्र है । आत्मा बुद्धि के यन्त्र से नानात्व को नापने का काम लेती है । बुद्धि न आत्मा है न आत्मा से पृथक है । केवल आत्मा ही नित्य है । बुद्धि दृश्य मात्र है । लोग नानात्व के विकास को बुद्धि का विकास मानते हैं । बुद्धि सदा थी । "धाता यथा पूर्वम् अकल्पयात" (सृष्टिकर्ता ने पूर्ववत् उत्पत्ति की) अपनी स्वयं की दैनिक अवस्था पर विचार करो । स्वप्न रहित गहन निद्रा में बुद्धि नहीं होती । किन्तु अब बुद्धि है । बालक में बुद्धि नहीं होती । उसका विकास आयु के साथ होता है । बुद्धि

कैसे व्यक्त होती, यदि यह बीज रूप में गहन निद्रा में तथा बालक में न होती ? इस मौलिक तथ्य को समझाने हेतु इतिहास तक क्यों जाते हो ? इतिहास के सत्य का स्तर व्यक्ति के सत्य के स्तर जितना ही है ।

११३. एक तेलुगु सज्जन ने कर्म योग के सम्बन्ध में प्रश्न किया । श्री भगवान ने निर्देश दिया कि मनुष्य को रंगमंच के अभिनेता की भाँति कार्य करना चाहिए । समस्त कार्यों में सत ही अन्तर्निहित है । "इसे स्मरण रखो तथा कर्म करो ।" उसने चित्त शुद्धि के विषय में पूछा । श्री भगवान ने बताया कि समस्त संकल्पों से मुक्त होकर केवल एक ही विचार पर स्थिर रहना, चित्त शुद्धि है । इसे ही मन की एकाग्रता कहा गया है । ध्यान के अभ्यास से चित्त शुद्ध होता है ।

२३ दिसम्बर, १९३५

११४. बैरन वॉन वैल्टीम—आस्ट्रन, पूर्वी जर्मनी के एक जागीरदार, ने प्रश्न किया, "आत्मा के ज्ञान तथा संसार के ज्ञान में समन्वय होना आवश्यक है । दोनों का विकास साथ-साथ होना आवश्यक है । क्या यह ठीक है ? क्या महर्षि इससे सहमत हैं ?"

म० : हाँ ।

भक्त : बुद्धि से परे तथा ज्ञान के उद्गम से पूर्व, स्वयं की चेतना के सन्मुख जगत के चित्र भासित होने लगते हैं । क्या ऐसा है ?

श्री भगवान ने "दक्षिणामूर्ति स्तोत्रं" में से समानान्तर अंश पर ध्यान इस अभिप्राय से आकर्षित किया कि चित्र दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान हैं; जिस प्रकार दर्पण में उसी प्रकार उपनिषद् में भी मनो-जगत में, जैसे जल में उसी प्रकार गन्धर्व जगत में; जैसे ब्रह्मलोक में छाया तथा सूर्य का प्रकाश ।

भक्त : १९३० से सारे विश्व में आध्यात्मिक जागृति आयी है । क्या महर्षि इससे सहमत हैं ?

महर्षि ने कहा : "विकास तुम्हारी दृष्टि के अनुसार है ।"

पुनः बैरन ने प्रार्थना की कि क्या महर्षि उन्हें आध्यात्मिक समाधि प्रवृत्त करेंगे तथा उन्हें एक सन्देश—मौन परन्तु फिर भी बुद्धिगम्य हो, देने की कृपा करेंगे ।

कोई उत्तर नहीं दिया गया ।

२५ दिसम्बर, १९३५

११५. श्री एम० फ्रायडमैन : कोई प्रारम्भिक कामना न होने पर भी हमें अनेक विचित्र अनुभव होते हैं । वे कहाँ से उदय होते हैं ?

म० : अभी वहाँ इच्छा न हो किन्तु पूर्व में वह पर्याप्त मात्रा में थीं ।

अब तुम्हें स्मरण न होने पर भी समय आने पर अब वह फल दे रही हैं। ज्ञानी के लिए प्रारब्ध इसी प्रकार शेष रहता है। वास्तव में यह केवल अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण के अनुसार है।

११६. **भक्त** : जीव कर्म से बद्ध कहा जाता है। क्या यह ऐसा है ?

म० : कर्म को अपने फल भुगतने दो। जब तक तुम कर्ता हो तब तक तुम भोगते हो।

भक्त : कर्म के बन्धन से कैसे छुटकारा पायें ?

म० : देखो यह कर्म किसका है ? तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि तुम कर्ता नहीं हो। तब तुम मुक्त होगे। इसके लिए ईश्वर-कृपा आवश्यक है, जिसके लिए तुम्हें उसकी प्रार्थना, उसकी उपासना एवं उसका ध्यान करना आवश्यक हैं।

बिना संकल्प के सहज कर्म बन्धनकारक नहीं होते। ज्ञानी भी कर्म करता है जैसा कि उसकी शारीरिक क्रिया से प्रकट है। प्रयास एवं संकल्पों के अभाव में कोई कर्म नहीं हो सकता। अतः संकल्प सबके साथ विद्यमान हैं। संकल्प दो प्रकार के हैं : (१) बन्ध-हेतु, तथा (२) मुक्ति-हेतु। प्रथम प्रकार के कर्म त्याज्य हैं तथा द्वितीय प्रकार के बढ़ाना आवश्यक है। पूर्वकृत कर्म के बिना कोई फल नहीं होता; पूर्व संकल्प के बिना कर्म नहीं होता। जब तक कर्तापन का भाव है तब तक मुक्ति भी प्रयास का ही फल होगा।

११७. एक लंका निवासी : आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रारम्भिक साधन क्या है ? कृपया इस ओर मेरा मार्गदर्शन करें। पुस्तकों के अध्ययन से कोई लाभ नहीं।

दूसरा व्यक्ति : जो प्रार्थना इन्होंने की है, वही हम सब की है।

म० : ऐसा ही है। यदि आत्मा पुस्तकों में मिलती तो उसकी अनुभूति अभी तक हो गयी होती। इससे बढ़कर कौन-सा आश्चर्य होगा कि हम पुस्तकों में आत्मा को खोजें ? क्या वह वहाँ मिलेगी ?

यह अवश्य है कि पुस्तकों ने पाठकों को यह प्रश्न करने तथा आत्मा की खोज करने की विवेक बुद्धि दी है।

भक्त : पुस्तकें नितान्त निरर्थक हैं। इन सब को जला ही दिया जाय। कहा हुआ शब्द मात्र ही उपयोगी है। केवल कृपा ही कल्याणकारी है।

अन्य व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार विचार प्रकट करते हुए, अन्ततः वे मूल प्रश्न पर वापस आ गये, पर श्री भगवान मौन रहे।

११८. बूरीज़ कॉलेज, वैलौर, के तेलुगु के पण्डित श्री रंगचारी, ने निष्काम कर्म के विषय में जिज्ञासा की। कोई उत्तर नहीं दिया गया। कुछ समय

पश्चात् श्री भगवान पर्वत पर घूमने पधारे। उपरोक्त पण्डित सहित कुछ अन्य व्यक्ति भी उनके साथ चले।

मार्ग पर एक काँटेदार लकड़ी पड़ी थी। श्री भगवान ने उसे उठा लिया; वे बैठ गये और धीरे-धीरे इसे ठीक करना प्रारम्भ किया। काँटे तोड़े गये, गाँठें घिसकर समतल की गयीं, पूरी छड़ी एक खुरदुरे पत्ते से रगड़कर चिकनी बनायी गयी। इस पूरे कार्य में लगभग छः घण्टे लगे। एक काँटेदार लकड़ी से इतनी सुन्दर छड़ी बन जाने पर सब आश्चर्य कर रहे थे। जैसे ही सब चले मार्ग में एक गड़रिया लड़का दीखा। गड़रिये की छड़ी खो गयी थी और वह परेशान था। श्री भगवान ने तुरन्त वह नयी छड़ी उस लड़के को दे दी और चल दिये।

तेलुगु पण्डित ने कहा, यह मेरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर है।

११९. एक और घटना। उस समय आश्रम में चार कुत्ते रहते थे। श्री भगवान ने कहा कि जब तक वे स्वयं भोजन का कुछ भाग ग्रहण नहीं कर लेते तब तक ये कुत्ते कोई भोजन स्वीकार नहीं करते। उस पण्डित ने इसकी परीक्षा की। उसने कुछ खाद्य पदार्थ उनके समक्ष डाला; उन्होंने उसे स्पर्श भी नहीं किया। कुछ समय बाद महर्षि ने, उसमें से कुछ अंश अपने मुँह में डाला। तुरन्त ही वे झपटकर भोजन चट कर गये।

१२०. कुछ समय उपरान्त एक व्यक्ति द्वारा दो मोर आँखों पर पट्टी बाँध कर लाये गये। महर्षि के समक्ष छोड़े जाने पर वे उड़कर दूर चले गये। दोनों मोर दुबारा लाये गये किन्तु वे फिर भी उड़ गये। तब श्री भगवान ने कहा, "इन्हें यहाँ रोककर रखने के प्रयास से कोई लाभ नहीं है। इनकी इन कुत्तों जैसी मानसिक परिपक्वता नहीं है। उनके बहुत प्रयास करने के बाद भी मोर वहाँ एक क्षण को भी नहीं रुके।

१२१. महर्षि तथा दो मुसलमानों के मध्य पूर्व में हुई वार्ता।

भक्त : क्या ईश्वर का आकार है ?

म० : ऐसा कौन कहता है ?

भक्त : अच्छा, यदि ईश्वर निराकार है तो क्या मूर्तिपूजा उचित है ?

म० : ईश्वर को छोड़ो क्योंकि वह अज्ञात है। तुम्हारे विषय में क्या ? क्या तुम्हारा आकार है ?

भक्त : हाँ, मैं अमुक व्यक्ति हूँ और इसी प्रकार।

म० : तात्पर्य यह है कि तुम हाथ-पाँव वाले, दाढ़ी वाले, साढ़े तीन हाथ ऊँचे आदि, आदमी हो। क्या यह ऐसा है ?

भक्त : निश्चय ही।

म० : तब क्या तुम गहन निद्रा में स्वयं को ऐसा ही पाते हो ?

भक्त : जाग्रत होकर मैं अनुभव करता हूँ कि मैं सो रहा था। अतः अनुमान से मैं गहन निद्रा में भी ऐसा ही रहा होऊँगा।

म० : यदि तुम देह हो तो देहान्त होने पर वे शव को क्यों गाड़ते हैं ? देह को गाड़ने से मना कर देना चाहिए ?

भक्त : नहीं, मैं स्थूल देह में सूक्ष्म जीव हूँ।

म० : इस प्रकार तुम देखोगे कि तुम वास्तव में बिना आकार के हो; किन्तु अब तुम स्वयं को देह समझ रहे हो। जब तक तुम साकार हो, निराकार ईश्वर की भी साकार रूप में उपासना क्यों नहीं करते ?

प्रश्नकर्ता भ्रमित एवं व्याकुल हो गया।

१ जनवरी, १९३६

१२२. क्रिसमस पर यहाँ विशाल समुदाय एकत्रित हो गया।

भक्त : चैतन्य ऐक्यता कैसे प्राप्त करें ?

म० : चैतन्य ऐक्यता होते हुए उसकी प्राप्ति कैसे करें ? तुम्हारा प्रश्न स्वयं ही इसका उत्तर है।

भक्त : आत्मा, अनात्मा तथा परमात्मा क्या हैं ?

म० : आत्मा जीवात्मा है। शेष स्पष्ट है। आत्मा नित्य-सिद्ध है। आत्मा को सभी जानना चाहते हैं। स्वयं को जानने हेतु किस प्रकार की सहायता अपेक्षित है ? लोग आत्मा को एक नवीन वस्तु के रूप में देखने की आकांक्षा करते हैं। किन्तु यह नित्य है एवं सदैव वही रहती है। वे आत्मा को देदीप्यमान प्रकाश आदि के रूप में देखने की इच्छा करते हैं। ऐसा कैसे हो सकता है ? आत्मा न प्रकाश है, न अन्धकार है (न तेजो न तमः)। वह केवल है जो वह है। उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। सर्वोत्तम परिभाषा है "मैं हूँ वही 'मैं' हूँ" (*I AM THAT I AM*)। श्रुतियों में आत्मा को अँगूठे के आकार के समान, केश के अग्रभाग के समान, बिजली की चमक के समान, बृहत्, सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म आदि बताया गया है। वास्तव में उनका कोई आधार नहीं है। यह अस्तित्व मात्र है, परन्तु सत् एवं असत् से भिन्न है। यह ज्ञान है, किन्तु ज्ञान एवं अज्ञान से भिन्न है। इसकी परिभाषा कैसे की जा सकती है ? यह विशुद्ध (केवल) अस्तित्व है।

श्री भगवान ने पुनः कहा, पूरे थायूमनावार साहित्य में उन्हें जो अंश प्रिय है, वह है : "अहंकार के लोप होने पर अन्य "मैं"—"मैं" स्वतः पूर्ण तेज, आदि, में व्यक्त होता है।" उन्होंने पुनः "स्कन्दर अनुभूति" से उद्धरण दिया : "न सत् न असत्; न तमस् न प्रकाश, वह है।"

एक व्यक्ति ने कहा कि कुम्बकोनम के एक सिद्ध का मत है कि उसने आचार्य शंकर के सिद्धान्त जो कि सबसे परे के बारे में है परन्तु जिसका दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसमें संशोधन कर उसे दैनिक जीवन से भी सम्बद्ध किया है। दैनिक जीवन में भी अलौकिक शक्तियों का उपयोग आवश्यक है अर्थात् पूर्णता प्राप्त करने हेतु सिद्ध होना आवश्यक है।

श्री भगवान ने थायूमनावार का वह अंश उद्धृत किया जिसमें सर्व-सिद्धियों को तुच्छ बताया गया है। उन्होंने पुनः कहा, थायूमनावार ने अनेक स्थानों पर मौन का उल्लेख किया है किन्तु परिभाषा एक ही छन्द में की है। मौन वह सहज अवस्था बतायी है जो अहंकार के नष्ट होने के उपरान्त स्वतः प्रकट होती है। यह अवस्था प्रकाश तथा अन्धकार से अतीत है, फिर भी उसे अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में प्रकाश कहते हैं।

३ जनवरी, १९३६

१२३. इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उर्दू-फारसी के मुसलमान प्रोफेसर डा० मोहम्मद हाफिज सैयद ने प्रश्न किया : "इस बाह्य अभिव्यक्ति का क्या प्रयोजन है ?"

म० : इस अभिव्यक्ति ने ही तुम्हें प्रश्न करने को प्रेरित किया है।

भक्त : सत्य है। मैं माया से आवृत्त हूँ। इससे किस प्रकार मुक्त होऊँ ?

म० : कौन माया से आवृत्त है ? कौन इससे मुक्त होना चाहता है ?

भक्त : गुरुदेव, यह पूछने पर 'कौन ?', मैं जानता हूँ कि यह अज्ञानी 'मैं' है, जो इन्द्रिय समूह, मन तथा देह से बना है। पाल ब्रंटन की पुस्तक पढ़ने के बाद मैंने "कौन" पर विचार करना प्रारम्भ किया। तीन-चार बार मैं उल्लसित हुआ; वह उल्लास कुछ काल तक बना रहा, तदुपरान्त वह समाप्त हो गया। 'मैं' में कैसे सुस्थित होऊँ। कृपया मेरा मार्गदर्शन कर मेरी सहायता करें।

म० : नवीन प्रकट हुई वस्तु निश्चय ही समय आने पर नष्ट हो जायगी।

भक्त : मुझे नित्य सत्य तक पहुँचने का मार्ग बताने की कृपा करें।

म० : तुम वही हो। क्या तुम कभी भी आत्मा से अलग रह सकते हो ? अपने आप रहने हेतु किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं, क्योंकि तुम सदैव वही हो।

१२४. एक और अधीर प्रश्नकर्ता ने लम्बी-सी भूमिका कहते हुए अन्त में यह जिज्ञासा की कि कुछ बालक अकाल मृत्यु को क्यों प्राप्त हो जाते हैं। वे

अपने इस प्रश्न का उत्तर बड़ी उम्र के लोग जो इसके साक्षी होते हैं, उनके समाधान हेतु नहीं वरन् उन शिशुओं हेतु जानना चाहते थे, जो काल के शिकार होते हैं।

म० : उनको ही यह प्रश्न करने दो। बच्चों के दृष्टिकोण से उत्तर चाहने के लिए तुम प्रश्न क्यों करते हो ?

१२५. मुसलमान प्रोफेसर ने पूछा: जब मैं यहाँ हूँ, मेरा मन सात्विक है, जैसे ही मैं यहाँ से पीठ मोड़ता हूँ मेरा मन कितने ही पदार्थों के पीछे भागता है।

म० : क्या पदार्थ तुमसे भिन्न हैं ? दृष्टा के बिना दृश्य नहीं हो सकते।

भक्त : मैं इसे कैसे समझूंगा ?

म० : वह अस्तित्व हो, तुम क्या जानना चाहते हो ? क्या आत्माएँ दो हैं, जो एक-दूसरे को जानेंगी ?

भक्त : मैं पुनः आपकी सेवा में निवेदन करता हूँ, इस सबके सत्य को कैसे जानूँ एवं इसका अनुभव कैसे करूँ ?

म० : किसी भी नवीन वस्तु को प्राप्त नहीं करना है। आत्मा को केवल अज्ञान से मुक्त करना है। आत्मा को अनात्मा से मिलाना ही वह अज्ञान है।

भक्त : हाँ, मैं अभी भी नहीं समझता हूँ। मुझे आपकी सहायता की आवश्यकता है। यहाँ सब आपके अनुग्रह की प्रतीक्षा में हैं। आपने भी प्रारम्भ में किसी गुरु अथवा ईश्वर की सहायता प्राप्त की होगी। अब वही कृपा दूसरों को प्रदान कर मेरी रक्षा करें।

यहाँ आने से पूर्व मुझे आपके दर्शनों की तीव्र इच्छा थी। किन्तु ऐसा करने का अवसर ही नहीं मिला। बंगलौर से मैंने अपने स्थान को लौट जाने का निश्चय किया। मुझे श्री फ्रायडमैन आदि, अन्य व्यक्ति मिले; जिन्होंने मुझे यहाँ भेजा। आप ही मुझे यहाँ खींचकर लाये हैं। मेरी स्थिति भी पाल ब्रण्टन के समान है जिन्हें बम्बई से घर जाने का कार्यक्रम रद्द कर यहाँ आने को बाध्य होना पड़ा था।

यहाँ आने पर प्रारम्भ में मुझे संकोच था। मैं सोचता था कि क्या आपके समीप आकर बात करने की आज्ञा भी प्रदान की जायगी। मेरे समस्त संशयों का शीघ्र ही निवारण हो गया। मैंने देखा यहाँ सब बराबर हैं। आपने सब में समानता स्थापित कर दी है। मैंने आपके व अन्य लोगों के साथ भोजन किया।

यदि मैं यू० पी०* में अपने समाज के लोगों से यह सब कहूँगा तो वे विश्वास नहीं करेंगे। ब्राह्मण मेरे साथ जल ग्रहण नहीं करेंगे और न मेरे साथ पान चबायेंगे। किन्तु यहाँ तो आपने मुझे तथा मेरे समान लोगों को अपनी शरण में ले लिया है। यद्यपि गांधीजी बहुत प्रयास कर रहे हैं किन्तु वे देश में यह स्थिति नहीं ला सकते। आपके सान्निध्य में मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

मैं आपको ईश्वर मानता हूँ। मैं श्रीकृष्ण को सत्य ईश्वर मानता हूँ, क्योंकि उन्होंने कहा है, "किसी भी देवता की उपासना करते हुए साधक मुझे ही पूजता है तथा मैं उसकी रक्षा करता हूँ।" जबकि दूसरों ने कहा है, "मुक्ति मेरे द्वारा ही मिलेगी।" इतनी विशाल हृदयता केवल कृष्ण में ही है। उन्होंने ईश्वर की तरह कथन किया है। आप भी उसी प्रकार की समानता का व्यवहार करते हैं।

४ जनवरी, १९३९

१२९. डा० सैयद ने पुनः प्रश्न किया : आध्यात्मिक प्रगति की इच्छा रखने वाले साधक के लिए कर्म का मार्ग श्रेयस्कर है अथवा वैराग्य का (प्रवृत्ति मार्ग अथवा निवृत्ति मार्ग) ?"

म० : क्या तुम आत्मा से बाहर जाते हो ? निवृत्ति से तुम्हारा क्या आशय है ?

एक अमरीकी इंजीनियर ने सत्संग (संतों का संग) के सम्बन्ध में पूछा।

म० : सत् हमारे आन्तर में है।

भक्त : "मैं कौन हूँ ?" पुस्तक में आपने हृदय को मन का स्थान बताया है। क्या ऐसा है ?

म० : मन ही आत्मा है।

भक्त : क्या यह स्वयं आत्मा है अथवा आत्मा का प्रक्षेपण ?

म० : वही।

भक्त : पश्चिम के निवासी मन को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मानते हैं, जबकि पूर्व के निवासियों के विचार इसके विपरीत हैं—क्यों ?

म० : जहाँ मनोविज्ञान समाप्त होता है, वहाँ दर्शन आरम्भ होता है। यह अनुभव की बात है; मन उत्पन्न होता है; हम उसे देखते हैं; मन के बिना भी हमारी सत्ता है। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव इसका प्रमाण है।

भक्त : गहन निद्रा में, मैं रहता प्रतीत नहीं होता ?

म० : यह तो तुम जाग्रत अवस्था में कहते हो। अब तो मन कह रहा है। गहन निद्रा में तुम मन से अतीत रहते हो।

---

* पहले उत्तर प्रदेश का नाम युक्त प्रान्त (United Provinces) था।

भक्त : पाश्चात्य दर्शन मन का उच्चतर आत्मा द्वारा प्रभावित होना स्वीकार करता है।

१२७. अमरीकी इंजीनियर ने पूछा : "क्या जगह की दूरी से अनुग्रह पर प्रभाव पड़ता है ?"

म० : काल तथा देश हमारे अन्दर ही हैं। तुम सदैव अपनी आत्मा में हो। देश तथा काल इसे कैसे प्रभावित करते हैं ?

भक्त : रेडियो से समीप वाले जल्दी सुनते हैं। आप हिन्दू हैं, हम अमरीकी हैं, क्या इससे कुछ अन्तर पड़ता है ?

म० : नहीं।

भक्त : व्यक्ति के मन के भाव भी दूसरे लोग जान लेते हैं।

म० : इससे प्रकट है कि सब लोग एक हैं।

५ जनवरी, १९३६

१२८. आश्रम में कुछ फ्रांस की महिलाएँ तथा पुरुष एवं कुछ अमरीकी आये। उन लोगों ने श्री भगवान से कुछ प्रश्न किये। उनमें से एक प्रश्न था, "पूर्व का पश्चिम को क्या सन्देश है ?"

म० : सब का लक्ष्य एक ही है।

एक अन्य प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान ने कहा : तुम कैसे कहते हो कि 'मैं हूँ ?' क्या तुम अपने को जानने के लिए प्रकाश की सहायता लेते हो ? अथवा क्या पुस्तकों में पढ़कर तुम्हें इसकी जानकारी हुई ? कैसे ?

प्रश्नकर्ता ने कहा : "अनुभव से।"

म० : हाँ। अनुभव ही वास्तविक है। ज्ञान हेतु द्दष्टा-द्दश्य होना आवश्यक है। किन्तु अनुभव अनन्त, शाश्वत है।

६ जनवरी, १९३६

१२९. बी० वी० नरसिम्ह स्वामी के पूर्व के सहयोगी तथा एक ग्रन्थ "विशिष्टाद्वैत" के रचयिता वयोवृद्ध महाशय यहाँ प्रथम बार आये। उन्होंने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की कि क्या मृत्यु के बाद लिंग शरीर विलीन होकर पुनः दो वर्ष पश्चात् जन्म ले सकता है।

म० : हाँ। अवश्य ही। न केवल पुनर्जन्म सम्भव है, अपितु चाहे मृत्यु को दो ही वर्ष हुए हों, नवीन देह में व्यक्ति बीस, चालीस तथा सत्तर वर्ष का भी हो सकता है। श्रीभगवान ने "योगवाशिष्ठ" से लीला की कथा उद्धृत की।

"श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानम्, ध्यानात् कर्मफलत्यागः।"

इस कथन में ज्ञान से तात्पर्य अभ्यास रहित ज्ञान से है, अभ्यास से तात्पर्य ज्ञान रहित अभ्यास से है; ध्यान से तात्पर्य ज्ञान सहित अभ्यास से है।

"ज्ञान रहित अभ्यास से अभ्यास रहित ज्ञान श्रेष्ठ है। अभ्यास रहित ज्ञान से अभ्यास सहित ज्ञान श्रेष्ठ है। कर्मफलत्यागः=ज्ञानी का निष्कामकर्म— ज्ञान सहित अभ्यास से श्रेष्ठ है।"

भक्त : योग तथा समर्पण में क्या अन्तर है?

म० : समर्पण भक्तियोग है। 'मैं'-भाव के मूल पर पहुँचने से अहंकार नष्ट हो जाता है, यही लक्ष्य-सिद्धि, प्रपत्ति (समर्पण), ज्ञान आदि हैं।

१३०. श्रीरामकृष्ण मिशन के लक्ष्मण ब्रह्मचारी ने जिज्ञासा की : "मैं कौन हूँ?" की खोज, अथवा 'मैं'-भाव पर विचार भी तो स्वयं विचार ही है। इस प्रक्रिया से विचार कैसे नष्ट होगा?

म० : वन में ऋषि-पत्नियों द्वारा सीता से पूछा गया कि ऋषियों में से उनके पति कौन-से हैं? (राम ऋषि वेश में वहीं विराजमान थे।) एक-एक ऋषि की ओर संकेत किये जाने पर वे मना करती रहीं, किन्तु राम की ओर संकेत किये जाने पर उन्होंने अपना सिर झुका लिया। उनका मौन अधिक प्रभावशाली था।

इसी प्रकार, वेद 'नेति'—'नेति' बड़े प्रभावशाली शब्दों में कहते हैं और फिर मौन हो जाते हैं। उनका मौन ही वास्तविक अवस्था है।

मौन प्रतिपादन का यही अर्थ है।

जब 'मैं'-भाव के स्रोत पर पहुँचते हैं तब वह नष्ट हो जाता है और जो शेष रहता है वह केवल आत्मा है।

भक्त : पातंजलि "योगसूत्र" में तादात्म्य की चर्चा है।

म० : परमात्मा से तादात्म्य, अहंकार के नाश का दूसरा नाम है।

१३१. श्री सुब्बाराव ने पूछा : मुख्य प्राण क्या है?

म० : यह अहंकार तथा प्राण का स्रोत है। कभी इसे कुण्डलिनी भी कहते हैं। चैतन्य का कभी जन्म नहीं हुआ, यह सदैव रहता है। किन्तु अहंकार उत्पन्न होता है, और इसी प्रकार अन्य संकल्प भी। पूर्ण चैतन्य के योग से वे प्रदीप्त हो उठते हैं, अन्यथा नहीं।

भक्त : मोक्ष क्या है?

म० : तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था, यह जानना ही मोक्ष है। "शान्त रहो और जानो कि मैं परमात्मा हूँ।"

शान्त होने से तात्पर्य है, संकल्प न होना। शब्द जानो है, सोचो नहीं।

भक्त : ऐसा कहते हैं कि वक्ष में भिन्न-भिन्न रंग के छह अंग हैं, उनमें से मध्य रेखा से दो अंगुल दूर दाहिनी ओर हृदय स्थित है। किन्तु हृदय भी

आकार रहित है। तब क्या हमें इसे आकृति मानकर उस पर ध्यान करना चाहिए ?

म० : नहीं। "मैं कौन हूँ" इसी का अनुसन्धान आवश्यक है। गहन निद्रा तथा जागृति में जिसका अस्तित्व है वह एक ही है। किन्तु जागृति में दुख है तथा उसके निवारण का प्रयत्न है। इस प्रश्न के उत्तर में कि कौन सोते से जागा, तुम कहते हो 'मैं'। तुम्हें उसी "मैं" पर अब दृढ़ रहने को कहा जाता है। ऐसा करने से नित्य सत्ता स्वयं को प्रकट कर देगी। हृदय केन्द्र पर ध्यान करना नहीं, अपितु "मैं" का अनुसन्धान करना ही लक्ष्य है। आन्तर अथवा बाह्य कुछ नहीं है। दोनों का एक ही अर्थ है अथवा कुछ नहीं।

हृदय-केन्द्र पर ध्यान करने का मार्ग भी है। यह अभ्यास मात्र है, अनुसन्धान नहीं। जो हृदय पर ध्यान करता है वही यह जान सकता है कि कब मन निष्क्रिय एवं शान्त हो गया। अन्य केन्द्रों पर ध्यान करने वाले इस प्रकार जागरूक नहीं रह पाते, अपितु मन के पुन: सक्रिय होने पर ही मन शान्त रहा, इसका अनुमान करते हैं।

१३२. एक शिक्षित व्यक्ति ने पूछा : क्या कोई परम सत्ता है ? उसका इस दृश्य जगत से क्या सम्बन्ध है ?

म० : क्या वे एक-दूसरे से भिन्न हैं ? सारे प्रश्न मन में ही उदय होते हैं। मन जागृति के साथ उदय होता है और गहन निद्रा में विलीन हो जाता है। जब तक मन है तब तक ऐसे प्रश्न व संशय रहेंगे।

भक्त : परमात्मा की प्राप्ति हेतु क्रमानुसार अवस्थाएँ होनी चाहिए। क्या सत्य की श्रेणियाँ हैं ?

म० : सत्य की कोई श्रेणियाँ नहीं हैं। जीव के अनुभव की श्रेणियाँ हैं, सत्य की नहीं। यदि किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति होगी तो उसका अन्त भी निश्चित है, जबकि परमात्मा नित्य है—यहाँ और अभी।

भक्त : यदि ऐसा है, मैं इससे कैसे अनभिज्ञ रहता हूँ (आवरण) ?

म० : यह अनभिज्ञता किसके लिए है ? क्या परमात्मा यह कहता है कि उसको आवरण है ? यह तो जीव है जो यह कहता है कि कोई वस्तु परमात्मा को आवृत करती है। यह मालूम करो, यह अज्ञानता किसके लिए है ?

भक्त : पूर्ण में यह अपूर्णता क्यों ? अर्थात् परमात्मा सापेक्ष कैसे बना ?

म० : यह सापेक्षता किसको है ? यह अपूर्णता किसको है ? परमात्मा अपूर्ण नहीं है और प्रश्न नहीं कर सकता है। जड़ प्रश्न नहीं कर सकता। दोनों के मध्य कोई उदय हो गया है जो यह प्रश्न करता है तथा ये संशय अनुभव करता है। वह कौन है ? क्या वह यह है जो अभी उदय हुआ है। अथवा यह वह है जो नित्य है ?

पूर्ण होकर तुम स्वयं को अपूर्ण क्यों समझते हो ? सर्व धर्मों की यही शिक्षा है। अनुभव कुछ भी हों, अनुभवकर्ता एक एवं वही है।

'मैं' पूर्ण है। निद्रा में अनेकता नहीं है। यह पूर्णता का द्योतक है।

भक्त : मैं पूर्ण होकर उसका अनुभव क्यों नहीं करता ?

म० : गहन निद्रा में भी अपूर्णता का अनुभव नहीं होता। जब सुषुप्ति का 'मैं' पूर्ण है तो जागृति का 'मैं' क्यों अपूर्णता अनुभव करता है ? कारण यह है कि अपूर्णता अनुभव करने वाला कृत्रिम उत्पन्न हुआ है जो अनन्त से अन्य हो गया है—ईश्वर से जिसका वियोग हो गया है।

भक्त : मैं तीनों अवस्थाओं में वही हूँ। क्या अहंकार ने मुझे निमज्जित कर लिया अथवा मैं स्वयं इसमें उलझ गया ?

म० : क्या कोई वस्तु तुम्हारे बिना उत्पन्न हुई ?

भक्त : मैं तो सदैव वैसा ही हूँ।

म० : चूँकि तुम इसे अनुभव करते हो, अतः यह वस्तु आयी हुई प्रतीत होती है। क्या गहन निद्रा में यह समस्या थी ? अब नवीन क्या है ?

भक्त : इन्द्रियाँ तथा मन।

म० : यह कौन कह रहा है ? क्या यह सोने वाला कह रहा है ? यदि ऐसा है तो वह गहन निद्रा में भी यह प्रश्न कर सकता था। जो निद्रित था वह नियन्त्रण में नहीं रहा, कृत्रिम ने उत्पन्न होकर अपने आपको भिन्न कर दिया है तथा अब वही बोल रहा है।

क्या नित्य तथा पूर्ण के बिना कोई नवीन वस्तु उत्पन्न हो सकती है ? इस तरह का विवाद भी स्वयं शाश्वत है। इसमें मत लगो। अन्तर्मुखी होकर इन सबका अन्त कर दो। वाद-विवाद का कभी अन्त नहीं होता।

भक्त : मुझ पर वह कृपा करो जो सर्व दुःख से निवृत्त कर देती है। मैं यहाँ विवाद करने नहीं आया हूँ। मैं केवल ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।

म० : पहले यह जानो कि तुम क्या हो। इसके लिए किसी शास्त्र अथवा विद्वता की आवश्यकता नहीं है। यह तो केवल अनुभव की बात है। अस्तित्व की अवस्था निरन्तर तथा अभी और यहीं है। तुम स्वयं अपने आप पर नियन्त्रण खो बैठे हो एवं दूसरों से मार्गदर्शन माँग रहे हो। दर्शन शास्त्र का उद्देश्य तुम्हें अन्तर्मुखी बनाना है। "यदि तुम स्वयं की आत्मा को जान लो, तुम्हें कोई भी अनिष्ट नहीं आ सकता। चूँकि तुमने जिज्ञासा की है, तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ।"

अहंकार तुम्हें (आत्मा को) पकड़कर ही आता है। स्वयं अपने आपको पकड़ लो और अहंकार नष्ट हो जायगा। तब तक ज्ञानी कहता रहेगा "वहाँ है" अज्ञानी पूछता रहेगा "कहाँ" ?

भक्त : समस्या का गूढ़ विषय "अपने आपको जानो" में है।

म० : हाँ, यही है।

१३३. अद्वैत में दो विचारधाराएँ हैं : (१) दृष्टि सृष्टि, तथा (२) सृष्टि दृष्टि।

तान्त्रिक अद्वैत में तीन मौलिक तत्त्व स्वीकार किये गये हैं : जगत, जीव तथा ईश्वर। यह तीन भी सत्य हैं। किन्तु सत्य इन तक ही सीमित नहीं है। यह इनसे भी परे है। यह तान्त्रिक अद्वैत है। सत्य सीमा रहित है। उपरोक्त तीनों मूल तत्त्व परम सत्य से पृथक नहीं रहते। यह विचार सर्वसम्मत है कि सत्य सर्व-व्यापक है; इस प्रकार ईश्वर जीव में व्याप्त है; अतः जीव नित्य अस्तित्व है। उसका ज्ञान सीमित नहीं है। सीमित ज्ञान की वह केवल कल्पना करता है। वास्तव में, उसका ज्ञान निस्सीम है। इसकी सीमा मौन है। इस सत्य को दक्षिणामूर्ति ने प्रकट किया था। जो इन तीन मूल तत्त्वों को मानते हैं, वे इन्हें सत्य कहते हैं। वे अहंकार के साथी हैं।

यह सत्य है, देव मूर्तियों का वर्णन बहुत विस्तार से किया गया है। यह सब वर्णन पूर्ण सत्य की ओर संकेत करता है। अन्यथा प्रत्येक विवरण के विशेष महत्त्व का वर्णन क्या किया जाता ? विचार करो। मूर्ति एक प्रतीक मात्र है। जो नाम एवं रूप से परे है, वही सत्य है। शैव-सिद्धान्त तथा वेदान्त दोनों का एक ही लक्ष्य उसी सत्य का है। अन्यथा अद्वैत के महानतम भाष्यकार आचार्य शंकराचार्य देवताओं की स्तुति क्यों करते ? निश्चय ही उन्होंने ऐसा जान-बूझकर किया।

प्रश्नकर्ता ने बड़ी स्पष्टता से बताया कि बहाई सम्प्रदाय के साहित्य के पढ़ने के बाद उनका शैव सिद्धान्त, वेदान्त इत्यादि में विश्वास हिल गया था। उसने कहा, "कृपया मेरी रक्षा करो।"

म० : जो आत्मा अभी और यहाँ है, उसे जानो; तुम दृढ़ होगे एवं चलायमान नहीं होगे।

भक्त : बहाई मत के लोग दूसरों के भाव जान सकते हैं।

म० : हाँ, यह सम्भव है। तुम्हारे भाव दूसरा जान गया। तुम्हारे भाव को जानने वाला एक अवश्य होना चाहिए। वह सत्य सदैव विद्यमान है तथा इसे ही जानना है। सत्य विचलित नहीं होता।

भक्त : कृपया मुझ पर अनुग्रह कीजिए।

म० : अनुग्रह सदैव ही है एवं दिया नहीं जाता। बहाउल्ला तथा अन्य अवतार थे अथवा नहीं इस ऊहापोह में क्यों पड़ते हो। स्वयं को जानो। सब कुछ सत्य मानो। उसे भी सत्य मानो। क्या वह सत्य से अलग रह सकता है। तुम्हारे विश्वासों में परिवर्तन हो सकता है, किन्तु सत्य नहीं।

भक्त : मुझे 'सिद्धान्त आदि' की वास्तविकता बतायें।

म० : उनके निर्देशों का पालन करो तथा फिर संशय हो तो पूछ सकते हो। उन सिद्धान्तों का पालन तुम्हें केवल मौन तक ले जायगा। भेद केवल बाह्य वस्तुओं में ही दीखते हैं। यदि तुम उनके आदेशों का पालन करोगे तो सारे भेद नष्ट हो जायेंगे। राजा के पुत्र के अतिरिक्त किसी को भी राजकुमार नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकार जो पूर्ण है, वही पूर्णता कहलायेगा। व्यक्ति को केवल शिष्यत्व, दीक्षा, समर्पण की रस्म आदि से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए; यह बाह्य दृश्य हैं। समस्त दृश्यों के मूल में विद्यमान सत्य को कभी मत भूलो।

भक्त : दक्षिणामूर्ति के मौन का क्या रहस्य है ?

म० : विद्वानों तथा ज्ञानियों ने अनेक अर्थ किये हैं। तुम्हें जो अच्छा लगे, उसे ग्रहण करो।

१४ जनवरी, १९३६

१३४. हृदय के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया।

श्री भगवान ने कहा : आत्मा को खोजना तथा उसका साक्षात्कार करना आवश्यक है। हृदय अपना काम स्वतः ही करेगा। साक्षात्कार का स्थान हृदय है। उसे आन्तर या बाह्य नहीं कहा जा सकता।

भक्त : क्या श्री भगवान ने अपने प्रथम अथवा प्रारम्भिक अनुभव में साक्षात्कार का स्थान हृदय अनुभव किया था ?

म० : इस विषय पर साहित्य पढ़ने के बाद मैंने इस शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। मैंने अपने अनुभव से इसका परस्पर सम्बन्ध किया।

१५ जनवरी, १९३६

१३५. थियोसोफीकल सम्मेलन से तीन यूरोपीय महिलाएँ यहाँ आयीं तथा प्रश्न किया : "क्या सम्पूर्ण व्यवस्था, योजना वास्तव में उत्तम है ? अथवा यह सब एक प्रकार का भ्रम एवं भूल है, जिसका हमें सदुपयोग करना चाहिए ?"

म० : योजना वास्तव में उत्तम है। भूल हमारी ही है। जब हम स्वयं का सुधार कर लें पूरी योजना पूर्णतया वास्तविक हो जाती है।

भक्त : क्या आप कोई ऐसी विधि बता सकते हैं जिससे हम सुषुप्ति में क्या करते हैं, यह स्मरण कर उस भूल को सुधार लें ?

म० : किसी विधि की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव है कि वह आनन्द से सोया तथा तब कुछ नहीं जानता था। कोई दूसरा अनुभव नहीं था।

भक्त : उत्तर से मुझे सन्तोष नहीं हुआ। सुषुप्ति में हम सूक्ष्म स्तर में भ्रमण करते हैं, किन्तु हमें यह स्मरण नहीं रहता।

म० : सूक्ष्म स्तर का सम्बन्ध स्वप्न से है, गहन निद्रा से नहीं।

भक्त : आपके विचार में जगत के कष्टों का कारण क्या है ? व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में हम इसे बदलने में क्या सहायता कर सकते हैं ?

म० : सद् आत्मा का साक्षात्कार कर लो। केवल यही आवश्यक है।

भक्त : क्या हम अधिक जन-सेवा हेतु तीव्र गति से ज्ञान प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं और कैसे ?

म० : चूँकि हम स्वयं की सहायता नहीं कर पाते इसलिए हमें परमात्मा को पूर्णतया समर्पण करना आवश्यक है। तब वह हमारी तथा जगत की देखरेख करेगा।

भक्त : आपके विचार में लक्ष्य क्या है ?

म० : आत्म-साक्षात्कार।

भक्त : क्या प्रत्येक के लिए निर्धारित गुरु को पाने का कोई साधन है ?

म० : तीव्र ध्यान से यह हो जाता है।

१३६. डा० जी० एच० मीस एक डच नवयुवक कुछ दिन को यहाँ आये। उन्होंने श्री भगवान से प्रश्न किया : "मेरी ऐसी धारणा है कि गहन निद्रा में मुझे कुछ समाधि जैसी अवस्था रहती है। क्या यह ऐसा है ?"

म० : जागृति का 'मैं' यह प्रश्न कर रहा है—सुषुप्ति का 'मैं' नहीं। यदि तुम जाग्रत निद्रा अवस्था, जो कि समाधि जैसी है, जाग्रत अवस्था में प्राप्त कर लोगे तो संशय उदय नहीं होंगे।

समाधि मनुष्य की सहज अवस्था है। यह तीनों अवस्थाओं की मूलाधार है। यह—अर्थात् 'मैं'—इन अवस्थाओं में नहीं है, अपितु ये अवस्थाएँ उसमें हैं। यदि हमें जाग्रत अवस्था में समाधि प्राप्त हो जाय तो यह अवस्था गहन निद्रा में भी बनी रहेगी। सचेत तथा अचेत अवस्था का भेद मन के क्षेत्र का है, सत् आत्मा की अवस्था उससे परे है।

भक्त : क्या बौद्ध विचारधारा, कि जीवात्मा जैसी निरन्तर सत्ता है ही नहीं, सही है अथवा नहीं ? क्या हिन्दू विचारधारा अहंकार के पुर्नजन्म से इसका सामंजस्य है ? क्या हिन्दू मत से आत्मा नित्य सत्ता है, जो पुनः-पुनः जन्म लेती है, अथवा यह सब केवल मानसिक प्रवृत्ति—संस्कार मात्र का समूह है ?

म० : वास्तविक आत्मा नित्य एवं अप्रभावित है। पुनर्जन्म होने वाला अहंकार निम्न-स्तर का है, अर्थात् संकल्प। आत्म-साक्षात्कार इससे परे है।

पुनर्जन्म कृत्रिम अंकुर के कारण है। इस कारण बौद्ध इसको नहीं मानते हैं। वर्तमान अवस्था चित् और जड़ के मिलाने के कारण से है।

१३७. श्री रामकृष्ण मिशन के लक्ष्मण ब्रह्मचारी ने जिज्ञासा की, "क्या कोई स्वयं संकल्पों के साक्षी होने का अनुमान कर सकता है?"

म० : यह स्वाभाविक अवस्था नहीं है। यह केवल मन को शान्त करने के लिए एक भावना मात्र है। आत्मा सदैव साक्षी है, ऐसी कल्पना करें अथवा न करें। उक्त उद्देश्य के अतिरिक्त ऐसी कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु स्वयं आत्म-भाव से रहना सर्वोत्तम है।

१३८. मैसूर के वित्त सचिव ने पूछा, क्या पाल ब्रण्टन की पुस्तक 'गुप्त मार्ग' भारतीयों के लिए भी उपयोगी है?

म० : हाँ—सभी के लिए।

भक्त : शरीर, इन्द्रियाँ आदि 'मैं' नहीं हैं। यह हम सब में समान रूप से है। परन्तु इसका अभ्यास कैसे करें?

म० : उसमें वर्णित मार्गत्रयी द्वारा।

भक्त : क्या खोज के जिए प्राणायाम आवश्यक है?

म० : पूर्णतया नहीं।

भक्त : पुस्तक में ऐसा कहा है कि "मध्यवर्ती शून्यता (रिक्तता) होती है?"

म० : हाँ। वहीं मत रुक जाओ। यह देखो कि शून्यता किसको प्रकट होती है।

भक्त : ऐसा कहते हैं कि भक्तों के लिए कोई शून्यता नहीं है।

म० : वहाँ भी, अव्यक्त अवस्था है, लय; मन कुछ समय पश्चात् जाग्रत होता है।

भक्त : समाधि का क्या अनुभव है?

म० : वह है जैसी वह है। दर्शकों को यह मूर्च्छा दीखेगी। प्रारम्भ के अनुभव में अभ्यासी को भी यह ऐसी प्रतीत होती है। ऐसे कुछ अनुभवों के बाद सब कुछ ठीक हो जायगा।

भक्त : इन अनुभवों से नाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं अथवा शान्त?

म० : प्रारम्भ में वे उत्तेजित होती हैं। निरन्तर अनुभवों से सामान्य अवस्था हो जाती है। तथा फिर व्यक्ति उत्तेजित नहीं होता।

भक्त : यदि सुरक्षित मार्ग पकड़ें तो कष्टदायक नहीं होगा। उत्तेजना सहज अवस्था तथा कार्य के लिए अनुकूल नहीं है।

म० : चंचल मन भ्रमित हो जाता है। धर्मनिष्ठ मन ही सही मार्ग पर है।

१९ जनवरी, १९३६

१३९. सलेम से, विधान परिषद के सदस्य, श्री एलप्पा चैट्टियर ने प्रश्न किया : "क्या मन को अन्तर्मुखी करना ही पर्याप्त है अथवा हमें 'मैं ब्रह्म हूँ' पर ध्यान करना भी आवश्यक है ?

म० : मन को अन्तर्मुखी करना ही मुख्य वस्तु है। बौद्ध 'मैं' भाव के प्रवाह को निर्वाण मानते हैं। जबकि हम कहते हैं कि ऐसा भाव अपने मूल आधार—केवल सत्य से प्रवाहित होता है। किसी को 'मैं ब्रह्म हूँ' ध्यान करने की क्या आवश्यकता है ? केवल अहंकार को नष्ट करना ही मोक्ष है। परन्तु उसकी प्राप्ति केवल 'मैं'—'मैं' का निरन्तर ध्यान करने से ही होती है। इसीलिए 'मैं' विचार के खोजने की आवश्यकता है। यदि 'मैं' को लय न होने दिया जाय तो साधक को शून्य नहीं होगा। अन्यथा ध्यान में निद्रा आ जायगी।

वास्तव में सदैव एक ही 'अहम्' का अस्तित्व है; किन्तु पुनः-पुनः मिथ्या अहम्-भाव उदय होता रहता है; जबकि अन्तःप्रज्ञ 'अहम्' स्वतः ही प्रकाशित रहता है अर्थात्, व्यक्त होने से भी पूर्व।

स्थूल देह के जन्म से स्वयं अपना जन्म नहीं होता; इसके विपरीत अहंकार के जन्म से अपना स्वयं का जन्म होता है।

मुक्ति हेतु, किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं करनी है। यह मूल अवस्था है। तथा सदैव अपरिवर्तित रहती है।

१४०. **भक्त** : सत्य क्या है ?

म० : सत्यता का सदैव सत्य होना आवश्यक है। यह नाम तथा रूप के साथ नहीं है। जो इनका मूल है वही सत्यता है। यह सीमितों (सीमाओं) का मूल है, एवं यह स्वयं निस्सीम है। यह बन्धनरहित है। यह स्वयं सद् है एवं असद् वस्तुओं का मूल है। सत्यता वह है जिसकी सत्ता है। यह यथावत है। यह अनिर्वचनीय है, इसका अस्तित्व, अस्तित्वरहित आदि के रूप में वर्णन सम्भव नहीं है।

१४१. उन्हीं महाशय ने बाद में 'कैवल्य' में से एक श्लोक का उद्धरण देकर प्रश्न किया : "क्या एक बार ज्ञान प्राप्त होकर फिर नष्ट हो सकता है ?"

म० : पहली बार प्रकट होने के बाद, ज्ञान को स्थिर होने में समय लगता है। आत्मा निश्चय ही प्रत्येक के प्रत्यक्ष अनुभव में है, किन्तु उस रूप में नहीं, जैसा किसी की कल्पना में है। वह केवल यथावत है। यह अनुभव समाधि है। जिस प्रकार मन्त्र-शक्ति तथा अन्य विधियों से अग्नि, दाहक गुण से रहित हो जाती है जबकि सामान्यतः दहन करती है, इसी प्रकार आत्मा

वासनाओं से आवृत्त रहती है तथा वासनारहित अवस्था में स्वयं को प्रकट करती है। वासनाओं के घटने-बढ़ने के कारण, ज्ञान को स्थिर होने में समय लगता है। अस्थिर ज्ञान पुनर्जन्म रोकने में समर्थ नहीं है। वासनाओं के साथ-साथ रहते ज्ञान स्थिर नहीं रह पाता। यह सत्य है कि महान् गुरु के सान्निध्य में वासनाएँ क्रियाशील नहीं रहती हैं, मन शान्त हो जाता है एवं समाधि हो जाती है, जिस प्रकार अन्य विधियों से अग्नि दहन नहीं करती। इस प्रकार गुरु के सामीप्य में शिष्य यथार्थ ज्ञान तथा वास्तविक अनुभव प्राप्त कर लेता है। इसमें दृढ़ रहने हेतु आगे प्रयासों की आवश्यकता है। वह अपने स्वयं का वास्तविक अस्तित्व जान लेता है और इस प्रकार अपने जीवन में ही मुक्त हो जाता है। नेत्र बन्द करके समाधि वास्तव में उत्तम है, किन्तु व्यक्ति को इससे भी आगे जाकर यह अनुभव करना है कि कर्म तथा अकर्म एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। कर्मशील रहते हुए समाधि न रहने का भय अज्ञान का चिह्न है। समाधि प्रत्येक व्यक्ति का स्वाभाविक जीवन होना आवश्यक है।

हमारे कर्म व अकर्म से परे भी एक स्थिति है। जब तक वह अवस्था प्राप्त न हो जाय, प्रयत्न की आवश्यकता है। उस आनन्द का, एक बार भी रसास्वादन करने के पश्चात्, मनुष्य उसे पुनः-पुनः प्राप्त करने का प्रयास करेगा। एक बार भी उस शान्ति के आनन्द का अनुभव करने के पश्चात् कोई भी उससे अलग नहीं होना चाहेगा न अपने आपको अन्यथा कर्म में लगायेगा। ज्ञानी के लिए संकल्प करना उतना ही कठिन है जितना कि अज्ञानी के लिए संकल्पशून्य होना।

मामान्य व्यक्ति कहता है कि वह स्वयं को नहीं जानता। वह बहुत-से संकल्प करता है और बिना संकल्पों के नहीं रह सकता।

ज्ञानी किसी भी प्रकार के कर्म से प्रभावित नहीं होता। उसका मन सदैव ही शाश्वत शान्ति में मग्न रहता है।

२० जनवरी, १९३६

१४२. बैजवाड़ा के श्री प्रकाश राव : क्या ब्रह्माकारवृत्ति से पूर्व ही भ्रम निवृत्त नहीं हो जाता ? अथवा क्या यह बाद में भी बना रहता है ?

म० : वासनाओं के निर्मूल होने के पश्चात् भ्रम नहीं रहता। ऐक्य का ज्ञान होने तथा वासनाओं के निर्मूल होने के अन्तरिम काल में भ्रम रहता है।

भक्त : ब्रह्माकारवृत्ति के उपरान्त भी मनुष्य को जगत कैसे प्रभावित कर सकता है ?

म० : पहले उसे प्राप्त कर लो एवं देखो । तदुपरान्त यदि आवश्यक हो, यह प्रश्न करो ।

भक्त : क्या हम उसे उसी प्रकार जान सकते हैं जिस प्रकार हम अपने व्यक्तित्व को जानते हैं ?

म० : क्या तुम मन से भिन्न हो ? तुम उसे जानने की आशा कैसे कर सकते हो ।

भक्त : क्या चित्त (चित्तविलास) के पूर्ण क्षेत्र को जाना जा सकता है ?

म० : अरे ! क्या यही ब्रह्म की ऐक्यता है ? अज्ञान क्षय हो जाने पर अवशेष स्वत: अपने आपको प्रकाशित करता है । यह अनुभव है, ज्ञान की श्रेणी में नहीं ।

२३ जनवरी, १९३९

१४३. श्री पाल ब्रण्टन ने महर्षि से जिज्ञासा की कि क्या अरुणाचल पर्वत भीतर से खोखला है ?

म० : पुराणों का ऐसा ही मत है । जब यह कहा जाता है कि हृदय पोली जगह है, उसमें प्रवेश करने से प्रमाणित होता है कि यह प्रकाश का विस्तार है । इसी प्रकार यह पर्वत ज्योतिर्मय है । गुफा आदि भी उस ज्योति से आवृत्त हैं ।

भक्त : क्या इसके अन्दर गुफाएँ हैं ?

म० : मैंने ध्यान में इसमें गुफाएँ, मार्ग सहित नगर तथा पूरा संसार देखा है ।

भक्त : क्या इसमें सिद्धजन भी हैं ?

म० : सर्व सिद्ध इसमें हैं, ऐसा माना जाता है ।

भक्त : इसमें सिद्ध ही हैं अथवा अन्य भी ?

म० : इसी संसार की तरह ।

भक्त : सिद्ध हिमालय में कहे जाते हैं ।

म० : कैलाश हिमालय पर है : यह शिव का निवास है । जबकि यह पर्वत साक्षात शिव ही है । जहाँ स्वयं शिव विराजमान हैं, वहाँ उनके रहने की समस्त निजी सामग्री होना आवश्यक है ।

भक्त : क्या श्री भगवान विश्वास करते हैं कि पर्वत खोखला, आदि है ?

म० : सब कुछ व्यक्ति के दृष्टि बिन्दु पर ही निर्भर करता है । तुमने

स्वयं दर्शन में पर्वत पर आश्रम, आदि देखे हैं । अपनी पुस्तक में तुमने ऐसा ही वर्णन किया है ।

भक्त : हाँ, वह पर्वत की सतह पर था । दर्शन मेरे अन्दर था ।

म० : यह वास्तव में ऐसा ही है । सब कुछ स्वयं की आत्मा में ही है । संसार को देखने के लिए, द्दष्टा आवश्यक है । बिना आत्मा के जगत नहीं हो सकता । आत्मा में सर्व अन्तर्व्याप्त है । वास्तव में आत्मा ही सर्वस्व है । आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

भक्त : इस पर्वत का क्या रहस्य है ?

म० : जैसा तुमने 'गुप्त मिस्र' में कहा है, "स्तूप का रहस्य आत्मा का रहस्य है", इसी प्रकार इस पर्वत का रहस्य आत्मा का रहस्य है ।

मेजर चेडविक : मैं नहीं जानता कि आत्मा अहंकार से भिन्न है ।

म० : अपनी गहन निद्रा में तुम कैसे थे ?

भक्त : मैं नहीं जानता ?

म० : कौन नहीं जानता ? क्या यह जाग्रत आत्मा नहीं है ? क्या तुम गहन निद्रा में अपने अस्तित्व को नहीं मानते ?

भक्त : मैं था तथा मैं हूँ; किन्तु गहन निद्रा में कौन था मैं नहीं जानता ।

म० : ठीक । जागकर मनुष्य कहता है कि उसे सुषुप्ति की अवस्था में कोई भान नहीं था । अब वह द्दश्य पदार्थों को देखता है और जानता है कि वह है; जबकि गहन निद्रा में न कोई द्दश्य था और न कोई द्दष्टा था । अब जो बोल रहा है वही गहन निद्रा में भी था । इन दोनों अवस्थाओं में क्या अन्तर है ? अब द्दश्य पदार्थ एवं इन्द्रियों का खेल है, जो सुषुप्ति में नहीं था । इसी बीच में नयी एक सत्ता, अहंकार उत्पन्न हो जाता है; जो इन्द्रियों के माध्यम से क्रियाशील हो द्दश्य पदार्थों को देखता है, अपने आपको देह से मिला लेता है और कहता है कि आत्मा अहंकार है । वास्तव में जो गहन निद्रा में विद्यमान था, वही अभी भी है । आत्मा में परिवर्तन नहीं होता । यह तो बीच में अहंकार आ गया है । जिसका उदय एवं अस्त होता है वह अहंकार है; जो परिवर्तन से रहित रहता है, वह आत्मा है ।

१४४. श्री प्रकाश राव : माया का मूल कारण क्या है ?

म० : माया क्या है ?

भक्त : माया अविद्या है, भ्रान्ति ।

म० : भ्रान्ति किसको है ? भ्रान्त होने के लिए किसी का होना आवश्यक है । भ्रान्ति अज्ञान है । तुम्हारे मतानुसार अज्ञानी आत्मा द्दश्य पदार्थों का अवलोकन करती है । जबकि द्दश्य पदार्थ ही नहीं हैं तो माया कैसे रह सकती

है । माया है 'या मा' (जो नहीं है वह माया है) । जो शेष रहता है, वही सद् आत्मा है । यदि तुम कहो कि तुम दृश्य पदार्थों को देखते हो, अथवा तुम कहो कि तुम वास्तविक ऐक्यता को नहीं जानते, तब क्या दो आत्माएँ हैं; एक जानने वाली तथा दूसरी जानी जाने वाले दृश्य पदार्थ ? स्वयं में दो आत्माएँ होना कोई भी स्वीकार नहीं करेगा । जाग्रत होकर व्यक्ति कहता है कि वह स्वयं ही गहन निद्रा में था, पर बोध नहीं था । वह यह नहीं कहता कि सुषुप्त व्यक्ति अब के जाग्रत व्यक्ति से भिन्न था । आत्मा केवल एक ही है । वह आत्मा, सदैव जागरूक है । यह अपरिवर्तित है । आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

भक्त : सूक्ष्म शरीर क्या है ?

म० : क्या स्वप्न में तुम्हारी देह नहीं होती ? क्या वह देह शय्या पर लेटी देह से भिन्न नहीं होती ?

भक्त : क्या मृत्योपरान्त भी हम रहते हैं ? क्या स्थूल देहान्त के पश्चात् सूक्ष्म शरीर बच रहता है ?

म० : जिस प्रकार स्वप्न में अनेक नवीन अनुभव प्राप्त कर तुम जाग् जाते हो, उसी प्रकार स्थूल देहान्त के बाद अन्य देह मिलती है, और इसी प्रकार होता रहता है ।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म शरीर चालीस वर्ष तक रहता है ।

म० : वर्तमान शरीर में तुम्हें स्वप्न शरीर सूक्ष्म प्रतीत होता है ? क्या स्वप्न शरीर में तुमने ऐसा कहा था ? जो अब सूक्ष्म है वह तब वास्तविक भासित होगा; इस दृष्टिकोण से स्वयं वर्तमान शरीर भी सूक्ष्म ही है । एक सूक्ष्म शरीर तथा दूसरे में क्या अन्तर है ? दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

श्री पाल ब्रण्टन : सत्य की श्रेणियाँ हैं ।

म० : यह कहना कि स्वप्न शरीर अब असत्य है, तथा यह कहना कि वर्तमान शरीर स्वप्न में असत्य था, सत्य की श्रेणियों का सूचक नहीं । गहन निद्रा में देह का भान ही नहीं रहता है । सदैव एक ही है और वह आत्मा है ।

१४५. श्री पाल ब्रण्टन : धर्म देवता, स्वर्ग, नरक आदि की चर्चा क्यों करते हैं ।

म० : केवल इस हेतु कि लोग जान लें कि वे इस जगत के समान ही हैं तथा केवल आत्मा ही सत्य है । साधक के दृष्टि बिन्दु के अनुसार ही धर्म हैं । भगवद्गीता का उदाहरण लें : जब अर्जुन ने अपने बन्धु-बान्धव तथा गुरुजनों से युद्ध करने तथा उनको मारकर राज्य प्राप्त करने की अनिच्छा प्रकट की तो श्रीकृष्ण ने कहा, "ऐसा नहीं है कि वे, तुम तथा मैं पहले नहीं

थे, वर्तमान में नहीं हैं अथवा भविष्य में नहीं होंगे। न कोई जन्मा है, न कोई मरा है, न भविष्य में ऐसा होगा ही'' और इसी प्रकार कहा।'' बाद में प्रसंग को विकसित करते हुए जब वे घोषित करते हैं कि उन्होंने सूर्य को भी यही उपदेश किया था तथा सूर्य द्वारा इक्ष्वाकु आदि को। अर्जुन को सन्देह हुआ, "ऐसा कैसे हो सकता है ? आपका जन्म तो कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ है। वे तो युगों पूर्व रहते थे।'' अर्जुन का दृष्टिकोण समझकर श्रीकृष्ण ने कहा, "हाँ, मेरे तथा तुम्हारे कितने ही जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ पर तुम्हें नहीं मालूम।''

ऐसे वचनों में विरोधाभास प्रकट होता है किन्तु फिर भी ये प्रश्नकर्ता के दृष्टिकोण से सही हैं। ईसा ने भी यही घोषणा की थी कि वे अब्राहम से भी पहले थे।

भक्त : धर्मों में ऐसे विवरणों का क्या तात्पर्य है ?

म० : केवल आत्मा की सत्यता को दृढ़ करने के लिए।

भक्त : भगवान सदैव ही उच्चतम दृष्टिकोण से कहते हैं।

श्री भगवान् (मुस्कराते हुए) लोग सरल स्पष्ट सत्य को नहीं समझ पाते—जो सत्य उनके दैनिक जीवन का है, नित्य-सिद्ध है एवं नित्य अनुभूत है वह सत्य आत्मा का है। क्या कोई ऐसा है जो आत्मा से अनभिज्ञ हो ? उस (आत्मा) के सम्बन्ध में वे सुनना भी पसन्द नहीं करेंगे, जबकि वे सबसे परे—स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जानने को उत्सुक हैं। चूँकि वे रहस्य-प्रेमी हैं, किन्तु स्पष्ट सत्य नहीं। इस कारण धर्म उन्हें बहलाकर—आत्मा तक घुमाकर लाते हैं। इधर-उधर भटककर तुम्हें आत्मा में वापस आना ही होगा। तब, फिर अभी यहीं आत्मा में क्यों न रहो ?

दूसरी सृष्टि को देखने के लिए आत्मा का द्रष्टा अथवा संकल्प करने वाले के रूप में होना आवश्यक है। उनकी सत्यता द्रष्टा तथा संकल्पकर्ता की सत्यता के अनुपात की ही है। बिना द्रष्टा आदि के उनका अस्तित्व ही नहीं है। इस कारण वे आत्मा से भिन्न नहीं हैं। अज्ञानी व्यक्ति भी जब बाह्य पदार्थों को देखता है तो वह आत्मा को ही देखता है। किन्तु वह प्रमाद के कारण पदार्थों के साथ तादात्म्य कर लेता है अर्थात् शरीर तथा इन्द्रिय समूह से और संसार में खेल खेलता है। दृष्टा तथा दृश्य—सब आत्मा में विलीन हो जाते हैं। न देखने वाला दृष्टा है और न दीखने वाले पदार्थ हैं। दृष्टा तथा दृश्य आत्मा है। आत्मा भी अनेक नहीं हैं। सब केवल एक ही आत्मा है।

२६ जनवरी, १९३६

१४६. एक शिष्ट एवं अत्यन्त सम्पन्न परिवार की भारतीय महिला कुमारी लीना साराभाई के प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान ने कहा : समत्व की अवस्था आनन्द की अवस्था है। वेदों की घोषणा 'मैं यह हूँ अथवा वह हूँ' केवल मन के समत्व की प्राप्ति के साधन मात्र हैं।

भक्त : अतः हमें एक लक्ष्य लेकर प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। क्या ऐसा है ?

म० : पहुँचने हेतु यदि कोई लक्ष्य होगा तो वह स्थायी नहीं होगा। लक्ष्य पहले से ही होना आवश्यक है। हम अहंकार सहित लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु लक्ष्य तो अहंकार से भी पहले विद्यमान है। लक्ष्य में जो कुछ भी है वह हमारे जन्म अर्थात् हमारे अहंकार के जन्म से भी पहले से हैं। चूंकि हमारा अस्तित्व है, अतः अहंकार का भी अस्तित्व होता प्रतीत होता है।

यदि हम आत्मा को अहंकार मानें तो हम अहंकार बन जाते हैं। यदि हम आत्मा को मन समझें तो हम मन बन जाते हैं, यदि हम आत्मा को शरीर मानें तो हम शरीर बन जाते हैं। संकल्प ही अनेक प्रकार के कोषों की रचना करते हैं। जल के ऊपर की छाया चंचल प्रतीत होती है। क्या इस छाया के चांचल्य को कोई रोक सकता है ? यदि इसकी हलचल बन्द हो जाय तो तुम्हें जल नहीं दिखायी देगा; अपितु केवल प्रकाश। इसी प्रकार अहंकार तथा उसकी क्रियाशालता पर ध्यान न देकर उसके पीछे जो प्रकाश है, उसी को देखो। 'मैं' का संकल्प अहंकार है। सत्य 'मैं' आत्मा है।

भक्त : साक्षात्कार के लिए यह पहली सीढ़ी है।

म० : साक्षात्कार पहले से ही है। संकल्प-रहित अवस्था ही वास्तविक अवस्था है। साक्षात्कार जैसा कोई कार्य नहीं है। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे आत्मा की अनुभूति न हो ? क्या कोई अपने स्वयं के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ? साक्षात करने का अर्थ होगा कि दो आत्माएँ हैं— एक साक्षात करने वाली, तथा दूसरी साक्षात की जाने वाली। जो पहले से साक्षात नहीं है उसका साक्षात किया जाता है। एक बार अपने स्वयं का अस्तित्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् यह किस प्रकार सम्भव है कि हम अपनी आत्मा को न जानें ?

भक्त : संकल्पों के कारण—मन।

म० : ऐसा ही है। यह मन ही बीच में खड़ा होता है और हमारे आनन्द पर पर्दा डालता है। अपने अस्तित्व का हमें कैसे भान होता है ? यदि

तुम कहो कि अपने चारों ओर जगत के कारण, तो तुमको यह कैसे मालूम हुआ कि तुम गहन निद्रा में भी थे।

भक्त : मन से कैसे मुक्त हों ?

म० : क्या मन स्वयं को मारना चाहता है ? मन स्वयं को नहीं मार सकता। इसलिए तुम्हारा कर्तव्य है कि मन का वास्तविक स्वरूप जानो। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि मन है ही नहीं। आत्मा की प्राप्ति होने के बाद मन कहीं नहीं रहता। आत्मा में दृढ़ रहने पर किसी को मन की चिन्ता की आवश्यकता नहीं।

भक्त : भय से कैसे मुक्त हों ?

म० : भय क्या है ? यह एक संकल्प मात्र है। यदि आत्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु हो तो भय का कारण है। अन्य (कोई भी बाह्य वस्तु) को कौन देखता है ? पहले अहंकार उदय होता है और दृश्य पदार्थों को बाह्य रूप में देखता है। यदि अहंकार उदय न हो तो केवल आत्मा ही रहती है तथा वहाँ अन्य कुछ भी नहीं है (बाह्य कुछ भी नहीं)। अपने से अन्य बाहर कुछ देखने के लिए दृष्टा का अन्दर होना आवश्यक है। उसे प्राप्त कर कोई संशय उदय नहीं होगा, कोई भय नहीं रहता—भय ही नहीं, अहंकार के चारों ओर जितने भी संकल्प हैं वे भी इसके साथ विलीन हो जाते हैं।

भक्त : सामान्य पद्धति से जिसमें साधन चातुष्ट्य की अपेक्षा रहती है मुक्ति प्राप्ति के लिए यह पद्धति सीधी प्रतीत होती है।

म० : हाँ। समस्त दुर्गुण अहंकार के चारों ओर रहते हैं। अहंकार के नष्ट होने से साक्षात्कार स्वतः ही हो जाता है। आत्मा में न सद्गुण हैं, न दुर्गुण। आत्मा सर्व गुणों से मुक्त है। गुण केवल मन की उपाधि है। आत्मा गुणातीत है। जहाँ ऐक्यता है वहाँ द्वैत भी होगा। एक के अंक से अन्य संख्याएँ उत्पन्न होती हैं। सत्य न एक है, न दो। वह यथावत है।

संकल्प शून्य स्थिति को ऐसे ही रहने दो। इससे अपना कोई सम्बन्ध मत मानो। जिस प्रकार जब तुम चलते हो उस समय पग स्वतः ही अनायास उठते रहते हैं, इसी प्रकार तुम्हारे कार्यों में भी; किन्तु संकल्प शून्य अवस्था तुम्हारी क्रियाओं से प्रभावित नहीं होती है।

भक्त : कार्यों में सद्-असद् विवेक क्या है ?

म० : सद्-असद् विवेक स्वतः ही होगा, अन्तःप्रज्ञ।

भक्त : अर्थात् अन्तःप्रज्ञा ही मुख्य है; अन्तप्रज्ञा का विकास भी होता है।

म० : जिन्होंने महान सत्यों का आविष्कार किया है उन्होंने वह आत्मा की शान्त गहराइयों में किया है।

अहंकार भूमि पर पड़ती व्यक्ति की छाया की तरह है । यदि कोई इसे गाढ़ने का प्रयास करे तो मूढ़ता होगी । आत्मा केवल एक है । यदि सीमित है तो यह अहंकार है । यदि निस्सीम है तो यह अनन्त है, एवं सत्य है ।

बुदबुदे एक-दूसरे से भिन्न हैं तथा अनेक हैं, किन्तु समुद्र केवल एक है । इसी प्रकार अहंकार अनेक हैं, जबकि आत्मा एक है और केवल एक है ।

जब तुम्हें बताया जा चुका है कि तुम अहंकार नहीं हो, तुम्हें सत्य की अनुभूति करना चाहिए । अब भी तुम स्वयं को अहंकार से सम्बद्ध क्यों मानते हो ? यह कथन उसके सदृश है जिसमें औषधि खाते समय बन्दर का संकल्प करने से मना किया था, यह असम्भव है । सामान्य जनता की यही कठिनाई है । सत्य की चर्चा करने पर भी तुम 'शिवोहम्' अथवा 'अहम् ब्रह्मास्मि' का ध्यान क्यों करते रहते हो ? इसके महत्त्व की खोज करके इसे समझना आवश्यक है । शब्दों का जाप अथवा उसका मन में सोचना मात्र ही पर्याप्त नहीं है ।

केवल अहंकार का त्याग ही सत्यता है । अहंकार को जानकर उसको नष्ट कर दो । चूँकि अहंकार कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, अतः यह स्वतः ही नष्ट हो जायगा एवं सत्यता अपने आप प्रकाशित होगी । यह प्रत्यक्ष पद्धति है । जबकि अन्य पद्धतियों में अहंकार बना ही रहता है । उन पद्धतियों में अनेक संशय उदय होते हैं एवं शाश्वत प्रश्न अन्ततः हल करने के लिए बना रहता है । किन्तु इस पद्धति में अन्तिम प्रश्न एक ही है तथा आरम्भ से ही यह सामने आ जाता है । इस प्रकार से की जाने वाली खोज में किसी साधना की आवश्यकता नहीं है ।

इससे बढ़कर और कोई रहस्य नहीं है—कि स्वयं सत्यता होते हुए भी हम सत्यता प्राप्त करना चाहते हैं । हम सोचते हैं कि किसी वस्तु ने हमारी सत्यता को ढक लिया है और सत्यता को प्राप्त करने के लिए पहले इसको नष्ट करना आवश्यक है । यह हास्यास्पद है । एक दिन आयगा जब तुम भूतकाल में किये गये अपने प्रयासों पर स्वयं हँसोगे । जिस दिन तुम इस प्रकार हँसोगे वह आज भी और यहीं है ।

भक्त : इस प्रकार यह कल्पनारूपी मनोविनोद है ।

म० : हाँ ।

योगवाशिष्ठ में कहा है, "जो सत्य है हमारी दृष्टि से ओझल है, परन्तु जो असत्य है वह सत्य जैसा प्रकट होता है ।" वास्तव में हम केवल सत्य का ही अनुभव कर रहे हैं; किन्तु हम इसे जानते नहीं हैं । क्या यह आश्चर्यों का आश्चर्य नहीं है ? "मैं कौन हूँ ?" की शोध वह कुल्हाड़ी है जिससे अहंकार काट दिया जाय ।

१४७. एक कन्नड़ संन्यासी के प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान ने कहा : मन की अनेक भूमिकाएँ हैं । साक्षात्कार पूर्णत्व का होता है । मन द्वारा उसका बोध प्राप्त नहीं किया जा सकता । सर्वज्ञानत्व अर्थात् सर्वम् होना है, 'सब कुछ' का केवल मन से सम्बन्ध है । ज्ञात तथा अज्ञात दोनों मिलकर 'सर्वम' होते हैं । मन की सीमा को पार कर तुम आत्मभाव से रहते हो । वर्तमान ज्ञान केवल सीमित का है । वह ज्ञान निस्सीम है । ऐसा होने से उसे इस ज्ञान से ग्रहण नहीं किया जा सकता । ज्ञाता होकर न रहो, तब पूर्णता है ।

२७ जनवरी, १९३६

१४८. एक गुजराती सज्जन ने कहा कि वे नाद पर—एकाग्र होने का अभ्यास कर रहे हैं एवं जानना चाहते थे, क्या यह पद्धति ठीक है ?

म० : निर्धारित पद्धतियों में नाद पर ध्यान भी एक पद्धति है । इसके समर्थक इस पद्धति को एकदम विशेष उत्तम मानते हैं । उनके अनुसार यह पद्धति सबसे अधिक सुलभ तथा अत्यधिक सीधी है । जिस प्रकार बालक को लोरियाँ गाकर सुलाते हैं उसी प्रकार नाद मनुष्य को शान्त कर समाधि अवस्था में प्रवेश करा देता है । फिर जिस प्रकार एक राजा लम्बी यात्रा से लौटते अपने राजकुमार के स्वागतार्थ राज्य के संगीताचार्यों को आगवानी हेतु भेजता है उसी प्रकार नाद भक्त को परमात्मा के प्रासाद में आनन्दपूर्वक ले जाता है । नाद से एकाग्रता सहज में हो जाती है । नाद की अनुभूति कर लेने पर स्वयं इसे ही लक्ष्य नहीं बना लेना चाहिए । नाद लक्ष्य नहीं है । दृष्टा को दृढ़ता से पकड़ना होगा । अन्यथा उसका परिणाम होगा—शून्य । यद्यपि दृष्टा शून्य में भी है किन्तु उसे विभिन्न प्रकार के नाद के समाप्त हो जाने का भान नहीं रहेगा । उस शून्य में भी जागरूक रहने के लिए व्यक्ति को अपनी स्वयं की आत्मा को स्मरण रखना आवश्यक है । नाद उपासना उत्तम है । यह उत्तम होगा यदि इसे खोज (विचार) से सम्बद्ध कर दिया जाय । इस प्रणाली से नाद चिन्मय तथा तन्मय (ज्ञान का तथा आत्मा का) हो जाता है । नाद एकाग्रता में सहायता करता है ।

२८ जनवरी, १९३६

१४९. एक साधु के प्रश्न करने पर कि क्या देह आदि की विस्मृति ही भक्ति है; श्री भगवान ने कहा :

"तुम देह की चिन्ता क्यों करते हो ? भक्ति का अभ्यास करो तथा देह का क्या होता है, इसका चिन्तन त्यागो ।"

१५०. बड़ी उम्र के एक अमरीकी दम्पति श्रीमती एवं श्री कैली तथा उनके साथ आये अन्य व्यक्ति जानना चाहते थे कि बैठने की असुविधा तथा मच्छरों के काटने की स्थिति में वे किस प्रकार एकाग्रता प्राप्त करें।

म० : यदि एकाग्रता ठीक हो तो असुविधाएँ तुम्हें परेशान नहीं करेंगी। असुविधाओं पर ध्यान मत दो। ध्यान में मन को स्थिर रखो। यदि तुम में मच्छरों के काटने पर उसे सहन करने का धैर्य तथा शक्ति नहीं है तो तुम आत्म-साक्षात्कार की आशा कैसे कर सकते हो? जीवन में सारे कष्टों को सहते हुए ही साक्षात्कार होना चाहिए। यदि तुम अपने आप को आरामदेह करके शैय्या पर जाओगे तो तुम्हें निद्रा आ जायगी। कष्ट सहकर भी ध्यान में स्थिर रहो।

३१ जनवरी, १६३६

१५१. अमरीकी महाशय कुछ ऊँचा सुनते हैं। युवावस्था से ही आत्म-निर्भर रहने से श्रवण शक्ति में होता हुआ ह्रास स्वभावतया उन्हें चिन्तित कर रहा था।

म० : तुम आत्मनिर्भर नहीं थे, तुम अहंकार-निर्भर थे। यह अच्छा होगा कि तुम अहंकार निर्भरता को नष्ट कर दो और वास्तव में आत्मनिर्भर हो जाओ। श्री भगवान ने पुनः कहा :

"चिन्ता का कोई कारण नहीं है। इन्द्रिय-निग्रह आत्म-साक्षात्कार की प्रारम्भिक आवश्यकता है। तुम्हारे हित के लिए तुम्हारी एक इन्द्रिय का निग्रह स्वयं परमात्मा ने ही कर दिया है। यह तो अच्छा ही है।"

प्रश्नकर्ता ने कहा कि उसे विनोद तो अच्छा लगा, किन्तु फिर भी उसके आतमसम्मान को ठेस पहुँचती है।

म० : आत्मा केवल एक है। जब तुम अपनी भूलों के लिए अपने आपको दोषी ठहराते हो तब भी क्या तुम्हें ठेस पहुँचती है? यदि तुम आत्म-भाव में दृढ़ हो जाओ तो तुम्हें दोषी ठहराने वाला दूसरा नहीं है। जब तुम जगत को देखते हो तो आत्मा की धारणा नहीं रहती। इसके विपरीत आत्मा पर दृढ़ रहो तो जगत की प्रतीति नहीं होगी।

१ फरवरी, १६३६

१५२. श्रीमती कैली जानना चाहती थीं कि वे ध्यान करना उत्तम ढंग से कैसे सीख सकती हैं?

महर्षि ने पूछा कि क्या उन्होंने (रोमन कैथोलिकों की भाँति माला फेरकर) जाप किया है? उत्तर था "नहीं।"

म० : क्या तुमने ईश्वर तथा उसके गुणों पर विचार किया है ?

भक्त : मैंने इन विषयों पर पढ़ा है तथा चर्चा की है।

म० : अच्छा, यदि इन्द्रियों के स्पष्टतया व्यक्त किये बिना, इसका मन में ध्यानपूर्वक विचार चलता रहे, यही ध्यान है।

भक्त : मेरा तात्पर्य "गुप्तमार्ग" तथा "मैं कौन हूँ" में वर्णित ध्यान से है।

म० : इसकी तीव्रता से इच्छा करो जिससे कि मन भक्ति में द्रवीभूत हो जाय। कपूर के जलने के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता है। मन कपूर है; जब यह कुछ भी शेष पीछे छोड़े बिना आत्मा में परिवर्तित हो जाता है, यही आत्मा का साक्षात्कार है।

४ फरवरी, १९३६

१५३. पेशावर के कुछ लोग आये जिनमें एक जुडीशियल कमिश्नर थे तथा एक विद्वान उत्साही युवक था, जो जीवात्मा से पृथक परमात्मा में दृढ़ आस्थावान था। उसने कुछ प्रश्न उठाये।

श्री भगवान ने उसके अनेक संशयों का एक ही वक्तव्य से समाधान किया : आत्मा को 'जीव' तथा 'परम' की उपाधियों से रहित कर दो और कहो क्या तुम्हें फिर भी कोई अन्तर दृष्टिगोचर होता है। यदि इसके उपरान्त भी संशय बने रहें तो स्वयं से प्रश्न करो "संशयकर्ता कौन है ? विचारकर्ता कौन है ? उसे खोज लो। यह संशय नष्ट हो जायेंगे।

५ फरवरी, १९३६

१५४. अगले दिन युवक ने प्राणायाम पर प्रश्न किया।

म० : ज्ञान के अनुसार प्राणायाम इस प्रकार है :

"नाहं" मैं यह नहीं हूँ=रेचक (श्वास बाहर निकालना)
"कोऽहं" मैं कौन हूँ ? =पूरक (श्वास अन्दर लेना)
"सोऽहं" मैं वही हूँ =कुम्भक (श्वास रोकना)

इसे विचार की संज्ञा दी गयी है। इस विचार से वांछित फल-प्राप्ति होती है।

जिस साधक का इतना विकास न हो जो इसमें लग सके तो कुछ ध्यान करने से श्वास पर संयम होने लगता है। तथा मन की चंचलता समाप्त होने लगती है। मन के संयम के साथ ही श्वास का संयम होने लगता है, अपितु केवल कुम्भक (पूरक, रेचक की ओर ध्यान गये बगैर कुम्भक हो जाना) भी परिणाम करता है।

यह भी सामर्थ्य से बाहर हो तो ऐसे साधक के मन को स्थिर करने के लिए श्वास नियमन निर्धारित किया जाता है। श्वास जितने समय तक नियन्त्रित रखा जायगा मन केवल उतने समय तक ही शान्त रहेगा। इस प्रकार यह अवस्था अस्थायी है। निश्चय ही प्राणायाम लक्ष्य नहीं है। यह क्रमशः साधना, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि तक जाता है। ये अवस्थाएँ मन को वश में करने के लिए हैं। जिस साधक ने पहले प्राणायाम का अभ्यास किया है उसके लिए यह नियन्त्रण सरल हो जाता है। प्राणायाम उसे मनोनिग्रह की उच्चतर अवस्थाओं तक ले जाता है। अतः योग का लक्ष्य भी मनोनिग्रह है।

जिस साधक ने पर्याप्त प्रगति कर ली है वह स्वाभाविक ही प्राणायाम में समय नष्ट न कर सीधा मनोनिग्रह करेगा। बहुत-से लोग जिन सिद्धियों के पीछे भागते हैं वे तो सरल प्राणायाम के विकास से ही सिद्ध हो जाती हैं।

आहार संयम की आवश्यकता पर प्रश्न करने पर भी भगवान ने कहा : "मित हित भुक्"—अनुकूल भोजन सीमित मात्रा में। भक्ति के महात्म्य के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर श्री भगवान ने कहा : जहाँ तक 'विभक्ति' है वहाँ तक 'भक्ति' की आवश्यकता होगी। जहाँ तक वियोग है, वहाँ तक योग की आवश्यकता होगी। जब तक द्वैत है तब तक ईश्वर तथा भक्त भी हैं। विचार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। जब तक विचार है तब तक द्वैत भी है। परन्तु स्रोत में विलीन होने के बाद केवल ऐक्यता है। भक्ति भी इसी के अनुरूप है। भक्ति में इष्ट की प्राप्ति के उपरान्त केवल ऐक्यता है। ईश्वर विचार भी आत्मा में आत्मा द्वारा होता है। अतः ईश्वर तथा आत्मा एक ही हैं। यदि साधक को भक्ति का निर्देश मिले तथा वह सीधा भक्ति करने लगे तब ठीक है। किन्तु ऐसे भी व्यक्ति हैं जो फिर विचार करने लगेंगे, "दो हैं—एक मैं तथा एक ईश्वर।" दूरस्थ ईश्वर को जानने से पूर्व मुझे समीपस्थ 'मैं' को जान लेना चाहिए। ऐसे साधक को 'विचार मार्ग' का उपदेश दिया जाता है। वस्तुतः भक्ति तथा विचार में कोई अन्तर नहीं है।

१५५. उसी व्यक्ति ने समाधि के स्वरूप पर तथा साधनों पर प्रश्न किया।

म० : जब समाधि के स्वरूप तथा समाधि में जाने के मार्ग को जानने वाला नहीं रहता, समाधि हो जायगी।

मेजर चैडविक : ऐसा कहते हैं कि महात्मा की एक दृष्टि ही पर्याप्त है; मूर्तियाँ, तीर्थयात्रा आदि इतनी प्रभावशाली नहीं हैं। मैं यहाँ तीन मास से निवास कर रहा हूँ, कह नहीं सकता महर्षि की दृष्टि से किस भाँति लाभान्वित हुआ हूँ।

म० : महात्मा की दृष्टि पवित्र करती है। पवित्रता दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। पत्थर के कोयले के टुकड़े को जलने में समय लगता है, लकड़ी का कोयला कम समय में जल जाता है, तथा बारूद की ढेरी तुरन्त ही धधक उठती है। इसी प्रकार भिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों के साथ है जो महात्माओं के सम्पर्क में आते हैं।

श्री कोहेन : मैं ध्यान करते हुए ऐसी स्थिति पर जाता हूँ जिसको शान्ति कहा जा सकता है और एकाग्रता की मन:स्थिति। अब आगे क्या होना चाहिए ?

म० : शान्ति ही आत्म-साक्षात्कार है। शान्ति भंग मत होने दो। केवल शान्ति लक्ष्य होना आवश्यक है ?

भक्त : किन्तु मुझे समाधान नहीं होता।

म० : क्योंकि तुम्हारी शान्ति अस्थायी है। यदि यह स्थायी हो जाय तो इसे साक्षात्कार कहते हैं।

९ फरवरी, १९३९

१५६. **भक्त** : क्या अभ्यास के लिए एकान्त आवश्यक है ?

म० : एकान्त से तुम्हारा क्या आशय है ?

भक्त : दूसरों से अलग रहना।

म० : ऐसा करना क्यों आवश्यक है ? यह केवल भय के कारण है। एकान्त में भी दूसरों के आगमन का एवं एकान्त-भंग का भय बना रहता है। इसके अतिरिक्त एकान्त में संकल्पों को कैसे नष्ट करोगे ? जिस वातावरण में अभी हो उसी में क्यों नहीं करते ?

भक्त : किन्तु इस समय मन में विक्षेप है।

म० : तुम मन को बाहर क्यों जाने देते हो ? एकान्त का अर्थ है मन को एकाग्र करना। यह भीड़ में भी किया जा सकता है। एकान्त संकल्पों का नाश नहीं कर सकता। यह अभ्यास से ही साध्य है। यह अभ्यास यहाँ भी किया जा सकता है।

१५७. **भक्त** : 'मैं' की खोज में एक अवस्था ऐसी आती है जब साधक को यह आदेश दिया जाता है कि अनुग्रह के प्रवेश के लिए वह मन को प्रभावहीन अवस्था में रखे। प्रभावहीन फल से निश्चित फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

म० : आत्मा सदैव विद्यमान है—इसे नवीन रूप से प्राप्त नहीं करना है।

भक्त : मेरा आशय यह है कि प्रभावहीन (नकारात्मक) अवस्था में क्या किया गया है जिससे अनुग्रह की प्राप्ति हो।

म० : क्या तुम यह प्रश्न अनुग्रह के बिना कर रहे हो ? अनुग्रह प्रारम्भ में है, मध्य में है तथा अन्त में है। अनुग्रह ही आत्मा है। शरीर के साथ मिथ्या तादात्म्यता होने के कारण गुरु को शरीर सहित माना जाता है। किन्तु गुरु के दृष्टिकोण से गुरु केवल आत्मा है। केवल आत्मा है। वह बताता है कि केवल आत्मा की सत्ता है। तब क्या आत्मा तुम्हारा गुरु नहीं है ? अनुग्रह की प्राप्ति अन्यत्र कहाँ से होगी ? यह केवल आत्मा से होगी। आत्मा की अभिव्यक्ति अनुग्रह की अभिव्यक्ति है तथा अनुग्रह की अभिव्यक्ति आत्मा की अभिव्यक्ति है। यह सारे संशय भ्रान्त दृष्टिकोण के कारण तथा अपने से बाहर की वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा के कारण होते हैं। आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है।

भक्त : हमारे सारे प्रश्न हमारे दृष्टि-बिन्दु के अनुसार होते हैं जबकि श्रीभगवान के उत्तर उनके दृष्टि-बिन्दु से होते हैं। प्रश्नों का न केवल समाधान ही किया जाता है अपितु उनको प्रभावहीन भी कर दिया जाता है।

११ फरवरी, १९३६

१५८. श्री फ्रायडमैन : जनक ज्ञानी होते हुए भी अपने राज्य का शासन करते थे। क्या कर्म करने के लिए मन का क्रियाशील होना आवश्यक नहीं ? ज्ञानी के मन का कार्य करने का युक्तिपूर्ण कारण क्या है ?

म० : तुम कहते हो कि "जनक ज्ञानी होते हुए भी कर्मशील थे" क्या यह प्रश्न जनक ने किया है ? यह प्रश्न केवल तुम्हारे मन में है। ज्ञानी आत्मा के परे किसी वस्तु का भान नहीं करता। उसे ऐसे संशय नहीं होते।

भक्त : कदाचित् यह स्वप्नवत् होगा। हम जिस प्रकार स्वप्न की चर्चा करते हैं उसी प्रकार वे अपने कार्यों के सम्बन्ध में सोचते हैं।

म० : स्वप्न आदि की बात तुम्हारे मस्तिष्क में है। यह स्पष्टीकरण भी तुम्हारे मस्तिष्क में ही है।

भक्त : हाँ। मैं समझा। सर्व 'रमण-माया' है—जो आत्मरूप है।

म० : यदि ऐसा है, तो न द्वैत है और न वार्तालाप।

भक्त : आत्म-साक्षात्कार के उपरान्त व्यक्ति जगत की अधिक प्रभावशाली ढंग से सेवा कर सकता है। क्या यह ऐसा नहीं है ?

म० : यदि जगत आत्मा से पृथक हो।

१२ फरवरी, १९३६

१५९. श्री कोहेन को जिज्ञासा हुई कि क्या समाधि आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक है ?

म० : तुम सदैव आत्मा में हो—अब, समाधि में, गहन निद्रा में, साक्षात्कार में। यदि तुम आत्मभाव छोड़ दो और अपने को शरीर तथा मन मान लो तो ये अवस्थाएँ तुमको घेर लेती-सी प्रतीत होती हैं। और समाधि में भी तुमको शून्य-सा प्रतीत होता है; जबकि तुम आत्मा हो एवं नित्य-सिद्ध हो।

भक्त : श्री अरविन्द के अनुसार मस्तिष्क की ज्योति को नीचे हृदय में लाना होगा।

म० : क्या आत्मा पहले से ही हृदय में नहीं है ? सर्वव्यापी आत्मा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक कैसे ले जाया जा सकता है ?

भक्त : क्या कर्मयोगी एवं भक्त को भी समाधि की स्थिति प्राप्त करनी होती है ?

म० : जब तुम एक बिन्दु पर एकाग्र होते हो तो तुम उसमें विलीन हो जाते हो, यह विलीन होना ही समाधि कहलाती है। अन्य आकृति विलीन होकर केवल आत्मा अवशेष रहती है। कर्मयोगी अथवा भक्त को भी यह अनुभव होना आवश्यक है।

१६०. **भक्त** : हृदय तथा उसमें स्फुरण क्या है ? वे कैसे प्रकट होते हैं ?

म० : हृदय तथा स्फुरण आत्मा के समान हैं। स्फुरण की अभिव्यक्ति हेतु आधार आवश्यक है। पुस्तक में इसे स्पष्ट किया गया है।

भक्त : स्फुरण किस प्रकार प्रकट होता है ? प्रकाश के रूप में, गति के रूप में अथवा किसी अन्य प्रकार से ?

म० : इसका वर्णन शब्दों से किस प्रकार सम्भव है ? इसमें यह सब पूर्णतया सम्मिलित है—यह आत्मा ही है। अपने ध्यान को इस पर केन्द्रित करो तथा इसके मूल तत्त्व के विचार को मत जाने दो।

१३ फरवरी, १९३६

१६१. अनन्तपुर के एक वयोवृद्ध सज्जन ने महाकक्ष में वेदों का पाठ सुन कर खड़े होकर जिज्ञासा की :

"ऐसा मत है कि अब्राह्मण को वेदोच्चारण नहीं सुनना चाहिए।"

म० : अपना कार्य करो। यहाँ जिस प्रयोजन से आये हो उसे करो।

इन विषयों में अपना समय क्यों नष्ट करते हो ? तुम कहते हो "मैंने पाठ सुना" वह 'मैं' कौन है ? 'मैं' को जाने बिना तुम शब्द का प्रयोग कर रहे हो। यदि इसका महत्त्व जान लोगे तो कोई संशय नहीं रह जायगा। पहले 'मैं' की खोज कर लो फिर अन्य विषयों की चर्चा कर सकते हो।

श्री भगवान ने आगे कहा :—

"स्मृतियों में अनेक कथन हैं। अब वे उपयुक्त नहीं हैं। मैं संसार का सुधार करूँगा, मैं स्मृतियों का संशोधन करूँगा।" इस प्रकार के दम्भयुक्त वाक्य संसार में अनादिकाल से पुरुषों द्वारा कहे जाते रहे हैं। ऐसे सुधारक आये और गये; किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ आज भी विद्यमान हैं। इन विषयों पर समय क्यों नष्ट करते हो ? प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य करे। सब ठीक होगा।

२३ फरवरी, १९३६

१९२. मध्यम आयु की एक महाराष्ट्रीय महिला, जिसने 'ज्ञानेश्वरी', 'भागवत' तथा 'विचार सागर' का अध्ययन कर रखा था तथा भ्रूमध्य में ध्यान का अभ्यास करती थी, वह कम्पन तथा भय अनुभव करती थी, तथा प्रगति नहीं कर रही थी। वह मार्गदर्शन चाहती थी।

महर्षि ने उन्हें निर्देश दिया कि वह द्रष्टा को न भूलें। दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर कर ली जाती है किन्तु द्रष्टा को दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है। द्रष्टा को निरन्तर दृष्टि में रखा जायगा तो ठीक हो जायगा।

२४ फरवरी, १९३६

१९३. एक अमरीकी सत्तर वर्षीय डा० हैनरी हैण्ड ने प्रश्न किया : "अहंकार क्या है ?"

म० : अहंकार आन्तरिक है, तुमसे बाहर नहीं, यह स्वयं तुमको ही स्पष्ट होगा।

भक्त : इसकी परिभाषा क्या है ?

म० : परिभाषा भी अहंकार जनित होगी। अहंकार को ही अपनी परिभाषा बतानी पड़ेगी।

भक्त : आत्मा क्या है ?

म० : अहंकार को खोज लो, आत्मा मिल जायगी।

भक्त : तब क्या दोनों एक ही हैं ?

म० : आत्मा अहंकार के बिना हो सकती है किन्तु अहंकार आत्मा के बिना नहीं हो सकता। वे बुदबुदे तथा सागर के समान हैं।

भक्त : इससे विषय स्पष्ट हो गया। आत्मा क्या है ?

म० : संस्कृत शब्द आत्मा तथा अंग्रेजी शब्द सोल (Soul) एक ही हैं।

१६४. एक अन्य अमरीकी ने संकल्प के स्वरूप पर प्रश्न किया।

म० : संकल्प का मूल खोज लोगे तो वे अदृष्य हो जायेंगे।

भक्त : संकल्प सत्य हो जाते हैं।

म० : यदि संकल्प होंगे तो वे सत्य होंगे। यदि वे लुप्त हो जायँ तो सत्य होने को कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि तुम भौतिक हो तो जगत भी भौतिक है और इसी प्रकार। यह खोजो कि क्या तुम भौतिक हो ?

भक्त : ईश्वरीय जगत के लिए मैं कैसे उपयोगी होऊँगा ?

म० : यह खोज करो कि क्या "मैं" जगत के दिव्य अंश से भिन्न है। स्वयं का कल्याण न कर पाने पर अभी तुम जगत के दिव्य अंश की सहायता की इसलिए अपेक्षा कर रहे हो जिससे कि तुम जगत का कल्याण कर सको। दिव्य सत्ता तुम्हारा मार्गदर्शन तथा नियन्त्रण कर रही है। गहन निद्रा में तुम कहाँ जाते हो ? कहाँ से बाहर आते हो ?

भक्त : मुझे कार्यों तथा संकल्पों ने प्रभावित किया है।

म० : संकल्प तथा कार्य एक ही हैं।

भक्त : क्या उत्तम भौतिक दृश्यों को अर्थात संरक्षक देवदूतों को इन्द्रियों द्वारा अनुभव करने का कोई मार्ग है ?

म० : दृष्टा की अवस्था के अनुसार ही दृश्य की अवस्था होती है।

भक्त : अनेक दृष्टा एक ही दृश्य को देखते हैं।

म० : किन्तु सबकी पृष्ठभूमि में दृष्टा एक ही है, तथा दृश्यों की विविधता है। क्या सुषुप्ति में तुम्हें नानात्व दृष्टिगोचर होता है ?

भक्त : हम अब्राहम लिंकन को देखते हैं जिनका बहुत समय पूर्व निधन हुआ था।

म० : क्या दृष्टा के बिना दृश्य है ? अनुभव वास्तविक हो सकते हैं। दृश्य दृष्टा के अनुसार ही हैं।

भक्त : मेरा एक सहकारी युद्ध में मारा गया था। उसके निधन के नौ वर्ष बाद एक अन्य समूह का फोटो लिया गया। उसकी तस्वीर भी उसमें है, यह कैसे है ?

म० : कदाचित् संकल्पों ने मूर्तस्वरूप धारण कर लिया....इसके मूल में जाकर देखो।

भक्त : कैसे ?

म० : यदि मार्ग बाह्य हो, मार्गदर्शन सम्भव है, किन्तु वह आन्तरिक है। अन्दर खोजो। आत्मा का साक्षात्कार सदैव हो रहा है। जिसका

अभी तक अनुभव नहीं हुआ हो उसकी नवीन खोज सम्भव है। किन्तु आत्मा तुम्हारे अनुभव में है।

भक्त : हाँ, मैं अपने आपका अनुभव करता हूँ।

म० : अपने आप। क्या दो हैं—मैं और अपने आप।

भक्त : मेरा यह आशय नहीं है।

म० : वह कौन है जिसने यह अनुभव किया है अथवा नहीं किया है?

भक्त : आत्मा एक ही है।

म० : प्रश्न तभी होगा जब दो हों। आत्मा की अनात्मा से तादत्म्यता समझने की मिथ्या भावना को त्याग दो।

भक्त : मेरा आशय चेतन की उच्चतर अवस्था से है।

म० : कोई अवस्थाएँ नहीं हैं।

भक्त : मनुष्य को तुरन्त ही ज्ञानप्रकाश प्राप्त क्यों नहीं हो जाता?

म० : मनुष्य स्वयं ही ज्ञानप्रकाश है। वह दूसरों को ज्ञान से आलोकित कर रहा है।

भक्त : क्या आपके उपदेश अन्य लोगों से भिन्न हैं?

म० : मार्ग एक है तथा साक्षात्कार भी एक ही है।

भक्त : परन्तु लोग अनेक पद्धतियों की चर्चा करते हैं।

म० : वे स्वयं की मानसिक अवस्था के अनुसार ऐसा करते हैं।

भक्त : योग क्या है?

म० : जो वियोग में है उसके लिए योग (ऐक्यता) आवश्यक है। यदि तुम आत्मानुभूति कर लोगे तो कोई अन्तर नहीं होगा।

भक्त : क्या गंगा में स्नान करने से विशेष फल की प्राप्ति होती है?

म० : गंगा तुम्हारे अन्दर है। यह गंगा न तुम्हें शीत करती है न कम्पन। इसमें स्नान करो।

भक्त : क्या कभी-कभी गीता का पाठ करना चाहिए?

म० : सदैव।

भक्त : क्या हम बाइबिल पढ़ें?

म० : बाइबिल तथा गीता समान हैं।

भक्त : बाइबिल के अनुसार मनुष्य का जन्म पाप में होता है।

म० : मनुष्य ही पाप है। गहन निद्रा में मनुष्य-भाव नहीं था। देह-भाव पाप का विचार लाता है। संकल्प की उत्पत्ति ही पाप है।

एक अन्य प्रश्न के उत्तर में महर्षि ने कहा : हर व्यक्ति केवल आत्मा ही देखता है। दिव्य आकार सत्य के सागर में केवल बुदबुदों के समान हैं, अथवा पर्दे पर चलते चित्र के समान है।

भक्त : बाइबिल के अनुसार मानव आत्मा खो सकती है।

म० : 'मैं'—भात्र अहंकार है तथा वह नष्ट होता है। "अस्तित्व ही मैं हूँ" यह निज स्वरूप है।

भक्त : श्री अरविन्द तथा माँ के उपदेशों में अन्तर है।

म० : पहले समर्पण करो, तब भिन्नता में सामंजस्य करो।

भक्त : वैराग्य क्या है ?

म० : अहंकार का त्याग।

भक्त : क्या यह सम्पत्ति का त्याग नहीं है ?

म० : सम्पत्ति के स्वामी का भी।

भक्त : यदि लोग दूसरों के हित के लिए अपनी सम्पत्ति का दान कर दें तो संसार बदल जाय।

म० : प्रथम स्वयं को त्यागो तब दूसरों की चिन्ता करना।

एक अन्य प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान ने कहा : साधक के स्वभावानुसार मार्ग सरल दीखते हैं। यह इस पर निर्भर करता है कि उसने इससे पूर्व क्या साधना की थी।

भक्त : क्या हमें तत्काल साक्षात्कार नहीं हो सकता ?

म० : साक्षात्कार नवीन वस्तु नहीं है। वह नित्य है। तुरन्त अथवा क्रमिक साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं उठता।

भक्त : क्या पुनर्जन्म होता है ?

म० : पुनर्जन्म सम्भव है यदि तुम्हारा वर्तमान जन्म हुआ हो। अब भी तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है।

अन्य प्रश्न के उत्तर में—

म० : अहंकार समस्त व्याधियों की जड़ है। इसे त्यागो। व्याधि नहीं रहेगी।

भक्त : यदि सब व्यक्ति त्याग कर दें तब क्या व्यावहारिक जगत रह जायगा ? कौन हल चलायेगा ? कौन फसल काटेगा ?

म० : पहले साक्षात करो और तब देखो। साक्षात्कार के माध्यम से जो कल्याण होगा वह शब्द, विचार तथा कर्म आदि की सहायता से परे होगा। यदि तुम स्वयं की सत्यता को समझ लोगे तो ऋषियों तथा गुरुओं की सत्यता तुम्हें स्पष्ट हो जायगी। गुरु एक ही है तथा वह आत्मा है।

भक्त : गुरुजन मौन तथा ग्रहणशीलता पर क्यों आग्रह करते हैं ?

म० : मौन क्या है ? मौन ही अखण्ड प्रागट्य है।

भक्त : मन की वास्तविक चाह क्या है ?

म० : विक्षेप रहित होना।

भक्त : क्या अमरीका तथा भारत के विद्वानों को परस्पर निकट लाना उपयोगी होगा जैसे अध्यापकों के विनिमय आदि से ?

म० : ऐसी घटनाएँ स्वतः ही घटित होती रहेंगी। एक महान शक्ति राष्ट्रों के भाग्य का मार्गदर्शन कर रही है। जब तुम सत्यता से सम्पर्क त्याग देते हो तभी ऐसे प्रश्न उठते हैं। क्या अमरीका अथवा भारत तुमसे अलग है। उसमें (आत्मा में) दृढ़ हो जाओ और देखो।

भक्त : श्री रामकृष्ण ने विवेकानन्द को बनाया। इसके पीछे कौन-सी शक्ति है ?

म० : सबमें एक ही शक्ति है।

भक्त : उस शक्ति का स्वरूप क्या है ?

म० : लोहे के कणों को एकत्र करने वाले चुम्बक की तरह शक्ति आन्तरिक है, बाह्य नहीं। विवेकानन्द में रामकृष्ण थे। यदि तुम विवेकानन्द को देह मानोगे तो रामकृष्ण भी देह हैं। परन्तु वे देह नहीं हैं। यदि रामकृष्ण उनके अन्दर न होते तो विवेकानन्द समाधि में नहीं जा सकते थे।

भक्त : बिच्छू के काटने से वेदना क्यों होती है ?

म० : देह तथा जगत की उत्पत्ति का क्या कारण है ?

भक्त : यह समष्टि बुद्धि का अंग है।

म० : समष्टि बुद्धि को ही इन घटनाओं की चिन्ता करने दो। यदि व्यक्ति जानना चाहता है तो वह स्वयं की आत्मा का पता लगाये।

भक्त : क्या योगियों का चमत्कार शोरे का अम्ल पीना, विष पीना तथा अग्नि आदि पर चलना स्पन्दित पदार्थ के विस्तार क्षेत्र हैं ?

म० : भौतिक शरीर को यह प्रश्न करने दो। तुम भौतिक नहीं हो। जो तुम नहीं हो उसकी चिन्ता क्यों ? यदि आत्मा का कोई आकार होता तो वह पदार्थों से प्रभावित होती। परन्तु आत्मा का कोई आकार नहीं है, इसलिए वह वस्तुओं के सम्पर्क से मुक्त है।

भक्त : प्रेम के समुद्र का क्या महत्त्व है ?

म० : आत्मा, पवित्र आत्मा, साक्षात्सार तथा प्रेम आदि सब पर्यायवाची हैं।

भक्त : वार्ता अत्यन्त प्रकाशदायक रही।

श्री एन० सुब्बाराव—विशिष्टाद्वैत क्या है ?

म० : इसी के समान है।

भक्त : वे माया को नहीं मानते।

म० : हम कहते हैं सर्वम् ब्रह्म है। वे भी बारम्बार ब्रह्म को सबमें विशिष्ट मानते हैं।

भक्त : वे जगत को यथार्थ मानते हैं।

म० : हम भी यही मानते हैं। आचार्य ने इतना ही कहा है, "जगत के पीछे जो सत्यता है उसे खोजो।" जिसे एक माया कहकर पुकारता है, दूसरा उसे परिवर्तनशील कहता है। दोनों में लक्ष्य एक ही है।

डा० हैण्ड : महर्षि ! यह न समझें हम खराब लड़के हैं।

म० : मुझसे ऐसा मत कहो। पर तुम स्वयं यह मत समझो कि तुम खराब लड़के हो।

सब हँसते हुए संध्या के पाँच बजे चले गये। एक मिनट उपरान्त महर्षि : यदि वे एक दिन और रुकें तो वे मौन हो जायेंगे।

१६५. **श्री सुब्बाराव** : क्या मनुष्य समाधिस्थ नहीं होते ?

म० : क्या अभी समाधि नहीं है।

भक्त : क्या यह नित्य है ?

म० : यदि नहीं, तो फिर यह सत्य कैसे हो सकती है ?

भक्त : तब ?

म० : न तब है, न अब।

भक्त : ऐसा प्रतीत होता है।

म० : किसे ?

भक्त : मन को।

म० : मन क्या है ? मैं कौन हूँ ?

भक्त : (मौन)

१६६. एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि क्या दिव्य शक्ति को प्राप्त कर वृद्धावस्था तथा रोग से निवारण हो सकता है ?

म० : तुम देह का ही निवारण कर सकते हो।

भक्त : दिव्य शक्ति को अन्दर कैसे लें ?

म० : वह वहाँ विद्यमान ही है। उसे अन्दर ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा तभी किया जा सकता है जबकि वह तुम्हारे बाहर हो। किन्तु वह केवल तुम ही हो। न अन्दर ग्रहण करना है न बाहर देना है।

भक्त : क्या भौतिक प्रकृति के नियमों अर्थात आहारादि का पालन आवश्यक है ?

म० : यह केवल कल्पना में है।

१६७. एक मनुष्य मन एकाग्र न कर पाने के कारण चिन्तित था।

म० : क्या अभी भी वह एक नहीं है ? वह सदैव एकाग्र ही रहता है। नानात्व तुम्हारी कल्पना में है। एकात्मकता को प्राप्त करना नहीं होता है।

१६८. श्री भगवान से यह कहा गया कि जिसने आत्म-पद की प्राप्ति कर ली है उसे भोजनादि की आवश्यकता नहीं होती ।

म० : तुम स्वयं की अवस्था के अनुसार ही समझते हो ।

१६९. **भक्त** : मन पर नियन्त्रण कैसे करें ?

म० : मन को दृढ़ता से पकड़ लो ।

भक्त : कैसे ?

म० : मन क्या है ? इसे खोज लो । मन केवल संकल्पों का समूह है ।

भक्त : काम की प्रवृत्ति का उन्मूलन कैसे करें ?

म० : देह के आत्मा होने की मिथ्या भावना का उन्मूलन करके । आत्मा में कोई लिंग नहीं है ।

भक्त : इसकी अनुभूति कैसे करें ?

म० : तुम स्वयं को देह मानकर दूसरे व्यक्ति को भी देह मानते हो । इस प्रकार लिंग की भिन्नता उत्पन्न होती है । किन्तु तुम देह नहीं हो । वास्तविक आत्मा ही रहो । फिर वहाँ लिंग का भेद नहीं रहेगा ।

१७०. **भक्त** : क्या योगी अपने पूर्व-जन्मों को जान सकता है ?

म० : क्या तुम वर्तमान जन्म को इतनी भली प्रकार जानते हो कि पूर्व-जन्म को जानने की इच्छा करो ? वर्तमान जीवन को जान लो, शेष स्वयं जान लोगे । हम अपने सीमित वर्तमान ज्ञान से ही इतने दुखी हैं । फिर तुम अपने आपको अधिक दुखी क्यों करना चाहते हो ?

भक्त : क्या उपवास से साक्षात्कार में सहायता मिलती है ?

म० : हाँ ! किन्तु यह अस्थायी है । मानसिक उपवास वास्तव में उपयोगी होता है । निराहार स्वयं में साध्य नहीं है । साथ ही साथ आध्यात्मिक विकास भी आवश्यक है । पूर्ण उपवास से मन भी दुर्बल हो जाता है । फिर तुम आध्यात्मिक अनुसन्धान हेतु पर्याप्त शक्ति प्राप्त नहीं कर सकते । इस कारण सीमित भोजन करते हुए साधना करते रहो ।

भक्त : ऐसा मत है कि एक मास तक उपवास रखना तथा तदुपरान्त व्रत खोलने के दस दिन के पश्चात मन शुद्ध तथा स्थिर हो जाता है । और फिर सदैव ऐसा ही रहता है ।

म० : हाँ, यदि उपवास काल में भी आध्यात्मिक जिज्ञासा निरन्तर रही हो ।

१७१. एक अन्य प्रश्न के उत्तर में महर्षि ने कहा : हृदय से हृदय की वार्ता तथा हृदय से हृदय का श्रवण सर्वोत्तम है । यही सर्वोत्तम उपदेश है ।

भक्त : क्या गुरु का मार्गदर्शन आवश्यक नहीं है ?

म० : क्या तुम गुरु से पृथक हो ?

भक्त : क्या सान्निध्य लाभदायक है ?

म० : क्या तुम्हारा आशय भौतिक सान्निध्य से है ? इससे क्या लाभ है ? मन ही मुख्य है। मन से सम्पर्क होना आवश्यक है।

२८ फरवरी, १९३६

१७२. एक यात्री : ध्यान तथा विचार में क्या अन्तर है ?

म० : दोनों एक ही हैं। जो विचार करने के अयोग्य हैं, उनको ध्यान करना नितान्त आवश्यक है। इस साधना में साधक स्वयं को भूलकर 'मैं ब्रह्म हूँ' अथवा 'मैं शिव हूँ' ध्यान करता है। इस प्रकार वह ब्रह्म अथवा शिव में निरन्तर दृढ़ रहता है। अन्ततः ब्रह्म अथवा शिव ही अवशेष रह जाता है जिसकी वह शुद्ध अस्तित्व अर्थात् आत्मा के रूप में अनुभूति करेगा।

विचार मार्ग का साधक स्वयं पर दृढ़ रहकर पूछता है, 'मैं कौन हूँ' और उसको आत्मा स्पष्ट हो जाती है।

भक्त : क्या प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त ज्ञान भी कालान्तर में नष्ट हो जाता है ?

म० : "कैवल्य नवनीत" के अनुमार नष्ट हो सकता है। समस्त वासनाओं को निर्मूल किये बिना प्राप्त किया गया अनुभव स्थिर नहीं रह सकता। वासनाओं को नष्ट करने का प्रयास करना आवश्यक है, अन्यथा मृत्यु के बाद पुनः जन्म होता है। कुछ का मत है कि अपने गुरु से उपदेश लेने से साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है; दूसरों के अनुसार यह मनन में सम्भव है, और कुछ ऐसा भी कहते हैं कि निदिध्यासन तथा समाधि से यह सम्भव है। ऊपर से भेद प्रतीत होने पर भी सब का भाव एक ही है।

समस्त वासनाओं का क्षय होने के बाद ही ज्ञान स्थिर रह सकता है।

२९ फरवरी, १९३६

१७३. **भक्त** : भगवन ! अहंकार का बन्धन कैसे ढीला हो ?

म० : उसमें नवीन वासनाएँ एकत्रित न करने से।

भक्त : पर्याप्त जप से भी यह बन्धन क्षीण नहीं हुआ।

म० : ऐसा कैसे ? निश्चय ही समय पाकर यह क्षीण होकर नष्ट होगा।

२ मार्च, १९३६

१७४. एक अमरीकी भद्र पुरुष डा० हैण्ड ने प्रश्न किया : क्या अहंकार के स्रोत को खोजने की दो पद्धतियाँ हैं ?

म० : न दो स्रोत हैं और न दो पद्धतियाँ। एक ही स्रोत है तथा एक ही पद्धति है ?

भक्त : ध्यान तथा आत्मा की खोज में क्या अन्तर है ?

म० : ध्यान अहंकार को बनाये रखकर ही सम्भव है। वहाँ अहंकार रहता है तथा जिस पर ध्यान करते हैं वह आकार रहता है। यह पद्धति परोक्ष है। जबकि आत्मा एक ही है। अहंकार के स्रोत को खोजने से अहंकार लुप्त हो जाता है। जो अवशेष रहता है वह आत्मा है। यह पद्धति प्रत्यक्ष है।

भक्त : तब मुझे क्या करना चाहिए ?

म० : आत्मा में दृढ़ रहना चाहिए।

भक्त : किस प्रकार ?

म० : अब भी तुम आत्मा हो। किन्तु तुम इस चेतना (अथवा अहंकार) का संवित् (आत्मा) के साथ तादात्म्य कर रहे हो। यह मिथ्या तादात्म्य अज्ञान के कारण है। अहंकार के साथ ही अविद्या लुप्त हो जाती है। उसे समाप्त करने के लिए केवल अहंकार का नाश करना है। साक्षात्कार पहले से ही है। साक्षात्कार की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास आवश्यक नहीं है। क्योंकि वह न तो बाहर है, न कोई नवीन वस्तु ही है। यह सदैव तथा सर्वत्र है—यहाँ और अभी भी।

३ मार्च, १९३६

१७५. श्री सुब्बाराव ने जिज्ञासा की : विशिष्टाद्वैतियों के मत से परमात्मा के साक्षात्कार से पूर्व आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है। यह काफी कठिन प्रतीत होता है।

म० : आत्म-साक्षात्कार क्या है ? क्या आत्माएँ दो हैं जो एक-दूसरे का साक्षात्कार करती हैं ? आत्माएँ दो नहीं हैं। पहले आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करो, फिर निर्णय करो उसके बाद क्या होता है।

भक्त : भगवद्गीता में कहा है कि एक परमेश्वर है जिसकी परापृकृति नाम का शरीर सब जीव शक्तियों की समष्टि है।

म० : इस पर सभी एकमत हैं कि अहंकार नष्ट हो। पहले हम सर्वसम्मत बिन्दु पर कार्य प्रारम्भ करें। कुछ अद्वैतवादी भी नाना जीवत्व को मानते हैं। आध्यात्मिक प्रगति के लिए इन सबका कोई महत्त्व नहीं है। पहले आत्मानुभूति करो, फिर देखो आगे क्या है।

७ मार्च, १९३६

१७६. डा० हैण्ड का विचार कल आश्रम से विदा होने का है, हिमालय (हरिद्वार) की यात्रा, यहाँ वापस, बम्बई जाना एवं मिस्र, फिलिस्तीन, यूरोप होते हुए अन्त में अपने मूल स्थान अमरीका को जाना है।

वे पर्वत के शिखर तक चढ़ना चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि श्री भगवान उनके साथ जायें। महर्षि अपनी सुविधानुसार ऊँचाई तक चढ़ेंगे तथा डा० हैण्ड पूरी ऊँचाई चढ़ने के बाद वापस वहाँ पहुँचें जहाँ महर्षि उनकी प्रतीक्षा करेंगे जिससे कि वे उस निश्चित स्थान पर डा० हैण्ड से मिल सकें। महर्षि ने मुस्कराते हुए उनसे पूछा कि क्या उन्होंने डा० बीसली के अनुभव के बारे में सुना है ?

डा० हैण्ड : वे मेरे मित्र हैं। उन्होंने मुझे सब कुछ बताया है— आश्चर्यजनक ! महर्षि, मेरी उम्र आपसे अधिक है। किन्तु आप मुझे पिछड़ा हुआ मानकर छोड़ न दें। मैं एक युवक की भाँति पर्वत पर चढ़ सकता हूँ। पिछली बार आप शिखर तक कब गये थे ?

म० : लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व। डा० बीसली ने क्या कहा ?

भक्त : यह सब दृढ़ विश्वास में है। यदि आप मेरे साथ अकेले होंगे मैं सब कुछ बता दूंगा।

महर्षि केवल मुस्करा दिये।

भक्त : महर्षि ! क्या आप एक अव्यक्त ऋषि मण्डली का समाज जानते हैं ?

म० : यदि अदृश्य हैं तो उनको कैसे देख सकते हो ?

भक्त : आत्म संवित् में।

म० : आत्म संवित् में बाहर का कुछ नहीं रहता।

भक्त : तब क्या व्यक्तित्व भी नहीं है ? मैं अपने व्यक्तित्व को खोने से डरता हूँ। क्या जागृति में 'मैं मनुष्य हूँ' यह चेतनता नहीं है ?

म० : व्यक्तित्व को खोने से क्यों डरते हो ? स्वप्नरहित निद्रा में तुम्हारी क्या अवस्था होती है ? क्या तब तुम्हें अपने व्यक्तित्व का भान होता है ?

भक्त : यह सम्भव है।

म० : पर तुम्हारा अनुभव क्या है ? यदि वहाँ व्यक्तित्व रहेगा तो क्या गहन निद्रा होगी ?

भक्त : यह भावार्थ करने पर निर्भर है। महर्षि का क्या मत है ?

म० : महर्षि तुम्हारे अनुभव का वर्णन नहीं कर सकता। महर्षि अपने विचार बलपूर्वक तुम्हारे अन्दर प्रवेश नहीं करायेगा।

भक्त : मुझे मालूम है। इसी कारण मैं उनको तथा उनके उपदेशों को इतना अधिक चाहता हूँ।

म० : क्या तुम वास्तव में अपने लिये शैय्या तैयार नहीं करते और क्या तुम गहन निद्रा में अपने व्यक्तित्व को खोने को उत्सुक नहीं होते ? इससे क्यों डरते हो ?

भक्त : बुद्ध का 'निर्वाण' क्या है ?

म० : व्यक्तित्व की समाप्ति।

भक्त : उसके न रहने से मुझे भय होता है। क्या निर्वाण में मानवता नहीं है ?

म० : क्या उस स्थिति में दो आत्माएँ हैं ? सुषुप्ति के अपने वर्तमान अनुभव पर विचार करो और कहो।
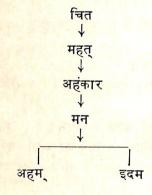
भक्त : निर्वाण में भी व्यक्तित्व रखना सम्भव है, यह मैं विचार करता हूँ। व्यक्तित्व खोने का मुझे भय रहता है।

इसके पश्चात, प्रश्नकर्ता पर्वत पर चढ़े तथा लगभग पन्द्रह मील, मध्याह्न में बारह बजे प्रारम्भ कर रात्रि के आठ बजे तक घूमकर लौटे। थके हुए वापस आकर उन्होंने कृषि, सामाजिक स्थिति, वर्ण-व्यवस्था, भारतीयों की आध्यात्मिकता आदि पर अत्यन्त विशद व्याख्यान दिया।

१० मार्च, १९३६

१७७. **भक्त** : महत् क्या है ?

म० : संवित् (अर्थात् आत्मा) से प्रक्षिप्त प्रकाश ही महत् है। जिस प्रकार अंकुरण से पूर्व बीज फूलकर बड़ा हो जाता है तथा उसके बाद अंकुरित हो वृद्धि को पाता है, उसी प्रकार संवित् (अर्थात् आत्मा) प्रकाश प्रक्षेपण कर अहंकार के रूप में व्यक्त होता है तथा विस्तार पाकर देह तथा ब्रह्माण्ड बन जाता है।

मेजर चेडविक : क्या यह समष्टि बुद्धि है ?
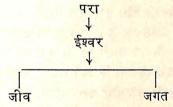
म० : हाँ, अहंकार तथा सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह ऐसा ही है। सर्व इसी में व्याप्त हैं। जिस प्रकार सिनेमा के पर्दे पर प्रक्षिप्त सभी चित्र एक बिन्दु से प्रक्षिप्त प्रकाश से दीखते हैं उसी प्रकार देह तथा अन्य पदार्थ महत् में दीखते हैं। इस प्रकार यह समष्टि बुद्धि ही है।

देह तथा अन्य समस्त वस्तुएँ (व्यष्टि जीवों में) मस्तिष्क में विद्यमान हैं। प्रकाश मस्तिष्क पर प्रक्षिप्त होता है। मस्तिष्क में जो संस्कार हैं वे देह तथा जगत के रूप में व्यक्त होते हैं। चूँकि अहंकार सीमित से तादात्म्य कर लेता है, देह को पृथक एवं जगत को पृथक माना जाता है।

एक बन्द कमरे में शैय्या पर लेटे बन्द नेत्रों से तुम स्वप्न में लन्दन देखते हो, वहाँ की भीड़ देखते हो तथा अपने को उनके बीच देखते हो। स्वप्न में एक विशिष्ट देह को स्वयं मान लेते हो। लन्दन तथा ये सब तुम्हारे कमरे तथा तुम्हारे मस्तिष्क में नहीं समा सकते। किन्तु यह सब विस्तृत स्थान तथा यह सारा समय तुम्हें अनुभव होता है। ये निश्चित ही मस्तिष्क द्वारा प्रक्षिप्त हुए होंगे। यद्यपि जगत इतना विशाल है तथापि मस्तिष्क इतना छोटा, फिर भी क्या यह कम आश्चर्य है कि इतनी विशाल सृष्टि मस्तिष्क जैसे छोटे-से दायरे में समा जाय ? यद्यपि सिनेमा का परदा सीमित है तथापि चित्रपट के समस्त दृश्य इस पर आकर दीखते हैं। तुम यह आश्चर्य नहीं करते कि घटनाओं का इतना बड़ा विस्तार इतने छोटे परदे पर कैसे व्यक्त हो सकता है ? मस्तिष्क तथा दृश्यों के साथ भी ऐसा ही है।

भक्त : क्या महत्तत्व साक्षात्कार जैसा नहीं है ?

म० : महत्तत्व अहंकार के पहले है। इसे ईश्वर कह सकते हैं, एवं अहंकार जीव है। ईश्वर को परब्रह्म भी कह सकते हैं। इसमें कोई भेद नहीं है।

संवित् (ब्रह्म) ईश्वरत्व को भी व्याप्त करके है।

१७८. 'विचार संग्रह' में जिस ज्योति का वर्णन किया गया है वह क्या है ? इसे 'आत्म-ज्योति' कहा गया है तथा इसके पीछे जो सत्य है उसे अनुभव करने का निर्देश किया गया है।

म० : वेदों ने उक्त ज्योति का वर्णन किया है :

"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः"

उस ज्योति को अहंकार-चेतन समझना चाहिए ।

११ मार्च, १९३९

१७९. श्री फ्रायडमैन ने स्वामी रामदास से कोई प्रश्न किया था। जिसके उत्तर में उन्होंने कहा कि उनके और अधिक जन्म नहीं होंगे । इंजीनियर ने कहा था कि पुनर्जन्म की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वही राम होगा वही रामदास होगा, वही राम की खोज होगी तथा वही साक्षात्कार का आनन्द होगा। फिर इस रामलीला की पुनरावृत्ति में क्या आपत्ति हो सकती है ? रामदास ने स्वीकार किया था कि इसमें आपत्ति नहीं हो सकती तथा वह आनन्द एवं खेल ही होगा। इंजीनियर ने आगे कहा कि रामदास का कथन है कि रामदास ने स्वयं में व्याप्त राम को खोज लिया है तथा इस ऐक्यता से वह प्रसन्न हैं। वे एक ही हैं, फिर भी रामदास था, राम थे, वहाँ ऐक्यता थी वहाँ आनन्द था। वह नित्य है। यह कहकर उन्होंने पूछा कि श्री भगवान की इस पर क्या सम्मति है ?

म० : यह सब उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार वर्तमान घटनाएँ ।

१८०. पुनः उन्हीं महाशय ने कहा कि निद्रा विस्मृति की अवस्था है तथा जाग्रत अवस्था मन की क्रियाशीलता की। निद्रा में मन घनीभूत दशा में था।

म० : क्या तुम सुषुप्ति में नहीं थे ?

भक्त : हाँ, मैं था। किन्तु विस्मृति की अवस्था में। विस्मृति तथा मन का साक्षी होना आवश्यक है, जो कहता है कि मैं दोनों अवस्थाओं में अनुस्यूत हूँ।

म० : वह साक्षी कौन है ? तुम साक्षी कह रहे हो। साक्षी के लिए द्रष्टा तथा दृश्य होना आवश्यक है। ये मन की सृष्टि हैं। साक्षी का विचार मन में है। यदि विस्मृति का साक्षी था तो क्या वह कहता था 'मैं विस्मृति का साक्षी हूँ ?' अभी तुमने अपने मन से कहा था कि वहाँ साक्षी अवश्य ही होगा। कौन साक्षी था ? तुम्हारा अनिवार्य उत्तर होगा 'मैं'। फिर वह 'मैं' कौन है ? तुम स्वयं को अहंकार मानकर कहते हो 'मैं'। क्या इस अहंकार का 'मैं' साक्षी है ? उत्तर देने वाला मन है। वह स्वयं का साक्षी नहीं हो सकता। स्व-आरोपित सीमाओं में बद्ध हो तुम सोचते हो कि कोई मन तथा विस्मृति का साक्षी है। तुम यह भी कहते हो कि 'मैं साक्षी हूँ।' विस्मृति के साक्षी को यह

कहना आवश्यक है 'मैं विस्मृति का साक्षी हूँ।' वर्तमान मन स्वयं यह अनधिकार चेष्टा नहीं कर सकता।

इस प्रकार पूरी स्थिति अमान्य है। महत् निस्सीम है। सीमित बनकर वह केवल अनधिकार चेष्टा करता है। वास्तव में साक्षी होने को कुछ नहीं है। अस्तित्व मात्र है।

१८१. "यग्दत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।" वह धाम कौन-सा है ? क्या यह महत्तत्त्व से परे जो शुद्ध संवित् है वही तो नहीं है ?

म० : हाँ।

भक्त : 'न निवर्तन्ते' का अर्थ है—पुनः अज्ञान से आवृत न होना।

म० : हाँ।

भक्त : क्या इसका यह अभिप्राय है कि महत्तत्त्व प्राप्त करने वाले भी अविद्या के जाल से मुक्त नहीं हुए ?

म० : इस कथन का कि सर्व लोक, ब्रह्म लोक तक मनुष्य को पुनर्जन्म से मुक्त नहीं करते, यही अभिप्राय है। भगवद्गीता कहती है : "मुझे प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता..........। अन्य सब बन्धन में हैं। इसके अतिरिक्त, जब तक तुम यह कल्पना करोगे कि गति है जैसा कि गत्वा शब्द का अभिप्राय है—तब तक पुनरावृत्ति भी होगी। गति में पूर्वगमनं की सम्भावना निहित है। जन्म क्या है ? यह अहंकार का जन्म है।

जन्म लेकर किसी जगह जाओगे; जहाँ जाओगे वहाँ से पुनः आगमन होगा। अतः यह सब शब्दाडम्बर त्याग दो। तुम्हारा निज स्वरूप जैसा है वैसा रहो। देखो तुम कौन हो एवं आत्मभाव में रहो। जन्म, मरण आवागमन से रहित।

भक्त : सत्य। तथापि यह सत्य प्रायः सुनकर भी हम धोखे में आ जाते हैं तथा हम इसे भुला देते हैं।

म० : यह सही है। प्रायः स्मरण कराने की आवश्यकता है।

१८२. दिन में एक रोचक फोटो गुम हो गया। श्री भगवान इससे चिन्तित प्रतीत हुए। श्री फ्रायडमैन ने जिज्ञासा की कि महर्षि इन सब विषयों को कैसे देखते हैं ?"

श्री भगवान ने कहा : कल्पना करो तुम स्वप्न में मुझे पोलैंड ले जा रहे हो। जागकर तुम मुझसे प्रश्न करो, 'मैंने ऐसा-ऐसा स्वप्न देखा था। क्या आपने ऐसा स्वप्न देखा अथवा आप इसको जानते हैं ? अथवा आपका इस सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है ?"

भक्त : किन्तु आपको अपने समक्ष हुई घटनाओं का भी भान नहीं है।

म० : ये सब मन की चेष्टाएँ हैं तथा ये प्रश्न भी।

तदुपरान्त श्री भगवान ने श्री राम द्वारा सीता की खोज सम्बन्धी एक कथा सुनायी। पार्वती ने शिव से जिज्ञासा की कि राम पूर्ण पुरुष होकर सीता के खो जाने से दुखी क्यों हैं? शिव ने कहा कि राम अब भी पूर्ण पुरुष हैं। यदि उनके पूर्णत्व की परीक्षा करना आवश्यक हो तो पार्वती सीता बनकर राम के समक्ष जायँ तथा देखें क्या होता है। पार्वती ने ऐसा ही किया। राम ने उनकी उपेक्षा की तथा चक्षुहीन व्यक्ति के समान बिना पार्वती को देखे "हे सीता! हे सीता!" करते आगे बढ़ते गये। (वार्तालाप २१८ से तुलना करें)

१३ मार्च, १९३६

१८३. बम्बई के एक सज्जन ने कहा : "मैंने श्री अरविन्द आश्रम में माँ से निम्न प्रश्न किया : 'मैं मन को संकल्प रहित शून्यावस्था में रखता हूँ जिससे ईश्वर अपने आपको अपने वास्तविक रूप में दर्शन दे सकें। किन्तु मुझे कोई अनुभूति नहीं हुई।"

उत्तर इस प्रकार था : "विचार ठीक है। ऊपर से शक्ति अवतरित होगी। यह प्रत्यक्ष अनुभव है।"

प्रश्नकर्ता ने आगे के लिए मार्गदर्शन चाहा।

म० : है वैसे रहो। अवतरित होने अथवा प्रकट होने को कुछ नहीं है। केवल अहंकार की निवृत्ति की आवश्यकता है। वह जो है सदैव है। अब भी तुम वही हो। तुम उससे अलग नहीं हो। तुम शून्य देखते हो। शून्य को देखने हेतु तुम वहाँ हो। तुम किसकी प्रतीक्षा करते हो? यह संकल्प "मैंने दर्शन नहीं किया" तथा दर्शन की आशा एवं कुछ प्राप्ति की इच्छा, यह सभी अहंकार की चेष्टाएँ हैं। तुम अहंकार के जाल में फँस गये हो। यह सब अहंकार कहता है, तुम नहीं। जैसे हो वैसे रहो और कुछ नहीं।

१८४. **म०** : मूलाधारा को नीचे, हृदय को मध्य में तथा मस्तिष्क को शिखर अथवा इन सबसे ऊपर अनुमान करना यह सब भूल है। एक शब्द में, संकल्प करना यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं है।

१८५. **म०** : धर्म ग्रन्थों में ये पायी जाती हैं :—

"मौन से कथन किया।"

"स्थिर रहकर ही बताया।"

यह अव्यक्त शब्द कौन-सा है? यह केवल मौन, प्रणव अथवा महावाक्य है।* इन्हें शब्द भी कहा गया है।

---

* महावाक्य चार हैं : (१) तत्त्वमसि। (२) अहं ब्रह्मास्मि। (३) अयं आत्मा ब्रह्म। (४) प्रज्ञानं ब्रह्म।

१८६. **म०** : हम समाचारपत्र तथा उसके अन्तर्गत सब लेख पढ़ते हैं, किन्तु स्वयं उस कागज के सम्बन्ध में कुछ भी जानने की चिन्ता नहीं करते। हम सार को नहीं अपितु छिलके को ग्रहण करते हैं। जिस आधार पर यह सब मुद्रित है वह कागज है। यदि हम आधार को जान लें तो अन्य सब कुछ ज्ञात हो जायगा। (यथा दीवार तथा उस पर अंकित चित्र)।

भक्त : आप एक ही सत्य प्रतिपादन कर रहे हैं वह एक सत्य क्या है ?

म० : वह एक केवल सत् है, अस्तित्व, जो जगत रूप में भासता है, पदार्थ जो हम देखते हैं तथा हम स्वयं।

भक्त : आत्मा क्या है ? क्या आत्मा के विषय में कोई अन्तिम निर्णय है ?

म० : पहले जानो आत्मा क्या है। जब हम आत्मा को जानेंगे तब यह प्रश्न ही नहीं रहेगा कि इसका अन्तिम निर्णय है या नहीं है। तुम आत्मा किसे कहते हो ?

भक्त : जीव आत्मा है।

म० : जीव क्या है, यह जानो। जीव तथा आत्मा में क्या अन्तर है ? जीव स्वयं आत्मा है, अथवा आत्मा कोई पृथक वस्तु है ? जिसका तुम अनुभव करते हो उसका अन्त निश्चित है, जिसकी उत्पत्ति हुई है उसका अन्त अथवा विनाश अवश्यम्भावी है। जो अजन्मा है उसका अन्त नहीं है। जो वास्वविकता है उसकी अनुभूति नहीं हो सकती। उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। हमें खोजना चाहिए, जो द्रष्यमान है, वह क्या है; जो दीखता है उसका अन्त निश्चित है। जो वास्तविकता है, वह नित्य है; जो नवीन प्रकट होता है वह बाद में नष्ट होगा।

भक्त । नर देह में अवतीर्ण होने पर क्या होता है, जीव का क्या होता है ?

म० : पहले हम यह जान लें कि हम क्या हैं। हम जानते नहीं कि हम क्या हैं, और जब तक हम यह न जान लें कि हम क्या हैं ऐसे प्रश्न की कोई गुंजाइश नहीं है। (श्री भगवन का आशय स्पष्ट ही—देहात्म-बुद्धि से है—जिससे जन्म-मरण की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। आत्मा पृथ्वी, अग्नि, वायु एवं जल आदि तत्त्वों से दूषित नहीं हुई है, उसका न जन्म है न मरण।) (गीता, अध्याय २, श्लोक ११)—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' आदि—जन्म किसका हुआ है ? तुम मनुष्य किसे कहते हो ? यदि जन्म, मृत्यु एवं मृत्यु के उपरान्त के विषयों की जिज्ञासा के स्थान पर यह प्रश्न करो कि अब तुम कौन तथा कैसे हो, तो ये प्रश्न नहीं उठेंगे। सुषुप्ति (गहन निद्रा) स्वप्न तथा जागृति अवस्था में तुम समान हो। क्या 'मैं'—भाव जीव है,

अथवा देह जीव है ? क्या यह संकल्प हमारा स्वरूप है ? अथवा यह अनुभव कि हम रहते हैं, आदि, हमारा स्वरूप है ? (गीता के श्लोक को उद्धरण करते हैं) :

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।२·५२।।

भक्त : आत्म-विचार क्यों आवश्यक है ?

म० : यदि तुम आत्म-विचार नहीं करोगे, तो लोक-विचार चुपके से घुसता है । जो नहीं है, उसे पाने का प्रयास किया जाता है, न कि उसे जो वास्तविक है । जो तुम खोजते हो, उसकी एक बार प्राप्ति के बाद, विचार भी समाप्त हो जाते हैं, और तुम उसी में स्थिर होते हो । जब तक देहात्म-बुद्धि है, आत्मा खोयी हुई कही जाती है तथा व्यक्ति को उसे प्राप्त करने का निर्देश किया जाता है, परन्तु स्वयं आत्मा कभी नहीं खोती । वह नित्य है । देह को आत्मा कहते हैं । इन्द्रिय को आत्मा कहते हैं, इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा आदि हैं । हजारों वस्तुओं को आत्मा की संज्ञा दी जाती है । आत्मा की खोज से अभिप्राय है वास्तविक आत्मा को जानना ।

समाधि : केवल तथा सहज

१८७. मैं कहता हूँ कि समाधिस्थ मनुष्य की देह आत्मा का निरन्तर ध्यान करने के कारण गतिहीन हो जाती है । वह सक्रिय हो अथवा निष्क्रिय । ऐसे ध्यान में संलग्न मन देह अथवा इन्द्रियों की चंचलता से प्रभावित नहीं होता । शारीरिक क्रिया से पूर्व मन की चंचलता आवश्यक नहीं होती । एक मत यह भी है कि शारीरिक चंचलता निर्विकल्प समाधि नहीं होने देती । आपका क्या मत है ? मैंने जो कहा है उसके आप साक्षात् प्रमाण हैं ।

म० : तुम दोनों ही ठीक हो; तुम 'सहज निर्विकल्प' के बारे में कहते हो, दूसरा 'केवल निर्विकल्प' के सम्बन्ध में । एक अवस्था में मन आत्मा के प्रकाश में लीन रहता है । जबकि सुषुप्ति में मन अज्ञान के अँधेरे में पड़ा रहता है । साधक दोनों में अन्तर देखता है । समाधि टूटने पर प्रारम्भ होती क्रिया-शीलता, शारीरिक बेचैनी, दृष्टि, प्राण, मन की चंचलता, दृश्यों तथा क्रियाओं का भान, यह सब उसे बाधाएँ हैं ।

किन्तु सहज समाधि में, स्वयं मन आत्मा में घुल गया है एवं नष्ट हो गया है । इस अवस्था में उपरोक्त अन्तर तथा बाधाओं का अस्तित्व नींह रहता । ऐसे कार्य निद्रारत बालक के आहार ग्रहण के तुल्य हैं जिसका दर्शक को भान होता है किन्तु स्वयं उसको नहीं होता । सोते हुए गाड़ीवान को गाड़ी के चलने का भान नहीं होता क्योंकि उसकामन अन्धकार में लीन है ।

इसी प्रकार सहज ज्ञानी को अपने दैहिक कार्यकलापों का कोई भान नहीं होता क्योंकि उसका मन मृत हो चुका है—मन चिद-आनन्द (आत्मा) की समाधि में घुल चुका है।

उपरोक्त प्रश्न में ध्यान तथा समाधि को ठीक प्रकार से वर्णन नहीं किया है। ध्यान में मन को वश में करने के लिए कठिन प्रयास आवश्यक है। जबकि समाधि सहज व बिना प्रयास के है।

सुषुप्ति	केवल	सहज
(१) जीवित मन;	१. जीवित मन;	१. मृतक मन;
(२) विस्मृति में डूबा हुआ	२. प्रकाश में डूबा हुआ	२. आत्मा में घुला हुआ
	३. कुएँ के जल में लटकी मय रस्सी के बाल्टी के समान	३. उस सरिता के समान जो समुद्र में मिलकर अपना अस्तित्व समाप्त कर चुकी है;
	४. रस्सी के दूसरे छोर से खींचे जाने वाली	४. सरिता समुद्र में से पुनः वापस लौटने में असमर्थ है।

१८८. केवल जागरूकता मन का सार है। किन्तु जब अहंकार इस पर आधिपत्य कर लेता है, यह तर्क, संकल्प तथा अनुभूति का संस्थान बन जाता है। किन्तु समष्टि बुद्धि अहंकार से सीमित न होने के कारण स्वयं से पृथक कुछ भी नहीं होती तथा इस कारण वह केवल भान मात्र है। बाइबिल के (*I AM THAT I AM*) अस्तित्व ही "मैं हूँ" का यही अभिप्राय है।

अहंकार से ग्रस्त हुआ मन अपनी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट कर चुका है तथा कष्टदायक संकल्पों का दमन करने में अत्यन्त दुर्बल हो गया है। अहंकार रहित मन गहन एवं स्वप्नरहित निद्रा में प्रसन्न रहता है। इसलिए निश्चय ही, आनन्द तथा दुःख मन की वृत्तियाँ मात्र हैं। किन्तु दुर्बल वृत्ति को सबल वृत्ति से बदलना सहज नहीं है। क्रिया दुर्बलता है अतः दुःखदायक होती है। निष्क्रियता शक्ति है अतः आनन्ददायक है। सुषुप्त शक्ति प्रकट नहीं है अतः उसका उपयोग नहीं होता।

समष्टि बुद्धि किसी दुर्लभ सत्पुरुष में अभिव्यक्त होकर अन्य जीवों के दुर्बल मन को सबल विराट मन से सम्पर्क कराने में समर्थ होती है। ऐसे दुर्लभ सत्पुरुष को सद्-गुरु अथवा ईश्वर का प्रागट्य कहते हैं।

१६ मई, १९३६

१८९. मध्यम उम्र के फ्रांसीसी श्री एम० ऑलीवर लकोम्बे, भारतीय सभ्यता संस्थान, पेरिस विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि होकर भारत की यात्रा पर थे, फ्रेंच भारत से यहाँ पधारे। अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त वे महर्षि के भी दर्शन करना चाहते थे। वे आश्रम में लगभग तीन घण्टे रहे। वे मूल संस्कृत में भगवद्गीता, उपनिषद्, सूत्र, आचार्य शंकर एवं रामानुज के भाष्य सहित पढ़ चुके थे। उन्होंने प्रश्न किया—क्या महर्षि का उपदेश वही है जो शंकर का है ?

म० : महर्षि का उपदेश केवल अपने स्वयं का अनुभव तथा साक्षात्कार की अभिव्यक्ति है। दूसरों को यह श्री शंकर के समान मालूम होता है।

भक्त : निश्चय ही। क्या इस साक्षात्कार को अन्य प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है ?

म० : ज्ञानी पुरुष अपनी भाषा का प्रयोग करेगा। श्री भगवान ने आगे कहा : मौन सर्वोत्तम भाषा है।

भक्त : हठयोग तथा तान्त्रिक साधना के सम्बन्ध में महर्षि क्या कहते हैं ?

म० : प्रचलित पद्धतियों में से महर्षि किसी की आलोचना नहीं करते। मन की शुद्धि हेतु सभी उत्तम हैं। क्योंकि शुद्ध मन ही उनकी पद्धति का ग्रहण करने में तथा दृढ़तापूर्वक उसका अभ्यास करने में समर्थ है।

भक्त : कार्य, ज्ञान, भक्ति अथवा हठ आदि भिन्न योगों में सर्वोत्तम कौन-सा है ?

म० : "उपदेश सार" का दशम छन्द देखिए। आत्मा में स्थित रहना ही इन सबके उच्चतम भाव के तुल्य है।

महर्षि ने फिर कहा : स्वप्नरहित सुषुप्ति में न जगत है, न अहंकार और न दुःख। किन्तु आत्मा रहती है। जागृति में इन सबके रहते हुए भी आत्मा विद्यमान है। आत्मा के सदोदित प्रसाद का साक्षात्कार करने हेतु केवल अस्थायी घटना-क्रम निवारण करना है। तुम्हारा स्वरूप आनन्द है। पहले यह सब नानत्व जिस आधार पर उमठ रहे हैं इसको ज्ञात करो और तुम उसका आधार बने रहो।

भक्त : सत्य है। आशय यह है कि नित्य-सिद्ध आत्मा का साक्षात्कार करने हेतु सीमित अनात्मा का निवारण करना है। यही शंकर का कथन है। न ग्रहण करना है, न त्यागना है।

म० : ऐसा ही है (अलग से कहा) यह समझते हैं।

भक्त : एक साधक सामान्यतया कर्म किस प्रकार करे ?

म० : स्वयं को कर्ता न मानते हुए। उदाहरणार्थ, जब तुम पेरिस में थे तब क्या तुम्हारा संकल्प इस जगह आने का था ?

भक्त : नहीं।

म० : तुमने देखा कि तुम बिना संकल्प के ही कर्म कर रहे हो। गीता के अनुसार कोई मनुष्य बिना कर्म किये नहीं रह सकता। जिस उद्देश्य से व्यक्ति का जन्म हुआ है वह पूरा होगा चाहे तुम उसे पसन्द करो अथवा न करो। उद्देश्य को पूर्ण होने दो।

भक्त : इतनी पद्धतियों का वर्णन क्यों किया गया है ? उदाहरणार्थ श्री रामकृष्ण के मत से मोक्ष हेतु भक्ति सर्वश्रेष्ठ साधन है।

म० : यह सब साधक के दृष्टि-बिन्दु पर निर्भर करता है। तुमने गीता का अध्ययन किया है। श्रीकृष्ण कहते हैं : "ऐसा समय कभी नहीं था जब मैं, तुम, तथा ये राजा नहीं थे; तथा ऐसा भी नहीं है कि ये भविष्य में नहीं होंगे। जो असत् है वह कभी नहीं रहता। परन्तु जो सत् है वह कभी नष्ट नहीं होता। जिसकी सत्ता थी, अभी भी है तथा भविष्य में भी रहेगी।" पुनः, "इस सत्य का उपदेश मैंने आदित्य को किया; उसने इसका मनु आदि को उपदेश दिया।" अर्जुन ने जिज्ञासा की : "ऐसा कैसे हो सकता है ?" आप कुछ वर्ष पूर्व अभी हाल में जन्मे हो। आपने आदित्य को कैसे उपदेश दिया होगा ? श्रीकृष्ण का उत्तर था : हाँ। पूर्व में हमारे अनेक जन्म हो चुके हैं। मैं अपने जन्म जानता हूँ; जबकि तुम अपने नहीं जानते। उन पूर्व के जन्मों में क्या हुआ यह मैं तुमको कहता हूँ।

देखो ! जो कृष्ण यह कह रहे थे कि न तो मैं था, न तुम थे, न ये राजा थे, अब कहते हैं कि पूर्व में उनके अनेक जन्म हो चुके हैं। कृष्ण ने अपनी बात का खण्डन नहीं किया है, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है। वे अर्जुन के दृष्टिकोण के सदृश होकर उससे उसी के स्तर पर बात करते हैं।

इसी प्रकार समानान्तर अंश बाइबिल में है, जहाँ ईसा कहते हैं, "अब्राहम थे, उससे पहले मैं हूँ।" ज्ञानियों की वाणी समय स्थान, जनसाधारण तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार होती है। यात्री ने कहा, वे दुख के साथ जा रहे हैं........

महर्षि ने मुस्कराते हुए बीच में टोकते हुए कहा, "न जाना है, न आना है।" फ्रांसीसी ने तुरन्त ही कहा, "वे (महर्षि) देश काल से परे हो चुके हैं।" वे पाण्डिचेरी लौट गये।

३० मई, १९३६

१९०. कक्ष में एक पालतू गिलहरी है जो सन्ध्या को अपने पिंजड़े में जाकर सो जाती है। जिस समय महर्षि गिलहरी को रात्रि के विश्राम हेतु जाने का निर्देश कर ही रहे थे कि एक यात्री, जिसने यह घोषित कर रखा था कि वे बुद्धि की सीमा पार कर चुके हैं उन्होंने यह सुझाव दिया कि गिलहरी संध्या की गर्मी से प्यासी हो सकती है, इसे जल दिया जाय। उनकी पशु स्वभाव से जानकारी होने के अहंकार पर किसी ने उत्तर नहीं दिया। उन्होंने पुनः अपनी बात को दोहराया। कुछ क्षणों के मौन के उपरान्त महर्षि ने कहा, "गरम सूर्य में तपती हुई चट्टानों पर देर तक ध्यान करने से कदाचित तुम्हें प्यास लग रही होगी और एक लोटा जल पीना चाहोगे।

भक्त : ऐसा ही है। मैंने जल पी लिया।

म० : गिलहरी इतनी प्यासी नहीं है। चूँकि तुम सूर्य की गर्मी में तपस्या कर रहे थे तुम्हारा प्यासा होना स्वाभाविक है। गिलहरी के लिए यह निर्देश क्यों करते हो ?

महर्षि ने आगे कहा : मैंने उसे बन्द नेत्रों से सूर्य की ओर तप्त चट्टानों पर खड़े देखा। मैं कुछ समय वहाँ खड़ा रहा किन्तु मैंने इसका ध्यान भंग करना उचित नहीं समझा, एवं चला आया। ऐसे व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं।

भक्त : जो मैंने किया, वह मेरा पूर्व निर्धारित नहीं था। यह अनायास था।

म० : ओह ! मैं समझा ! हम सब दूसरे लोग जो कर्म करते हैं, वह संकल्प से करते हैं ! तुम सब की सीमा से परे हो ऐसा प्रतीत होता है।

भक्त : ऐसा मैंने प्रथम बार ही नहीं किया है। आप स्वयं मुझे प्रेरित कर यह सब कराते हैं। फिर भी आप मुझसे ऐसा करने का कारण पूछते हैं। यह कैसे ?

म० : मैं समझा। तुम्हारे समस्त कार्य मेरे द्वारा नियन्त्रित हैं। तब फल भी तुम्हारे नहीं अपितु मेरे माने जाने चाहिए।

भक्त : वे निःसन्देह ऐसे ही हैं। मैं अपनी स्वतन्त्र इच्छा से नहीं अपितु आपकी प्रेरणा से ही कर्म करता हूँ। मेरी स्वयं की कोई इच्छा नहीं है।

म० : मूर्खतापूर्ण बातें बहुत हो चुकीं ! इसी प्रकार दुर्योधन ने प्राचीनकाल में (महाभारत) में कहा था :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति—
जानम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः
केनापि देवेन हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि

तुम दोनों में क्या अन्तर है ?

भक्त : मुझे कोई अन्तर नहीं दीखता। पर मेरा कोई संकल्प नहीं है, और उसके बिना कार्य करता हूँ।

म० : तुम जन-सामान्य से ऊपर उठ चुके हो। हम दूसरे लोग व्यक्तिगत संकल्प से कार्य करते हैं।

भक्त : कैसे महाशय ? आपने अपनी एक पुस्तक में कहा है कि कर्म स्वतः हो सकता है।

म० : बस रहने दो ! बस रहने दो ! तुम तथा एक अन्य यात्री, श्रेष्ठ व्यक्तियों का-सा आचरण करते हो ! तुम दोनों पूर्ण ज्ञानी हो। तुम्हें और ज्ञान की आवश्यकता नहीं। यदि तुम यहाँ प्रायः नहीं आते होते तो मैं यह सब नहीं कहता। जैसा चाहो वैसा करो। परन्तु कुछ समय पश्चात ही यह प्रारम्भिक अवस्थागत सनक सही रूप में मालूम हो जायेगी।

भक्त : किन्तु मैं तो बहुत समय से इस अवस्था में हूँ।

म० : बस रहने दो।

१६१. आश्रमवासी शिष्य श्री कोहेन योग पद्धति पर चर्चा कर रहे थे। महर्षि ने कहा : पातंजलि का प्रथम सूत्र योग की सर्व पद्धतियों में उपयोगी है। लक्ष्य है मन की क्रियाओं का अन्त। पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। जब तक उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है उसे योग कहते हैं। यह प्रयास योग है। मन की शान्ति के अनेक साधन हैं :

(१) स्वतः मन की परीक्षा द्वारा। मन की परीक्षा करने से उसकी कर्मशीलता का स्वतः ही अन्त हो जाता है। यह ज्ञान का मार्ग है। शुद्ध मन ही आत्मा है।

(२) मन के मूल की खोज करना, यह दूसरी पद्धति है। इसके स्रोत को ईश्वर, आत्मा अथवा चैतन्य कहा जा सकता है।

(३) एक विचार पर एकाग्रता करने से अन्य सारे संकल्प लुप्त हो जाते हैं। अन्ततः वह विचार भी लुप्त हो जाता है। तथा

(४) हठयोग।

सभी पद्धतियाँ एक तथा समान हैं, चूंकि वे सब एक ही लक्ष्य की ओर प्रवृत्त कराती हैं।

संकल्पों पर नियन्त्रण करते समय जागरूक रहना आवश्यक है, अन्यथा उससे निद्रा आयेगी। वह जागृति ही खास बात है। इस तथ्य से प्रकट है कि प्राणायाम के उपरान्त भी पातंजलि ने प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि पर बल दिया है। प्राणायाम मन को स्थिर करता है तथा संकल्पों का दमन करता है। फिर क्यों अधिक विकसित किया जाय? चूँकि जागरूकता एक आवश्यक तथ्य है। ऐसी अवस्थाएँ अफीम, क्लोरोफार्म आदि के लेने से भी उत्पन्न की जा सकती हैं। किन्तु जागरूकता के अभाव में वे मोक्ष की प्राप्ति नहीं कराते।

३ जून, १९३६

१९२. महर्षि ने वार्तालाप के मध्य समझाया : मोक्ष की कामना कौन करता है? प्रत्येक व्यक्ति केवल सुख की कामना करता है—वह भी केवल इन्द्रिय-जनित सुख। एक गुरु से यह प्रश्न पूछे जाने पर उन्होंने कहा, "ऐसा ही है। जो सुख इन्द्रियों के भोग से प्राप्त होता है, वह भी मुक्ति जैसा ही है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए चार योग्यताओं में से मुक्ति की इस प्रकार की इच्छा भी एक योग्यता है। यह सभी में समान है। इस कारण सभी इस ज्ञान—आत्म-ज्ञान के पात्र हैं।"

वास्तव में योग सूत्र आदि में वर्णित पूर्णतया सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति का उपलब्ध होना जगत में सम्भव नहीं है। फिर भी आत्मज्ञान का प्रयास नहीं त्यागना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से ही आत्मा है। वह प्रमाद के कारण शरीर के साथ तादात्म्यता को प्राप्त कर दुख भोगता है। यह देखो कैसा आश्चर्य है। एक आत्मा ही सत्य है। आत्मभाव से रहकर सारे कष्टों से छुटकारा क्यों नहीं पा लेते?

प्रारम्भ में ही व्यक्ति को यह समझा देना आवश्यक है कि वह शरीर नहीं है, क्योंकि वह समझता है कि वह केवल शरीर ही है। जबकि वह शरीर तथा और सब कुछ भी है। शरीर तो केवल एक अंश है। यह उसे अन्तिम रूप से जान लेना आवश्यक है। पहले उसे जड़-चेतन का भेद समझना आवश्यक है और केवल चेतन होकर रहना है। बाद में वह यह अनुभूति करे कि जड़ चेतन से अलग नहीं है।

यही विवेक है। यह प्रारम्भिक विवेक अन्त तक बना रहना आवश्यक है। इसका फल मोक्ष है।

१९३. महर्षि ने कहा : स्वतन्त्र इच्छा एवं प्रारब्ध सदैव ही रहते हैं। प्रारब्ध पूर्व कर्म का परिणाम है; इसका सम्बन्ध शरीर से है। शरीर को

उसकी सुविधानुसार कार्य करने दिया जाय। तुम उससे क्यों चिन्तित होते हो? तुम उधर ध्यान क्यों देते हो? स्वतन्त्र संकल्प तथा प्रारब्ध देह के रहने तक रहते है। किन्तु ज्ञान इन दोनों से परे है। आत्मा विद्या तथा अविद्या दोनों से परे है। जो कुछ होता है वह पूर्वकृत कर्म, दैवी इच्छा तथा अन्य कारणों से होता है।

१६४. अमलापुरम् के निवासी श्री सुब्बाराव ने जिज्ञासा की : मन पर नियन्त्रण कैसे करें?

म० : मन को पकड़ लो।

भक्त : कैसे?

म० : मन वास्तविक नहीं है। वास्तव में, इसका अस्तित्व नहीं है। इसके नियन्त्रण का निश्चित मार्ग इसकी शोध करना हैं। तब इसकी क्रिया-शीलता बन्द हो जाती है।

६ जून, १६३६

१६५. बनारस विश्वविद्यालय के श्री झरका जो एम० ए० तथा एम० एस०-सी० हैं, ने कहा कि वे पत्नी तथा बच्चों के वियोग से शोकातुर हैं। वे मानसिक शान्ति तथा उसको प्राप्त करने का उपाय जानना चाहते थे।

म० : जन्म-मृत्यु, सुख-दुख, संक्षेप में सारा जगत तथा अहंकार मन में ही स्थित हैं। यदि मन का नाश कर दिया जाय तो इन सब का भी नाश हो जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि मन को केवल सुषुप्त नहीं करना है, अपितु उसे नष्ट कर देना है। मन सुषुप्ति में भी निष्क्रिय रहता है। तब वह कुछ नहीं जानता। फिर जाग्रत होने पर तुम पूर्ववत हो जाते हो। शोक का अन्त नहीं है। किन्तु यदि मन नष्ट कर दिया जाय तो शोक के लिए कोई आधार नहीं रहेगा तथा मन के साथ लुप्त हो जायगा।

भक्त : मन का नाश कैसे करें?

म० : मन को शोधो। इसकी खोज करने पर यह लोप हो जायगा।

भक्त : मैं समझ नहीं पाया।

म० : मन केवल संकल्पों का समूह है। संकल्पकर्ता के होने से ही संकल्प होते हैं। संकल्पकर्ता अहंकार है। यदि अहंकार की खोज हो जाये तो वह स्वतः ही नष्ट हो जायगा। अहंकार तथा मन एक ही हैं। अहंकार संकल्पों की जड़ है जिससे अन्य समस्त संकल्प उत्पन्न होते हैं।

भक्त : मन की खोज कैसे करें?

म० : अन्तरमुख हो जाओ। अब तुम जानते हो कि मन का उदय अन्दर से है। अतः अन्तर्मुख हो जाओ।

भक्त : मैं अब भी इसको करने की विधि नहीं समझ पाया ।

म० : तुम प्राणायाम की साधना कर रहे हो । यन्त्रवत प्राणायाम से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी । यह तो एक साधन-मात्र है । इसे यन्त्रवत करते समय मन से जागरूक रहने की सावधानी रखो तथा 'मैं'—भाव को ध्यान में रख इसके मूल को खोजो । तब तुम्हें बोध होगा कि जहाँ श्वास लीन होती है वहीं से 'मैं' का भाव उदित होता है । इनका उदय तथा अस्त साथ ही होता है । 'मैं'—भाव भी श्वास के साथ ही लय हो जायगा । इसके साथ ही दूसरा अनन्त ज्योतिर्मय 'मैं' अभिव्यक्त होगा जो कि नित्य एवं निरन्तर रहेगा । यही लक्ष्य है । इसके अनेक नाम हैं—ईश्वर, आत्मा, कुण्डलिनी शक्ति, चैतन्य, योग, भक्ति, ज्ञान आदि ।

भक्त : अब भी स्पष्ट नहीं हुआ ।

म० : जब प्रयास करोगे तो यह तुम्हें स्वतः ही लक्ष्य तक पहुँचा देगा ।

६ जून, १९३६

१९६. "रमण गीता"—अध्याय २ में वर्णित मार्ग त्रयी के सम्बन्ध में एक यात्री ने जिज्ञासा की ।

महर्षि ने बताया कि प्राणायाम मन पर नियन्त्रण करने का साधन है । अर्थात संकल्पों के शमन तथा इनके नष्ट करने का साधन है । एक साधक प्राणायाम—पूरक, रेचक, कुम्भक अथवा केवल कुम्भक का अभ्यास कर सकता है । दूसरी श्रेणी का ध्यान करने वाला साधक मन का संयम करने के बाद, श्वास पर संयम करता है और उसका कुम्भक स्वतः ही हो जाता है । पूरक एवं रेचक पर सजग रहना भी प्राणायाम है । ये साधन केवल देखने में तीन प्रकार के प्रतीत होते हैं । वास्तव में तत्त्वतः वे एक हैं, क्योंकि वे एक ही लक्ष्य तक ले जाते हैं । तथापि साधक की पूर्वगत परिस्थिति तथा प्रवृति के अनुसार इन साधनों में परिवर्तन कर उनको अपनाया जाता है । वास्तव में केवल दो पद्धतियाँ हैं—विचार एवं भक्ति । एक, दूसरे तक पहुँचाता है ।

भक्त : "मैं" की खोज में कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता ।

म० : चूँकि तुम्हें स्वयं को देह तथा दृष्टि को नेत्र मानने का अभ्यास हो गया है, इसलिए तुम कहते हो कि तुम कुछ नहीं देखते । वहाँ देखने को क्या है ? कौन देखेगा ? कैसे देखेगा ? एक ही संवित् है जो अहम्वृत्ति से उठता है, शरीर के साथ तादात्म्यता को प्राप्त होता है, इन्द्रिय द्वारा प्रकाश करता है और चारों तरफ यह दृश्य देखता है । जाग्रत अवस्था में प्राणी सीमित होता है तथा कुछ भिन्न वस्तु देखना चाहता है । उसकी सहज बुद्धि की साक्षी ही अन्तिम प्रमाण है । किन्तु वह यह स्वीकार नहीं करता कि द्रष्टा, दृश्य तथा

दृष्टि सब उसी चैतन्य अर्थात निजी अस्तित्व की अभिव्यक्ति हैं। मन की एकाग्रता से ऐसे भ्रम का निवारण होता है कि आत्मा दृश्यमान है। वास्तव में दृश्यमान अलग कुछ नहीं है। इस समय तुम्हें 'मैं' की प्रतीति कैसी हो रही है? क्या तुम अपने स्वयं को जानने के लिए अपने सामने दर्पण लेते हो? वह जागृति ही निजी अस्तित्व है। इसे साक्षात कर लो यही सत्य है।

भक्त : चित्त के मूल पर खोज करने से जड़ में एक अहम्वृत्ति दीखती है। किन्तु मुझे इससे समाधान नहीं होता।

म० : ठीक है। 'मैं' की अनुभूति, आकार कदाचित देह से सम्बद्ध है। शुद्ध आत्मा के साथ अन्य कुछ भी सम्बद्ध नहीं होना चाहिए। आत्मा केवल सत्य है जिसके प्रकाश से देह, अहंकार आदि प्रकाशित होते हैं। सभी कल्पनाओं के शमन से केवल शुद्ध चैतन्य अवशेष रहता है।

निद्रा से जाग्रत होकर दृश्य प्रपंच को देखने से पहले बीच में वह शुद्ध चैतन्य ही मैं है। बिना सोये तथा बिना संकल्पों से ग्रस्त हुए इस पर दृढ़ रहो। इसको दृढ़तापूर्वक पकड़ने पर जगत की अनुभूति होने का भी कोई महत्त्व नहीं है। द्रष्टा दृश्य से अप्रभावित रहता है।

१९७. आज अहमदाबाद की दो पारसी महिलाएँ—गुल तथा शिरीन बैरामजी आयीं। रात्रि को इन्होंने महर्षि से कहा :

"भगवान ! बाल्यकाल से ही हमारी आध्यात्म में रुचि रही है। हमने दर्शन के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया है, तथा वेदान्त ने हमें आकर्षित किया है। इसलिए हम उपनिषद्, योग वाशिष्ठ, भगवद्गीता आदि पढ़ती हैं। हम ध्यान का भी अभ्यास करती हैं, किन्तु हमारे ध्यान में कुछ भी प्रगति नहीं है। हम नहीं जानतीं कैसे साक्षात्कार करें। क्या आप कृपा कर हमें साक्षात्कार करने में सहायता देंगे ?

म० : तुम किस प्रकार ध्यान करती हो ?

भक्त : मैं स्वयं से प्रश्न करने लगती हूँ "मैं कौन हूँ ?" 'मैं' देह नहीं हूँ, इसका निरसन, 'मैं' श्वास नहीं, 'मैं' मन नहीं, पर मैं आगे नहीं बढ़ पाती।

म० : ठीक है बुद्धि की पहुँच यहीं तक है। तुम्हारी प्रक्रिया केवल बौद्धिक है। वास्तव में सारे धर्मशास्त्र साधक को सत्य का ज्ञान कराने के लिए केवल मार्गदर्शन हेतु इस प्रक्रिया का निर्देश करते हैं। सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कराया जा सकता। अतः यह बौद्धिक प्रक्रिया बतायी गयी है।

तुम देखो, जो समस्त अनात्म का निरसन करता है, वह अपने 'मैं' का निरसन करने में असमर्थ है। 'मैं' यह नहीं हूँ अथवा 'मैं वह हूँ' कहने के लिए 'मैं' तो होगा ही। यह 'मैं' केवल अहंकार अथवा 'मैं'—भाव है। इस अहम् भाव के उदय होते अन्य सब संकल्पों का उदय होता है। इसलिए 'मैं'—भाव ही

संकल्पों का मूल है। यदि इस मूल को उखाड़ दें तो अन्य सब उसी समय निर्मूल हो जायेंगे। इस हेतु मूल 'मैं' को खोजो; स्वयं से प्रश्न करो—"मैं कौन हूँ"? इसके स्रोत को खोजो। तब यह सब नष्ट होकर शुद्ध आत्मा अवशेष रहेगी।

भक्त : इसको कैसे करें?

म० : 'मैं' सदैव है—गहन निद्रा में, स्वप्न में तथा जागृति में। सुषुप्ति में भी वही है जो इस समय बोल रहा है। 'मैं' की भावना सदैव विद्यमान रहती है। अन्यथा क्या तुम अपने अस्तित्व से इन्कार करते हो? तुम नहीं करते। तुम कहते हो "मैं हूँ"। पता लगाओ कौन है?

भक्त : अब भी मैं नहीं समझी। आप जो 'मैं' कह रहे हैं वह कौनसा 'मैं' है मैं नहीं जानती। क्या आपका गलत 'मैं' ही 'मैं' है। इस गलत 'मैं' को कैसे निकालें?

म० : मिथ्या 'मैं' के हटाने की आवश्यकता नहीं है। 'मैं' स्वयं का कैसे निरसन करेगा? तुम्हें केवल इसका स्रोत जानकर वहीं स्थिर रहना है। तुम्हारा प्रयास यहीं तक है। तत्पश्चात अपरिमित स्वयं की चिन्ता कर लेगा। वहाँ तुम असहाय हो। कोई भी प्रयास वहाँ नहीं पहुँचा सकता।

भक्त : यदि 'मैं' सदैव हूँ—अभी एवं यहाँ तो मुझे इसकी अनुभूति क्यों नहीं होती?

म० : यही तो। कौन कहता है उसकी अनुभूति नहीं होती? क्या सत्य 'मैं' ऐसा कहता है अथवा मिथ्या 'मैं'। इसकी परीक्षा करो। तुम जानोगे वह मिथ्या 'मैं' है। मिथ्या 'मैं' ही बाधा है। इसका हटाना आवश्यक है जिससे कि सत्य 'मैं' गुप्त न रहे। यह भावना कि मैंने साक्षात्कार नहीं किया है, साक्षात्कार में बाधक है। वास्तव में साक्षात्कार पहले से ही है, कुछ अधिक साक्षात्कार नहीं करना है। अन्यथा साक्षात्कार नवीन होगा; जो पहले से नहीं था, और जो बाद में होगा। जिसका जन्म है उसका अन्त भी है। यदि साक्षात्कार नित्य नहीं है तो यह प्राप्त करने के योग्य नहीं है। इसलिए हम जिसकी खोज कर रहे हैं, वह कोई नवीन होने वाली घटना नहीं है। यह केवल वह है जो नित्य है, परन्तु बाधाओं के कारण उसकी अभी जानकारी नहीं हो रही है; हम उसकी खोज कर रहे हैं। हमें केवल बाधा को हटाना है। जो नित्य है वह अविद्या के कारण ऐसा प्रतीत नहीं होता। अविद्या ही बाधा है। इस अज्ञान को दूर कर दो और सब ठीक होगा।

अविद्या एवं अहम् भाव एक ही हैं। इसके मूल की खोज करोगे तो इसका लोप हो जायगा।

अहम् भाव जीवनी-शक्ति के समान है जो यद्यपि स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है, देह के साथ उदय होती है, वृद्धि को प्राप्त होती है तथा देह के साथ लुप्त हो जाती है। देह का भान ही मिथ्या 'मैं' है। इस देह-भाव को त्यागो। यह 'मैं' के स्रोत के खोजने से होगा। देह नहीं कहती 'मैं हूँ।' 'मैं देह हूँ!' ऐसा तुम कहते हो यह 'मैं' कौन है, इसकी खोज करो। इसके मूल की खोज करने से इसका लोप हो जायेगा।

भक्त : तदुपरान्त क्या आनन्द होगा?

म० : आनन्द तथा अस्तित्व का बोध एक ही है। उस आनन्द के अस्तित्व की नित्यता की सर्व युक्तियाँ आनन्द के लिए भी प्रयोग होती हैं। आनन्द तुम्हारा स्वरूप है। अविद्या ने उस आनन्द को गुप्त कर दिया है अविद्या को हटाकर आनन्द को मुक्त होने दो।

भक्त : क्या हमें जगत, जीव तथा ईश्वर के मूल तत्त्व सत्यता की खोज नहीं करनी चाहिए?

म० : यह सब 'मैं' की कल्पनाएँ हैं। यह सब 'अहम् भाव' के उद्भव के बाद उदय होती हैं। क्या तुमने अपनी गहन निद्रा में इनके विषय में विचार किया था? गहन निद्रा में तुम थे तथा वही तुम अब बोल रहे हो। यदि वे यथार्थ होतीं तो क्या वे सुषुप्ति में भी नहीं होती? ये केवल 'अहम् भाव' पर आधारित हैं। फिर क्या जगत तुमसे कहता है 'मैं जगत हूँ?' क्या देह कहती है 'मैं देह हूँ?' तुम कहते हो, "यह जगत है" "यह देह है" आदि। इस प्रकार यह केवल तुम्हारी कल्पनाएँ हैं। तुम कौन हो, खोज लो और तब तुम्हारे सारे संशयों का अन्त हो जायगा।

भक्त : साक्षात्कार के उपरान्त देह का क्या होता है? यह रहती है अथवा नहीं? हम ज्ञानी पुरुषों को अन्य लोगों के समान कार्य करते देखते हैं।

म० : यह प्रश्न अभी नहीं उठता। यदि आवश्यक हो तो साक्षात्कार के पश्चात यह प्रश्न करो। जहाँ तक ज्ञानी व्यक्तियों का सम्बन्ध है, उन्हें स्वयं की चिन्ता करने दो। तुम्हें उनकी चिन्ता क्यों?

वास्तव में, साक्षात्कार के पश्चात देह तथा अन्य सर्व आत्मा से पृथक भासित नहीं होगा।

भक्त : नित्य सत्-चित आनन्द होते हुए, ईश्वर हमें कठिनाइयों में क्यों रखता है? उसने हमें क्यों उत्पन्न किया?

म० : क्या ईश्वर आकर तुमसे कहता है कि उसने तुम्हें कठिनाइयों में रखा है? यह तुम हो जो ऐसा कहते हो। यह मिथ्या 'मैं' ही है। यदि यह लुप्त हो जाय तो यह कहने वाला कोई नहीं होगा कि ईश्वर ने इसकी अथवा उसकी सृष्टि की है।

जो है वह यह भी नहीं कहता 'मैं हूँ ।' क्योंकि क्या कभी ऐसा संशय उत्पन्न होता है कि 'मैं नहीं हूँ ?' ऐसी स्थिति में ही व्यक्ति स्वयं को याद दिला सकता है 'मैं मनुष्य हूँ ।' ऐसा कोई नहीं करता । इसके विपरीत यदि यह संशय हो जाय कि वह गाय या भैंस है तो उसे स्वयं को स्मरण कराना होगा कि वह गाय आदि नहीं है, परन्तु 'मैं मनुष्य हूँ ।' ऐसा कभी नहीं होगा । इसी प्रकार अपने निजी अस्तित्व तथा साक्षात्कार के बारे में ।

१० जून, १९३६

१९८. कुछ महिलाओं ने प्रश्न किया, क्या मनुष्य का निम्न-कोटि के पशु की योनि में पुनर्जन्म होना सम्भव है ?

म० : हाँ । यह सम्भव है, जैसा पुराणों में जड़ भरत का दृष्टान्त है जो राजवंश के महात्मा होकर भी मृग योनि में जन्मे ।

भक्त : क्या व्यक्ति पशु योनि में भी आध्यात्मिकप्रगति करने में समर्थ है ?

म० : असम्भव तो नहीं; यद्यपि यह अत्यन्त दुर्लभ है ।

भक्त : गुरु अनुग्रह क्या है ? यह किस प्रकार कार्य करता है ?

म० : गुरु आत्मा है ।

भक्त : यह साक्षात्कार में कैसे सहायक होता है ?

म० : ईश्वरो गुरुरात्मेति··········(ईश्वर, गुरु एवं आत्मा एक ही हैं····) । मनुष्य असन्तोष से प्रारम्भ करता है । जगत से असन्तुष्ट है । वह इच्छाओं की पूर्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना करता है; उसकी चित्त-शुद्धि होती है । तब वह शारीरिक वासनाओं की पूर्ति के स्थान पर ईश्वर को अधिक जानने की इच्छा करता है । तब ईश्वर अनुग्रह प्रकट होने लगता है । ईश्वर गुरु रूप धारण कर भक्त के समक्ष आते हैं; उसे सत्य का उपदेश करते हैं; अपने उपदेश तथा सम्पर्क से उसका मन शुद्ध करते हैं; मन बल प्राप्त करता है । अन्तर्मुख होने के योग्य होता है; ध्यान द्वारा और अधिक शुद्ध होता है, तथा अन्ततः बिना तनिक-सी भी तरंग के शान्त हो रहता है । यह शान्ति ही आत्मा है । गुरु आन्तरिक भी है तथा बाह्य भी । बाहर से वह मन को ढकेलकर उसे अन्तर्मुख करता है; अन्दर से वह मन को आत्मा की ओर खींचता है तथा मन को स्थिरता प्राप्त होने में सहायक होता है । यही अनुग्रह है ।

अतः ईश्वर, गुरु तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है ।

१९९. बाद में महिलाओं ने पहले ही से साक्षात, नित्य आत्मा के साक्षात्कार में अपनी वर्तमान असमर्थता के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये । साक्षात्कार का लक्षण आनन्द होगा जिसका अभाव था ।

महर्षि ने कहा : चेतन एक ही है। परन्तु हम अनेक प्रकार के चेतन का कथन करते हैं; यथा, देह-चेतन, आत्म-चेतन। ये सब उसी संवित् (आत्मा) की सापेक्ष अवस्थाएँ हैं। चेतन के बिना देश एवं काल का अस्तित्व नहीं है। उनकी अनुभूति चेतन में ही होती है। चेतन एक पर्दे की तरह है जिस पर यह चित्र सिनेमा के पर्दे पर चलते चित्रों के समान दीखते रहते हैं। संवित् (आत्मा) हमारा वास्तविक स्वरूप है।

भक्त : ये दृश्य कहाँ से उदय होते हैं ?

म० : जहाँ से तुम उदय होते हो। पहले दृष्टा को जानो, तब दृश्यों के सम्बन्ध में पूछो।

भक्त : यह प्रश्न का केवल एक पक्ष हुआ।

म० : दृष्टा में ही दृश्य सम्मिलित है। इस एक पक्ष में ही सब पक्ष पूर्णरूप से व्याप्त हैं। पहले स्वयं को देखो और तब दृश्यों को देखो। जो तुममें नहीं है वह बाहर नहीं दीख सकता।

भक्त : मेरा समाधान नहीं हुआ।

म० : समाधान तभी हो सकता है जब तुम स्रोत तक पहुँचो, अन्यथा बेचैनी रहेगी।

भक्त : क्या परमात्मा गुणसहित है अथवा गुणरहित ?

म० : पहले यह जान लो कि तुम गुणसहित हो या गुणरहित।

भक्त : समाधि क्या है ?

म० : अपना निज वास्तविक स्वरूप।

भक्त : फिर इसे प्राप्त करने के प्रयास की क्यों आवश्यकता है ?

म० : प्रयास किसका है ?

भक्त : महर्षि को ज्ञात है कि मैं अज्ञानी हूँ ?

म० : क्या तुम जानती हो कि तुम अज्ञानी हो ? अज्ञान का ज्ञान अज्ञानता नहीं है।

सारे शास्त्रों का उद्देश्य केवल यह शोध करना है कि क्या चेतन दो हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव सिद्ध करता है कि चेतन केवल एक है। क्या वह अपने को दो में विभक्त कर सकता है ? क्या आत्मा में कोई विभाजन अनुभव होता है ? निद्रा से जाग्रत होकर व्यक्ति स्वयं को वही पाता है जो जागृति में तथा सुषुप्त अवस्थाओं में था। यह प्रत्येक का अनुभव है। अन्तर देखने तथा दृष्टिकोण का है। चूँकि तुम अनुमान करते हो कि तुम अनुभव से पृथक दृष्टा हो इसलिए यह कठिनाई उत्पन्न होती है। अनुभव से सिद्ध है कि तुम्हारा अस्तित्व सदैव एक ही है।

भक्त : अज्ञान कहाँ से आया ?

म० : अज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसका कभी उदय नहीं होता। प्रत्येक स्वयं ज्ञान है। केवल ज्ञान सहज प्रकाशित नहीं होता। अज्ञान का निवारण ही ज्ञान है जिसका सदैव अस्तित्व है—यथा हार गले में रहते हुए भी खोया हुआ मान लेना अथवा दस मूर्खों में से प्रत्येक के द्वारा स्वयं की गणना न कर केवल दूसरों की गणना करना। ज्ञान तथा अज्ञान किसको है ?

भक्त : क्या हम बाहर से अन्दर की ओर अग्रसर नहीं हो सकते ?

म० : क्या इस प्रकार का कोई भेद है ? क्या तुम्हें सुषुप्ति में—अन्दर-बाहर—का भेद अनुभव होता है ? यह भेद देह के सम्बन्ध से है तथा अहम् भाव से उदय होता है। तथा-कथित जाग्रत अवस्था स्वयं एक भ्रान्ति है।

दृष्टि को अन्तर्मुख करोगे तो सम्पूर्ण जगत ब्रह्म से परिपूर्ण होगा। जगत को माया कहा गया है। माया भी वस्तुतः सत्य है। भौतिक विज्ञान के विद्वान भी जगत का उद्गम किसी मूलस्रोत वस्तु—सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म में खोजते हैं।

जो जगत को वास्तविक मानते हैं तथा जो उनके विरोधी हैं दोनों के लिए ईश्वर समान है। उनके दृष्टिकोण में भिन्नता है। तुम्हें इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। लक्ष्य सबके लिए एक ही तथा समान है। उसको देखो।

१४ जून, १९३६

२००. श्री कोहेन ने पाल ब्रण्टन की "गुप्त भारत की खोज" के अन्तिम परिच्छेद में अंकित शब्दावली "दैदीप्यमान ज्योति" का अर्थ जानना चाहा।

म० : चूंकि अनुभव मन द्वारा ही होता है; अतः प्रारम्भ में यह प्रकाश की प्रभा जैसी प्रतीत होती है। मानसिक पूर्व प्रवृत्तियाँ अभी नष्ट नहीं हुई हैं। तथापि मन इस अनुभव में अपनी अनन्त सामर्थ्य सहित कार्य करता है।

किन्तु निर्विकल्प समाधि में, शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व रहता है, जो ज्ञान अथवा अज्ञान को प्रदीप्त करने में समर्थ है, यह प्रकाश अथवा तम से भी परे है। यह तम नहीं है यह निश्चित है; तथापि क्या इसे प्रकाश नहीं कहा जा सकता ? अभी दृश्य प्रकाश में ही दृष्टिगोचर होते हैं। क्या यह कहना भूल होगी कि स्वयं के आत्म-साक्षात्कार हेतु प्रकाश आवश्यक है ? यहाँ प्रकाश से तात्पर्य चैतन्य से है जो केवल आत्मरूप में प्रकट होता है।

योगियों को योगाभ्यास से आत्म-साक्षात्कार से पूर्व आभास तथा प्रकाश के दृश्य दीखते कहे जाते हैं।

पहले एक बार माता पार्वती ने ब्रह्म के साक्षात् हेतु तपस्या की। तब उन्हें कुछ प्रकार की ज्योतियों के दर्शन हुए। उन्होंने इनको स्वीकार नहीं

किया क्योंकि वे आत्मा से प्रकट हुई थीं, स्वयं आत्मा नहीं, जबकि आत्मा सदैव की भाँति वहीं थीं।

उन्होंने निश्चय किया कि वे ब्रह्म नहीं हैं। उन्होंने अपनी तपस्या जारी रखी तथा उन्होंने अनन्त ज्योति का अनुभव किया। उन्होंने निश्चय किया कि यह भी दृश्यमात्र ही है न कि परमतत्त्व। उन्होंने अपनी तपस्या फिर भी जारी रखी तथा अन्ततः उन्होंने अनुभवातीत शान्ति प्राप्त की। उन्होंने अनुभव किया कि यही ब्रह्म है, कि आत्मा ही एकमात्र सत्यता है।

"तैत्तिरीय उपनिषद" का कथन है, "ब्रह्म को तपस्या से प्राप्त करो" बाद में "तपस्या ही ब्रह्म है।" एक अन्य उपनिषद का कथन है "वह तपस्या ही है जिसका प्रादुर्भाव केवल ज्ञान से हुआ है।" वहाँ न सूर्य प्रकाशित है, न चन्द्र, न तारक, न अग्नि, ये सब उसी के प्रकाश से प्रकाशमान हैं।

२०१. पारसी महिलाओं ने एक दृष्टान्त द्वारा यह समझने की इच्छा की कि किस प्रकार आत्मा नित्य-सिद्ध तथा अत्यन्त अन्तरंग होकर भी अनुभूत नहीं हो रही है :

महर्षि ने इन कथाओं को दृष्टान्त के रूप में कहा—

(१) स्वकान्ताभरणमयथा—गले के हार की कहानी, स्वयं गले में होने पर भी उसे अन्यत्र खोजना। (२) दशम—दस मूर्खों द्वारा केवल नौ की स्वयं को छोड़कर गणना करना। (३) सिंह के बच्चे का बकरियों के झुण्ड में पलना। (४) कर्ण का स्वयं के माता-पिता के बारे में अज्ञान। तथा (५) एक राजपुत्र का निम्न-वर्ण के परिवार में पालन।

उन्होंने श्री अरविन्द के योग तथा उनके वैदिक ऋषियों के अनुभव की अपेक्षा उनसे आगे तक शोध कर लेने की उनकी मान्यता तथा माँ का उनके शिष्यों द्वारा उपनिषदिक ऋषियों के साक्षात्कार से अभ्यास प्रारम्भ करने की क्षमता के मत के सम्बन्ध में श्री भगवान की सम्मति माँगी।

म० : अरविन्द पूर्ण समर्पण का परामर्श देते हैं। पहले हम उक्त निर्देश का पालन कर परिणाम की प्रतीक्षा करें, तदुपरान्त यदि आवश्यक हो तो आगे विचार-विमर्श करें, अभी नहीं। जिनकी सीमाएँ नष्ट नहीं हुई हैं उनके साथ अनुभवातीत अनुभवों पर विचार-विमर्श करने से कोई लाभ नहीं है। समर्पण क्या है यह जानो। यह अहंकार के मूल स्रोत में विलय होना है। अहंकार आत्मा को समर्पण किया जाता है। आत्मा के प्रति प्रेम के कारण ही हमें सर्व वस्तुएँ प्रिय हैं। आत्मा वह है जिसको हम अहंकार का समर्पण करते हैं तथा परमतत्त्व अर्थात् आत्मा को उसकी स्वयं की इच्छानुसार कार्य करने देते हैं। अहंकार पहले से ही आत्मा का है। अहंकार जैसा भी है उस पर

हमारा कोई अधिकार नहीं है। तथापि यदि हम यह मान लें कि हमारा अधिकार था तो भी हमें उनका समर्पण करना होगा।

भक्त : दिव्य चैतन्य के नीचे अवतीर्ण होने के विषय में क्या है ?

म० : क्या वह अभी भी हृदय में नहीं है ? श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे अर्जुन मैं हृदय के विस्तार में हूँ।" उपनिषद के एक मन्त्र में कहा है "जो सूर्य में है, वही मनुष्य में है।" बाइबिल में कहा है। "ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है।" इस प्रकार सब स्वीकार करते हैं कि ईश्वर अन्दर है। नीचे क्या लाना है ? कहाँ से ? कौन क्या लायगा और क्यों ?

नित्य, सर्वव्यापी सत्यता की अनुभूति में आने वाली बाधाओं को हटाना ही साक्षात्कार है। एकमात्र सत्यता ही है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया नहीं जाता।

भक्त : अरविन्द की आत्म-साक्षात्कार से साधना प्रारम्भ कर आगे विकास करने की क्षमता के सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?

म० : पहले हम साक्षात् कर लें और तब देखें।

तब महर्षि ने इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्तों की चर्चा की :

विशिष्टाद्वैत को मानने वाले कहते हैं कि प्रारम्भ में आत्मा का साक्षात्कार किया जाता है तथा अनुभूत व्यक्तिगत आत्मा का सर्वव्यापी आत्मा को समर्पण कर दिया जाता है। केवल तब ही पूर्णता होती है। अंश, पूर्ण को समर्पित कर दिया जाता है। यही मुक्ति अथवा 'सायुज्यता' है। विशिष्टाद्वैत के मत से सामान्य आत्म-साक्षात्कार पूर्ण आत्मा से अलग रहता है।

सिद्धों के अनुसार जो अपनी देह को शव के रूप में पीछे छोड़ जाता है वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। उनका पुनर्जन्म होता है। जिनकी देह आकाश अथवा प्रकाश में विलीन हो जाय अथवा दृष्टि से ओझल हो जाय, केवल वे ही मुक्त होते हैं। आचार्य शंकर के मत के मानने वाले अद्वैतवादी आत्म-साक्षात्कार को लक्ष्य की प्राप्ति मानते हैं पर सिद्ध कहते हैं कि यह उद्देश्य की प्राप्ति नहीं है।

कुछ ऐसे भी हैं जो अपने निजी प्रिय सिद्धान्तों को ही सर्वोत्तम मानते हैं। उदाहरणार्थ, कुम्बाकोनाम के स्वर्गीय वेंकास्वामी राव तथा कुडप्पाह के ब्रह्मानन्द योगी आदि।

वास्तविकता है : केवल एक सत्यता है। यह किसी भी विवाद से अप्रभावित है। हम सत्यता के भाव में स्थिर रहें और उसके स्वरूप आदि सम्बन्धी व्यर्थ के विवादों में न पड़ें।

१५ जून, १९३६

२०२. एक दु:खित-से पंजाबी भद्र पुरुष ने महर्षि से अपने विषय में कहा कि उन्हें पुरी के समीप जालेस्वर, जगन्नाथ से कामकोटिपीठम के श्री शंकराचार्य ने भेजा है। वे विश्व की यात्रा कर रहे हैं। उन्होंने हठयोग तथा "अहम् ब्रह्मास्मि" आदि पर ध्यान का अभ्यास किया है। कुछ ही क्षणों में शून्यता प्रवेश करती है, उनका मस्तिष्क गरम हो जाता है और उन्हें मृत्यु का भय होने लगता है। वे महर्षि से मार्गदर्शन चाहते हैं।

म० : शून्यता कौन देखता है ?

भक्त : मैं जानता हूँ कि मैं इसे देखता हूँ।

म० : शून्य को देखने वाला चेतन ही आत्मा है।

भक्त : इससे मुझे समाधान नहीं हुआ। मैं इसकी अनुभूति नहीं कर सकता।

म० : अहम् भाव के उदय के पश्चात ही मृत्यु का भय उत्पन्न होता है। तुम्हें किसकी मृत्यु का भय है ? भय किसको है ? वहाँ आत्मा की देह से तादात्म्यता है। जब तक यह होगा तब तक भय होगा।

भक्त : किन्तु मुझे अपनी देह का भान नहीं है।

म० : कौन कहता है कि उसे भान नहीं है ?

भक्त : मैं समझ नहीं सका।

तब उनसे प्रश्न किया गया कि वास्तव में उनके ध्यान की पद्धति क्या है ? उन्होंने कहा "अहम् ब्रह्मास्मि।"

म० : "अहम् ब्रह्मास्मि" विचार-मात्र है। यह कौन कहता है ? स्वयं ब्रह्म ऐसा नहीं कहता। उसे ऐसा कहने का क्या प्रयोजन ? वास्तविक 'मैं' भी ऐसा नहीं कह सकता है। चूँकि 'मैं' सदैव ब्रह्मभाव में स्थिर रहता है ऐसा कहना केवल विचार-मात्र है। यह विचार किसका है ? सारे संकल्पों की उत्पत्ति असत् 'मैं' अर्थात् अहम् भाव से है। संकल्पों से रहित रहो। जब तक संकल्प हैं भय भी होगा।

भक्त : इस पर विचार करते हुए मुझे विस्मृति हो जाती है, मस्तिष्क गरम हो जाता है और मैं भयभीत हो जाता हूँ।

म० : हाँ, मन मस्तिष्क में एकाग्र हो जाने से तुम्हें वहाँ गर्मी अनुभव होती है। यह अहम् भाव के कारण है। जब तक संकल्प रहेंगे तब तक विस्मृति होगी। जब 'अहम् ब्रह्मास्मि' का विचार आता है, विस्मृति अकस्मात आ जाती है; तब अहम् भाव उदय होकर साथ ही मृत्यु का भय भी उत्पन्न होता है। विस्मृति तथा संकल्प अहम् भाव के कारण ही हैं। इसे पकड़ोगे तो यह

भ्रम की तरह लुप्त हो जायेगा। जो अवशेष रहेगा वह वास्तविक 'मैं' है। यही आत्मा है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' एकाग्र होने का एक साधन है। यह अन्य संकल्पों को दूर रखता है। केवल एक वही विचार रहता है। देखो कि वह विचार किसका है। तब पता चलेगा कि इसका उद्गम अहम् भाव से है। अहम् भाव का उद्गम कहाँ से है? इसकी शोध करो अहम्भाव नष्ट हो जायेगा। परमतत्त्व आत्मा स्वयं प्रकाशित हो उठेगी। अन्य किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं है।

जब केवल वास्तविक 'मैं' अवशेष रहेगा तब वह "अहम् ब्रह्मास्मि" नही कहेगा। क्या कोई व्यक्ति ऐसा कहता रहता है कि "मैं आदमी हूँ?" जब तक उसे चुनौती न दी जाय वह क्यों कहेगा कि "मैं आदमी हूँ?" क्या कभी कोई भूल से स्वयं को पशु मानता है, कि वह यह कहे कि "नहीं मैं पशु नहीं हूँ; मैं मनुष्य हूँ।" इसी प्रकार 'ब्रह्म' अथवा 'मैं' मात्र की सत्ता होने से इसे चुनौती देने वाला कोई नहीं। अतः "अहम् ब्रह्मास्मि" के जप की कोई आवश्यकता नहीं।

१७ जून, १९३६

२०३. डाक-तार विभाग, दिल्ली के वित्त सचिव श्री वर्मा, उन्होंने पाल ब्रण्टन की पुस्तकें "गुप्त भारत की खोज" तथा "गुप्त मार्ग" पढ़ रखा है। उनकी स्त्री का निधन हो गया है जिसके साथ उन्होंने ग्यारह अथवा बारह वर्ष सुखमय जीवन व्यतीत किया था। अपने दुःख में शान्ति की खोज में हैं। उन्हें पुस्तकों के अध्ययन से कोई शान्ति नहीं मिलती, उन्हें फाड़ देना चाहते हैं। उन्हें प्रश्न पूछने में रुचि नहीं है। वे केवल महर्षि के पास बैठने तथा उनके सान्निध्य से जो शान्ति उपलब्ध हो सके, प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

महर्षि ने मानो विचार श्रृंखला में हों रुक-रुककर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

ऐसा कहते हैं, "पत्नी अर्धांगिनी है।" इस कारण पत्नी का वियोग अत्यधिक दुःखद है। किन्तु यह दुःख व्यक्ति के भौतिक दृष्टिकोण के कारण है; यदि दृष्टिकोण आत्मा का हो जाय तो यह लुप्त हो जायगा। बृहदारण्यक उपनिषद कहता है, "आत्मा से स्नेह होने के कारण पत्नी प्रिय है।" यदि पत्नी तथा दूसरों का आत्मा से तादात्म्य कर लिया जाय तो दुःख कैसे होगा? तथापि ऐसी विपत्तियाँ दार्शनिकों के मन को भी हिला देती हैं।

गहन निद्रा में हम सुख का अनुभव करते हैं। तब हम पूर्ण आत्मभाव में रहते हैं। इस क्षण भी हम वैसे ही हैं। इस सुषुप्ति में न पत्नी थी, न अन्य थे, न 'मैं' ही था। अब उनकी प्रतीति होती है तथा सुख-दुःख का भाव होता है। जो आत्मा गहन निद्रा में आनन्दयुक्त थी, अभी भी अपने आनन्द स्वरूप में क्यों

नहीं रह सकती ? निरन्तर के इस आनन्द में आत्मा की देह से मिथ्या तादात्म्यता ही एकमात्र बाधा है ।

भगवद्गीता का कथन है : "असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है; सत् का कभी अभाव नहीं है; इन दोनों की वास्तविकता तत्वज्ञानी पुरुषों द्वारा अनुभव की गयी है । सत् सदैव सत् है, असत् सदैव असत् है ।

फिर न उसका जन्म होता है न उसकी मृत्यु होती है, न उसका अस्तित्व आगे के लिए होना बन्द हो जाता है, अजन्मा, नित्य शाश्वत पुरातन, जब शरीर के टुकड़े कर दिये जायँ तब भी वह नहीं कटता ।" इस प्रकार न जन्म है न मृत्यु । जागृति जन्म है तथा सुषुप्ति मृत्यु है ।

जब तुम दफ्तर गये थे अथवा जब तुम गहरी नींद में थे तब क्या पत्नी तुम्हारे साथ थी ? वह तुमसे दूर थी । तुम इस विचार से सन्तुष्ट थे कि वह कहीं है । जबकि अब तुम्हें यह विचार है कि वह नहीं है । अन्तर विचारों के अन्तर का है । यही कष्ट का कारण है । पत्नी के अभाव का विचार कष्ट उत्पन्न कर रहा है । यह सब मन की दुष्टता है । आनन्द होते हुए भी साथी (अर्थात् मन) स्वयं के लिए दुःख उत्पन्न करता है । किन्तु सुख और दुःख मन की सृष्टि हैं ।

फिर मृतकों के लिए शोक क्यों ? वे बन्धन से मुक्त हुए । मन स्वयं को मृतकों से युक्त रखने हेतु शोक की श्रृंखला गढ़ लेता है ।

किसी का देहावसान हो गया तो क्या ? कोई नष्ट हो गया तो क्या ? स्वयं को मृतक करो—स्वयं को नष्ट करो । इस दृष्टि से किसी की मृत्यु के उपरान्त कोई कष्ट नहीं होगा । इस प्रकार की मृत्यु का क्या अभिप्राय है ? देह के रहते हुए ही अहंकार का नाश । यदि अहंकार बना रहता है तो मनुष्य को मृत्यु का भय रहता है । मनुष्य दूसरे की मृत्यु पर शोक करता है । यदि वह (अहम् के स्वप्न से जग जाय जिसका अर्थ है अहम् भाव को मार देना) उनसे भी पहले मृतक हो जाय तो फिर उसे शोक नहीं करना होगा । गहन निद्रा का अनुभव स्पष्ट निर्देश करता है कि बिना देह के रहने में ही आनन्द है । ज्ञानी भी इसी बात का समर्थन करते हैं कि देह का मोह त्यागने के बाद ही मुक्ति प्राप्त होगी । इस प्रकार ज्ञानी देह छोड़ने की प्रतीक्षा करता है । जिस प्रकार एक मजदूर मजदूरी हेतु उदासीन भाव से भार वहन कर ठिकाने तक पहुँचाकर उसे अन्ततः उतारकर आनन्द व विश्रान्ति पाता है; उसी प्रकार ज्ञानी उपयुक्त तथा निर्धारित समय में इसे त्यागने की प्रतीक्षा में इस देह को धारण करता है । यदि तुम आधे भार से, अर्थात् पत्नी से, मुक्त कर दिये गये तो क्या तुम्हें इस हेतु प्रसन्न तथा कृतज्ञ नहीं होना चाहिए ?

फिर भी तुम ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि तुम्हारी शारीरिक दृष्टि है ।

ऐसे व्यक्ति भी जिनसे उत्तम ज्ञान की अपेक्षा है तथा जो मृत्यु आदि के उपरान्त मोक्ष विषयक शिक्षण से अवगत हैं; सदेह मुक्ति के गुणगान करते हैं तथा उसे देह को नित्य जीवित रखने वाली रहस्यमय शक्ति कहते हैं !

यदि देहभाव का त्यागकर मनुष्य आत्मभाव से रहे तो कोई दुःख नहीं होगा। शोक वास्तविक प्रेम का परिचायक नहीं है। यह दृश्य तथा उसकी आकृति के प्रति स्नेह का ही सूचक है। यह स्नेह नहीं है। वास्तविक प्रेम यह निश्चय करने में है कि स्नेह का पात्र आत्मा में है तथा उसके अस्तित्व का कभी भी अभाव नहीं होगा। (इस सन्दर्भ में महर्षि ने "योग वाशिष्ठ" से अहिल्या तथा इन्द्र की कथा प्रस्तुत की।)

फिर भी यह सत्य है कि ऐसे अवसरों पर ज्ञानियों का संग ही दुःख शमन करने में समर्थ है।

१८ जून, १९३६

२०४. आत्म-प्रकाश पर महर्षि के विचार : 'मैं' की कल्पना अहंकार है। 'मैं' का प्रकाशित होना वास्तविक आत्मा का साक्षात्कार है। यह विज्ञानमय कोष में सदैव "मैं-मैं" के रूप में प्रकाशित है। यह शुद्ध ज्ञान है; सापेक्ष ज्ञान केवल कल्पना है। आनन्दमय कोष का आनन्द भी केवल कल्पना ही है। जब तक अनुभव न हो, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म अनुभव हो कोई यह नहीं कह सकता "मैं आनन्द से सोया"। अपनी बुद्धि से वह आनन्दमय कोष का वर्णन करता है। बुद्धि की तरह निद्रा का आनन्द भी व्यक्ति के लिए कल्पना-मात्र है। तथापि सुषुप्ति के अनुभव की कल्पना अत्यधिक सूक्ष्म है। सापेक्ष ज्ञान के बिना अनुभव सम्भव नहीं है।

आत्मा का सहज स्वभाव आनन्द है। परम आनन्द के साक्षात्कार में भी किसी न किसी प्रकार के ज्ञान को स्वीकार करना पड़ता है; यह सूक्ष्मतम से भी अधिक सूक्ष्म हो सकता है।

"विज्ञान" शब्द आत्म-साक्षात्कार तथा भौतिक पदार्थों का ज्ञान दोनों ही अर्थों में उपयोग किया जाता है। आत्मा ज्ञान है। यह दो प्रकार से कार्य करती है। जब अहंकार से युक्त होता है तब वस्तुओं का ज्ञान होता है। अहंकार से मुक्त हो, व्यापक आत्मा का साक्षात्कार करने पर भी इसे विज्ञान ही कहा जाता है। इस शब्द से एक मानसिक कल्पना का उदय होता है। इसी कारण हम कहते हैं कि आत्मज्ञानी सन्त अपने मन से जानता है, किन्तु उसका मन निर्मल होता है। फिर हम चंचल मन को अशुद्ध तथा शान्त मन को शुद्ध कहते हैं। शुद्ध मन स्वयं ब्रह्म ही है; अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मज्ञानी के मन से अन्य कुछ भी नहीं है।

मुंडकोपनिषद् के अनुसार : "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म का आत्मा बन जाता है।" क्या यह हास्यास्पद नहीं है ? उसे जानना तथा वही हो जाना ? यह केवल शब्द हैं। ज्ञानी ब्रह्म है—बस इतना ही। अपने अनुभव को व्यक्त करने हेतु मानसिक प्रक्रिया की आवश्यकता है। ज्ञानी निरन्तर व्यापक में ध्यानमग्न रहता है। ऐसा कहा जाता है कि सृष्टिकर्ता, शुक एवं दूसरे ऐसे ध्यान से कभी भी विचलित नहीं होते।

निमिषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥

—तेजोबिन्दु उपनिषद् १-४७

फिर इस प्रकार का ध्यान केवल शब्द ही है। उसका ध्यान कैसे होगा जब तक कि वह ध्याता तथा ध्येय में विभाजित न हो ? बिना विभाजित हुए ध्यान कैसे सम्भव है ? क्या अनन्त में कोई कर्म हो सकता है ? एक सरिता के सागर में समा जाने पर क्या हम उसे सागर जैसी सरिता कहते हैं ? तब फिर हम उस ध्यान को जो नित्य है उसे नित्य अनन्त का ध्यान क्यों कहते हैं ? इस कथन को जिस भावना से कहा गया है उसी भावना में समझना चाहिए। यह अनन्त में विलीन होना प्रकट करता है।

आत्म-ज्ञान तथा आत्म-साक्षात्कार भी इसी प्रकार का है। आत्मा नित्य प्रकाशित है। तब फिर इस 'मैं प्रकाश' से क्या अभिप्राय है ? इससे मन के सक्रिय होने की मान्यता ध्वनित होती है।

देवता और ज्ञानी अपनी बाह्य दृष्टि में कोई बाधा न लाते हुए ही उस निस्सीम का नित्य निरन्तर अनुभव करते रहते हैं। दर्शकों को उनके मन के सक्रिय होने का अनुमान होता है; किन्तु वास्तव में वे नहीं हैं। जो इस प्रकार का अनुमान करते हैं उसका कारण है उनमें व्यक्तित्व की भावना का होना। व्यक्तित्व के अभाव में मानसिक क्रिया नहीं होती। व्यक्तित्व तथा मानसिक क्रियाशीलता साथ रहते हैं। एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता।

आत्मा का प्रकाश विज्ञानमय कोष में ही अनुभव हो सकता है। इस प्रकार विज्ञान किसी भी प्रकार का हो (पदार्थ का अथवा आत्मा का) शुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मा पर निर्भर है।

२०५. श्री कोहेन हृदय के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं, क्या 'आध्यात्मिक हृदय' में धड़कन है; यदि है तो किस प्रकार; यदि इसमें स्पन्दन नहीं है तो इसका अनुभव किस प्रकार हो ?

म० : यह हृदय भौतिक हृदय से भिन्न है; स्पन्दन भौतिक हृदय में होता है। आध्यात्मिक हृदय आध्यात्मिक अनुभव का केन्द्र है। इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है।

जिस प्रकार एक डायनमो, बिजली के लैम्प, पंखों आदि को चालक शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार मूल अनादि शक्ति हृदय का स्पन्दन, श्वास आदि का परिचालन करती है ।

भक्त : 'मैं' की जागृति का बोध कैसे होता है ?

म० : 'मैं' की निरन्तर जागरूकता के रूप में । यह केवल चैतन्य है ।

भक्त : जब यह प्रकट होती है तब क्या हम उसे जान सकते हैं ?

म० : हाँ, जागरूकता के रूप में । तुम अभी भी वही हो । जब वह विशुद्ध होगी तब कोई भ्रान्ति नहीं होगी ।

भक्त : ध्यान के लिए 'हृदय' जैसे स्थान की आवश्यकता क्यों ?

म० : क्योंकि तुम्हारा लक्ष्य चैतन्य है । यह तुम्हें कहाँ प्राप्त होगा ? क्या यह बाहर प्राप्त हो सकता है ? तुम्हें इसकी खोज अन्दर करनी है । इसलिए तुम्हें अन्तर्मुख किया जाता है । फिर केवल हृदय ही चैतन्य का केन्द्र है अथवा स्वयं चैतन्य है ।

भक्त : हम किसका ध्यान करें ?

म० : ध्याता कौन है ? पहले यह प्रश्न करो । ध्याता बने रहो । ध्यान की आवश्यकता नहीं रहेगी ।

२०६. इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिक-शास्त्र के प्रवक्ता श्री बी० सी० दास ने जिज्ञासा की : "क्या मनुष्य के साथ ही बुद्धि का उदय एवं पतन नहीं होता ?"

म० : बुद्धि किसकी है ? वह मनुष्य की है । बुद्धि यन्त्र मात्र है ।

भक्त : हाँ । क्या यह निधन के बाद भी रहती है ?

म० : मृत्यु का विचार क्यों करते हो ? सुषुप्ति में क्या होता है, इसे देखो । वहाँ तुम्हारा क्या अनुभव है ?

भक्त : किन्तु निद्रा अस्थायी है, जबकि मृत्यु नहीं है ।

म० : निद्रा दो जाग्रत अवस्थाओं के मध्य की अवस्था है, इसी प्रकार मृत्यु दो लगातार जन्मों के मध्य की अवस्था है । दोनों ही अस्थायी हैं ।

भक्त : मेरा आशय यह था कि जब आत्मा देहमुक्त हो जाती है तो क्या बुद्धि भी उसके साथ जाती है ?

म० : आत्मा देह मुक्त नहीं होती । अन्तर शरीरों का है । वह स्थूल शरीर न रहे, तब वह सूक्ष्म शरीर होगा, जिस प्रकार निद्रा में, स्वप्न में तथा दिन के स्वप्न में । बुद्धि में परिवर्तन नहीं होता । परिस्थितियों के अनुसार शरीर में अन्तर हो सकता है ।

भक्त : आत्मा के साथ रहने वाला क्या सूक्ष्म शरीर है ?

म० : बुद्धि अभी भी सूक्ष्म शरीर है।

भक्त : यह कैसे हो सकता है ?

म० : क्यों नहीं ? तुम ऐसा सोचते दीखते हो कि बुद्धि शरीर के समान सीमित नहीं है। वह कुछ तत्त्वों का केवल समूह है। सूक्ष्म शरीर इसके अतिरिक्त और क्या है ?

भक्त : किन्तु बुद्धि एक कोष है ?

म० : हाँ। बिना बुद्धि के किसी कोष का भान सम्भव नहीं है। यह कौन कहता है कि पाँच कोष हैं ? क्या बुद्धि ही ऐसा नहीं कहती ?

२०७. केवल गहन निद्रा ही अद्वैत की अवस्था है। क्या वहाँ जीव तथा परमात्मा का भेद रहता है ? निद्रा में समस्त भेदों की विस्मृति हो जाती है। केवल यही आनन्द है। देखो इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए किस सावधानी से लोग शैय्या तैयार करते हैं। कोमल बिछावन, तकिए आदि का उद्देश्य गहन निद्रा लाना है, तात्पर्य जागृति को समाप्त करना है। तथापि स्वयं गहन निद्रा की अवस्था में कोमल शैय्या आदि का कोई उपयोग नहीं है। इसका भाव यह है कि सारे प्रयत्नों का तात्पर्य केवल अज्ञान को नष्ट करना है। साक्षात्कार के उपरान्त उनका कोई उपयोग नहीं है।

२०८. व्यक्ति का स्वयं को समर्पण करना ही पर्याप्त है। समर्पण का अभिप्राय है अपने अस्तित्व के मूल स्रोत में स्वयं को दे देना। यह मूल स्रोत तुमसे बाहर किसी ईश्वर में है ऐसी कल्पना कर स्वयं को भ्रान्त मत करो। स्वयं का मूल स्रोत स्वयं में ही है। स्वयं को इसके प्रति समर्पण कर दो। इसका आशय यह है कि मूल स्रोत की खोज कर उसमें विलीन हो जाओ। चूँकि तुम स्वयं को इससे बाहर मानते हो इसलिए प्रश्न उठाते हो "मूल स्रोत कहाँ है ?" कुछ व्यक्ति तर्क करते हैं कि शक्कर स्वयं अपनी मधुरता आस्वादन नहीं कर सकती इसलिए अन्य व्यक्ति की इसका स्वाद व आनन्द लेने हेतु आवश्यकता है। इसी प्रकार व्यक्ति परमात्मा बनकर स्वयं ही उस अवस्था का आनन्द नहीं ले सकता। अतः एक ओर तो व्यक्ति होना चाहिए; तथा दूसरी ओर परमात्मा, जिससे कि आनन्द की अनुभूति सम्भव हो ! क्या ईश्वर शक्कर की भाँति जड़ है ? यह कैसे हो सकता है कि कोई अपना समर्पण कर दे और फिर भी परमानन्द के लिए अपने पृथक व्यक्तित्व को भी बनाये रखे ? वे यह भी कहते हैं कि आत्मा दिव्य लोक में प्रवेश तथा निवास कर परमात्मा की सेवा करती है। क्या 'सेवा' शब्द से परमात्मा को धोखा दिया जा सकता है ? क्या परमात्मा यह भी नहीं जान सकता है ? क्या वह ऐसे

व्यक्तियों की सेवा की प्रतीक्षा कर रहा है ? क्या वह—शुद्ध चैतन्य—उत्तर में यह नहीं पूछेगा : "मुझसे पृथक तुम कौन हो जो मेरी सेवा करने का साहस करते हो ?"

इसके अतिरिक्त उनकी यह मान्यता है कि जीवात्मा अहंकार से शून्य होकर ईश्वर की देह बनने योग्य हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर आत्मा है तथा शुद्ध जीवात्मा उसकी देह तथा अंग हैं। क्या आत्माओं का भी आत्मा होना सम्भव है ? आत्माएँ कितनी हैं ? इसका उत्तर होगा, जीवात्मा अनेक हैं और परमात्मा एक है।" इस दशा में आत्मा क्या है ? यह देह आदि तो नहीं हो सकता। इन सबके निवारण के पश्चात जो अवशेष रहता है उसे ही आत्मा कहना चाहिए। इस प्रकार उस आत्मा के साक्षात्कार के उपरान्त भी जिसका हटाना असम्भव है उस सर्वोत्कृष्ट आत्मा का अस्तित्व मानना आवश्यक है। उस अवस्था में अन्य समस्त अनात्म पदार्थों को हटा कर आत्मा का अन्तिम सत्य के रूप में किस प्रकार साक्षात्कार किया गया था ? यदि यह सही है तो जिस आत्मा को अविच्छेद्य सत्य कहा गया था वह सत्य आत्मा नहीं है। यह सब भ्रान्ति 'आत्मा' शब्द के प्रयोग से हुई है। एक ही शब्द 'आत्मा' को देह, इन्द्रिय, मन, जीवन के नियम, जीवात्मा तथा ब्रह्म के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस शब्द के विस्तृत प्रयोग से यह भावना उत्पन्न हुई है कि जीवात्मा परमात्मा की देह है। "अहमात्मा गुडाकेश सर्व-भूताशयस्थितः"……………(भगवद्गीता १०-२०) हे अर्जुन ! मैं सब जीवों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ। इस श्लोक का भाव है, परमात्मा सब जीवों का आत्मा है। क्या यहाँ "आत्माओं का आत्मा" कहा गया है ? इसके विपरीत यदि तुम आत्मा में विलीन हो जाओ तो जीवत्व नहीं रहेगा। तुम स्वयं ही मूल स्रोत बन जाओगे। उस अवस्था में समर्पण क्या है ? कौन क्या समर्पण करेगा और किसको ? यही भक्ति, ज्ञान तथा खोज (आत्म विचार) है।

वैष्णवों में भी सन्त नम्मलवार का कथन है, मैं 'मैं' और 'मेरा' की भूल-भुलैया में चिपका हुआ था; मैं अपनी आत्मा को बिना जाने भटकता रहा। निज आत्मा का साक्षात्कार कर मैं समझा मैं स्वयं तुम हो एवं मेरे केवल तुम हो।

इस प्रकार तुम देखते हो कि भक्ति अपने स्वरूप को जानने से अधिक कुछ नहीं है। विशिष्टाद्वैत भी इसे स्वीकार करता है। फिर भी परम्परागत सिद्धान्त को मानने के कारण वे जीवों को परमात्मा के अंश अथवा अंग के रूप में मानते हैं। परम्परावादी सिद्धान्त जीवात्मा की शुद्धि की आवश्यकता पर बल देता है। उसके उपरान्त परमात्मा के प्रति समर्पण का निर्देश करता है; तब अहंकार नष्ट हो जाता है तथा मृत्योपरान्त व्यक्ति विष्णु लोक को

प्राप्त करता है; एवं अन्ततः परमात्मा अथवा अनन्त के आनन्द को प्राप्त करता है।

स्वयं को मूल स्रोत से पृथक मानना अपने आप में धृष्टता है; यह मान्यता कि अहंकार निवृत्ति से मनुष्य शुद्ध बन जाता है तथा परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति तथा परमात्मा की सेवा हेतु अपना व्यक्तित्व पृथक सुरक्षित रखता है, धूर्त्ततापूर्ण छल है। यह कितने धोखे की बात है कि पहले जो वास्तव में उसका है उसका स्वामी बने, और तब उसकी अनुभूति एवं सेवा की वंचना करे। क्या यह सब पहले से ही परमात्मा को ज्ञात नहीं ?

१९ जून, १९३६

२०९. भौतिक-शास्त्र के प्रवक्ता श्री बी० सी० दास ने स्वतन्त्र संकल्प तथा प्रारब्ध के सम्बन्ध में प्रश्न किया।

म० : यह किसका संकल्प है ? तुम कहोगे, 'यह मेरा है।' तुम संकल्प तथा प्रारब्ध से परे हो। शुद्ध स्वरूप में रहो तो तुम दोनों से परे हो। इच्छा-शक्ति से प्रारब्ध पर विजय पाने का यही तात्पर्य है। भाग्य पर विजय पाना सम्भव है। भाग्य पूर्व-कृत कर्मों का परिणाम है। सत्संग से बुरे संस्कारों पर विजय प्राप्त होती है। तब अपने अनुभव वास्तविक रूप में दीखते हैं।

अब मैं हूँ। मैं भोक्ता हूँ। मैं कर्म फल भोगता हूँ। मैं भूतकाल में था तथा भविष्य में भी होऊँगा। यह 'मैं' कौन है ? इस 'मैं' को शुद्ध चैतन्य रूप खोज लेने के उपरान्त तथा कर्म एवं फल से परे जानकर मुक्ति तथा आनन्द की उपलब्धि होती है। तदुपरान्त किसी प्रयास की अपेक्षा नहीं रहती, कारण, आत्मा पूर्ण है तथा अन्य कुछ प्राप्त करना नहीं रहता।

जब तक व्यक्तित्व रहता है, वह भोक्ता तथा कर्ता रहता है। इसके नष्ट होते ही दिव्य शक्ति व्याप्त होकर घटना-क्रम को निर्देशित करती है। जिन्हें दिव्य शक्ति की अनुभूति नहीं होती उनको वह व्यक्ति प्रतीत होता है। संयम तथा अनुशासन अन्य व्यक्तियों के लिए है मुक्त के लिए नहीं।

शास्त्रीय आचार निर्देशों में स्वतन्त्र संकल्प को 'अच्छा' बताया गया है। इससे भाग्य पर विजय पायी जा सकती है। ऐसा ज्ञान से होता है। ज्ञान की अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। सत्संग अथवा उसके मानसिक वातावरण से विवेक प्राप्त होता है।

२१०. मनुष्य के क्रियाकलाप एक अन्य शक्ति द्वारा संचालित होते हैं, जबकि वह यह मानता है कि वह स्वयं ही समस्त कार्य कर रहा है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार एक लँगड़ा आदमी जो यह दम्भ करता है कि यदि उसे कोई खड़ा कर दे तो वह युद्ध कर शत्रुओं को खदेड़ देगा। कर्म वासना से

होता है, वासनाएँ अहंकार के उदय होने के बाद ही उठती हैं; तथा अहंकार का मूल दिव्य शक्ति है जिस पर इसका अस्तित्व निर्भर है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तब यह बड़बड़ाना क्यों ? "मैं करता हूँ। मैं कार्य सम्पादन करता हूँ अथवा मैं कार्य संचालन करता हूँ।"

आत्मज्ञानी पुरुष निश्चयात्मक रूप से जगत का कल्याण करता है। उसका अस्तित्व मात्र ही परम शुभ है।

२११. भौतिक-शास्त्र के प्रवक्ता श्री बी० सी० दास ने जिज्ञासा की : "योग का अर्थ है ऐक्यता। मुझे आश्चर्य है किसकी किससे ऐक्यता।"

म० : निसन्देह। योग से अभिप्राय है पूर्व वियोग तथा तदुपरान्त संयोग। किससे किसका योग होना है ? तुम जिज्ञासु हो, किसी वस्तु से ऐक्यता करना चाहते हो। वह वस्तु तुमसे पृथक है। तुम्हारी आत्मा तुम्हारा अन्तरंग है। तुम्हें आत्मा का भान है। इसको खोजो तथा वही हो जाओ। तब वह अनन्त विस्तार को प्राप्त होगा। तदुपरान्त योग आदि का कोई प्रश्न नहीं रहेगा। वियोग किसका है ? यह खोज करो।

भक्त : क्या पत्थर आदि सर्वदा इसी रूप में रहेंगे ?

म० : पत्थरों को कौन देखता है ? तुम्हारी इन्द्रियाँ उनका अनुभव करती हैं, जिनको प्रेरित करने वाला तुम्हारा मन है। इस प्रकार वे तुम्हारे मन में हैं। यह मन किसका है ? यह प्रश्नकर्ता स्वयं ही खोजे। यदि आत्मा की अनुभूति हो जाय तब यह प्रश्न नहीं उठेगा।

दृश्यों की अपेक्षा आत्मा अधिक अन्तरंग है। दृष्टा को खोज लो, दृश्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेंगे। प्रत्येक व्यक्ति दृश्यों को अपने दृष्टिकोण से देखता है और सिद्धान्त विकसित होते हैं। किन्तु दृष्टा कौन है, जिसे इन सिद्धान्तों का बोध है। वह तुम हो। अपनी आत्मा को जानो। तब मन की इन चपलताओं का अन्त होगा।

भक्त : मन क्या है ?

म० : संकल्पों का समूह।

भक्त : इसकी उत्पत्ति कहाँ से है ?

म० : आत्म-चैतन्य से।

भक्त : तब संकल्प सत्य नहीं हैं।

म० : वे नहीं हैं। केवल आत्मा ही एकमात्र सत्य है।

२१२. महर्षि ने कहा :—

प्रदक्षिणा का अभिप्राय है (हिन्दुओं की यह प्रणाली जिसमें पूजा के स्थान की परिक्रमा की जाती है) "सर्व मुझ में है।" अरुणाचल की परिक्रमा का

वास्तविक महत्त्व उतना ही प्रभावशाली है जितना संसार की परिक्रमा का। आशय यह है कि सारा जगत इस पर्वत में समाया हुआ है। अरुणाचल मन्दिर की प्रदक्षिणा भी उतनी ही उत्तम है।

इसी प्रकार स्वपरिक्रमा (एक स्थान पर घूमना) भी उतना ही उत्तम है। आत्मा में ही सर्वस्व निहित है। ऋभु गीता का कथन है, "मैं अचल हूँ तथा असंख्य ब्रह्माण्ड मेरे मन की कल्पना बनकर मेरे अन्दर घूम रहे हैं। यह ध्यान उच्चतम प्रदक्षिणा है।"

२० जून, १६३६

२१३. श्री बी० सी० दास ने पूछा कि निरन्तर प्रयास के उपरान्त भी मन अन्तर्मुखी क्यों नहीं हो पाता ?

म० : यह अभ्यास तथा वैराग्य से होता है तथा क्रमशः होता है। मन दूसरों के खेत पर चोरी से चरने की बहुत दिनों से आदी गाय के समान स्वतः अपने ठान पर आसानी से नहीं आ पाता। गौ-पालक कितना ही स्वादिष्ट चारा, दाना देकर उसे लुभाये, गाय आरम्भ में आकृष्ट नहीं होगी। फिर वह किंचित अंश ग्रहण करेगी। किन्तु उसका भटकने का स्वभाव बना रहता है, और वह भाग जाती है। बारम्बार लुभाये जाने पर वह ठान पर रुकने लगेगी। अन्ततः स्वतन्त्र किये जाने पर भी वह नहीं भटकेगी। मन के साथ भी ऐसा ही है। यदि यह एक बार आन्तरिक आनन्द प्राप्त कर ले फिर वह बाहर नहीं भटकेगा।

२१४. प्रायः आने वाले एक यात्री श्री एकनाथ राव ने जिज्ञासा की : क्या ध्यान में परिस्थिति के अनुसार उतार-चढ़ाव नहीं होते ?

म० : हाँ। होते हैं। अनेक बार प्रकाश होता है और तब ध्यान सुलभ होता है। फिर अनेक बार बारम्बार प्रयास करने से भी ध्यान नहीं हो पाता। यह त्रिगुणों का प्रभाव है।

भक्त : क्या यह व्यक्ति के क्रियाकलाप तथा परिस्थितियों से भी प्रभावित होता है ?

म० : वे उसे प्रभावित नहीं कर सकतीं। मैं कर्ता हूँ की भावना—कर्तृत्व बुद्धि ही इसमें रुकावट डालती है।

२२ जून, १६३६

२१५. जी० यू० पोप द्वारा "तिरुवाचकम" का अनुवाद पढ़ते समय महर्षि के समक्ष वे छन्द आये जिनमें तीव्र भक्ति का वर्णन है जो सारे शरीर को रोमांचित कर माँस, अस्थि आदि को पिघला देती है।

महर्षि ने कहा : "मनिकवसागर उन पुरुषों में से है जिनकी देह अन्ततः प्रदीप्त प्रकाश में पीछे शव छोड़े बिना द्रवित हो गयी ।

एक दूसरे भक्त ने पूछा ऐसा कैसे हो सकता है ?

महर्षि ने कहा : स्थूल शरीर सूक्ष्म पदार्थ-मन का ही मूर्त्त रूप है । जब मन घुल जाता है और प्रदीप्त हो प्रकाशमय हो उठता है, तब इस प्रक्रिया में शरीर भस्मीभूत हो जाता है । नन्दनार दूसरे हैं जिनका शरीर इस ज्योति के प्रकाश में अदृश्य हो गया ।

मेजर चैडविक ने बताया कि एलिशा इसी प्रकार अदृश्य हुई थी । उन्होंने जिज्ञासा की कि क्या ईसामसीह की देह भी कब्र में से इसी प्रकार अदृश्य हुई थी ।

म० : नहीं । ईसा ने शव छोड़ा था जिसे पहले कब्र में गाढ़ा गया था, जबकि दूसरों ने पीछे शव नहीं छोड़ा था ।

वार्ता के मध्य महर्षि ने बताया कि सूक्ष्म शरीर, बिन्दु तथा नाद से निर्मित हुआ है तथा स्थूल शरीर उसी का मूर्त्त रूप हैं ।

भौतिक-शास्त्र के प्रवक्ता ने जिज्ञासा की कि क्या उक्त बिन्दु तथा नाद इन्द्रिय ग्राह्य हैं ?

म० : नहीं । वे इन्द्रियों से परे हैं । यह इस प्रकार है :

	ईश्वर	**जीव**
स्थूल	जगत	देह
सूक्ष्म	नाद, बिन्दु	मन, प्राण
मूल	आत्मा परम	आत्मा परम

अन्ततः वे एक ही हैं ।

सृष्टिकर्ता का सूक्ष्म शरीर रहस्यमय नाद प्रणव हैं जो नाद तथा बिन्दु है । ब्रह्माण्ड नाद तथा बिन्दु में लय होता है तथा तदुपरान्त परम में ।

२१६. महर्षि ने अरुणाचल का अर्थ बताया : अरुण=लाल, अग्नि के समान दीप्त । यह अग्नि सामान्य अग्नि के समान नहीं जो केवल उष्ण है । यह ज्ञानाग्नि है जो न उष्ण है न शीतल ।

अचल=पर्वत ।

इस प्रकार इसका अर्थ है ज्ञान का पहाड़ ।

२९ जून, १९३६

२१७. बम्बई के इंजीनियर श्री ए० बोस ने जिज्ञासा की : क्या महर्षि को हम पर करुणा आती है एवं हम पर अनुग्रह करेंगे ।

म० : तुम गले तक जल में डूबे हुए हो फिर भी जल के लिए व्याकुल हो । यह कहना ऐसा ही है जैसे जल में गले तक होने वाले व्यक्ति को प्यास लगे अथवा जल में मीन को प्यास लगे अथवा स्वयं जल को ही प्यास लगे ।

भक्त : व्यक्ति मन का नाश कैसे करे ?

म० : पहले यह देखो मन है भी । जिसे तुम मन कहते हो वह भ्रान्ति है । यह अहम् भाव से उदय होता है । स्थूल अथवा सूक्ष्म इन्द्रियों के बिना तुम्हें देह तथा मन का भान नहीं होगा । तथापि इन इन्द्रियों के अभाव में भी तुम्हारा अस्तित्व सम्भव है । ऐसी अवस्था में तुम या तो सुषुप्त होते हो अथवा तुम्हें केवल अपनी आत्मा का ही भान रहता है । आत्म-जाग्रति सदैव है । जैसा तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है, वैसे रहो फिर यह प्रश्न नहीं उठेगा ।

भक्त : क्या देह का भान साक्षात्कार में बाधा है ?

म० : हम सदैव ही देह तथा मन से परे हैं । पर यदि तुम देह को आत्मा मानते हो तो निश्चय ही यह उसमें बाधा है ।

भक्त : क्या देह तथा मन का आत्मा के लिए कुछ उपयोग है ?

म० : हाँ, जहाँ तक आत्म-साक्षात्कार में सहायक हो ।

३० जून, १९३६

२१८. आज महर्षि "शिवपुराण" पढ़ते रहे । वे कहते हैं : शिव के निर्गुण तथा सगुण रूप क्रमशः निराकार तथा लिंगाकार हैं । लिंग मूल अरुणाचल के रूप में प्रकट हुआ जो आज भी यथावत् है । यह प्रागट्य जब चन्द्रमा आर्द्र नक्षत्र में था, दिसम्बर के माह में, तब हुआ । तथापि आराधना सर्वप्रथम शिवरात्रि को हुई जो पर्व आज भी पवित्र माना जाता है ।

नाद क्षेत्र में प्रणव (ॐ) निर्गुण रूप को व्यक्त करता है तथा पञ्चाक्षरी (ॐ नमः शिवाय) सगुण रूप । महर्षि ने पार्वती द्वारा राम की परीक्षा के प्रसंग का पुनः वर्णन किया । कथा इस प्रकार है :

राम तथा लक्ष्मण सीता की खोज में वन में भटक रहे थे । राम शोक-संतप्त थे । संयोगवश शिव तथा पार्वती समीप से निकले । शिव ने राम को प्रणाम किया तथा आगे बढ़ गये । पार्वती को आश्चर्य हुआ । उन्होंने शिव से जिज्ञासा की कि जगत के स्वामी तथा सबके द्वारा पूज्यनीय होकर भी आप एक सामान्य मनुष्य राम के समक्ष प्रणाम करने के लिए क्यों नत-मस्तक हुए जो

एक असहाय की भाँति पत्नी-वियोग में दुःखी होकर भटक रहे थे। तब शिव ने कहा : राम केवल ऐसा आचरण करके दिखा रहे हैं जैसा इस परिस्थिति में एक साधारण मनुष्य करेगा। वे निश्चय ही विष्णु के अवतार हैं अतः नमन के पात्र हैं। यदि तुम चाहो तो उनकी परीक्षा कर लो।

पार्वती ने इस विषय पर विचार कर, सीता का रूप धारण कर लिया तथा वियोग-संतप्त राम जब सीता का नाम पुकार रहे थे, उनके सम्मुख प्रकट हुईं। उन्होंने पार्वती की ओर देखकर जो सीता का वेश धारण किये हुए थीं, मुस्करा कर पूछा 'सीता' तुम यहाँ कैसे ? शम्भू कहाँ हैं ? तुमने सीता का वेश क्यों धारण किया ? पार्वती लजा गयीं तथा उन्होंने बताया कि किस प्रकार वे उनकी परीक्षा करने आयीं तथा यह भी पूछा कि शिव ने उन्हें क्यों प्रणाम किया।

राम ने उत्तर दिया : "हम सब शिव के स्वरूप हैं। उनके समक्ष हम उनकी पूजा करते हैं तथा परोक्ष में उनका नाम स्मरण।"

२१६. रामकृष्ण स्वामी पुराने आश्रमवासी शिष्य ने पंचश्लोकी में से एक श्लोक "त्वैयारूणाचल सर्वम्" का अर्थ पूछा।

महर्षि ने विस्तार से स्पष्ट किया कि जगत परदे पर बने एक चित्र के समान है। परदा—लाल पहाड़ अरुणाचल है। जो उदय तथा अस्त होता है वह उससे बना है जिससे वह उदय होता है। विश्व की अन्तिमता भगवान अरुणाचल है। उसका ध्यान अथवा दृष्टा आत्मा का ध्यान करते समय चित्त में 'मैं' की तरंग दीखती है जिसमें सब समा जाते हैं। 'मैं' के स्रोत का अनुसन्धान करने से केवल शुद्ध 'मैं' ही अवशिष्ट रहता है जो अनिर्वचनीय है। साक्षात्कार का स्थान अपने अन्दर है तथा साधक इसे अपने से बाहर पदार्थ के रूप में नहीं पा सकता। वह स्थान आनन्द है तथा वही सर्व प्राणियों का आन्तरिक है। अतः इसे हृदय कहते हैं। वर्तमान जीवन का एकमात्र उपयुक्त उद्देश्य अन्तर्मुख हो, इसे साक्षात करना है। और कुछ भी नहीं करना है।

भक्त : संस्कारों को कैसे निर्मूल करें ?

म० : साक्षात्कार में तुम उस अवस्था में होते हो।

भक्त : क्या इसका आशय यह है कि आत्मभाव में दृढ़तापूर्वक रहने से संस्कार उदय होते ही भस्म हो जायेंगे।

म० : यदि तुम केवल अपने शुद्ध स्वरूप में रहो तो वह स्वतः ही भस्म हो जायेंगे।

१ जुलाई, १९३६

२२०. भौतिक-शास्त्र के प्रवक्ता श्री बी० सी० दास ने पूछा : मन के संयम से ध्यान सम्भव है तथा केवल ध्यान से ही मन का संयम हो सकता है। क्या यह एक दूषित चक्र नहीं है ?

म० : निश्चय ही वे एक-दूसरे पर आश्रित हैं। वे साथ ही रहते हैं। अभ्यास तथा वैराग्य से क्रमशः फल प्राप्त होता है। वैराग्य के अभ्यास से मन को बाहर भटकने से रोका जाता है; अभ्यास से उसे अन्तर्मुख करते हैं। संयम तथा ध्यान में संघर्ष होता है। यह निरन्तर अन्दर चलता ही रहता है। अन्ततः ध्यान की विजय होगी।

भक्त : प्रारम्भ कैसे करें ? उसके लिए आपका अनुग्रह आवश्यक है।

म० : अनुग्रह सदैव ही है। महर्षि ने उद्धृत किया—"वैराग्य की प्राप्ति, सत्य का साक्षात्कार तथा आत्मा में संस्थिति गुरु-कृपा के बिना सम्भव नहीं।"

अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास एक दुष्ट सांड़ को स्वादिष्ट चारे से लुभाकर निज ठान में रोके रख भटकने से बचाने जैसा प्रशिक्षण है।

तत्पश्चात महर्षि ने "तिरूवाचकम्" में से एक छन्द पढ़ा जो मन को सम्बोधित है : हे गुंजन करने वाली मधुमक्खी (अर्थात् मन) तुम असंख्य पुष्पों से नन्हें बिन्दु एकत्रित करने का कष्ट क्यों करती हो ? उस एक के स्मरण, दर्शन तथा चर्चा मात्र से सारे मधुकोष का भण्डार ही उपलब्ध हो जायगा। उसके अन्दर प्रवेश करो और उसका हुँकार करो।

भक्त : क्या ध्यान के समय मन में आकार तथा उसके साथ ही परमात्मा के नाम का स्मरण व जप भी हो सकता है ?

म० : ध्यान के अतिरिक्त और कौन-सी मानसिक कल्पना है ?

भक्त : क्या रूप के साथ-साथ मन्त्रों का जाप अथवा दैवी गुणों का स्मरण भी आवश्यक है ?

म० : यदि जप की प्रबल प्रवृत्ति है तो वाचिक जप मानसिक बन जाता है जो ध्यान के समान ही है।

२२१. श्री बोस : रूप का अर्थ द्वैत हुआ। क्या यह उपयुक्त है ?

म० : जो इस प्रकार के प्रश्न करता है उसे खोज का मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर रहेगा। उसके लिए आकार उपयुक्त नहीं है।

भक्त : मेरे ध्यान के बीच में शून्य की अनुभूति होती है; मुझे कोई आकार नहीं दीखता।

म० : हाँ, नहीं होता।

भक्त : शून्य क्या है ?

म० : शून्य कौन देखता है ? तुम ही वहाँ हो। जागरूकता शून्य को अनुभव करती है।

भक्त : क्या इसका अर्थ यह है कि मुझे और अधिक गहराई में जाना चाहिए ?

म० : हाँ । किसी क्षण तुम नहीं हो ऐसा नहीं होता ।

२ जुलाई, १९३६

२२२. डा० पोपट लाल लोहारा, एक यात्री ने "उपदेश सार" तथा अन्य ग्रन्थ पढ़े हैं तथा उनके अनुसार वे लगभग १५०० साधु, सन्त तथा योगियों के दर्शन कर चुके हैं । त्र्यम्बक में एक साधु ने उनसे कहा कि उसे अभी ऋण चुकाना है; ऋण से मुक्त होने पर उसे साक्षात्कार होगा । उनके अनुमान से उनके पुत्र का विवाह ही एकमात्र ऋण था । उसके हो जाने से वह अब कर्म-जन्य ऋण से मुक्त हुए अनुभव करते हैं । अतः वे मानसिक अशान्ति से मुक्ति हेतु महर्षि से मार्गदर्शन चाहते हैं, जो कि ऋण न होने पर भी बनी हुई है ।

म० : तुमने "उपदेश सार" का कौन-सा संस्करण पढ़ा ?

भक्त : संस्कृत संस्करण ।

म० : उसमें तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है ।

भक्त : मेरा मन किसी भी प्रयास से स्थिर नहीं होता । मैं १९१८ से प्रयास कर रहा हूँ ।

महर्षि ने "उपदेश सार" से उद्धृत किया : "मन का हृदय में विलीन होना ही पुण्यशील कर्म है, भक्ति है, योग है तथा ज्ञान है । संक्षेप में यही पूर्ण सत्य है ।

भक्त : मेरी आनन्द की खोज को इससे सन्तोष नहीं होता । मैं अपने मन को स्थिर रखने में असमर्थ हूँ ।

महर्षि ने पुनः उसी पुस्तक में से उद्धृत किया : "मन क्या है, इसकी निरन्तर खोज, मन को विलीन कर देती है । यह सीधा मार्ग है ।"

भक्त : तब मन की खोज कैसे करें ?

म० : मन केवल संकल्पों का समूह है। संकल्पों का मूल 'अहम् भाव' में है । उन्होंने उद्धृत किया : "जो अहम् भाव के मूल की शोध करता है उसका अहंकार नष्ट हो जाता है । यही वास्तविक शोध है ।" तब सत्य "मैं" स्वयं प्रदीप्त हो उठता है ।

भक्त : यह अहम् भाव मुझसे उदय होता है । परन्तु मैं आत्मा को नहीं जानता ।

म० : यह सब मानसिक कल्पनाएँ मात्र हैं । इस समय तुम स्वयं की मिथ्या 'अहम्' से अर्थात् 'अहम् भाव' के साथ तादात्म्यता कर रहे हो । यह 'अहम् भाव' उदय तथा अस्त होता रहता है, जबकि 'मैं' का वास्तविक

महत्त्व इन दोनों से परे है । तुम्हारे अस्तित्व में कभी व्यवधान नहीं हो सकता । तुम जो सो रहे थे अब जाग्रत में भी वही हो । तुम्हारी गहरी निद्रा में तुम्हें कोई दुःख नहीं था । जबकि अब वह है । अब ऐसा क्या हुआ कि यह अन्तर अनुभूत होता है ? सुषुप्ति में तुमको 'अहम् भाव' नहीं था जो अब विद्यमान है । सत्य 'मैं' स्पष्ट नहीं है तथा मिथ्या 'मैं' अपना प्रदर्शन कर रहा है : यह मिथ्या 'मैं' तुम्हारे सत्य ज्ञान में बाधक है । यह मालूम करो कि यह मिथ्या 'मैं' कहाँ से उदय हुआ । तब यह लुप्त हो जायगा । तुम जो है वही रहोगे तो वह शुद्ध अस्तित्व अर्थात् आत्मा है ।

भक्त : इसका क्या साधन है ? मैं अभी तक सफल नहीं हो पाया ।

म० : 'अहम् भाव' के मूल को खोजो । बस इतना ही करना है । 'अहम् भाव' के कारण ही संसार दीखता है । यदि इसका अन्त हो जाय तो क्लेशों का भी अन्त हो जाय । मिथ्या 'मैं' तभी नष्ट होगा जब इसके स्रोत की खोज करोगे ।

डा० लोहारा ने "उपदेश सार" के एक श्लोक का अर्थ पूछा :

म० : जो सुषुप्ति में था अब जागृति में भी है । सुषुप्ति में आनन्द था, परन्तु जागृति में क्लेश है । सुषुप्ति में 'अहम् भाव' नहीं था; पर अब जागृति में 'अहम् भाव' विद्यमान है । सुषुप्ति में आनन्द की अवस्था का होना तथा 'अहम भाव' का अभाव बिना प्रयास के था । लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह स्थिति जागृति में भी लायी जा सके । इसके लिए प्रयास की आवश्यकता है ।

<table>
<tr><th>सुषुप्ति</th><th>जागृति</th><td rowspan="4">जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्त हो जाओ और यही साक्षात्कार है । प्रयास वास्तविक 'मैं' को प्रकट करने के लिए नहीं, अहम् भाव को नष्ट करने के लिए किया जाता है । चूँकि सत्य 'मैं' नित्य है तथा उसकी प्राप्ति हेतु तुम्हें कोई प्रयास नहीं करना है ।</td></tr>
<tr><td>अनायास</td><td>........</td></tr>
<tr><td>आनन्द</td><td>आनन्द का अभाव</td></tr>
<tr><td>अहम् भाव का अभाव</td><td>'अहम् भाव'</td></tr>
</table>

२२३. डा० लोहारा : ध्यान करते समय भी मन हृदय में अस्त क्यों नहीं होता ?

म० : तैरती हुई वस्तु वास्तव में नहीं डूबती जब तक इस हेतु कुछ प्रयास नहीं किया जाय । प्राणायाम से मन शान्त हो जाता है । जब मन शान्त हो तब भी इसे सावधान रखा जाय तथा सतत ध्यान किया जाय । तब यह हृदय में अस्त होगा । अन्यथा तैरती हुई वस्तु पर भार लादकर नीचे डुबोया जाता है । इसी प्रकार सत्संग भी मन को हृदय में अस्त करता है ।

ऐसा सत्संग शारीरिक तथा मानसिक दोनों होता है। गुरु-मूर्त्ति का प्रभावपूर्ण रूप मन को अन्तर्मुख करता है। साधक के हृदय में भी होने से वह उसके अन्तर्मुखी मन को हृदय में खींचता है।

यह प्रश्न तभी पूछा जाता है जब मनुष्य ध्यान प्रारम्भ करता है तथा वह उसे कष्टसाध्य लगता है। उसके थोड़े-से प्राणायाम करने से मन शुद्ध हो जायगा। उसके अब हृदय में अस्त होने में सुप्त संस्कार बाधक हैं। प्राणायाम तथा सत्संग से यह दूर हो जाते हैं। वस्तुतः मन सदैव हृदय में रहता है किन्तु सुप्त संस्कारों के कारण यह अशान्त तथा चंचल रहता है। संस्कारों को निष्फल कर देने से मन सुखदायक तथा शान्त हो जाता है।

प्राणायाम से मन अल्पकाल के लिए ही शान्त होगा क्योंकि संस्कार तब भी विद्यमान हैं। मन का आत्मा में रूपान्तर हो जाने पर फिर मन कष्ट नहीं देगा। यह ध्यान से किया जाता है।

२२४. एक शिष्य ने जिज्ञासा की कि अपने स्वयं के स्वाभाविक मूल स्वरूप को किस प्रकार पहचानें।

म० : समस्त संकल्पों से शून्य अवस्था ऐसी पहचान कराने में सहायक होगी।

(परिचारक की डायरी से)

२२५. श्री भगवान तथा रंगास्वामी, एक परिचारक जब चट्टानों पर थे तब श्री भगवान ने आश्रम में किसी व्यक्ति को झूलने वाली कुर्सी पर झूलते हुए देखा। उन्होंने परिचारक से कहा :

"शिव अपनी सर्व सम्पत्ति विष्णु को प्रदान कर निर्जन वन व श्मशान में भ्रमण करते रहे तथा भिक्षा से जीवनयापन करने लगे। उनकी दृष्टि में सुख के माप में वस्तुओं के परिग्रह की तुलना में अपरिग्रह ही उच्चतर सुख है।

भक्त : वह उच्चतर सुख क्या है ?

म० : चिन्ताओं से मुक्ति। परिग्रह से चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं जैसे उसकी रक्षा तथा उपयोग आदि। अपरिग्रह में कोई चिन्ता ही नहीं होती। इसलिए शिव विष्णु के निमित्त सर्वस्व त्यागकर स्वयं आनन्द सहित चले गये। सम्पत्ति से वंचित होना सर्वोच्च आनन्द है।

३ जुलाई, १९३६

२२६. तिरुकोइलूर के एक यात्री ने जिज्ञासा की कि क्या धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन से सत्य प्रकट हो सकता है।

म० : यह पर्याप्त नहीं होगा।

भक्त : क्यों नहीं ?

म० : यह केवल समाधि से प्रकट होगा। संकल्प सत्यता को आवृत्त कर लेते हैं अत: समाधि के अतिरिक्त किसी अन्य अवस्था में वह स्पष्ट नहीं हो सकता।

भक्त : क्या समाधि में संकल्प होता है ? अथवा नहीं होता ?

म० : वहाँ केवल 'मैं अस्तित्व हूँ' की भावना होती है अन्य कोई संकल्प नहीं।

भक्त : क्या 'मैं अस्तित्व हूँ' संकल्प नहीं है ?

म० : अहंकार शून्य 'मैं अस्तित्व हूँ' संकल्प नहीं है। यह साक्षात्कार है। 'मैं' का तात्पर्य तथा महत्त्व परमात्मा है। 'मैं अस्तित्व हूँ' का अनुभव है संकल्प शून्य हो रहना।

४ जुलाई, १६३६

२२७. महर्षि ने कहा : "आनन्द स्वरूप होकर भी मनुष्य सुख की निरन्तर इच्छा क्यों करता है ? इस इच्छा से मुक्त होना ही मोक्ष है। धर्म-ग्रन्थ कहते हैं—'तुम वही हो'। यह ज्ञान प्रदान करना ही उनका अभिप्राय है। यह खोजना कि तुम कौन हो और वैसे रहना, अर्थात् आत्मभाव से रहना साक्षात्कार है। 'मैं वही हूँ' अथवा 'यह नहीं' का जाप समय को नष्ट करना है। योग्य शिष्य की साधना आन्तरिक है बाह्य नहीं।"

जब श्री भगवान पर्वत से नीचे आ रहे थे आश्रम के बाहर एक श्रमिक कार्य छोड़कर महर्षि को साष्टांग प्रणाम करने ही वाला था तब महर्षि ने कहा :

"अपने कर्तव्य में लगा रहना ही वास्तविक प्रणिपात है।"

महर्षि के परिचारक ने जिज्ञासा की : "कैसे ?"

म० : सावधानी के साथ अपने कर्तव्य का पालन करना ईश्वर की महानतम सेवा है। (फिर मुस्कराते हुए उन्होंने कक्ष में प्रवेश किया)।

२२८. मध्याह्न के भोजन के समय नैलोर के एक यात्री ने महर्षि से उनकी थाली में से एक ग्रास (प्रसाद) की याचना की।

म० : अहम् भाव का विचार त्यागकर भोजन ग्रहण करो। तब जो भी ग्रहण करोगे भगवान का प्रसाद बन जायगा।

भोजनोपरान्त महर्षि ने विनोद के भाव में कहा : यदि मैं अपने थाल में से तुम्हें एक ग्रास दे देता तो प्रत्येक व्यक्ति भी एक-एक ग्रास माँगता। यदि मैं पूरा भोजन औरों में वितरित कर दूँगा तो मेरे लिये क्या बचेगा ? इस प्रकार तुम देखोगे कि यह भक्ति नहीं है। मेरे थाल में से एक ग्रास ग्रहण करने का कोई महत्त्व नहीं है। सच्चे भक्त बनो।

८ जुलाई, १९३६

२२९. प्रातः आठ बजे पालतू गिलहरी बाहर भाग निकलने का अवसर देख रही थी। महर्षि ने कहा : "सब बाहर भागना चाहते हैं। बाहर जाने की कोई सीमा नहीं है। सुख अन्दर है बाहर नहीं।

२० जुलाई, १९३६

२३०. एक यात्री : क्या धर्म-ग्रन्थों एवं पुस्तकों के अध्ययन से सत्य की अनुभूति हो सकती है ?

म० : नहीं। जब तक पूर्व संस्कार मन में गुप्त होकर रहेंगे, साक्षात्कार की प्राप्ति नहीं हो सकती। शास्त्रों का अध्ययन भी वासना ही है। साक्षात्कार केवल समाधि में होता है।

२३१. एक यात्री ने पूछा : मौन क्या है ?

म० : चुप रहना मौन नहीं। मौन ही अखण्ड प्रागट्य है।

भक्त : मैं समझा नहीं।

म० : वह अवस्था जो वाणी तथा संकल्प से परे है, मौन है।

भक्त : इसे किस प्रकार प्राप्त करें ?

म० : किसी धारणा को दृढ़ता से ग्रहण कर इसका मूल खोजो। ऐसी एकाग्रता से मौन प्राप्त होगा। अभ्यास सहज होने पर उसका परिणाम मौन होगा। मानसिक क्रियाशीलता के बिना ध्यान करना मौन है। मन को वश में करना ही ध्यान है। गम्भीर ध्यान नित्य वाणी है।

भक्त : यदि मौन का पालन किया जाय तो सांसारिक कार्य कैसे चलेंगे ?

म० : जब स्त्रियाँ जल का बर्तन सिर पर रखकर सखियों के साथ वार्तालाप करती हुई चलती रहती हैं तो वे अत्यन्त सावधान रहती हैं, उनका ध्यान सिर के भार पर एकाग्र रहता है। इसी प्रकार जब ज्ञानी कर्म करता है तो वे उसे कोई बाधा नहीं पहुँचाते क्योंकि उसका मन ब्रह्म में स्थित है।

२३२. एक अन्य अवसर पर महर्षि ने कहा : "ज्ञानी ही सच्चा भक्त है।"

२३३. **भक्त** : रामनाम के जप का क्या फल है ?

म० : 'रा' सत्यता है 'म' मन है, इनका योग ही 'राम जप' का फल है। शब्दों का जप ही पर्याप्त नहीं है। संकल्पों की निवृत्ति ही ज्ञान है। यह चैतन्य मात्र है।

२३४. एक मुस्लिम यात्री ने आसनों के विषय पर प्रश्न किया।

म० : ईश्वर में दृढ़ रहना ही वास्तविक आसन है।

२३५. एक शिष्य, श्री टी० के० एस० अय्यर, नगर में किसी व्यक्ति द्वारा महर्षि के प्रति निन्दा के शब्द सुनकर उत्तेजित थे। उन्होंने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया अपितु उत्तेजित अवस्था में वहाँ से चले आये। इसलिए उन्होंने महर्षि से जानना चाहा कि उनके द्वारा उसको उत्तर न देने की भूल का क्या प्रायश्चित्त हो सकता है ?

म० : धैर्य, अधिक धैर्य; सहनशीलता, अधिक सहनशीलता !

२३६. दो भक्त कक्ष में बादशाह जॉर्ज पंचम के देहावसान की चर्चा कर रहे थे। वे बहुत दुःखी थे। महर्षि ने उनसे कहा : "किसी की मृत्यु तथा हानि से तुम्हें क्या ? खुद मरो अर्थात् अपने को खोओ और प्रेम में एक रस हो जाओ।

२३७. एक व्यक्ति सुब्रह्मण्य की चाँदी की प्रतिमा तथा वल्ली एवं देवयान की ताँबे की प्रतिमाएँ लाया। उसने श्री भगवान से कहा : "मैं गत दस वर्ष से इनकी पूजा कर रहा हूँ। किन्तु फलस्वरूप केवल विपत्तियाँ ही मिलीं। मैं इनका क्या करूँ ? लोगों से पूछने पर उन्होंने मेरी चिन्ताओं का कारण मूर्तियों के निर्माण में रहा कुछ दोष बताया। जैसे उनके निर्माण में धातुओं का अन्तर। क्या यह ऐसा है ?

म० : क्या उन्होंने यह कहा कि पूजा करना अनुचित था ?

२३८. एक अन्य प्रश्न के उत्तर में महर्षि ने कहा : "एक समय ऐसा आता है जहाँ शब्दों का अन्त हो जाता है और मौन ही रह जाता है।"

भक्त : एक-दूसरे को विचार कैसे सूचित करेंगे।

म० : ऐसा तभी होगा जब दो का विचार होगा।

भक्त : शान्ति कैसे प्राप्त करें ?

म० : वही सहज स्थिति है। मन सहज शान्ति में बाधा डालता है। हमारी खोज केवल मन में है। मन की शोध करो; तब वह लुप्त हो जायगा।

मन नाम की कोई सत्ता नहीं है। संकल्पों के उदय होने के कारण हम उनके मूल की कल्पना कर लेते हैं। उसे हम 'मन' की संज्ञा देते हैं। उसकी खोज करने से कि वह क्या है पता लगता है कि उस जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसके नष्ट हो जाने पर शाश्वत शान्ति प्राप्त होगी।

भक्त : बुद्धि क्या है ?

म० : यह विचार अथवा विवेक शक्ति है। ये केवल नाम हैं। चाहे अहम् भाव हो, मन अथवा बुद्धि हो, सब एक ही हैं। किसका मन ? किसकी बुद्धि ? अहम् भाव की। क्या अहम् भाव वास्तविक है ? नहीं हम अहम् भाव को ही भ्रान्तिवश बुद्धि अथवा मन कहते हैं।

भक्त : एमर्सन का कथन है, आत्मा ही आत्मा का समाधान करता है—विवरण अथवा शब्द नहीं।"

म० : ऐसा ही है। तुम कितना ही जान लो, ज्ञान की सीमा नहीं है। तुम संशयकर्ता की ओर नही देखते हो तथा संशयों को हल करना चाहते हो। पर यदि तुम संशयकर्ता पर टिको तो संशय लुप्त हो जायेंगे अर्थात् संशय की जड़ संशय के हल से कदापि समाप्त नहीं होती।

भक्त : तब प्रश्न का हल आत्मा को जानना हुआ।

म० : ऐसा ही है।

भक्त : आत्मा को कैसे जानें ?

म० : देखो ! आत्मा क्या है ? तुम जिसे आत्मा मानते हो वह वस्तुतः या तो मन है या बुद्धि अथवा 'मैं' की कल्पना। अन्य संकल्पों का उदय 'मैं' की कल्पना के पश्चात ही होता है। इसलिए वहीं टिको। अन्य संकल्प लुप्त हो जायेंगे तथा केवल आत्मा ही अवशेष रह जायगी।

भक्त : वहाँ तक पहुँचना कठिन है।

म० : वहाँ तक कदापि पहुँचना नहीं है, चूँकि यह नित्य है, अभी और यहीं है। यदि आत्मा नवीन वस्तु की प्राप्ति होती तो यह स्थायी नहीं होती।

भक्त : मन की समता, शान्ति तथा सन्तुलन कैसे प्राप्त करें ? सर्वोत्तम उपाय क्या है ?

म० : इसका उत्तर मैं दे चुका हूँ। मन को खोजो। इसके लुप्त होने पर तुम अवशेष रहोगे। तुम्हारी ज्ञानमयी दृष्टि होते ही जगत् परमात्मा प्रतीत होने लगेगा।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममयं जगत्।

ज्ञानमयी (ब्रह्माकार) दृष्टि करके जगत ब्रह्ममय देखे। भाव यह है कि यदि बोध दृष्टि होगी तो जगत ब्रह्म ही दीखेगा।

इसलिए प्रश्न दृष्टिकोण का है। तुम सब में व्याप्त हो। स्वयं को जान लो और सब समझ में आ जायगा। परन्तु अब तुमने अपनी आत्मा की दृढ़ता खो दी है और अन्य वस्तुओं पर शंका करते रहते हो।

भक्त : आत्मा को कैसे जानें ?

म० : 'मैं' क्या दो हैं ? तुम्हें अपने अस्तित्व का भान कैसे है ? क्या तुम अपने आप को इन नेत्रों से देखते हो ? स्वयं अपने से पूछो। यह प्रश्न क्योंकर उठा ? क्या मैं इसको पूछने हेतु रहता हूँ अथवा नहीं ? क्या मैं अपनी आत्मा को दर्पण में देखने से पा सकता हूँ ? चूँकि तुम्हारा दृष्टिकोण बहिर्मुखी हो गया है इसलिए आत्मा का दर्शन नहीं होता है तथा तुम्हारी दृष्टि

बाहर हो गयी है। आत्मा बाहर की वस्तुओं में नहीं मिलती। दृष्टि को अन्तर्मुख कर गहरे हो जाओ; तो तुम आत्मा ही है।

भक्त : क्या आत्मा की खोज वर्ण-व्यवस्था के नियमों के पालन पर निर्भर करती है ? अथवा हम इनका उल्लंघन करें ?

म० : प्रारम्भ में नहीं। प्रारम्भ में उनका पालन करो। वर्ण-व्यवस्था मन की चंचलता को रोकने में संयम का काम करती है। इस प्रकार वह शुद्ध होता है।

भक्त : अज्ञात तत्त्व अज्ञात तत्त्व के अनुग्रह से ही प्राप्त किया जा सकता है।

म० : जो प्राप्त करने वाले को सहायता करता है वही अनुग्रह है।

भक्त : मन का निरोध कैसे करें ?

म० : क्या एक चोर स्वयं अपने साथ धोखा करेगा ? क्या मन स्वयं को खोज सकता है ? मन की खोज मन नहीं कर सकता। तुमने जो वास्तविक है उसकी उपेक्षा कर दी है। तथा तुम मन को पकड़े बैठे हो जो मिथ्या है, तथा उसी मन को तुम खोजना भी चाहते हो कि वह क्या है। क्या तुम्हारी सुषुप्ति में मन था ? वह नहीं था। अब वह यहाँ है। इस प्रकार यह अस्थायी है। क्या तुम मन की खोज कर सकते हो ? तुम मन नहीं हो। तुम स्वयं को मन समझकर मुझसे प्रश्न कर रहे हो कि मन को वश में कैसे करें। यदि वह होगा तभी इस पर नियन्त्रण होगा। पर वह नहीं है। खोज से इस सत्य को जान लो। मिथ्या की खोज निष्फल है। अतः सत्यता को अर्थात आत्मा को खोजो। मन पर शासन करने का यही मार्ग है। केवल एक सत्य है।

भक्त : वह एक सत्य क्या है ?

म० : वह अस्तित्व मात्र है। अन्य वस्तुएँ दृश्य मात्र हैं। नानात्व उसका स्वभाव नहीं है। हम कागज पर मुद्रित अक्षर पढ़ रहे हैं किन्तु जिस कागज की पृष्ठभूमि पर यह सब अंकित है उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। इसी प्रकार तुम मन में उदय होने वाले विविध दृश्यों में लिप्त हो जाते हो तथा मन की पृष्ठभूमि को भुला देते हो। इसमें किसका दोष है ?

भक्त : क्या आत्मा की सीमा है ?

म० : आत्मा क्या है ?

भक्त : जीवात्मा ही आत्मा है।

म० : जीवात्मा क्या है ? क्या इन दोनों में कुछ अन्तर है अथवा वे एक ही हैं।

किसी भी नवीन दृश्य का लुप्त होना अनिवार्य है। जो वस्तु पैदा होगी,

वह निश्चित ही नष्ट होगी। जो नित्य है वह न जन्म लेता है न मरता है। अब हम दृश्यों को सत्यता से मिला रहे हैं। दृश्य का अन्त उसी के साथ है। वह क्या है जो नवीन दीखता है ? यदि तुम इसकी खोज करने में असमर्थ हो तो दृश्यों के आधार के प्रति पूर्णतया समर्पण कर दो। उस अवस्था में सत्यता ही अवशेष रह जायगा।

भक्त : मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है ?

म० : स्वयं को वर्तमान जीवन में सलंग्न रखो। भविष्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा। भविष्य की चिन्ता मत करो। सृष्टि के पूर्व की अवस्था तथा सृष्टि की प्रक्रिया का शास्त्रों में इसी हेतु वर्णन है कि तुम वर्तमान को जान लो। चूँकि तुम कहते हो कि तुम्हारा जन्म हुआ है, इसलिए वे इसका अनुमोदन करते हैं, तथा यह भी कह देते हैं कि ईश्वर ने तुम्हें पैदा किया।

पर क्या तुम ईश्वर अथवा अन्य वस्तु को सुषुप्ति में देखते हो ? यदि ईश्वर सत्य है तो वह तुम्हारी सुषुप्ति में भी क्यों प्रकट नहीं होता ? तुम्हारा अस्तित्व सदैव है। अब भी तुम वही हो जो सुषुप्ति में थे। तुम जो सुषुप्ति में थे उससे अब भिन्न नहीं हो। तब फिर दोनों अवस्थाओं में भावनाओं तथा अनुभवों का अन्तर क्यों हो ? क्या तुमने नींद में, अपने जन्म के विषय में अथवा मृत्यु के बाद कहाँ जाऊँगा, यह प्रश्न पूछा था ? अब जाग्रत अवस्था में उन सब पर क्यों विचार करते हो ? जिसका जन्म हुआ है उसे ही अपने जन्म तथा उपचार, उसका कारण तथा अन्तिम फल की चिन्ता करने दो।

जन्म क्या है ? जन्म 'अहम् भाव' का है अथवा देह का। क्या "मैं" देह से पृथक है अथवा वही है ? यह 'अहम् भाव' किस प्रकार उदय हुआ ? क्या यह 'अहम् भाव' तुम्हारा स्वरूप है अथवा तुम्हारा स्वरूप कुछ और है ?"

भक्त : ये प्रश्न कौन करेगा ?

म० : ठीक—यही है। इन प्रश्नों का अन्त नहीं है।

भक्त : तब क्या हमें चुप रहना चाहिए ?

म० : मोह पर विजय पाने के बाद संशय कष्ट नहीं दे सकते।

भक्त : आपके निर्देश विचार को समाप्त-सा कर रहे हैं :

म० : यदि आत्म-विचार समाप्त हो जाता है तो लोक-विचार उसका स्थान ले लेता है। (कक्ष में हास्य) आत्म-विचार में संलग्न रहो तब अनात्म लुप्त हो जायगा। आत्मा अवशेष रह जायगी। यही आत्मा का आत्म-विचार है। एक शब्द 'आत्मा' मन, देह, मनुष्य, व्यक्ति, परमात्मा तथा अन्य सब कुछ का पर्याय है।

२३९. श्री एम० फ्रायडमैन : मनुष्य वस्तुओं की कल्पना कर अपनी कल्पना-शक्ति के बल से उनका उपभोग करता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के लिए

ही ऐसी सृष्टि सम्भव है। क्या यही बात उसके द्वारा बनाये मानव के लिए भी सम्भव हो सकती है ?

म० : यह भी तुम्हारा संकल्प है।

भक्त : कृष्णमूर्ति के अनुसार मनुष्य को 'मैं' की खोज करनी चाहिए। तब 'मैं' जो केवल परिस्थितियों का समूह मात्र है लय हो जायगा। 'मैं' के पीछे कुछ नहीं है। उनके उपदेश बुद्ध के उपदेशों से बहुत मिलते हैं।

म० : हाँ……हाँ, वर्णन से परे हैं।

२३ अगस्त, १६३६

२४०. **भक्त** : संसार भौतिकवादी है । इसका क्या उपाय है ?

म० : भौतिकवादी अथवा आध्यात्मिक, तुम्हारे दृष्टिकोण के अनुसार है ।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममयं जगत् ।

अपने दृष्टिकोण को यथार्थ बनाओ । सृष्टिकर्ता अपनी सृष्टि का पालन करना जानता है ।

भक्त : भविष्य को निरापद बनाने का सर्वोत्तम साधन कौन-सा है ?

म० : वर्तमान को सँभाल लो, भविष्य अपने को स्वयं सँभाल लेगा ।

भक्त : भविष्य वर्तमान का परिणाम है । इस दृष्टि से मुझे उसे उत्तम बनाने हेतु क्या करना आवश्यक है ? अथवा क्या मुझे शान्त रहना चाहिए ?

म० : संशय किसका है ? वह कौन है जो कार्य करना चाहता है ? संशयकर्ता को खोजो । यदि तुम संशयकर्ता को पकड़ लोगे संशय नहीं रहेंगें । आत्मा में स्थिर न रहने से संशय तुम्हें क्षुब्ध करते हैं; जगत दीखता है, संशय उदय होते हैं तथा भविष्य की चिन्ता उत्पन्न होती है ।

आत्मा में दृढ़ता से टिके रहो, ये सब लुप्त हो जायेंगे ।

भक्त : यह कैसे करें ?

म० : यह प्रश्न अनात्म विषयों के लिए ही उपयुक्त है, आत्मा के लिए नहीं । क्या तुम अपने स्वयं की आत्मा के अस्तित्व में सन्देह करते हो ?

भक्त : नहीं ! पर फिर भी, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो सकता है । क्या इसकी प्राप्ति के लिए कोई मार्ग है ?

म० : प्रयास करो । जिस प्रकार कुआँ खोदने से जल प्राप्त होता है, उसी प्रकार विचार से आत्मा की अनुभूति होती है ।

भक्त : हाँ ! परन्तु कुछ को पानी आसानी से मिल जाता है जबकि दूसरों को कठिनाई से मिलता है ।

म० : पर तुम्हें सतह पर नमी का आभास पहले ही होता है । तुम्हें आत्मा का धुँधला-सा भान है । लगे रहो । जब प्रयत्न समाप्त होता है, आत्मा प्रकाशित होती है ।

भक्त : मन को अन्तर्मुख करने के लिए क्या किया जाये ?

म० : अभ्यास । मन बुद्धि कीं एक अवस्था है, एकाग्रता से आत्मा का साक्षात्कार करा स्वयं नष्ट हो जाता है ।

भक्त : मन को कैसे नष्ट करें ?

म० : जल को सूखा जल नहीं बनाया जा सकता । आत्मा को खोजो; मन नष्ट हो जायगा ।

२९ अगस्त, १९३६

२४१. **भक्त** : क्लेशों से कैसे बचें ?

म० : क्या क्लेश का कोई आकार है ? वृथा के संकल्प ही क्लेश हैं। मन की इतनी क्षमता नहीं कि इनको रोक सके ।

भक्त : इस प्रकार की मानसिक शक्ति किस प्रकार प्राप्त करें ।

म० : ईश्वर की आराधना से ।

भक्त : सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान समझने में कठिन है ।

म० : ईश्वर को अकेला रहने दो । अपनी आत्मा में टिके रहो ।

भक्त : जप किस प्रकार करें ? (मन्त्रों का जाप) ।

म० : जप दो प्रकार का है—स्थूल तथा सूक्ष्म । सूक्ष्म जाप उस पर ध्यान है, और यह मन को शक्ति देता है ।

भक्त : परन्तु ध्यान के लिए मन स्थिर नहीं होता ।

म० : इसका कारण है शक्ति का कम होना ।

भक्त : प्रायः संध्या यन्त्रवत की जाती है । इसी प्रकार अन्य धार्मिक क्रियाएँ भी । क्या यह लाभदायक है ? क्या यह ठीक नहीं होगा कि जप आदि उनका अर्थ जानकर किया जाये ?

म० : ओऽम् ओऽम् ।

२४२. एक गुजराती सज्जन ने श्री भगवान से प्रश्न किया : ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु के बाद हमें पाप तथा पुण्य का फल भोगने के लिए हमारी इच्छा पर छोड़ दिया जाता है । अर्थात् उनका क्रम हमारी इच्छा पर छोड़ दिया जाता है, क्या यह ऐसा है ?

म० : मृत्यु के बाद होने वाली घटनाओं पर प्रश्न क्यों करते हो ? यह क्यों पूछते हो, "क्या मेरा जन्म हुआ था ? क्या मैं पिछले कर्मों का फल भोग रहा हूँ ?" आदि । कुछ देर बाद जब तुम सुषुप्ति में होगे तब ये प्रश्न नहीं उठेंगे । क्यों ? क्या तुम जो सुषुप्ति में थे उससे अब भिन्न हो ? तुम

भिन्न नहीं हो। ये प्रश्न अब क्यों उठ रहे हैं जबकि सुषुप्ति में नहीं उठते ? इसे मालूम करो।

२४३. एक मध्यम उम्र का दुर्बल-सा व्यक्ति हाथ में घूमने की छड़ी लिये आया, आकर उसे श्री भगवान के समक्ष रख दिया, नीचे झुककर प्रणाम कर महर्षि के समीप बैठ गया। वह उठा और अत्यन्त नम्रतापूर्वक छड़ी को चन्दन की बताते हुए, उसे भगवान को अर्पित करने लगा। श्री भगवान ने उसे स्वयं ही रखने की आज्ञा दी। क्योंकि जो कुछ भी भगवान का है उसकी सँभाल नहीं हो सकती। आश्रम में समान सम्पत्ति होने से कोई भी यात्री उनकी आज्ञा अथवा बिना आज्ञा के लोभवश छड़ी ले जायगा। तब देने वाले को अप्रसन्नता हो सकती है।

फिर भी वह व्यक्ति विनम्रतापूर्वक आग्रह करता रहा। श्री भगवान उसकी आन्तरिक प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। बोले, "इसे भगवान के प्रसाद के रूप में रख लो।" तब उसने प्रार्थना की कि एक बार श्री भगवान छड़ी ग्रहण कर लें और फिर अपने आशीर्वाद सहित उसे दे दें। श्री भगवान ने लेकर उसे सूँघा और कहा : यह बहुत सुन्दर है, फिर मस्तक झुकाकर सम्मति व्यक्त की तथा पुनः उसी व्यक्ति को देकर कहा, "इसे रखो। यह तुम्हें सदैव मेरी स्मृति कराता रहेगा।"

२४४. एक महारानी साहिबा ने सभ्य और सौम्य शब्दों में किन्तु स्पष्ट स्वर में कहा :

"महाराजजी, मेरा परम सौभाग्य है कि आपका दर्शन कर सकी। मेरे नेत्र आपके दर्शन से कृतार्थ हैं। मेरे कान आपकी वाणी सुनकर कृतार्थ हैं।

"मनुष्य जिस-जिस वस्तु की कामना करता है ईश्वर कृपा से वह सब मुझे प्राप्त है।" महारानी की वाणी रुद्ध हो गयी। मन की प्रबल शक्ति के सहारे वे स्वस्थ हो पुनः धीरे-धीरे बोलने लगीं, "मेरे पास वह सब कुछ है जो मुझे चाहिए—एक मानव जिसकी इच्छा कर सकता है········किन्तु········किन्तु ·······मैं········मैं·······मानसिक शान्ति से वंचित हूँ········इसे कोई रोकता है। सम्भवतः मेरा प्रारब्ध········"

कुछ क्षणों तक मौन का साम्राज्य रहा। तदुपरान्त महर्षि अपनी स्वाभाविक कोमलता से बोले :—

"ठीक है। जो कहा जा सकता था, कहा गया है। अच्छा। प्रारब्ध क्या है ? प्रारब्ध कुछ नहीं है। समर्पण करो, सब ठीक हो जायगा। सारा दायित्व प्रभु पर छोड़ दो। स्वयं भार वहन न करो। तब प्रारब्ध तुम्हारा क्या कर सकेगा ?

भक्त : समर्पण असम्भव है।

म० : हाँ। प्रारम्भ में पूर्ण समर्पण असम्भव है। आंशिक समर्पण निश्चय ही सबके लिए सुलभ है। समय आने पर उससे पूर्ण समर्पण हो जायगा। अच्छा, यदि समर्पण असम्भव है तो क्या किया जा सकता है ? मानसिक शान्ति नहीं है। उसको प्राप्त करने में तुम असमर्थ हो। यह केवल समर्पण से हो सकता है।

भक्त : अच्छा—क्या आंशिक समर्पण से प्रारब्ध नष्ट हो सकता है ?

म० : अरे, हाँ ! निश्चय ही।

भक्त : प्रारब्ध क्या पिछले कर्मों का फल नहीं है ?

म० : यदि ईश्वर को समर्पण कर दोगे, तो ईश्वर उसको देख लेगा।

भक्त : यह ईश्वर का विधान होने से ईश्वर ही इसको अन्यथा कैसे करेगा ?

म० : सब केवल उसमें है।

भक्त : ईश्वर का दर्शन कैसे हो ?

म० : अन्दर। यदि मन को अन्तर्मुख कर लें, तो ईश्वर आन्तरिक चैतन्य के रूप में अभिव्यक्त होता है।

भक्त : ईश्वर सब में है—उन सब पदार्थों में जो हम देखते हैं। कहा जाता है हमें उन सब में ईश्वर का दर्शन करना चाहिए।

म० : ईश्वर सब में है और द्रष्टा में है। ईश्वर और कहाँ दीखेगा ? उसकी प्राप्ति बाहर नहीं हो सकती। उसकी अनुभूति अपने अन्दर ही होनी चाहिए। दृश्य पदार्थों को देखने को मन की आवश्यकता है। दृश्यों में ईश्वर की कल्पना मन की क्रिया है। पर वह यथार्थ नहीं है। संकल्प रहित आन्तरिक चैतन्य ही परमात्मा प्रतीत होता है।

भक्त : उदाहरण के लिए, सुन्दर रंगों को ले लें, उनको देखने से प्रसन्नता होती है। हम उनमें भगवत्दर्शन कर सकते हैं।

म० : यह सब मानसिक कल्पनाएँ हैं।

भक्त : रंगों के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। रंगों को मैंने केवल एक उदाहरण के रूप में कहा था।

म० : वे भी इसी प्रकार मानसिक ही हैं।

भक्त : देह भी है—इन्द्रियाँ तथा मन। आत्मा इन सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने में उपयोग करती है।

म० : दृश्य पदार्थ, भावनाएँ, तथा संकल्प सब मानसिक कल्पनाएँ हैं। अहम् भाव अथवा अहंकार के उत्पन्न होने के पश्चात मन का उदय होता है।

अहंकार का उदय कहाँ से होता है ? मूल बुद्धि से ।

भक्त : क्या यह आत्मा है ?

म० : आत्मा, मन अथवा अहंकार केवल शब्द हैं । इस प्रकार की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है । केवल चैतन्य ही सत्य है ।

भक्त : तब वह चैतन्य कोई आनन्द नहीं दे सकता ।

म० : उसका स्वरूप ही आनन्द है । केवल आनन्द है । आनन्द का अनुभव करने वाला कोई नहीं है । आनन्द का अनुभव करने वाला तथा आनन्द दोनों उसमें विलीन हो जाते हैं ।

भक्त : सामान्य जीवन में दुःख-सुख दोनों हैं । क्या हमें केवल सुख में ही नहीं रहना चाहिए ?

म० : मन को मोड़कर अन्तर्मुखी बनाये रखने में सुख है । उसको बाहर जाने देने में दुःख है । वास्तव में केवल आनन्द है । दुःख के अभाव को सुख कहते हैं । हर एक का स्वरूप ही सुखमय है ।

भक्त : क्या यह आत्मा है ?

म० : आत्मा तथा परमात्मा यह दो शब्द केवल मानसिक कल्पनाएँ हैं ।

भक्त : क्या परमात्मा मन की कल्पना मात्र है ?

म० : हाँ । क्या तुमको सुषुप्ति में ईश्वर का ध्यान आता है ?

भक्त : किन्तु सुषुप्ति जड़ता की अवस्था है ।

म० : यदि ईश्वर सत्य हो तो उसे सदैव रहना चाहिये । तुम सुषुप्ति तथा जागृति में समान रहते हो । यदि ईश्वर तुम्हारी आत्मा की तरह सत्य हो तो ईश्वर सुषुप्ति में भी उसी प्रकार रहे जिस प्रकार आत्मा रहता है । ईश्वर का यह विचार जागृति में ही आता है । अभी कौन विचार कर रहा है ?

भक्त : मैं विचार कर रही हूँ ।

म० : यह 'मैं' कौन है ? यह कौन कह रहा है ? क्या यह देह है ?

भक्त : देह बोलती है ?

म० : देह नहीं बोलती । यदि ऐसा है तो क्या देह सुषुप्ति में बोलती थी ? यह 'मैं' कौन है ?

भक्त : देह के अन्दर मैं ।

म० : तुम देह के अन्दर हो अथवा देह के बाहर ?

भक्त : मैं निश्चय ही देह के अन्दर हूँ ।

म० : क्या सुषुप्ति में भी तुम्हें ऐसा बोध रहता है ?

भक्त : मैं सुषुप्ति में भी अपनी देह में रहती हूँ ।

म० : क्या सुषुप्ति में तुम देह में हो, इसका तुमको भान रहता है ?

भक्त : सुषुप्ति जड़ता की अवस्था है।

म० : वास्तविकता यह है कि तुम न अन्दर हो न बाहर। सुषुप्ति में अपना निज अस्तित्व अर्थात् केवल आत्मा रहता है।

भक्त : तब सुषुप्ति अब की अवस्था से अच्छी होनी चाहिए।

म० : अवस्थाओं में कोई उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं है। सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत अवस्था में तुम वही हो। सुषुप्ति आनन्द की अवस्था है; वहाँ कोई क्लेश नहीं है। अभाव अथवा दुःख आदि का भान जागृति में ही उदय होता है। अब क्या परिवर्तन हो गया है ? तुम दोनों अवस्थाओं में वही हो किन्तु आनन्द में अन्तर है। क्यों ? चूँकि अब मन उदय हो गया है। यह मन 'अहम् भाव' से उदय होता है। 'अहम् भाव' चैतन्य से उदय होता है। यदि मनुष्य चैतन्य में स्थिर रहे तो सदा प्रसन्न रहेगा।

भक्त : सुषुप्ति वह अवस्था है जब मन शान्त रहता है। मैं इसे निकृष्ट अवस्था मानती हूँ।

म० : यदि ऐसा होता तो सुषुप्ति की कामना क्यों करते ?

भक्त : यह तो देह है जो थककर सो जाती है।

म० : क्या देह सोती है ?

भक्त : हाँ। इस अवस्था में देह की थकान एवं कमजोरी ठीक हो जाती है।

म० : ऐसा ही होगा। किन्तु क्या देह स्वयं सोती अथवा जागती है ? अभी कुछ देर पहले तुमने ही कहा था कि सुषुप्ति में मन शान्त रहता है। तीनों अवस्थाएँ मन की हैं।

भक्त : क्या ये अवस्थाएँ इन्द्रियों आदि द्वारा कार्य करती हुई आत्मा की नहीं हैं ?

म० : यह अवस्थाएँ आत्मा अथवा देह की नहीं हैं। आत्मा सदैव अलिप्त रहता है। यह तीनों अवस्थाओं का आधार है। जागृति नहीं रहती, मैं रहता हूँ; स्वप्नावस्था नहीं रहती मैं रहता हूँ, सुषुप्ति नहीं रहती मैं रहता हूँ। यह अवस्थाएँ होती रहती हैं फिर भी मैं हूँ। यह सिनेमा में परदे पर चलते चित्रों के समान हैं। वे परदे को प्रभावित नहीं करते। इसी प्रकार यद्यपि यह अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं किन्तु 'मैं' अप्रभावित रहता हूँ। यदि यह देह की हो तो क्या सुषुप्ति में तुम्हें देह का बोध रहता है ?

भक्त : नहीं।

म० : वहाँ देह का भान हुए बिना यह कैसे कहा जा सकता है कि देह सुषुप्त होती है ?

भक्त : इसलिए कि जागने पर भी यह विद्यमान रहती है।

म० : देह की भावना एक संकल्प ही है। संकल्प मन का है। मन 'अहम् भाव' के उपरान्त उदय होता है। 'अहम्' का संकल्प मूल संकल्प है। यदि इसको पकड़ लिया जाय तो अन्य विचार लुप्त हो जायेंगे। तब न देह रहेगी, न मन, न अहंकार ही रहेगा।

भक्त : तब क्या रहेगा ?

म० : केवल आत्मा।

भक्त : मन किस प्रकार नष्ट हो ?

म० : मन को नष्ट करने का प्रयास नहीं किया जाता। उसका चिन्तन करना अथवा उसकी इच्छा करना एक संकल्प ही है। यदि विचारकर्ता को जान लिया जाय तो संकल्प लुप्त हो जायेंगे।

भक्त : क्या वे स्वतः ही लुप्त हो जायेंगे ? यह अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है।

म० : वे असत्य होने से लुप्त हो जायेंगे। कठिनता का भाव भी साक्षात्कार में बाधा है। इस पर विजय पाना आवश्यक है। आत्म-भाव से रहना कठिन नहीं है।

भक्त : बाहर जगत में ईश्वर की भावना करना सरल मालूम होता है, परन्तु संकल्प शून्य होना कठिन प्रतीत होता है।

म० : यह हास्यास्पद है। अन्य वस्तुओं को देखना सरल है तथा अन्तर्मुख होना कठिन है। इसके विपरीत होना ही आवश्यक है।

भक्त : परन्तु मैं नहीं समझी। यह कठिन है।

म० : कठिनाई का यह भाव ही मुख्य बाधा है। थोड़े-से अभ्यास के पश्चात तुम्हारे भाव में परिवर्तन हो जायगा।

भक्त : अभ्यास क्या है ?

म० : 'मैं' के मूल की खोज।

भक्त : यह जन्म से पूर्व की स्थिति थी।

म० : जन्म-मरण का विचार कोई क्यों करे ? क्या तुम्हारा वास्तव में जन्म हुआ है ? मन के उदय को जन्म कहा जाता है। मन के उपरान्त देह का भाव उदय होता है तथा देह दृष्टिगोचर होती है। तदुपरान्त जन्म का संकल्प, जन्म से पूर्व की अवस्था मृत्यु तथा मृत्योपरान्त की अवस्था—यह सब केवल मन से उदय होती हैं। जन्म किसका है ?

भक्त : क्या मेरा अभी जन्म नहीं हुआ है ?

म० : जब तक देह को माना जाता है, जन्म सत्य है। पर देह 'मैं' नहीं है। आत्मा का न जन्म है न मृत्यु। कुछ नया नहीं है। ज्ञानी आत्मा

में सब कुछ और और सब कुछ आत्मा ही देखते हैं। उसमें कोई भेद नहीं है। अतः न जन्म है न मृत्यु।

भक्त : यदि सुषुप्ति इतनी श्रेष्ठ अवस्था है तो सदैव इसी अवस्था में रहने की किसी को इच्छा क्यों नहीं होती?

म० : मनुष्य सदैव केवल सुषुप्ति में ही रहता है।

वर्तमान जाग्रत अवस्था स्वप्न से अधिक कुछ भी नहीं है। स्वप्न निद्रा में ही सम्भव है। निद्रा तीनों अवस्थाओं का आधार है। इन तीनों अवस्थाओं का उदय भी स्वप्न ही है, जो एक अन्य प्रकार की निद्रा ही है। इस प्रकार इन स्वप्न एवं निद्रा की अवस्थाओं का कोई अन्त नहीं है।

इन अवस्थाओं के अनुरूप जन्म एवं मृत्यु भी सुषुप्ति के स्वप्न हैं। वास्तव में न जन्म है न मृत्यु।

८ सितम्बर, १९३६

२४५. दो पारसी महिलाएँ, कुमारी गुलबाई तथा शिरीनबाई बैरामजी एक ही मुख्य बिन्दु को लेकर प्रश्न कर रही थीं। उनकी जिज्ञासा कुल मिलाकर एक थी :

"मैं जानती हूँ कि आत्मा 'अहंकार' से परे है। मेरा ज्ञान सैद्धान्तिक है व्यावहारिक नहीं। मुझे आत्मा का वास्तविक साक्षात्कार कैसे प्राप्त होगा?

म० : साक्षात्कार कोई नवीन प्राप्ति नहीं करनी है। वह है ही। केवल इतना ही आवश्यक है कि "मैंने साक्षात्कार नहीं किया है" इस संकल्प से मुक्ति पा लें।

भक्त : तब तो प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं।

म० : नहीं। संकल्पशून्य हो जाना अथवा मन की शान्ति ही साक्षात्कार है। ऐसा कोई क्षण नहीं जब आत्मा नहीं है।

जब तक संशय है तथा साक्षात्कार न होने का भाव है तब तक इन संकल्पों से मुक्त होने का प्रयास करते रहना चाहिए। इन संकल्पों का कारण आत्मा का अनात्मा से तादात्म्य कर लेना है। जब अनात्मा का लोप होगा तब केवल आत्मा शेष रहेगा। किसी जगह को खाली करने के लिए वहाँ की वस्तुओं को हटाना ही पर्याप्त है। खाली जगह कहीं बाहर से नहीं लायी जाती। न केवल इतना ही, अपितु भरी जगह में भी अवकाश तो है ही।

संकल्पों के अभाव का अर्थ शून्यता नहीं है। ऐसा भी कोई होगा जिसे शून्यता का बोध हो। ज्ञान अथवा अज्ञान मन को है। वे द्वैत से उत्पन्न होते हैं। किन्तु आत्मा ज्ञान अथवा अज्ञान से परे है। वह स्वयं प्रकाश है। आत्मा को देखने के लिए दूसरी आत्मा की आवश्यकता नहीं है। आत्माएँ दो नहीं हैं।

जो आत्मा नहीं है, वह अनात्मा है। अनात्मा आत्मा की अनुभूति नहीं कर सकता। आत्मा न देखता है न सुनता है। वह इनसे परे है—केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप।

एक महिला अपने गले में हार धारण किये उसके खो जाने की कल्पना से उसे खोजती फिरती है, जब तक कि उसकी सखी उसे गले के हार का स्मरण नहीं कराती। उसने स्वयं ही उसके खो जाने की कल्पना की, स्वयं ही उसे खोजने की चिन्ता की तथा स्वयं ही उसके पुनः प्राप्त करने की प्रसन्नता व्यक्त की। इसी प्रकार आत्मा सदैव विद्यमान है। तुम इसे खोजो चाहे न खोजो। जिस प्रकार उस महिला की कल्पना में खोये हुए हार की पुनः प्राप्ति का भाव होता है उसी प्रकार अविद्या के दूर होने से, तथा मिथ्या तादात्म्यता की समाप्ति से आत्मा जो सदैव विद्यमान है, अभी और यहाँ वह प्रकट हो जाता है। इसे साक्षात्कार कहते हैं। यह नया नहीं है। यह अविद्या के निरसन करने से अधिक कुछ भी नहीं है।

मन की खोज करने का दुष्परिणाम है शून्यता। मन को शाखा, प्रशाखा सहित समूल नष्ट करना होगा। यह देखो कि विचारकर्ता कौन है, खोज करने वाला कौन है। और वही कर्ता बने रहो। सारे संकल्पों का लोप हो जायगा।

भक्त : तब वहाँ विचार करने वाला अहम् होगा।

म० : वह अहम् संकल्प शून्य शुद्ध अहम् है। यह आत्मा के समान ही है। जब तक मिथ्या तादात्म्यता रहेगी संशय रहेंगे, प्रश्न उदय होंगे, उनका अन्त नहीं होगा। अनात्मा का अन्त करने से ही संशय नष्ट होंगे। इसका परिणाम आत्म-साक्षात्कार होगा। तब कोई संशयकर्ता अथवा प्रश्नकर्ता नहीं रहेगा। इन समस्त संशयों का समाधान अपने अन्दर ही करना चाहिए। शब्दों में समझाने की क्षमता नहीं। विचारकर्ता में टिके रहो। जड़ में टिके बिना बाहर दृश्य तथा मन में संशय प्रकट होते रहते हैं।

२४६. 'भाषा' अपने विचार दूसरों को व्यक्त करने का माध्यम मात्र है। संकल्पों के उदय होने के बाद ही इसकी आवश्यकता होती है। अन्य संकल्प 'अहम् भाव' के उदय होने के बाद उदय होते हैं; 'अहम् भाव' ही सारे वार्तालाप का मूल है। जब कोई विचार शून्य रहता है तब एक-दूसरे के भाव को मौन की व्यापक भाषा से ग्रहण करने में समर्थ होता है।

मौन नित्य वाणी है; यह भाषा का नित्य प्रवाह है। वार्ता से इसका प्रवाह भंग होता है। बोलना उस प्रवाह में बाधा डालना है। तार में विद्युत प्रवाहित होती है। इसके प्रवाह में रोक होने पर यह लैम्प बनकर दीप्त होती

है अथवा पंखा बनकर घूमती है। तार में यह विद्युत-शक्ति होकर रहती है। इसी प्रकार मौन, भाषा का नित्य प्रवाह है जिसमें शब्द बाधा उत्पन्न करते हैं।

जो बोध वर्षों के वार्तालाप से सम्भव नहीं वह मौन से अथवा मौन की उपस्थिति में क्षणमात्र में सुलभ हो जाता है। उदाहरणार्थ, दक्षिणामूर्ति तथा उनके चार शिष्य। यह उच्चतम तथा अत्यन्त प्रभावशाली भाषा है।

२४७. एक संशय उठा कि शुद्ध 'मैं' की जाग्रति निर्विकल्पता ही है, अथवा इससे पूर्व की अवस्था है ?

श्री भगवान ने कहा, हृदय का सूक्ष्म छिद्र सदैव बन्द रहता है, किन्तु विचार से यह खुल जाता है जिससे कि केवल 'मैं' की चेतनता प्रकाशित हो उठती है। यह समाधि के समान ही है।

भक्त : मूर्च्छा तथा सुषुप्ति में क्या अन्तर है ?

म० : सुषुप्ति अकस्मात होती है तथा मनुष्य को बलपूर्वक दबा लेती है। मूर्च्छा धीरे-धीरे आती है तथा यत्किंचित विरोध बना रहता है। मूर्च्छा में साक्षात्कार सम्भव है किन्तु सुषुप्ति में असम्भव है।

भक्त : मृत्यु से पूर्व क्या स्थिति होती है ?

म० : जब मनुष्य अन्तिम अवस्था में श्वास लेने के लिए संघर्ष करता है, इसका आशय है कि उस व्यक्ति को अपनी देह का भान नहीं है; अन्य देह ग्रहण की जा रही है तथा मनुष्य इधर से उधर झूलता है। जब वह इस प्रकार साँस लेने के लिए हाँफता है तब बीच-बीच में साँस लेना अत्यधिक कष्टसाध्य हो जाता है तथा वर्तमान देह के प्रति मोह भंग न होने से दोनों देहों के मध्य झुलाव होता है। यह मैंने अपनी माँ तथा पलनी स्वामी के देहान्त के समय अनुभव किया।

भक्त : क्या उपरोक्त अवस्था में नवीन देह व्यक्ति के पुनर्जन्म का द्योतक है।

म० : हाँ। साँस के लिए हाँफने की स्थिति में मनुष्य स्वप्न जैसी स्थिति में रहता है तथा अपने वातावरण से अनभिज्ञ रहता है।

(यह स्मरण रखना आवश्यक है कि श्री भगवान प्रातः ८ बजे से रात्रि के ८ बजे तक अपनी माँ के समीप रहे जब तक कि उन्होंने देह त्यागी। पूरे समय वे एक हाथ से माँ का सिर पकड़े रहे तथा दूसरा हाथ माँ के वक्ष पर रखे रहे। इसका क्या अभिप्राय था ? उन्होंने बाद में स्वयं बताया कि उनके तथा उनकी माँ के मध्य एक संघर्ष था, जब तक कि उनके प्राण हृदय में प्रवेश न कर गये।

स्पष्टतः जीवात्मा सूक्ष्म अनुभवों के क्रमों से होकर जाता है तथा श्री भगवान का स्पर्श विद्युत-शक्ति का प्रवाह उत्पन्न करता है जो जीवात्मा को पुनः हृदय में प्रवेश करा देता है।

तथापि संस्कार बने रहते हैं एवं महर्षि के स्पर्श से उदित आध्यात्मिक बल तथा सहज संस्कारों में संघर्ष होता है; अन्ततः संस्कार पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं तथा जीवात्मा हृदय में प्रवेश कर शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है जो कि मोक्ष के समान ही है।

इसके हृदय में प्रवेश करते समय एक विचित्र संवेदना होती है। इसका अनुभव महात्मा को होता है—यह घण्टी के नाद जैसा है।

जब महर्षि पलनी स्वामी को उनकी मृत्यु शैय्या पर सँभाल रहे थे तो उन्होंने उपरोक्त संकेत पाकर अपना हाथ हटा दिया। परन्तु पलनी स्वामी के नेत्र तुरन्त ही खुल गये जिसका अभिप्राय यह हुआ कि जीवात्मा नेत्रों द्वारा बाहर निकल गया जो उच्चतर पुनर्जन्म का द्योतक है; पर मोक्ष का नहीं।

पलनी स्वामी के साथ ऐसा अनुभव होने के बाद महर्षि अपनी माँ को कुछ अधिक देर तक स्पर्श करते रहे—जीवात्मा के हृदय में प्रवेश कर लेने के संकेत के बाद भी और इस प्रकार उनकी मुक्ति सुनिश्चित कर दी। माँ के मुख-मण्डल पर विराजमान पूर्ण शान्ति तथा स्थिरता के भाव इसका प्रमाण थे।)

१५ सितम्बर, १९३६

२४८. श्री भगवान ने कहा : अज्ञानी कहता है "मैं देह हूँ" और ज्ञानी भी कहता है "मैं देह हूँ"। तो अन्तर क्या है? "मैं हूँ" सत्य है। शरीर की सीमा है। अज्ञानी 'मैं' को देह तक ही सीमित करता है। सुषुप्ति में 'मैं' देह से स्वतन्त्र रहता है। वही 'मैं' अब जाग्रत अवस्था में है। यद्यपि 'मैं' की कल्पना देह में की जाती है किन्तु यह देह से अलग है। 'मैं देह हूँ'—यह बात गलत नहीं है। 'मैं' ऐसा कहता है। देह जड़ है तथा ऐसा नहीं कह सकता। भूल "मैं" को वह वस्तु मान लेना है जो 'मैं' नहीं है। 'मैं' जड़ नहीं है। जड़ देह 'मैं' नहीं हो सकता। देह की क्रियाकलापों को 'मैं' के साथ मिला देता है और परिणाम में दुःख भोगता है। देह सक्रिय हो अथवा निष्क्रिय, 'मैं' स्वतन्त्र तथा सुखी रहता है। अज्ञानी का 'मैं' केवल देह है। यही सारी भूल है। ज्ञानी के 'मैं' में देह तथा अन्य सब कुछ भी सम्मिलित है। स्पष्ट ही कोई बीच की सत्ता उदय होती है, जिससे भ्रम उत्पन्न होता है।

श्री वैद्यनाथ अय्यर, एक वकील ने पूछा : यदि ज्ञानी कहता है "मैं देह हूँ" तो उसका मृत्यु के उपरान्त क्या होता है?

म० : अभी भी वह स्वयं की देह से तादात्म्यता नहीं करता।

भक्त : किन्तु आपने अभी जो कहा कि ज्ञानी कहता है, "मैं देह हूँ।"

म० : ठीक है। उसका 'मैं' देह को भी सम्मिलित करता है। कारण उसकी दृष्टि में 'मैं' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। यदि देह नष्ट हो जाय तो भी 'मैं' की कोई हानि नहीं। 'मैं' वही रहता है। यदि देह स्वयं को मृत मानती है तो वह स्वयं प्रश्न करे। जड़ होने से देह कोई प्रश्न नहीं कर सकती। 'मैं' की कभी मृत्यु नहीं होती अतः वह प्रश्न नहीं करता। फिर मृत्यु किसकी होती है ? प्रश्न कौन करता है ?

भक्त : तब समस्त शास्त्र किसके लिए हैं ? वे वास्तविक 'मैं' के लिए नहीं हो सकते। वे मिथ्या 'मैं' के लिए ही हो सकते हैं। सत्य को उनकी कोई आवश्यकता नहीं। यह आश्चर्यजनक है कि मिथ्या के लिए इतने शास्त्र हों।

म० : हाँ, ऐसा ही है। मृत्यु एक संकल्प है, और कुछ नहीं। जो संकल्प करता है, वही क्लेशों को जन्म देता है। विचारकर्ता ही हमें बताये मृत्योपरान्त उसको क्या होता है। वास्तविक 'मैं' मौन है। व्यक्ति को 'मैं' यह हूँ—'मैं यह नहीं हूँ' का विचार नहीं करना चाहिए। 'यह' अथवा 'वह' कहना मिथ्या है। ये सब सीमित ही हैं। केवल 'मैं हूँ' अर्थात् केवल अस्तित्व ही सत्य है। मौन ही वास्तविक 'मैं' है। यदि कोई व्यक्ति विचार करता है 'मैं यह हूँ', दूसरा व्यक्ति विचार करता है 'मैं यह हूँ' और इसी प्रकार विचारों में संघर्ष होता है और परिणामस्वरूप इतने अधिक धर्म हैं। सत्य जैसा है, वैसा रहता है। इस पर विपक्ष तथा पक्ष के वक्तव्यों का प्रभाव नहीं पड़ता।

भक्त : मृत्यु क्या है ? क्या यह देहपात नहीं है ?

म० : क्या तुम सुषुप्ति में इसकी कामना नहीं करते ? तब क्या भूल होती है ?

भक्त : किन्तु मैं जानता हूँ कि मैं जागूँगा।

म० : हाँ—पुनः संकल्प। इसके पूर्व में संकल्प था 'मैं जागूँगा।' संकल्प ही जीवन का संचालन कर रहे हैं। संकल्पों से मुक्ति ही व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप अर्थात् आनन्द है।

२४ सितम्बर, १९३६

२४९. अज्ञान दो प्रकार का है।

(१) आत्मा की विस्मृति।

(२) आत्मा के ज्ञान में बाधा।

संकल्पों को नष्ट करने के लिए साधनों की आवश्यकता होती है; ये संकल्प पूर्व-जन्म के बीज रूप संस्कारों की पुनः अभिव्यक्ति हैं। इनसे नानात्व उदय

होते हैं जिनसे सारे कष्ट उत्पन्न होते हैं। साधन यह है : सदगुरु से सत्य का श्रवण आदि।

श्रवण का प्रभाव तुरन्त हो सकता है, तथा शिष्य तत्काल उस सत्य का अनुभव करता है। यह केवल अत्यन्त उन्नत शिष्य के लिए ही सम्भव है।

अन्यथा बारम्बार श्रवण करके भी शिष्य यही सोचता है कि वह सत्य का साक्षात्कार करने में असमर्थ है। इसका क्या कारण है ? मन की मलिनता : अज्ञान, संशय तथा मिथ्या तादात्म्यता की बाधाओं का हटाना आवश्यक है।

(क) अज्ञान को पूर्णतया निवारण करने के लिए, जब तक कि उसको विषय का पूर्ण ज्ञान न हो जाय तब तक उसे सत्य के श्रवण की पुनरावृत्ति आवश्यक है।

(ख) संशयों के निवारण हेतु जो कुछ उसने श्रवण किया है उसका मनन आवश्यक है; अन्त में उसका ज्ञान हर प्रकार के संशयों से रहित हो जायगा।

(ग) आत्मा को भ्रान्तिवश अनात्मा (देह, इन्द्रिय समूह, मन अथवा बुद्धि) मान लेने की मिथ्या धारणा निवारण हेतु मन को एकाग्र करना आवश्यक है।

यह सब पूर्ण होने से बाधाएँ समाप्त होती हैं। उसके फलस्वरूप समाधि होती है अर्थात शान्ति का साम्राज्य होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि व्यक्ति को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन कदापि बन्द न करना चाहिए। ग्रन्थों के अध्ययन से इनकी प्राप्ति नहीं होती, अपितु केवल मन को निरन्तर पीछे हटाने के प्रयास से इनकी प्राप्ति होती है।

साधक कृतोपासक हो सकता है अथवा अकृतोपासक। पहला अत्यन्त स्वल्प प्रेरणा से भी आत्म-साक्षात्कार करने में समर्थ है; उसके मार्ग में केवल तनिक-सा संशय रुकावट करता है; यदि वह सद्गुरु से सत्य का श्रवण एक बार कर ले तो संशय सरलता से दूर हो जाता है। उसे तुरन्त ही समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। ऐसा माना जाता है कि उसने पहले ही पूर्व-जन्मो में श्रवण, मनन आदि की पूर्णता कर ली थी। अब वे उसके लिए आवश्यक नहीं हैं।

दूसरों के लिए इन समस्त साधनों की आवश्यकता है; बारम्बार श्रवण करने के उपरान्त भी उसको संशय आ घेरते हैं; अतः जब तक समाधि की अवस्था प्राप्त न हो जाये साधन नहीं छोड़ना चाहिए।

श्रवण से आत्मा की देह आदि से तादात्म्यता की भ्रान्ति दूर हो जाती है। मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान आत्मा है। निदिध्यासन से स्पष्ट होता है कि आत्मा अनन्त एवं आनन्द है।

२७ सितम्बर, १६३६

२५०. एक भक्त ने महर्षि के एक सुपरिचित व्यक्ति द्वारा दिये गये असन्तोषजनक वक्तव्यों की चर्चा की।

महर्षि ने कहा : मैं उसे ऐसा करने की अनुमति देता हूँ। मैंने पहले से ही उसे अनुमति दे दी है। वह इस प्रकार और अधिक करे। दूसरे भी ऐसा कर सकते हैं। वे केवल मुझे अकेला छोड़ दें। ऐसी सूचनाओं के कारण यदि मेरे पास कोई भी न आये तो मैं उसे अपने प्रति की गयी बहुत बड़ी सेवा मानूंगा। इसके अतिरिक्त यदि वह मेरे सम्बन्ध में अपमानजनक बातें पुस्तकों में प्रकाशित कर उनकी बिक्री से धन उपार्जन करे तो वास्तव में उत्तम है। इस प्रकार की पुस्तकें अन्य पुस्तकों की अपेक्षा और अधिक शीघ्र तथा भारी संख्या में बिकती हैं। मिस मेयो की पुस्तक को देखो। वह भी ऐसा क्यों नहीं करे ? वे मेरा अत्यधिक उपकार कर रहे हैं। ऐसा कहकर महर्षि हँसने लगे।

२६ सितम्बर, १६३६

जब महर्षि अकेले थे तब इस विषय का प्रसंग फिर उठा। अपने अविचार-पूर्ण कार्य से आरोप लगाने वाले पर संकट आया हुआ प्रतीत होता है। जब यह बात बतायी गयी, महर्षि उस व्यक्ति की सुरक्षा के सम्बन्ध में चिन्तित प्रतीत हुए और उन्होंने स्पष्ट सहानुभूति के साथ कहा, "यदि उसे चाहे जिस प्रकार से धन कमाने की छूट भी दी जाय; तथापि व्यक्ति विपत्ति में फँसता है। यदि उसने हमारी सहिष्णुता का सदुपयोग कर बुद्धिमानी से कार्य किया होता तो उसका कार्य भली प्रकार चल सकता था। पर हम क्या कर सकते हैं ?"

२५१. एक विशिष्ट महिला—जो देखने में अत्यन्त बुद्धिमान प्रतीत होती थी, यद्यपि उदास, ने प्रश्न किया : "महाराजजी, हमने आपके बारे में सुना था, आप में सबसे अधिक करुणा है, आपकी आत्मा सबसे महान है। हमें बहुत समय से आपके दर्शनों की इच्छा थी। पिछले माह की १४ तारीख को भी मैं एक बार आयी थी, किन्तु जितनी देर तक मेरी इच्छा थी उतने समय तक आपके पवित्र सान्निध्य में नहीं रह सकी। एक महिला, और वह भी युवा होने के कारण इतने अधिक पुरुषों के बीच शीघ्र ही घबरा गयी और अधिक न रुक सकने के कारण ही एक-दो सरल प्रश्न करके चल दी। देश के हमारे भाग में ऐसे पवित्र पुरुष नहीं हैं। मैं जो कुछ चाहती हूँ वह सब कुछ होने से मैं सुखी हूँ। किन्तु मुझे मन की वह शान्ति नहीं है जिससे आनन्द प्राप्त होता है। आपके आशीर्वाद से मैं वह शान्ति पा सकूँ, इसलिए अब मैं यहाँ उपस्थित हुई हूँ।

म० : भक्ति से तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।

भक्त : मैं जानना चाहती हूँ कि वह शान्ति किस प्रकार प्राप्त कर सकती हूँ। कृपया अपनी कृपा कर मेरा मार्गदर्शन करें।

म० : हाँ—भक्ति तथा समर्पण।

भक्त : क्या मैं भक्त होने के योग्य हूँ ?

म० : प्रत्येक भक्त हो सकता है। आध्यात्मिक पथ सबको सुलभ है और किसी को भी उससे वंचित नहीं किया गया है, व्यक्ति चाहे वृद्ध हो अथवा युवा, पुरुष हो अथवा स्त्री।

भक्त : मैं वास्तव में यही जानना चाहती हूँ। मैं युवा हूँ तथा गृहिणी हूँ। गृहस्थ धर्म के कुछ कर्तव्य हैं। क्या ऐसी स्थिति में भक्ति संगत है ?

म० : निश्चय ही। तुम क्या हो ? तुम देह नहीं हो। तुम शुद्ध ज्ञान स्वरूप हो। गृहस्थ धर्म तथा जगत उस शुद्ध चैतन्य पर प्रतीत होने वाले केवल दृश्य मात्र हैं। वह चैतन्य अप्रभावित रहता है। तुम्हारा निज स्वरूप जैसा है वैसा रहने में क्या बाधा है ?

भक्त : महर्षि के उपदेश की पद्धति की मुझे पहले से ही जानकारी है। यह आत्मा की खोज करना है। फिर भी मुझे संशय बना रहता है कि क्या इस प्रकार की खोज गृहस्थ जीवन के अनुकूल है।

म० : आत्मा सदैव है। तुम वही हो। तुम से अन्य कुछ नहीं है। तुमसे पृथक कुछ नहीं हो सकता। अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का प्रश्न ही नहीं उठता।

भक्त : मैं अधिक स्पष्ट करूँगी। यद्यपि मैं एक अपरिचित हूँ, फिर भी मुझे अपनी चिन्ता का कारण व्यक्त करना ही है। मुझे ईश्वर ने सन्तान सुख भी दिया है। गत फरवरी में एक लड़का—एक अच्छे ब्रह्मचारी का देहावसान हो गया। मैं शोक सन्तप्त हो गयी। मैं इस जीवन से ऊब गयी। मैं अपना जीवन आध्यात्मिक बनाना चाहती हूँ किन्तु मेरे गृहिणी के कर्तव्य मुझे एकान्त में नहीं रहने देते। इस कारण मुझे संशय हुआ।

म० : एकान्त का अर्थ है आत्मा में स्थिर रहना। अधिक कुछ भी नहीं। इससे न तो एक प्रकार के वातावरण को त्यागकर अन्य प्रकार के वातावरण में चले जाने का अभिप्राय है और न स्थूल जगत को त्यागकर मानसिक जगत में प्रवेश करना है। पुत्र का जन्म एवं उसकी मृत्यु आदि केवल आत्मा में दृष्टिगोचर होते हैं।

सुषुप्ति की अवस्था का स्मरण करो। क्या तुम्हें कुछ होने का बोध था ? यदि पुत्र अथवा जगत सत्य हो तो सुषुप्ति में इन्हें तुम्हारे साथ क्यों उपस्थित न रहना चाहिए ? सुषुप्ति में तुम स्वयं के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते। तुम इस बात से भी इन्कार नहीं कर सकते कि तब तुम सुखी थे। अब बातें

करने वाले एवं संशय करने वाले तुम वही व्यक्ति हो। तुम्हारे अनुसार तुम सुखी नहीं हो। किन्तु सुषुप्ति में तुम सुखी थे। इस बीच में सुषुप्ति के सुख को नष्ट करने के लिए क्या बात हो गयी? वह अहंकार का उदय है। जाग्रत अवस्था में यह नयी वस्तु उदय हो गयी है। सुषुप्ति में अहंकार का अस्तित्व नहीं था। अहंकार का जन्म ही, व्यक्ति का जन्म कहा जाता है। अन्य किसी प्रकार का जन्म नहीं है। जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। अहंकार को मार दो जिसका एक बार मरण हो गया उसके फिर मरने का भय नहीं है। अहंकार की मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा अवशेष रहती है। यही आनन्द है। यही अमरत्व है।

भक्त : यह कैसे हो?

म० : यह देखो कि यह संशय किसको है। संशयकर्ता कौन है? विचार करने वाला कौन है? वह अहंकार है। इसे पकड़ लो। अन्य विचार नष्ट हो जायेंगे। शुद्ध अहम् रह जायगा; देखो अहम् का उदय कहाँ से होता है? वह शुद्ध चैतन्य है।

भक्त : यह कठिन प्रतीत होता है। क्या हम भक्ति मार्ग से प्रारम्भ करें?

म० : यह व्यक्तिगत स्वभाव तथा साधन के अनुसार है। भक्ति एवं विचार एक ही हैं।

भक्त : मेरा अभिप्राय ध्यान आदि से है।

म० : हाँ! ध्यान आकृति पर होता है। इससे अन्य संकल्प निकल जाते हैं। केवल ईश्वर का विचार अन्य विचारों पर प्रभुत्व रखेगा। यही एकाग्रता है। इस प्रकार ध्यान का भी वही लक्ष्य है जो विचार का है।

भक्त : हम क्या ईश्वर को साकार रूप में नहीं देख सकते?

म० : हाँ! ईश्वर दर्शन मन में होता है। साकार दर्शन सम्भव है। फिर भी यह भक्त के मन में ही है। ईश्वर के आकार तथा रूप का दर्शन भक्त के मन के द्वारा ही निर्धारित होता है। किन्तु यह अन्तिम अवस्था नहीं है। इसमें द्वैत का भाव रहता है।

यह स्वप्न के दृश्य के समान है। ईश्वरानुभूति के पश्चात विचार प्रारम्भ होता है। इसका परिणाम आत्मा का साक्षात्कार है। विचार ही अन्तिम मार्ग है।

यह ठीक है कि कुछ विचार को व्यावहारिक समझते हैं। दूसरों को भक्ति सुगम प्रतीत होती है।

भक्त : क्या श्री ब्रण्टन ने आपको लन्दन में नहीं देखा था? क्या वह केवल स्वप्न था?

म० : हाँ! उन्हें दर्शन हुआ था। उन्होंने मुझे अपने मन में देखा था।

भक्त : क्या उन्होंने यह स्पष्ट आकार नहीं देखा था ?

म० : हाँ, किन्तु अपने मन में ।

भक्त : मैं आत्मा तक किस प्रकार पहुँचूँगी ?

म० : आत्मा तक पहुँचना नहीं होता । यदि आत्मा तक जाना होता तो इसका अर्थ होगा कि आत्मा यहाँ अभी नहीं है, किन्तु इसकी नवीन प्राप्ति होगी । जिसकी नवीन प्राप्ति होगी उसका अन्त भी निश्चित है । इस प्रकार यह अस्थायी होगी । जो स्थायी नहीं है वह प्राप्त करने के योग्य नहीं है । इसलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा तक पहुँचना है नहीं । तुम आत्मा हो । तुम वही हो । सही बात यह है तुम्हें अपने आनन्दस्वरूप का लक्ष्य नहीं है । प्रमाद अकस्मात आकर पूर्ण आनन्द को आवृत्त कर लेता है । इस अज्ञान को हटाने के लिए ही प्रयास किये जाते हैं । यह अज्ञान मिथ्या ज्ञान से युक्त है । शरीर और मन आदि का आत्मा के साथ तादात्म्यता ही मिथ्या ज्ञान है । यह मिथ्या तादात्म्य निकल जाना चाहिए और तब आत्मा ही अवशेष रहेगा ।

भक्त : यह कैसे होगा ?

म० : आत्मा की खोज से ।

भक्त : यह कठिन है । महाराज क्या मैं आत्मा का साक्षात्कार कर सकती हूँ ? कृपा कर मुझे बतायें । यह अत्यन्त कठिन लगता है ।

म० : तुम अभी भी आत्मा हो । अतः साक्षात्कार प्रत्येक को समान है । साक्षात्कार साधकों में भेद नहीं करता । यह संशय ही कि "क्या मैं साक्षात्कार कर सकती हूँ" तथा यह भाव कि "मैंने साक्षात्कार नहीं किया है" बाधाएँ हैं । इनसे भी मुक्त हो जाओ ।

भक्त : किन्तु अनुभव भी आवश्यक है । जब तक मुझे अनुभव नहीं हो तब तक इन क्लेशकारक संकल्पों से मैं किस प्रकार मुक्त हो सकती हूँ ?

म० : ये भी मन में ही हैं । चूँकि तुमने स्वयं की देह से तादात्म्यता कर रखी है इसीलिए ये विचार हैं । यदि यह मिथ्या तादात्म्यता न रहे तो अज्ञान नष्ट हो जायगा और सत्य स्पष्ट होगा ।

भक्त : तथापि मैं इसे कठिन पाती हूँ । भगवान के अनेक शिष्यों ने उनके अनुग्रह से विशेष कठिनाई के बिना साक्षात्कार किया है । मैं भी वही अनुग्रह चाहती हूँ । महिला होने के कारण तथा दूर रहने से इच्छानुसार बारम्बार तथा पर्याप्त समय के लिए महर्षि का पावन सान्निध्य प्राप्त करने में असमर्थ हूँ । सम्भवतया पुनः आ ही न सकूँ । मैं भगवान के अनुग्रह की प्रार्थना करती हूँ । अपने स्थान पर वापस जाकर मैं भगवान का स्मरण करना चाहती हूँ । भगवान मेरी प्रार्थना स्वीकार करने की कृपा करें ।

म० : तुम कहाँ जा रही हो ? तुम कहीं नहीं जा रही हो। यदि तुम्हें देह मान भी लें, तो क्या तुम्हारी देह लखनऊ से तिरुवन्नामलाई तक आयी है ? तुम केवल मोटर में बैठीं तथा एक न एक वाहन चलते रहे, और अन्ततः तुम कहती हो कि तुम यहाँ आ गयीं। वास्तव में तुम देह नहीं हो। आत्मा नहीं चलता। इसमें जगत चलता है। तुम जो हो वही हो। तुममें कोई परिवर्तन नहीं है। इस प्रकार यहाँ से जाना, ऐसा दीखने पर भी तुम यत्र-तत्र-सर्वत्र हो। दृश्य बदलते रहते हैं।

जहाँ तक अनुग्रह का प्रश्न है—अनुग्रह तुम्हारे अन्दर है। यदि अनुग्रह बाहर हो तो वह वृथा है। अनुग्रह आत्मा है। तुम उसके प्रचालन से कभी भी बाहर नहीं हो। अनुग्रह सदैव है।

भक्त : मेरा आशय यह था कि जब भी आपके रूप का ध्यान करूँ, मेरा मन सशक्त हो तथा आपकी ओर से भी सहयोग प्राप्त हो। मुझे मेरे व्यक्तिगत प्रयासों तक ही न छोड़ा जाय जो कि दुर्बल ही हैं।

म० : अनुग्रह आत्मा है। मैं यह कह ही चुका हूँ, "यदि तुम भगवान का स्मरण करते हो तो आत्मा की प्रेरणा से करते हो।" क्या अनुग्रह पहले से ही नहीं है ? क्या एक भी क्षण ऐसा है जब तुम में अनुग्रह परिचालन न कर रहा हो ? तुम्हारे स्मरण के पहले से ही अनुग्रह है। यही सहयोग है, यही प्रेरणा है, यही आत्मा है तथा यही अनुग्रह है।

चिन्ता का कोई कारण नहीं है।

भक्त : क्या मैं संसार में रहकर भी आध्यात्मिक साधन कर सकती हूँ ?

म० : हाँ ! निश्चय ही। ऐसा ही करना आवश्यक है।

भक्त : क्या संसार बाधा नहीं है ? क्या सारे धार्मिक ग्रन्थ त्याग का समर्थन नहीं करते ?

म० : संसार केवल तुम्हारे मन में है। संसार कभी नहीं कहता है कि 'मैं संसार हूँ'। अन्यथा यह सदैव रहता तथा सुषुप्ति में भी रहता। चूँकि यह सुषुप्ति में नहीं है अतः यह अस्थायी है। अस्थायी होने से इसमें बल नहीं है। बल न होने से आत्मा सहज ही इसे वश में कर लेता है। केवल आत्मा ही स्थायी है। आत्मा का अनात्मा से तादात्म्य न होना ही त्याग है। अविद्या के नष्ट होने के पश्चात अनात्मा नहीं रहता। यही वास्तविक त्याग है।

भक्त : तब आपने अपनी युवावस्था में गृह-त्याग क्यों किया ?

म० : यह मेरा प्रारब्ध है। प्रत्येक व्यक्ति के इस जीवन के आचरण का क्रम उसके प्रारब्धानुसार निश्चित होता है। मेरा प्रारब्ध इस प्रकार है। तुम्हारा प्रारब्ध उस प्रकार है।

भक्त : क्या मुझे भी त्याग नहीं करना चाहिए ?

म० : यदि तुम्हारा प्रारब्ध वैसा होता तो यह प्रश्न नहीं उठता।

भक्त : इसलिए मुझे संसार में रहकर आध्यात्मिक साधना में संलग्न रहना चाहिए। अच्छा, क्या मैं इसी जन्म में साक्षात्कार कर सकूँगी ?

म० : इसका उत्तर दिया जा चुका है। तुम सदैव आत्मा हो। आन्तरिक प्रयास कभी निष्फल नहीं जाता। सफलता सुनिश्चित है।

भक्त : क्या महर्षि, मुझे भी अनुग्रह प्रदान करने की कृपा करेंगे !

महर्षि मुस्कराये और कहा—"ओउम् ओउम्"। आशीर्वाद एवं प्रणाम के साथ भेंट समाप्त हुई और मण्डली तुरन्त रवाना हो गयी।

३० सितम्बर, १९३६

२५२. **भक्त** : श्री रामकृष्ण के स्पर्श-मात्र से विवेकानन्द को आनन्द की अनूभूति हो गयी। क्या यह सम्भव है ?

म० : श्री रामकृष्ण ने केवल इसी उद्देश्य से स्पर्श नहीं किया था। उन्होंने आत्मा को उत्पन्न नहीं किया था। उन्होंने साक्षात्कार उत्पन्न नहीं किया था। विवेकानन्द परिपक्व थे। उन्हें साक्षात्कार की व्याकुलता थी। वे निश्चय ही अपने पूर्व-जन्मों में प्रारम्भिक साधना का क्रम पूरा कर चुके होंगे। केवल परिपक्व व्यक्तियों के लिए ही ऐसा होना सम्भव है।

भक्त : क्या यह चमत्कार सब व्यक्तियों के लिए सम्भव है ?

म० : यदि उनमें योग्यता हो। योग्यता ही मुख्य है। शक्तिशाली व्यक्ति निर्बल व्यक्ति को नियन्त्रित करता है। शक्तिशाली मन दुर्बल मन को नियन्त्रित करता है। उपरोक्त उदाहरण में यही हुआ। प्रभाव केवल अस्थायी था। विवेकानन्द शान्ति से क्यों नहीं बैठे ? ऐसे चमत्कार के बाद भी वे इतना क्यों घूमते रहे ? क्योंकि प्रभाव केवल अस्थायी था।

भक्त : मन को हृदय में कैसे डुबाया जाय ?

म० : इस समय मन अपने को नानात्व के रूप में जगत को देखता है। यदि नानात्व का उदय न हो तो वह अपने सत्व में अर्थात् हृदय में रहे। हृदय में प्रवेश का अर्थ है बिना विक्षेप के रहना।

केवल हृदय ही एकमात्र सत्यता है। मन केवल अस्थायी अवस्था है। आत्मभाव से रहने का तात्पर्य हृदय में प्रवेश होना है।

चूँकि मनुष्य देह से तादात्म्यता कर लेता है, वह जगत को अपने से भिन्न देखता है। मूल अवस्था से भटक जाने से तथा सम्पर्क सूत्र भंग हो जाने से मिथ्या तादात्म्यता का उदय होता है। अब उसे इन सब मिथ्या धारणाओं

से निवृत्त हो पुनः अपने स्रोत में पीछे लौटकर आत्मभाव से रहने का निर्देश दिया जाता है। तब प्रश्न उदय नहीं होंगे।

सारे शास्त्रों का प्रयोजन केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने मूल स्रोत की ओर वापस लौटे। उसे किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं करनी है। उसे केवल भ्रान्त धारणाओं तथा वृथा के संकल्पों को छोड़ना है। इसके स्थान पर मनुष्य विचित्र तथा रहस्यमय वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है क्योंकि उसके अनुसार सुख कहीं अन्यत्र है। यही भूल है।

यदि व्यक्ति आत्मभाव से रहे तो आनन्द है। सम्भवतः वह यह सोचता है कि शान्त होने से आनन्द की अवस्था प्राप्त नहीं होती है। यही उसका अज्ञान है। एक ही अभ्यास करना है, "यह प्रश्न किसको उदय हो रहे हैं ?"

भक्त : काम, क्रोध, आदि पर संयम कैसे करें ?

म० : ये वासनाएँ किसकी हैं ? यह जानो। यदि तुम आत्मभाव से रहोगे तो आत्मा से अलग कुछ भी नहीं दिखायी देगा। तब संयम आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी।

भक्त : यदि ऐसे व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है जिसे हम स्नेह करते हैं तो उसका परिणाम शोक होता है। इस शोक से बचने के लिए क्या हमें सभी को एकसमान प्रेम करना चाहिए अथवा किसी को भी प्रेम न करें।

म० : एक की मृत्यु पर अन्य जीवित व्यक्ति शोक करता है। इस शोक से बचने का उपाय है, जीव-भाव से न रहना। शोक करने वाले अहम् को खतम कर दो। फिर दुःख भोगने वाला कौन रहेगा ? अहम् भाव की मृत्यु नितान्त आवश्यक है। केवल यही मार्ग है।

दोनों विकल्पों का एक ही अभिप्राय है। जब सभी आत्मरूप हो जायेंगे तो प्रेम अथवा घृणा करने को कौन होगा ?

भक्त : सूर्य मार्ग क्या है ? चन्द्र मार्ग क्या है ? इनमें सरल कौन है ?

म० : रवि मार्ग ज्ञान है। चन्द्र मार्ग योग है। ऐसा कहते हैं कि देह की ७२००० नाड़ियों को शुद्ध करने के उपरान्त सुषुम्ना में पहुँचकर मन सहस्रार तक जाता है जहाँ अमृत का झरना बह रहा है।

ये सब मानसिक कल्पनाएँ हैं। मनुष्य पहले से ही संसार की कल्पनाओं से घिरा हुआ है। अब योग के रूप में अन्य कल्पनाएँ और जुड़ जाती हैं। इन सब का एकमात्र लक्ष्य मनुष्य को कल्पनाओं से छुटकारा दिलाकर उसे संकल्प शून्य आत्म-चैतन्य में स्थिर करना है। उस तक सीधे मार्ग से क्यों न जाया जाय ? पहले से ही उपस्थित भार में और भार क्यों बढ़ाया जाय ?

१ अक्टूबर, १९३६

२५३. सिन्धिया स्कूल ग्वालियर के प्रिन्सिपल श्री एफ० जी० पीयर्स श्री भगवान का उपदेश है ["सद् विद्या अनुबन्धम्" में (पूरक) श्लोक २७"] : "उन विद्वानों से जिन्होंने आत्मा की शोध से अपना अहंकार नष्ट नहीं किया है उनसे अशिक्षित निश्चय ही अच्छे हैं।" इस अवस्था में एक स्कूल अध्यापक को (जिसकी इस कथन में निष्ठा है) शिक्षा जारी रखने हेतु ऐसा उपदेश प्रदान करें जिससे आत्मशोध के महत्त्वपूर्ण कर्तव्य को गौण किये बिना अध्ययन एवं बौद्धिक ज्ञान की जिज्ञासा बनी रहे। क्या दोनों असंगत हैं ? यदि वे नहीं हैं तो किस आयु के पश्चात तथा किन साधनों द्वारा नवयुवकों को अपने अन्दर स्थित वास्तविक सत्य की शोध के लिए प्रेरित किया जा सकता है ?

म० : विद्या नहीं अपितु विद्या का अभिमान तथा प्रशंसा की इच्छा को त्याज्य कहा है। सत्य की शोध एवं विनम्रता की प्रेरक विद्या उत्तम है।

[उसी जिज्ञासु ने प्रार्थना की :

उपरोक्त प्रश्नकर्त्ता ने अत्यन्त मूल्यवान दो दिन भगवान महर्षि के सान्निध्य में व्यतीत किये हैं। (उन्होंने १७ वर्ष पूर्व महर्षि को कुछ क्षणों के लिए पर्वत के समीप पिछली बार देखा था।) प्रश्नकर्ता के कर्तव्य पुनः उसे सुदूर उत्तर में चले जाने को बाध्य कर रहे हैं तथा वे कदाचित अनेक वर्ष तक न आ सकें।

वे महर्षि से विनीत भाव से प्रार्थना करते हैं कि उनके साथ महर्षि सबल श्रृंखला स्थापित कर अपने अनुग्रह से उनके आत्मा की शोध करने के प्रयास में निरन्तर कृपा करते रहें। इस पर महर्षि किंचित मुस्कराये।]

२५४. श्री डंकन ग्रीन लीस ने "श्रीमद्भागवत" में से कुछ श्लोक उद्धृत किये जिनका आशय निम्न है :

"निज आत्मा को शुद्ध आकाश की भाँति सबमें आन्तरिक तथा बाह्य रूप से व्याप्त देखो।"

"निःसंकोच होकर, अछूत, गौ अथवा गधे के समक्ष साष्टांग प्रणाम करो।"

"जब तक सबमें आत्मानुभूति न हो, तब तक सबकी तन-मन से अर्चना करते रहो।"

"सम्यक् ज्ञान से सबको ब्रह्मरूप देखो। यह स्पष्ट होते ही समस्त संशय नष्ट हो जायेंगे और तुम आत्मा में स्थित हो जाओगे।" तदुपरान्त उन्होंने निम्न प्रश्न किये :

भक्त : अद्वैत आत्मा के साक्षात्कार के लिए क्या यही मार्ग ठीक है ? क्या कुछ व्यक्तियों के लिए जो भी उनके समक्ष आये उसी में भगवान का दर्शन

करने का अभ्यास—"मैं कौन हूँ"—की मानसिक शोध उस मन से परे आत्मा की खोज करने से अधिक सरल न होगा ?

म० : हाँ ! जब तुम सर्वत्र ईश्वर को देखते हो, क्या तुम ईश्वर का विचार करते हो अथवा नहीं ? सर्वत्र ईश्वर देखने के लिए तुम्हें ईश्वर अपने मन में रखना ही होगा। ईश्वर को मन में रखना ही ध्यान है। ध्यान साक्षात्कार से पूर्व की अवस्था है। साक्षात्कार आत्मा में ही होता है। उससे पहले ध्यान आवश्यक है। तुम ध्यान ईश्वर का करते हो अथवा आत्मा का, इसमें अन्तर नहीं। लक्ष्य एक ही है।

पर तुम आत्मा से बच नहीं सकते। तुम ईश्वर को सब में देखना चाहते हो; किन्तु अपने में नहीं। यदि सब ईश्वर हैं तो क्या तुम उस सब में ही नहीं हो ? जब तुम स्वयं ईश्वर हो तो सब कुछ ईश्वर है, इसमें क्या आश्चर्य है ? किसी अभ्यास के करने में देखने वाला या विचार करने वाला ऐसा उस अभ्यास का करने वाला कर्ता होना चाहिए। वह कौन है ?

भक्त : काव्य, संगीत, जप, भजन, सुन्दर दृश्यावली, आध्यात्मिक विभूतियों के जीवन-चरित्र पढ़ने आदि से अनेक बार सर्व-ऐक्यता के वास्तविक भाव का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। क्या यह परम आनन्दमय शान्ति की भावना ही (जिसमें व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं होता) हृदय में प्रवेश करना है जिसका भगवान उपदेश करते हैं ? क्या वह अभ्यास गहनतर समाधि की उपलब्धि कराने में समर्थ है जिससे उस अनन्त सत्य का पूर्ण दर्शन होगा ?

म० : आनन्ददायक दृश्य आदि देखने से सुख की प्राप्ति होती है। यह आत्मा का स्वरूपभूत सुख ही है। वह भिन्न वस्तु अथवा भविष्य में प्राप्त हो ऐसी वस्तु नहीं है। जिन क्षणों को तुम सुख मानते हो उन क्षणों में तुम आत्मा में डूबते हो। यह डूबना ही स्वतः-सिद्ध आनन्द को प्रकट करता है। किन्तु विचारों का संग इस आनन्द को अन्य वस्तुओं तथा घटनाओं से मिला देता है। वास्तव में यह आनन्द तुम में ही है। ऐसे क्षणों में तुम आत्मा में यद्यपि अनजाने डूबते हो। यदि ऐसा जानबूझकर किया जाय तो यही साक्षात्कार है। मैं चाहता हूँ कि तुम बोध से ही आत्मा में अर्थात् हृदय में डूबो।

२५५. यदि आत्मा की सदैव अनुभूति करनी है तो हमें केवल चुप हो जाना चाहिए। क्या ऐसा है ?

म० : यदि तुम अन्य कार्यों में लगे बिना शान्त रह सको तो बहुत अच्छा है। यदि ऐसा न हो सके, तो जहाँ तक साक्षात्कार का सम्बन्ध है, चुप रहने से क्या लाभ ? जब तक किसी को कार्य में व्यस्त रहना पड़े, उसे आत्म-साक्षात्कार का प्रयास नहीं त्यागना चाहिए।

२५६. पदार्थों का मन्द ज्ञान रखने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया। संशय यह था कि क्या ऐसा मन्द ज्ञानी 'केवल निर्विकल्प' की उपलब्धि से वंचित रह गया।

म० : 'केवल निर्विकल्प' तनुमानसा भूमिका में भी होता है।

भक्त : सामान्य तथा उच्च ज्ञानियों को जीवन मुक्त कहा जाता है। 'केवल निर्विकल्प' तनुमानसा अवस्था में होता है। मन्द ज्ञानी इस क्रम में कहाँ आता है?

म० : वह सत्वापत्ति (साक्षात्कार) में आता है जबकि सामान्य तथा उच्च कोटि के क्रमशः असंसक्ति तथा पदार्थाभाविनी में आते हैं। यह मन्द, मध्यम तथा उच्च विभाजन प्रारब्ध की प्रगति के अनुसार है। यदि प्रारब्ध प्रबल होगा तो ज्ञानी मन्द होगा; यदि प्रारब्ध मध्यम होगा तो ज्ञानी भी मध्यम होगा तथा यदि प्रारब्ध दुर्बल है तो ज्ञानी उच्च है; यदि प्रारब्ध अत्यन्त दुर्बल है तो ज्ञानी तुर्यगा में है।

ज्ञानियों के ज्ञान तथा समाधि अवस्था में कोई अन्तर नहीं है। यह विभाजन केवल देखने वाले की दृष्टि में है।

भक्त : क्या तनुमानसा तथा मुमुक्षुत्व एक ही है?

म० : नहीं। सद्-असद् विवेक, वैराग्य, मुमुक्षुत्व आदि छह गुण से शुभेच्छा नाम की प्रथम भूमिका होती है। मुमुक्षुत्व के पश्चात प्रथम भूमिका की प्राप्ति होती है। तदुपरान्त विचारणा तब सूक्ष्म मन। प्रत्यक्ष अनुभव सत्वापत्ति (साक्षात्कार) में होता है।

इन प्रश्नों की चर्चा अनावश्यक है। जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति का विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। सदेह व्यक्ति की भी कदाचित विदेह मुक्ति सम्भव मानी जाती है। वास्तव में मुक्ति निज स्वरूप का दूसरा नाम है।

ज्ञान की सप्त भूमिकाएँ निम्न प्रकार हैं :

(१) शुभेच्छा;
(२) विचारणा,
(३) तनुमानसा,
(४) सत्वापत्ति,
(५) असंसक्ति,
(६) पदार्थाभाविनी,
(७) तुर्यगा।

जिन्होंने अन्तिम चार भूमिकाओं की प्राप्ति कर ली है उनको क्रमशः ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, तथा ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं।

२५७. डिण्डीगुल के एक युवक ने महर्षि से कहा कि कुछ दिनों के रहने से उसे यह पता चला है कि उसे केवल "मैं कौन हूँ" की शोध करना है। वह यह पूछना चाहता था कि क्या इसके लिए किसी संयम की आवश्यकता है। और उसने प्रश्न पूछा : "मैं विचार कहाँ करूँ ? अर्थात् क्या उसे यह गुरू के सान्निध्य में करना चाहिए।

म० : जहाँ "मैं" है वहीं से शोध करना आवश्यक है।

भक्त : लोग जीवन का सर्वस्व प्राप्त करने के लिए प्रयास करते हैं। मेरे विचार से वे सही मार्ग पर नहीं हैं। श्री भगवान ने पर्याप्त तप कर लक्ष्य प्राप्त किया है। श्री भगवान की यह भी कामना है कि सभी लक्ष्य प्राप्त करें तथा वे उसकी प्राप्ति के लिए सहायता करने को भी तत्पर हैं। उनके द्वारा किया गया तप दूसरों को सरलता से सफलता प्राप्त कराने में सहायता करेगा। उन्हें श्री भगवान द्वारा किये गये कठोर तप करने की आवश्यकता नहीं है। श्री भगवान ने उनका मार्ग सरल कर दिया है। क्या मेरा कहना ठीक नहीं ?

महर्षि मुस्कराये तथा बोले : "यदि ऐसा होता तो सभी सहज ही लक्ष्य प्राप्त कर लेते। पर प्रत्येक को अपने लिये स्वयं ही प्रयत्न करना होगा।"

२५८. मैसूर के एक युवक ने श्री भगवान को एक लिखित परची दी तथा उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा। श्री भगवान से उसकी जिज्ञासा थी कि मार्ग-दर्शन हेतु अन्य महात्मा कहाँ मिल सकते हैं ? उसने यह भी स्वीकार किया कि वह अपने घर के बड़ों को सूचित किये बिना महात्माओं के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति हेतु घर छोड़कर आ गया है। वास्तव में वह ईश्वर तथा उसकी खोज से नितान्त अनभिज्ञ है। इसलिए वह महात्माओं के दर्शन करने का इच्छुक है।

श्री भगवान ने परची लौटाकर कहा : "मैं किसी भी तथा प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दूँगा। जब तक मैं ऐसा न करूँ मैं महान नहीं।"

लड़के ने परची फाड़ दी तथा दूसरी लिखी जिसमें लिखा था : "आप गिलहरी तथा खरगोशों के प्रति दयालु हैं। जब ये आपके पास से भागने के लिए प्रयास करते हैं तो आप इन्हें दुलारते हैं तथापि आप मनुष्यों के प्रति उदासीन हैं। उदाहरण के लिए, मैंने अपना घर छोड़ दिया है और यहाँ एक पखवारा से प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कुछ दिनों तक मुझे भोजन नहीं मिला। मैं संघर्ष कर रहा हूँ। फिर भी आप मेरी चिन्ता नहीं करते।"

म० : देखो ! मैं दूरदर्शन यन्त्र (टेलीविजन) से युक्त नहीं हूँ। ईश्वर ने मुझे वह क्षमता प्रदान नहीं की है। मैं क्या कर सकता हूँ ? तुम्हारे प्रश्नों का मैं कैसे उत्तर दे सकता हूँ ? लोग मुझे महर्षि कहते हैं तथा उसी प्रकार व्यवहार करते हैं। किन्तु मैं स्वयं को महर्षि की तरह नहीं देखता। इसके

विपरीत मेरे लिये प्रत्येक व्यक्ति महर्षि है। यह अच्छा है कि इतनी अल्प-आयु में तुम ईश्वर की खोज करने का प्रयत्न कर रहे हो। उस पर ध्यान एकाग्र करो। फल की इच्छाओं का त्याग कर अपना कार्य करो। तुमको केवल यही करना है।

२५९. नाद, बिन्दु तथा कला; प्राण, मन तथा बुद्धि के अनुरूप हैं। ईश्वर नाद से परे है।

योग साहित्य में नाद, ज्योति आदि का वर्णन है। किन्तु ईश्वर इससे परे है।

रक्त-प्रवाह, वायु से सांस लेना, तथा शरीर की अन्य क्रियाओं से ध्वनि उत्पन्न होना अनिवार्य है। यह ध्वनि सहज तथा निरन्तर होती है। यही नाद है।

२६०. "सण्डे टाइम्स" में "हिमालय के एक साधु"* का एक उद्धरण प्रकाशित हुआ है। लेख पूर्व-जन्मों की पुनःस्मृति से सम्बन्धित है। इसमें पाल ब्रंटन द्वारा उस सिद्धि को प्राप्त करने के लिए बौद्ध साधकों की पद्धति का वर्णन है।

श्री भगवान ने कहा : "कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने पूर्व-जन्म एवं भविष्य के विषय में सब कुछ जानना चाहते हैं। वे वर्तमान को दुर्लक्ष्य करते हैं। भूतकाल का भार ही वर्तमान का क्लेश बनता है। भूतकाल को स्मरण करने का प्रयत्न केवल समय को नष्ट करना है।"

२६१. पुनर्जन्म का सन्दर्भ चल रहा था। शान्ति देवी का पुनर्जन्म वर्तमान समय के मानवीय नियमों के अनुसार है। जबकि अभी हाल ही के बताये गये एक सात वर्ष के लड़के का प्रसंग भिन्न प्रकार का है। बालक अब सात वर्ष का है। वह पूर्व-जन्मों का हाल बताता है। जाँच करने से पता चला कि उसने पिछला शरीर दस माह पहले छोड़ा था।

प्रश्न यह है कि पिछले शरीर की मृत्यु के पहले के छः वर्ष तथा दो माह में क्या स्थिति रही। क्या जीवात्मा एक साथ दो शरीरों में रही?

श्री भगवान ने संकेत किया कि बालक के अनुसार समय सात वर्ष है। दूसरे देखने वाले के अनुसार दस मास है। दो भिन्न उपाधियों के कारण ही यह अन्तर है। देखने वाले ने बालक के सात वर्ष के अनुभव की अपने स्वयं के समय के केवल दस मास के हिसाब से गणना की है।

श्री भगवान ने योग वाशिष्ठ में वर्णित लीला की कथा का प्रसंग दुबारा बताया।

---

* "A Hermit in the Himalayas."

२६२. डा० सैयद, एक मुसलमान प्रोफेसर, आजकल यहाँ हैं। उनके एक संशयशील साथी ने उनसे प्रश्न किया : "तुम्हारे महर्षि क्या चमत्कार करते हैं ?"

प्रोफेसर का उत्तर था, सामान्य मनुष्य जो प्रायः पशुवतः ही हैं, उनको मानवता प्रदान की जाती है। और चूँकि हम उनके बालक हैं, महर्षि हमको शक्ति प्रदान करते हैं। वह जानना चाहते थे कि क्या उसको उनका उत्तर ठीक था। "हृदय में शान्ति पहुँचाना ही एक सर्वोच्च चमत्कार है जो महर्षि में है।"

उस मित्र ने पूछा : "उससे हमें क्या प्रयोजन ?" मैंने उत्तर दिया, "यही शान्ति प्रत्येक यात्री को प्रदान की जाती है, जिससे वह भी इससे लाभ उठा सके। श्री पाल ब्रंटन ने अपनी पुस्तक में उसकी चर्चा की है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन महर्षि के सान्निध्य में इसकी अनुभूति होती है।"

श्री भगवान के समक्ष पूरी वार्तालाप की चर्चा की गयी, इसमें निम्न बात और जोड़ी गयी :

परशुराम का कथन है कि मार्ग में संवृत्त से मिलकर उन्हें कुछ शीतल, आन्तरिक शान्ति का अनुभव हुआ। अतः उन्हें संवृत्त बहुत बड़े सन्त लगे। क्या इस प्रकार की शान्ति किसी महात्मा के सान्निध्य की एकमात्र कसौटी नहीं है ? क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ है ?

श्री भगवान ने कहा : एक माधव संत ततवरोयार ने अपने गुरु स्वरूपानन्द पर एक भरणी रची है। विद्वानों ने उस रचना पर अपना विरोध प्रकट किया। उनकी आपत्ति यह थी कि यह युद्ध में एक सहस्र से अधिक हाथियों को मारने वाले योद्धा के निमित्त ही लिखी जानी चाहिए। जबकि स्वरूपानन्द एक आलसी व्यक्ति था जो किसी अज्ञात स्थान में, जिसको लोग नहीं जानते थे, बैठा रहता था तथा वह इस स्तुति का पात्र नहीं था। ततवरोयार ने उन सबसे उनके गुरु के समक्ष चलने को कहा जिससे कि वे स्वयं ही यह देख लें कि क्या वह एक ही समय में एक हजार हाथी मार सकता है। उन्होंने ऐसा ही किया। जैसे ही वे वहाँ पहुँचे वे तुरन्त मौन हो गये, और कई दिन तक जड़वत अनन्त शान्ति में स्थिर रहे। चेतना आने पर उन्होंने गुरु एवं शिष्य को प्रणाम कर पूर्ण सन्तोष व्यक्त किया। अहम् भावों को वश में करने की क्षमता होने से स्वरूपानन्द योद्धाओं से भी बढ़कर थे। यह कार्य एक सहस्र हाथियों को मारने से भी कहीं अधिक दुष्कर है।

महर्षि ने कहा कि इस दृष्टान्त से प्राप्त होने वाली शिक्षा स्पष्ट है। महात्मा के सान्निध्य में शान्ति ही एकमात्र कसौटी है।

२० अक्टूबर, १९३६

२६३. डा० सैयद : श्री भगवान कहते हैं कि हृदय आत्मा है। मनोविज्ञान के अनुसार दुर्भावना, ईर्ष्या, द्वेष तथा अन्य वासनाओं का केन्द्र हृदय में है। दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कैसे हो ?

म० : हृदय के एक सूक्ष्म छिद्र में समस्त विश्व समाया हुआ है। यह वासनाएँ भी विश्व का अंग हैं। वे ही अविद्या हैं।

भक्त : अविद्या का उदय किस प्रकार हुआ ?

म० : अविद्या माया के समान है। (जिसका अस्तित्व नहीं है, वही माया है।) इसी प्रकार जिसका अस्तित्व नहीं है, वह अविद्या है। अतः यह प्रश्न नहीं उठता। तथापि प्रश्न पूछा जाता है। तब पूछो : "यह अविद्या किसकी है ?" अविद्या अज्ञान है। इसमें दृष्टा-दृश्य भाव निहित है। दृष्टा बने रहो; दृश्य नहीं रहेगा।

भक्त : अविद्या क्या है ?

म० : आत्मा का अज्ञान। आत्मा का अज्ञान किसे है ? आत्मा को ही आत्मा का अज्ञान होना चाहिए। तब क्या आत्माएँ दो हैं ?

२६४. **भक्त** : क्या भगवान जगत को अपने अंश के रूप में देखते हैं ? वे जगत को किस रूप में देखते हैं ?

म० : केवल आत्मा का अस्तित्व है, अन्य कुछ नहीं। तथापि अविद्या के कारण भेद उत्पन्न होता है। भेद तीन प्रकार का है : (१) तदनुरूप, (२) भिन्न रूप, (३) अंश रूप।

जगत आत्मा की तरह दूसरी आत्मा नहीं है। न यह आत्मा से भिन्न है; न यह आत्मा का अंश है।

भक्त : क्या जगत आत्मा का ही प्रतिबिम्ब नहीं है ?

म० : प्रतिबिम्ब हेतु पदार्थ तथा छाया का होना आवश्यक है। किन्तु आत्मा में ऐसे भेद नहीं हैं।

भक्त : तब क्या भगवान जगत नहीं देखते ?

म० : भगवान से तुम्हारा क्या आशय है ?

भक्त : मेरा आशय मुझसे अधिक ऊँचा एक जीव से है।

म० : यदि तुम अपने जीव को समझ लोगे तो अन्य जीव भी समझ में आ जायगा।

भक्त : मैं वाद-विवाद नहीं करना चाहता। मैं सीखना चाहता हूँ, कृपया मुझे उपदेश दें।

म० : चूँकि तुम जानना चाहते हो, अतः वाद-विवाद अनिवार्य है। इस सबको दूर करो। अपनी सुषुप्ति पर विचार करो। क्या उस समय तुम्हें बन्धन का भान होता है, और क्या तुम उस समय मोक्ष के साधनों की खोज करते हो ? क्या तब तुम्हें अपनी देह का भी भान होता है ? बन्धन का भाव देह के सम्बन्ध से है। अन्यथा कोई बन्धन नहीं है, न कोई वस्तु है जिससे बन्धन हो और न कोई व्यक्ति है जिसका बन्धन हो। तथापि यह तुम्हारी जाग्रत अवस्था में दीखते हैं। यह विचार करो कि ये भाव किसको दीखते हैं ?

भक्त : मन को।

म० : मन पर दृष्टि रखो। तुमको उससे अलग ही रहना है। तुम मन नहीं हो। आत्मा ही शेष रहेगा।

भक्त : क्या श्री भगवान का विकास में विश्वास है ?

म० : विकास एक अवस्था से दूसरी अवस्था में ही होता है। जब भेद ही नहीं है तो विकास कैसे होगा ?

भक्त : श्री कृष्ण ने ऐसा क्यों कहा है। "अनेक जन्म के उपरान्त साधक ज्ञान प्राप्त करता है और इस प्रकार मुझे जान पाता है।" एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक विकास अवश्य होगा।

म० : भगवद्गीता का प्रारम्भ कैसे होता है ?

"न मैं था, न तुम थे, न ये राजा थे" "न ये जन्म लेते हैं, न ये मरते हैं।" इत्यादि।

इस प्रकार न जन्म है न मृत्यु, न वर्तमान जैसा तुम उसे देखते हो। केवल सत्य का अस्तित्व था, है, तथा रहेगा। यह अपरिवर्तित है। बाद में अर्जुन ने श्री कृष्ण से प्रश्न किया कि आप आदित्य से पूर्व किस प्रकार हुए होंगे। इस पर श्री कृष्ण ने यह जानकर कि वह उनको भ्रमवश स्थूल देह मान रहा है, उसे यथोचित उपदेश दिया। जो भेद देख रहा है उसी के लिए उपदेश है। वास्तव में ज्ञानी के दृष्टिकोण से न उसके लिए और न अन्य लोगों के लिए न बन्धन है, न मुक्ति है।

भक्त : क्या सब मुक्त अवस्था में हैं ?

म० : 'सब' हैं कहाँ ? मुक्ति भी कहाँ है ? यह तभी होगी जब बन्धन होगा। वस्तुतः बन्धन था ही नहीं, अतः मुक्ति भी नहीं है।

भक्त : किन्तु अनेक जन्मों में विकास करने हेतु साधना, वर्षों का अभ्यास आवश्यक है।

म० : सहज शान्ति में जो बाधा है केवल उसको हटाने के लिए ही अभ्यास है। वर्षों का प्रश्न नहीं। इसी क्षण इस विचार को हटाओ। अभ्यास करो अथवा न करो, तुम अपनी सहज स्थिति में ही हो।

एक अन्य व्यक्ति ने प्रश्न किया : तब सभी आत्मा की अनुभूति क्यों नहीं कर लेते ?

म० : यह भी दूसरे ढंग से वही प्रश्न है। तुम यह प्रश्न क्यों उठाते हो ? चूँकि तुम अभ्यास का प्रश्न उठाते हो, इससे ऐसा प्रकट होता है कि तुम्हें अभ्यास की आवश्यकता है। यह समझो।

किन्तु प्रश्नों तथा सन्देहों से मुक्त रहना ही सहज स्थिति है।

ईश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न किया तथा मनुष्य ने ईश्वर को उत्पन्न किया। वे दोनों केवल नाम रूप के जन्मदाता हैं। वस्तुतः न ईश्वर का निर्माण हुआ न मनुष्य का।

२१ अक्टूबर, १९३६

२६५. वह विशिष्ट महिला कुछ दिन बाद फिर आयी, सीधे महर्षि के पास जाकर प्रणाम कर बोली :

"पिछली बार मैं अपने पति तथा बच्चों के साथ यहाँ आयी थी। समय कम था, और मैं उनके भोजन की चिन्ता कर रही थी। इस कारण मैं यहाँ जितनी देर ठहरना चाहती थी उतनी देर नहीं ठहर सकी। पर बाद में मुझे इतना शीघ्र वापस लौटना ठीक नहीं लगा। अब मैं महर्षि के सान्निध्य में शान्ति से बैठकर उनसे अनुग्रह अन्तर्ग्रहण करने के लिए यहाँ उपस्थित हुई हूँ। कृपया वे मुझे मानसिक बल प्रदान करें !"

कक्ष पहले से ही मनुष्यों से खाली करा दिया गया था। वह एक साधारण दरी पर श्री भगवान के समक्ष बैठ गयी। मुस्कराते हुए श्री भगवान ने कहा : "हाँ, मौन नित्य वाणी है। सामान्य वाणी उस हार्दिक वार्ता में बाधा उत्पन्न करती है।"

उसने सहमति प्रकट की और शान्त बैठ गयी। श्री भगवान सोफे पर आराम कर रहे थे। उनकी दृष्टि उसकी ओर टिकी हुई थी, तथा उनके अधरों पर अनुग्रहपूर्ण मुस्कराहट थी।

लगभग एक घण्टे तक दोनों पूर्णतया स्थिर तथा मौन रहे।

प्रसाद वितरण हुआ। महिला ने कहा : "अब मैं वापस जाना चाहती हूँ। बंगलौर तथा इस स्थान के बीच की नदी में बाढ़ आ गयी है। जब मैं इधर आ रही थी तब बाढ़ में एक बस उलट गयी थी। मेरी कार बाद में आयी और मैंने वह दुर्घटना देखी। तथापि नदी को पार करने में मुझे भय नहीं हुआ। मेरी कार सुरक्षित निकल आयी। मैं दिन में ही वापस जाना चाहती हूँ।"

इस बार मैं पहले की तरह यह नहीं कहूँगी कि यह मेरा अन्तिम आगमन है। मुझे नहीं मालूम, तो भी सम्भव है ऐसा ही हो। तथापि महर्षि मुझे मानसिक बल प्रदान करें।

"मैं भक्ति की कामना करती हूँ, मेरी इस आकांक्षा में और अधिक वृद्धि हो। मेरे लिये साक्षात्कार का भी कोई महत्त्व नहीं है। मेरी आंकाक्षा प्रबल हो।"

"यदि आकांक्षा हो तो बिना इच्छा के भी साक्षात्कार अवश्यमेव आयेगा ही। शुभेच्छा साक्षात्कार का द्वार है।

भक्त : आपके अनुग्रह से ऐसा ही हो। पर मैं तो शुभेच्छा से ही सन्तुष्ट हूँ। जब मैं इस स्थान से दूर रहूँ तो भी मेरी भक्ति में कमी न हो। कृपया श्री भगवान मुझे आवश्यक शक्ति प्रदान करें। ऐसी दृढ़ भक्ति केवल उनकी कृपा से ही सम्भव है। मैं स्वयं अत्यन्त दुर्बल हूँ।

जब पिछली बार मैं यहाँ थी तब मैंने अनेक प्रश्न पूछे थे। परन्तु मैं श्री भगवान द्वारा दिये गये उत्तरों को समझ नहीं सकी। मैंने निश्चय किया कि अब मैं और कोई प्रश्न न पूछकर केवल महर्षि की सन्निधि में शान्ति से बैठ उनसे प्राप्त अनुग्रह हृदयंगम करूँगी। इस कारण इस बार मैं महर्षि से अधिक प्रश्न नहीं कर रही। केवल उनके कृपापूर्ण अनुग्रह की कामना करती हूँ।

म० : तुम्हारा बारम्बार का आगमन अनुग्रह प्राप्ति का द्योतक है।

महिला को आश्चर्य हुआ और उसने कहा : "मैं महर्षि से यह पूछने ही वाली थी कि क्या महर्षि ने मुझे बुलाया है। कारण आज अनायास प्रातः मेरे पति ने कहा : दो दिन उपलब्ध हैं। चाहो तो महर्षि के दर्शन कर आओ।"

"मुझे अत्यन्त सुखद आश्चर्य हुआ। मैंने इसे महर्षि का आदेश माना।"

महिला ने महर्षि के सामीप्य में निवास करने की इच्छा व्यक्त की तथा उनके आशीर्वाद की याचना की।

महर्षि ने कहा : "एक उच्चतर शक्ति तुम्हारा मार्गदर्शन कर रही है। उसी के निर्देशन में चलो।"

भक्त : किन्तु मुझे इसका बोध नहीं। मुझे उसका बोध कराने की कृपा करें।

म० : उच्चतर शक्ति जानती है कि क्या करे और कैसे करे। उसमें आस्था रखो।

२६६. मुसलमान प्रोफेसर ने पूछा : ऐसा मत है कि इच्छा का त्याग करना चाहिए। किन्तु देह की कुछ अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। क्या करना है ?

म० : मुमुक्षु तीन साधनों से सम्पन्न होना चाहिए। (१) इच्छा, (२) भक्ति, तथा (३) श्रद्धा। इच्छा से तात्पर्य है देहजनित इच्छाओं की

पूर्ति बिना देह में राग रखे, (यथा भूख प्यास तथा मल-मूत्र विसर्जन आदि)। जब तक यह नहीं किया जाता, ध्यान में प्रगति नहीं हो सकती। भक्ति तथा श्रद्धा जानते ही हैं।

भक्त : इच्छाएँ दो प्रकार की हैं—निम्न तथा श्रेष्ठ। निम्न को श्रेष्ठ में परिवर्तित करना हमारा कर्तव्य है।

म० : हाँ !

भक्त : अच्छा भगवान ! आपने तीन साधनों का वर्णन किया जिनमें से इच्छा देह आदि से राग किये बिना स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति है। मैं तीन अथवा चार बार प्रतिदिन भोजन करता हूँ तथा देहजनित आवश्यकताओं पर इतना अधिक ध्यान देता हूँ कि मैं देह के भार से दब जाता हूँ। क्या ऐसी कोई अवस्था है जब मैं देहरहित हो जाऊँ, जिससे कि मैं देहजन्य आवश्यकताओं के क्लेश से मुक्त हो जाऊँ ?

म० : आसक्ति (राग, द्वेष) हानिकारक है। कर्म अपने आप में बुरा नहीं है। तीन अथवा चार बार भोजन करने में कोई हानि नहीं है। किन्तु केवल यही मत कहो—"मुझे इस प्रकार का भोजन प्रिय है और उस प्रकार का नहीं," तथा इसी प्रकार।

इसके अतिरिक्त तुम जाग्रत अवस्था के बारह घण्टों में ये भोजनादि करते हो न कि सुषुप्ति के समय में। क्या सुषुप्ति तुम्हें मुक्ति की ओर ले जाती है ? यह मानना भूल है कि केवल निष्क्रियता मोक्ष करा देती है।

भक्त : सदेह तथा विदेह मुक्तों का वर्णन आता है।

म० : कोई मुक्ति नहीं है ! और मुक्त कहाँ है ?

भक्त : क्या हिन्दू शास्त्रों में मुक्ति का वर्णन नहीं है ?

म० : मुक्ति आत्मा का ही दूसरा नाम है। जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्ति सब अज्ञानियों के लिए है। ज्ञानी को न मुक्ति का भान है न बन्ध का। अज्ञानी का अज्ञान नष्ट करने के लिए बन्ध, मुक्ति तथा मुक्ति की श्रेणियों का विवरण है। मुक्ति में और कुछ नहीं।

भक्त : भगवान के दृष्टि-बिन्दु से तो यह ठीक है किन्तु हम लोगों के बारे में क्या ?

म० : 'वह' तथा 'मैं' का भेद ज्ञानमार्ग में बाधा है।

भक्त : किन्तु इससे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भगवान श्रेष्ठ भूमिका में है, जबकि हम लोग सीमित हैं। क्या भगवान मुझे अपना-सा कर लेंगे ?

म० : क्या तुम्हें सुषुप्ति में सीमित होने का बोध था ?

भक्त : मैं सुषुप्ति की अवस्था को अब इस अवस्था में नहीं ला सकता और उसके बारे में नहीं बता सकता।

म० : तुम्हारा ऐसा करना आवश्यक नहीं। ये तीनों अवस्थाएँ अपरिवर्तित आत्मा के समक्ष एक के बाद दूसरी होती रहती हैं। तुम अपनी सुषुप्ति अवस्था को स्मरण कर सकते हो। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप ऐसा है। उस समय कोई सीमाएँ नहीं थीं। 'अहम् भाव' के उदय होने के बाद ही सीमाएँ आ जाती हैं।

भक्त : आत्मा की प्राप्ति कैसे हो ?

म० : आत्मा की प्राप्ति नहीं करना है क्योंकि तुम आत्मा हो।

भक्त : हाँ, मुझ में एक अपरिवर्तित तथा दूसरी परिवर्तित आत्मा है। आत्माएँ दो हैं ?

म० : परिवर्तनशील संकल्प-मात्र है। 'मैं' के संकल्प के उपरान्त ही समस्त संकल्प उदय होते हैं। देखो संकल्प किसको उदय होते हैं। तब तुम उनसे परे हो जाओ और वे समाप्त हो जायेंगे। आशय यह है कि 'अहम् भाव' के उद्‌गम का पता लगाने से शुद्ध आत्मा का अनुभव हो जाता है।

भक्त : क्या मैं "अहम् ब्रह्मास्मि" का ध्यान करूँ ?

म० : मन्त्र "मैं ब्रह्म हूँ" ख्याल करने के लिए नहीं है। अहम् ('मैं') से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। ब्रह्म 'अहम्' के रूप में सब में रह रहा है। 'मैं' को जानो। 'मैं' ही ब्रह्म है। तुमको वैसा ख्याल करने की आवश्यकता नहीं। केवल 'मैं' को ढूढ़ो।

भक्त : क्या शास्त्रों में कोषों को त्याग करने की चर्चा नहीं है ?

म० : 'अहम् भाव' के उदय होते ही 'मैं' को भ्रान्तिवश, देह, इन्द्रिय तथा मन आदि से एक कर लिया जाता है। 'मैं' को भ्रान्तिवश इनसे संलग्न कर दिया जाता है। और वास्तविक 'मैं' कहीं चला नहीं जाता। शुद्ध 'मैं' को दूषित 'मैं' (अहम् भाव) से अलग करने हेतु कोषों को त्यागने की चर्चा की गयी है। पर इसका वास्तविक भाव यह नहीं है कि अनात्म को त्यागना है। अपितु इसका अर्थ है वास्तविक आत्मा को जानना। वास्तविक आत्मा सीमा-रहित परिपूर्ण 'मैं' है। यह नित्य है। न इसका आदि है न अन्त। दूसरा 'मैं' जन्मता है और मरता है। वह अस्थायी है। परिवर्तित संकल्प किसको आते हैं—यह देखो। तुम जानोगे कि वे 'अहम् भाव' के उपरान्त उत्पन्न होते हैं। वास्तविक 'मैं' में टिके रहो। उनका शमन होगा। 'अहम् भाव' के मूल को खोजो। केवल आत्मा शेष रह जायगी।

भक्त : यह समझना कठिन है। मैं सिद्धान्त समझ गया। परन्तु अभ्यास क्या है ?

म० : अन्य साधन उनके लिए हैं जो आत्मा की शोध करने में असमर्थ हैं। 'अहम् ब्रह्मास्मि' के जप तथा उसके विचार हेतु भी कर्ता आवश्यक है। वह कौन है ? वह 'मैं' है। वही बने रहो। यह सीधा मार्ग है। अन्य सब साधन साधक को अन्त में यहीं लाते हैं।

भक्त : मुझे 'मैं' का भान है, तथापि मेरे क्लेशों का अन्त नहीं हुआ।

म० : यह 'मैं' शुद्ध नहीं है। यह देह तथा इन्द्रियों के संयोग से दूषित हो गया है। क्लेश किसको है, यह देखो। यह 'अहम् भाव' को है। उस पर रुको। तब अन्य संकल्प नष्ट हो जायेंगे।

भक्त : हाँ ! यह कैसे करें ? यही सारी कठिनाई है।

म० : शुद्ध 'मैं' का विचार करो और वहाँ टिको, जिससे अन्य सब संकल्प दूर हो जायेंगे।

२३ अक्टूबर, १९३६

२६७. कक्ष में सम्बन्धित पशुओं की चर्चा करते हुए महर्षि ने ओवई द्वारा रचित तमिल छन्द सुनाया।

एक वृद्धा ने कहीं जाते समय किसी को कम्बर की प्रशंसा करते सुना। वृद्धा ने एक छन्द में उसका उत्तर दिया जिसका आशय है :

"हर एक अपने ढंग से महान है। एक पक्षी की तुलना में जो इतना सुन्दर घोंसला बनाता है, कीड़ों की तुलना में जो लाख देते हैं, मधुमक्खी की तुलना में जो शहद का छत्ता निर्माण करती है, चींटियों की तुलना में जो नगर बसाती हैं तथा मकड़ी की तुलना में जो जाला बनाती हैं, कम्बर की महानता क्या है ?"

तदुपरान्त श्री भगवान इनके कार्यों का विवरण देने लगे।

जब उनका पर्वत पर निवास था, उन दिनों महर्षि ने यहाँ एक ऐसी कुटिया देखी जो पत्थर तथा मिट्टी की बनी थी। तथा उसकी खपरैल की छत थी। वहाँ दीमकें बराबर परेशान करती थीं। जिस गारे में दीमकें घुस गयी थीं उनसे बचने के लिए छत तथा दीवारें गिरा दी गयीं। श्री भगवान ने देखा कि पत्थरों से सुरक्षित गुफाएँ नगर की भाँति प्रतीत होती थीं। अगल-बगल काले प्लास्टरयुक्त दीवारें थीं तथा पास के नगरों तक जाने को सड़कें थीं, जो उसी प्रकार अगल-बगल काले प्लास्टर की दीवारों से सुरक्षित थीं। ये दीवारें सड़कों की सूचक थीं। नगर के आन्तरिक भाग में दीमकों के रहने के छिद्र थे। पूरी दीवार दीमकों का आवास बन गयी थीं जिससे छत भी ध्वंस हो चुकी थी।

श्री भगवान ने एक मकड़ी को भी जाला निर्माण करते देखा था तथा उसका वर्णन किया। मकड़ी एक स्थान में तब दूसरे में, फिर तीसरे में जाती दीखती है। इन सब स्थानों पर रेशा दृढ़ता से जमाया जाता है। मकड़ी इन्हीं रेशों पर चलती है, चढ़ती है, उतरती है तथा बारम्बार परिक्रमा करती है। और पूरा जाला बन जाता है। यह ज्यामिति की तरह होता है। जाल प्रातः-काल फैलाकर संध्या को पुनः लपेट लिया जाता है।

इसी प्रकार बर्रें भी कच्चे लाख से अपने छत्ते बनाती हैं, और इसी प्रकार।

इस प्रकार प्रत्येक पशु में कुछ विलक्षण सहज प्रवृत्ति है। कम्बर की विद्वत्ता, आश्चर्य की वस्तु नहीं क्योंकि जिस प्रकार उपरोक्त उदाहरणों में बताया गया है यह भी ईश्वर की इच्छा से ही है।

२६८. डा० सैयद : मुक्ति क्या है ? ईसा का इससे क्या अभिप्राय था ?

म० : मुक्ति किसके लिए ? तथा किससे ?

भक्त : मुक्ति व्यक्ति के लिए तथा जगत के दुःख एवं कष्टों से।

म० : दुःख इत्यादि किसके हैं ?

भक्त : मन के।

म० : क्या तुम मन हो ?

भक्त : अब मैं यह स्पष्ट करूँ कि यह प्रश्न क्यों उठा। मैं ध्यान कर रहा था। मैं ईसा द्वारा कुछ भक्तों पर किये गये अनुग्रह पर विचार कर रहा था जिनको मुक्ति प्राप्त हो गयी। मैं श्री भगवान को उनके अनुरूप मानता हूँ। क्या मुक्ति इसी प्रकार के अनुग्रह का परिणाम नहीं है। मेरे प्रश्नों का यही आशय था।

म० : हाँ ! ठीक !

भक्त : 'मैं कौन हूँ' ? पुस्तिका में स्वरूप दृष्टि का वर्णन है। उस अवस्था में दृष्टा एवं दृश्य दोनों ही होंगे। इसका अन्तिम ऐक्यता से कैसे सामंजस्य हो ?

म० : तुम मुक्ति की इच्छा एवं कष्ट आदि का निवारण क्यों चाहते हो ? जो इनकी कामना करता है, वह इनको देखता भी है। यह ऐसा है। सचेतनता ही दृष्टि है। यह दृग-दृश्य भाव से युक्त होता है। क्या सचेतनता आत्मा से पृथक हो सकती है ? आत्मा ही सब कुछ है।

भक्त : निज स्वरूप से 'अहम्' को किस प्रकार अलग देखें ?

म० : जिसका उदय तथा पतन है, वह 'अहम्' दृश्य मात्र है। जो अनादि एवं अनन्त है वही नित्य आत्म-चैतन्य है।

भक्त : क्या आत्मा का निरन्तर चिन्तन मन को अधिकाधिक निर्मल करेगा जिससे वह और किसी का चिन्तन न कर केवल परमार्थ तत्त्व का चिन्तन करेगा ?

म० : यही शान्त मन परमात्मा है। यही चंचल हो, संकल्पों से विक्षिप्त हो जाता है। मन आत्मा की शक्ति-मात्र है।

भक्त : क्या कोष आत्मा से पृथक तथा पदार्थ रूप हैं।

म० : पदार्थ तथा जीव में कोई भेद नहीं है। आधुनिक विज्ञान ने पदार्थ मात्र को शक्ति स्वीकार कर लिया है। शक्ति बल अथवा गति है। अत: सब शिव एवं शक्ति अर्थात् आत्मा एवं मन के अन्तर्गत हैं।

कोष दृश्य मात्र हैं। वास्तव में उनमें कोई सत्यता नहीं है।

भक्त : ध्यान प्रतिदिन कितने घण्टे करना चाहिए ?

म० : तुम्हारा निज स्वभाव ही ध्यान है अर्थात् समाधि है।

भक्त : परिपक्व होने पर ऐसा होगा परन्तु अभी ऐसा नहीं है।

म० : तुम्हें इसका भान बाद में होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अब तुम्हारा स्वरूप ध्यान से भिन्न है।

भक्त : अभ्यास क्या है ?

म० : ध्यान का निरन्तर अभ्यास करो।

भक्त : एक फारसी योगी कहता है : "ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" कुरान कहती है "ईश्वर सर्व आधार है।"

म० : ईश्वर से पृथक व्याप्त होने को कोई 'सर्व' नहीं है। केवल उसकी सत्ता है।

भक्त : क्या यह नैतिकता की दृष्टि से ठीक है कि जब व्यक्ति यह जान ले कि उसका सर्वोपरि कर्तव्य आत्मचिन्तन है तो वह गृहस्थ के कर्तव्यों का परित्याग कर दे ?

म० : त्याग करने की यह इच्छा ही बाधा है। आत्मा केवल है। आत्मा सर्व त्यक्त है ही, अर्थात् आत्मा में अन्य कुछ है ही नहीं।

भक्त : भगवान के दृष्टि-बिन्दु से यह ठीक है। किन्तु हम लोगों के लिए..........मेरा कार्य मेरे समय तथा शक्ति का अधिकांश भाग ले लेता है; मैं प्राय: इतना थक जाता हूँ कि फिर आत्मचिन्तन नहीं कर पाता।

म० : 'मैं कार्य करता हूँ' यह भावना ही बाधा है। विचार करो "कौन कार्य करता है ?" स्मरण करो "मैं कौन हूँ ?" तब कर्म तुम्हें नहीं बाँधेगा। वह स्वत: ही होता रहेगा। न कार्य करने की चेष्टा करो न कर्म त्यागने की। तुम्हारी चेष्टा ही बन्धन है। जो होना है वह होगा। यदि तुम्हारे भाग्य में कर्म नहीं होगा, तो तुम्हारे प्रयास करने पर भी तुम्हें कोई

कार्य नहीं मिलेगा। यदि तुम्हारे भाग्य में कार्य करना है तो तुम उसे छोड़ नहीं सकते, तुमको उसमें संलग्न होना ही पड़ेगा। यह सब उच्चतर सत्ता पर छोड़ दो। अपनी इच्छा से न त्याग कर सकते हो न ग्रहण।

२६९. **भक्त** : सर्वव्यापी परमात्मा दहराकाश (हृदयाकाश) में कैसे स्थित माना जाता है ?

म० : क्या हम एक स्थान पर निवास नहीं करते ? इसी प्रकार ईश्वर का निवास हृत्पुण्डरीक (हृदय-कमल) कहा जाता है। हृदय-कमल कोई स्थान नहीं है। चूंकि हमारा ऐसा विश्वास है कि हम देह में रहते हैं; इसलिए ईश्वर के रहने के स्थान का भी कुछ नाम लिया जाता है। इस प्रकार का उपदेश उन व्यक्तियों के लिए है जो केवल सापेक्ष ज्ञान ग्रहण कर सकते हैं।

सर्वत्र अन्तःस्थ होने से ईश्वर का कोई विशिष्ट स्थान नहीं है। चूंकि हम अपने को देह में स्थित मानते हैं, हमारा यह भी विश्वास है कि हमारा जन्म होता है। किन्तु हम गहन निद्रा में देह, ईश्वर अथवा साक्षात्कार की पद्धति का विचार नहीं करते। तथापि जागृति में हम देहभाव में दृढ़ रहकर अपने को देह में स्थित मानते हैं।

परब्रह्म वह है जिससे देह उत्पन्न होता है, उसी में निवास करता है तथा उसी में घुल जाता है। तथापि हम सोचते हैं कि हम देह के अन्दर निवास करते हैं। अतः इस प्रकार उपदेश दिया जाता है। उपदेश का अर्थ है : "अन्तर्मुख होना।"

२७०. नैलोर में अंग्रेजी के प्रवक्ता श्री जी० वी० सुब्बरमैया ने जिज्ञासा की : ब्रह्म वह है जिससे यह सर्वव्याप्त है। (येन सर्वमिदं ततम्, गीता १८-४६) तथापि श्रीकृष्ण भगवद्गीता के दशम् अध्याय में विभूतियों का विशेष रूप से वर्णन कैसे करते हैं ?

म० : विशेष रूप से वर्णन अर्जुन के एक निश्चित प्रश्न के उत्तर के फलस्वरूप हुआ है, जो उपासना की सुविधा के लिए भगवान की विभूतियाँ जानना चाहता था। वास्तव में ईश्वर ही सब कुछ है। उससे पृथक कुछ भी नहीं है।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य जीर्ण शरीर को त्यागकर नवीन देह धारण करता है। क्या यह कथन बच्चों की मृत्यु पर भी लागू होता है ?

म० : पहले तुम्हें यही बोध नहीं, कि जीर्णानि क्या है तथा नवानि क्या है। फिर जीर्ण तथा नव तुलना से कहा जाता है। जो एक राजा के लिए पुराना होगा वही एक भिक्षुक के लिए नया हो सकता है। वास्तविकता यह है कि व्यक्तित्व मुक्ति तक के समय की देह की अवस्था को प्रकट करता है।

२७१. डा० सैयद : अनुग्रह किस प्रकार प्राप्त हो ?

म० : जिस प्रकार आत्मा प्राप्त होती है ।

भक्त : प्रत्यक्ष में हम इसे कैसे प्राप्त करें ?

म० : आत्मसमर्पण से ।

भक्त : अनुग्रह को ही आत्मा बताया गया था । तब क्या मुझे स्वयं की आत्मा को समर्पण करना चाहिए ?

म० : हाँ । जिसके अनुग्रह की इच्छा है, उसी के प्रति समर्पण करो। ईश्वर, गुरु तथा आत्मा एक के ही अलग दृश्य हैं ।

भक्त : मेरे समझने हेतु अधिक स्पष्ट करने की कृपा करें ।

म० : जब तक तुम अपने को जीव मानते हो तब तक तुम ईश्वर में आस्था करते हो । ईश्वर की पूजा करने पर, ईश्वर गुरु रूप में प्रकट होता है । गुरु की सेवा करने से वह आत्मा के रूप में प्रकट हो जाता है । यही प्रक्रिया है ।

२७२. **भक्त** : दुर्भिक्ष, महामारी आदि घोर विपत्तियाँ सम्पूर्ण विश्व को अत्यधिक ग्रस्त किये हुए हैं । इस स्थिति का क्या कारण है ?

म० : यह सब अनुभूति किसे होती है ?

भक्त : इससे मुझे सन्तोष नहीं होगा । मुझे सर्वत्र दुःख दीखता है ।

म० : अपनी सुषुप्ति में तुम्हें जगत तथा दुःख का भान नहीं होता था । अपनी जाग्रत अवस्था में तुम्हें इनका भान होता है । उसी अवस्था में स्थिर रहो जिसमें तुम इनसे दुःखी नहीं थे । इसका तात्पर्य यह है कि जब तुम्हें जगत का भान नहीं होता और उसके कष्ट तुम्हें प्रभावित नहीं करते । जब तुम आत्म रूप हो रहोगे जैसे सुषुप्ति में, तब जगत तथा इसके कष्ट तुम्हें प्रभावित नहीं करेंगे । अतः अन्तर्मुख हो । आत्मा को देखो । तब जगत तथा उसके दुःखों का अन्त हो जायगा ।

भक्त : किन्तु यह स्वार्थपरायणता है ।

म० : जगत बाहर नहीं है । चूँकि तुम भूल से स्वयं को देह मानकर जगत को अपने से बाहर देखते हो और उसके कष्ट तुम्हें प्रत्यक्ष होते हैं । परन्तु वे वास्तविक नहीं हैं । सद् वस्तु की प्राप्ति करो और इस मिथ्याभाव से बचो ।

भक्त : महापुरुष हैं, तथा जन-सेवक हैं जो जगत के कष्टों की समस्या का समाधान नहीं कर पाते ।

म० : वे अहंकारग्रस्त होने के कारण असफल हैं । यदि वे आत्मा में स्थित रहें तो वे भिन्न होंगे ।

भक्त : महात्मा सहायता क्यों नहीं करते ?

म० : तुम कैसे जानते हो कि वे सहायता नहीं करते ? जनता में भाषण, शारीरिक कार्य तथा भौतिक सहायता महात्माओं के मौन की तुलना में नगण्य हैं। अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा वे कहीं अधिक करते हैं।

भक्त : जगत की स्थिति के सुधार हेतु हमारा क्या कर्तव्य है ?

म० : यदि "तुम" दुःख से मुक्त रहो तो तुम्हें कहीं भी दुःख नहीं रहेगा। वर्तमान कष्ट का कारण तुम्हारा जगत को बाहर देखना तथा इसमें दुःख हैं, ऐसी धारणा बनाना ही है। परन्तु जगत तथा दुःख दोनों तुम में हैं। यदि तुम अन्तर्मुख होगे तो कोई दुःख नहीं होगा।

भक्त : ईश्वर पूर्ण है। उसने जगत को अपूर्ण क्यों बनाया ? कृति में लेखक का स्वभाव आता है। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है।

म० : वह कौन है जो प्रश्न करता है ?

भक्त : मैं—व्यक्ति।

म० : क्या तुम ईश्वर से पृथक हो, जो यह प्रश्न करते हो ? जब तक तुम स्वयं को देह मानते हो, तभी तक जगत तुमको बाहर दीखता है। और तुमको यह अपूर्णता दीखती है। ईश्वर पूर्णता है। उसकी कृति भी पूर्णता है। परन्तु तुम्हारी मिथ्या तादात्म्यता के कारण तुम्हें यह अपूर्णता सी प्रतीत होती है।

भक्त : आत्मा कष्टपूर्ण सृष्टि के रूप में क्यों व्यक्त हुई।

म० : जिससे कि तुम आत्मा को प्राप्त करो। तुम्हारे चक्षु स्वयं को नहीं देख सकते। उनके सामने दर्पण रखने से वे स्वयं को देखते हैं। सृष्टि के साथ भी ऐसा ही है।

"पहले स्वयं को देखो, तदुपरान्त समस्त जगत को आत्मरूप देखो।"

भक्त : इसका तात्पर्य यह हुआ कि मैं सदैव अन्तर्मुख रहूँ।

म० : हाँ।

भक्त : क्या मैं जगत को बिलकुल न देखूँ ?

म० : तुम्हें जगत से अपनी आँखें मूँदने को नहीं कहा गया है। तुम्हें केवल "पहले स्वयं को देखना है, तदुपरान्त समस्त जगत को आत्मरूप देखना है।" यदि तुम स्वयं को देह मानते हो तो जगत बाहर प्रतीत होता है। यदि तुम आत्मा हो तो जगत ब्रह्म भासित होता है।

२७३. डा० सैयद ने जिज्ञासा की : मैं "पंचश्लोकी" पढ़ रहा हूँ। उससे मुझे प्रतीत होता है कि आपने श्लोक अरुणाचल के प्रति कहे हैं। आप अद्वैती हैं। फिर आप ईश्वर को एक पृथक सत्ता के रूप में कैसे सम्बोधित करते हैं ?

म० : भक्त, भगवान तथा श्लोक सब आत्मा हैं।

भक्त : किन्तु आप परमात्मा को सम्बोधित कर रहे हैं। आप इस अरुणाचल पहाड़ को परमात्मा जैसे सम्बोधित कर रहे हैं।

म० : तुम आत्मा को देह से मिला सकते हो। क्या भक्त आत्मा को अरुणाचल से नहीं मिला सकता ?

भक्त : यदि अरुणाचल आत्मा है तो अन्य पर्वतों की अपेक्षा इसे ही विशेष रूप से क्यों चुना गया ? ईश्वर सर्वत्र है। आप अरुणाचल के रूप में उसका विशेष रूप से वर्णन क्यों करते हैं ?

म० : तुम्हें इलाहाबाद से इस जगह आने के लिए किस ने आकर्षित किया ? और यहाँ सब ओर बैठे हुए व्यक्तियों को किसने आकर्षित किया ?

भक्त : श्री भगवान ने।

म० : मैं यहाँ कैसे आकर्षित हुआ ? अरुणाचल से। उस शक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। फिर अरुणाचल भी भीतर है बाहर नहीं। आत्मा अरुणाचल है।

भक्त : शास्त्रों में आत्मा, परमात्मा, परा आदि शब्द व्यवहार में आये हैं। इनमें श्रेणीकरण क्या है ?

म० : शब्द के उपयोग करने वाले के लिए इन सबका एक ही अर्थ है। किन्तु अन्य व्यक्ति अपने विकास के अनुसार भिन्न अर्थ लगाते हैं।

भक्त : परन्तु एक ही वस्तु के लिए इतने अधिक शब्दों का प्रयोग क्यों ?

म० : यह परिस्थिति के अनुसार होता है। इन सबका आशय आत्मा है। परा का आशय निरपेक्ष अथवा द्वन्द्वातीत है। अर्थात् ब्रह्म है।

भक्त : हृदय पर ध्यान करने हेतु क्या मुझे दाहिने वक्ष पर ध्यान करना चाहिए ?

म० : हृदय भौतिक नहीं है। ध्यान दाहिने अथवा बायें पर नहीं होना चाहिए। ध्यान आत्मा पर होना चाहिए। 'मैं हूँ' यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है : 'मैं' कौन है ? वह न अन्दर है न बाहर, न दाहिने न बायें। 'मैं हूँ'—बस यही है।

हृदय वह केन्द्र है जिससे सब कुछ प्रकट होता है। चूँकि तुम जगत, देह आदि देखते हो, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि इन सबके लिए एक केन्द्र है जिसको हृदय कहते हैं। जब तुम हृदय में स्थिर हो तब हृदय न केन्द्र है न परिधि। अन्य कुछ भी नहीं है। तब वह किसका केन्द्र हो सकेगा ?

भक्त : क्या मैं यह समझूँ कि आत्मा तथा अनात्मा पदार्थ तथा उसकी छाया के समान हैं ?

म० : पदार्थ तथा छाया का अस्तित्व उसके लिए है, जो केवल छाया को देखता है और भ्रान्तिवश उसे पदार्थ मान लेता है तथा उसकी छाया भी देखता है। किन्तु जिसे केवल सत्य का ही बोध है, उसके लिए न पदार्थ है न छाया।

भक्त : बुद्ध से जब यह पूछा गया कि क्या अहंकार है, वे मौन रहे; जब यह पूछा गया कि क्या अहंकार नहीं है, वे मौन रहे; जब यह पूछा गया कि क्या ईश्वर है, वे मौन रहे; जब यह पूछा गया कि क्या ईश्वर नहीं है, वे मौन रहे। इन सबके लिए उनका उत्तर मौन था। महायान तथा हीनयान दोनों विचारधाराओं ने उनके मौन का गलत अर्थ किया है चूंकि वे उन्हें नास्तिक कहते हैं।

यदि बुद्ध नास्तिक होते तो वे निर्वाण, जन्म, मृत्यु, कर्म, पुनर्जन्म तथा धर्म का वर्णन क्यों करते ? उनके टीकाकार गलती पर हैं। क्या ऐसा नहीं है ?

म० : तुम सही हो।

२७ अक्टूबर, १९३६

२७४ मुसलमान प्रोफेसर ने जिज्ञासा की कि वैष्णव मत का अद्वैतवाद से कैसे समन्वय हो सकता है।

म० : वैष्णव मत वाले स्वयं को विशिष्टाद्वैती कहते हैं। यह भी अद्वैत ही हुआ। जिस प्रकार व्यक्तिगत शरीर में आत्मा, अहंकार तथा स्थूल शरीर हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में परमात्मा, जगत तथा जीव अन्तर्व्याप्त हैं।

भक्त : क्या भक्ति में द्वैत का भाव ध्वनित नहीं होता ?

म० : "स्व स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते" (आत्मा का अनुसंधान ही भक्ति कहा गया है।) भक्ति तथा आत्मानुसन्धान एक हैं और समान हैं। अद्वैतियों की आत्मा ही भक्तों का ईश्वर है।

भक्त : क्या समस्त सम्प्रदायों के मूल संस्थापकों का आध्यात्मिक सोपान है जो मनुष्यों के आध्यात्मिक कल्याण के प्रति जागरूक रहते हैं ?

म० : वे हों अथवा न हों। यह एक अनुमान मात्र है। आत्मा प्रत्यक्ष है। इसको जान लो और अनुमान को समाप्त कर दो। कोई एक उपरोक्त सोपान को स्वीकार करे, दूसरा न भी करे। परन्तु आत्मा का कोई विरोध नहीं कर सकता।

भक्त : प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के सम्बन्ध में श्री भगवान का क्या मत है ?

म० : हाँ। दोनों का वर्णन है। जिज्ञासा क्या है ?

भक्त : दोनों में उत्तम कौन-सा है ?

म० : यदि तुम केवल शुद्ध तथा सहज आत्मा की अनुभूति करो यह निवृत्ति है; यदि तुम आत्मा को जगत सहित देखते हो, यह प्रवृत्ति है। दूसरे शब्दों में अन्तर्मुखी मन निवृत्ति है; तथा बहिर्मुखी मन प्रवृत्ति है। परन्तु आत्मा से परे कुछ भी नहीं है। दोनों एक ही हैं।

आध्यात्मिक सोपान के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार है; आत्मा से अन्यत्र उनका कोई अस्तित्व नहीं है। वे केवल आत्मा में हैं, तथा आतमरूप रहते हैं। आत्मा का साक्षात्कार ही सबका एकमात्र लक्ष्य है।

५ नवम्बर, १९३६

२७५ वार्ता के मध्य एक व्यक्ति ने श्री ब्रण्टन तथा एक महिला के रात्रि को घर लौटते समय आधे पर्वत पर उत्तर से दक्षिण की ओर धीरे-धीरे चलता हुआ जो चमकता प्रकाश देखा था उसकी चर्चा की।

श्री भगवान ने कहा : ज्ञान ही इस पर्वत के आकार में है।

भक्त : भौतिक नेत्र इसे कैसे देख सकता है ?

म० : समबनदर ने गाया है : "जिसने मेरे हृदय को वश में कर लिया है अथवा जिसने मेरे हृदय को अपना बन्दी बना लिया है, उसका मैं अपने मन में यशगान करता हूँ।" हृदय मुग्ध हो जाता है : परिणामतः मन भी हृदय में डूब जाता है; तथापि स्मृति अवशेष रह जाती है जिससे सन्त बाद में ईश्वर का यशगान करता है।

इसके बाद एक युवक शिष्य के अनुभव का प्रसंग बताया गया। एक सुशिक्षित और सम्पन्न, शरीर से स्वस्थ तथा शान्त मन का युवक श्री भगवान के चित्र के समक्ष घर पर बैठा, आकृति का ध्यान कर रहा था। सहसा चित्र सजीव प्रतीत होने लगा जिससे युवक का शरीर भयभीत हो ऐंठने लगा। उसने अपनी माँ को पुकारा। माँ ने आकर उससे उसका कारण पूछा। उसकी आकृति देख चारों ओर एकत्रित हुए उसके सम्बन्धी घबरा गये। युवक को लोगों की उपस्थिति का बोध था, तथापि एक रहस्यमय शक्ति ने उसे वश में कर लिया था जिससे वह अपनी रक्षा कर रहा था। वह कुछ समय तक अचेत रहा। चेतना आने पर वह पुनः भय से ग्रस्त हो गया। लोग चिंतित हो उठे और उसको स्वस्थ करने के लिए औषधि देने लगे।

बाद में जब वह तिरुवन्नामलाई आया तो उसे वैसे ही अनुभव की सम्भावना का भय बना रहा। श्री भगवान के सान्निध्य ने किसी बुरी घटना को नहीं होने दिया। किन्तु जब कभी वह कक्ष से बाहर दूर निकलता था, वह शक्ति उस पर हावी होकर उसे भय से जकड़ लेती थी।

श्री भगवान ने कहा : "क्या ऐसा है ? मुझे किसी ने पहले यह नहीं बताया।"

एक भक्त ने जिज्ञासा की कि क्या वह शक्तिपात नहीं था ?

म० : हाँ, यह है। पागल व्यक्ति संस्कारों से चिपका रहता है, जबकि ज्ञानी नहीं। दोनों में यही अन्तर है। ज्ञान एक प्रकार का उन्माद ही है।

भक्त : किन्तु शक्तिपात तो जब पाप-पुण्य (कर्मसाम्य) बराबर होते हैं तब होता है।

म० : हाँ ! मलपरिपाक, कर्मसाम्य तथा शक्तिपात का एक ही अर्थ है। व्यक्ति के संस्कारों के अनुसार उसकी गति है। जब उसे बोध दिया जाता है कि वह आत्मा है तो वह बोध उसके मन पर अपना प्रभाव डालता है तथा उसका अनुमान पहले से विपरीत दिशा में जाने लगता है। उस शक्ति के वेग के सामने वह अपने को असहाय पाता है। "मैं आत्मा हूँ" इस बात को वह जिस प्रकार अनुमान करता है उस स्थिति के अनुसार उसका अनुभव होता है, उसकी वह चाहे जो कुछ भी कल्पना कर ले। केवल शक्तिपात ही सत्य एवं सही अनुभव प्रदान करता है।

जब मनुष्य उपदेश ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है एवं उसका मन हृदय में विलीन होने वाला होता है तो उपदेश तुरन्त परिणाम करता है और वह ठीक प्रकार से आत्मा की अनुभूति कर लेता है। अन्यथा संघर्ष सदैव चलता रहता है।

मनोनाश, ज्ञान तथा चित्तेकाग्रता का एक ही अर्थ है।

२७६. यू० पी० की विशिष्ट महिला अपने भाई, एक सहेली तथा एक भारी बदन के अंगरक्षक के साथ आयीं।

कक्ष में आकर महिला ने महर्षि को अत्यन्त आदर एवं भाव सहित प्रणाम किया तथा श्री भगवान के समक्ष ऊनी नमदे पर बैठ गयी। श्री भगवान उस समय तेलुगु में 'त्रिलिंग' समाचारपत्र में प्रकाशित एक बालक के पुनर्जन्म से सम्बन्धित समाचार पढ़ रहे थे। बालक अब तेरह वर्ष का है तथा लखनऊ के समीप एक गाँव में राजकीय उच्च विद्यालय में पढ़ता है। जब वह तीन वर्ष का था तब वह इधर-उधर भूमि खोदता रहता था। पूछने पर वह कहता था कि मैं भूमि में छिपायी हुई कुछ वस्तु पाने का प्रयास कर रहा हूँ। जब उसकी चार वर्ष की आयु हुई तब उसके घर में किसी का विवाह समारोह सम्पन्न हुआ। विदा होते समय, अतिथियों ने हँसी में कहा कि जब इस बालक का विवाह होगा, वे फिर आयेंगे। परन्तु बालक ने मुड़कर कहा। "मेरा विवाह पहले ही हो चुका है। मेरे दो पत्नियाँ हैं।" फिर प्रश्न किये जाने पर कि वे कहाँ हैं, उसने एक ग्राम में ले जाये जाने की इच्छा प्रकट की तथा वहाँ जाकर उसने दो

स्त्रियों की ओर संकेत कर उन्हें अपनी पत्नी बताया। अब पता चला है कि उनके पति के स्वर्गवास तथा उस बालक के जन्म के बीच दस माह का समय बीता था।

जब यह प्रसंग महिला को बताया गया तो उसने जिज्ञासा की कि क्या व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त की स्थिति मालूम करना सम्भव है।

श्री भगवान ने कहा : "कुछ का जन्म तुरन्त हो जाता है, अन्य का कुछ काल व्यतीत होने पर होता है, और कुछ पृथ्वी पर जन्म न लेकर बाद में उच्चतर लोक में मुक्ति पाते हैं तथा अत्यन्त सीमित व्यक्ति ही यहाँ और अभी मुक्त हो पाते हैं।"

महिला : मेरा आशय यह नहीं है। क्या मृत्यु के बाद उस व्यक्ति की अवस्था का पता लगाना सम्भव है।

म० : यह सम्भव है। किन्तु इसे जानने का प्रयास क्यों ? सारी बातें उतनी ही सत्य हैं जितना कि उनकी खोज करने वाला है।

महिला : एक व्यक्ति का जन्म, उसका अस्तित्व तथा मृत्यु हमारे लिये वास्तविक है ?

म० : चूँकि तुमने गलती से आत्मा को देह मान लिया है, तुम अन्य व्यक्ति को भी देह दृष्टि से देखती हो। न तुम और न अन्य व्यक्ति देह हैं।

महिला : किन्तु अपनी समझ के स्तर से मैं स्वयं को तथा अपने पुत्र को सत्य मानती हूँ।

म० : 'अहम् भाव' का जन्म ही उस व्यक्ति का अपना जन्म है, तथा उसकी मृत्यु ही व्यक्ति की मृत्यु है। 'अहम् भाव' के उदय होने के बाद ही देह से मिथ्या तादात्म्यता उदय होती है। स्वयं को देह मानकर तुम अन्य व्यक्तियों का भी मिथ्या मूल्यांकन करते हो तथा उन्हें देह मानते हो। जिस प्रकार तुम्हारी देह का जन्म हुआ है, बढ़ता है, तथा नाश होगा उसी प्रकार तुम सोचते हो कि दूसरे का जन्म हुआ, बड़ा हुआ और मर गया। क्या तुम्हें अपने पुत्र के जन्म से पूर्व कभी उसका विचार आया था ? उसके जन्म के उपरान्त ही यह विचार आया तथा उसके देहान्त के पश्चात भी बना हुआ है। जितना तुम उसका विचार करती हो उतना ही वह तुम्हारा पुत्र है। वह कहाँ चला गया है ? वह उस स्रोत में मिल गया है, जहाँ से वह आया था। उसकी तुम्हारे साथ एकरूपता है। जब तक तुम हो वह भी है। यदि तुम स्वयं की देह से तादात्म्यता करना छोड़ दो किन्तु वास्तविक आत्मा की अनुभूति करो तो यह भ्रान्ति समाप्त हो जाय। तुम नित्य हो। इसी प्रकार दूसरे भी नित्य प्रतीत होंगे। जब तक इस सत्य की अनुभूति न कर लोगे तब तक मिथ्या ज्ञान, एवं मिथ्या तादात्म्यता से उत्पन्न मिथ्या मूल्यांकन के कारण यह शोक सदैव रहेगा।

महिला : श्री भगवान के अनुग्रह से मुझे सत्य ज्ञान की प्राप्ति हो.......

म० : अहम् वृत्ति से मुक्त हो जाओ। जब तक 'मैं' जीवित है, तब तक शोक है। जब 'मैं' नहीं रहता, तब शोक भी नहीं रहता। सुषुप्ति की अवस्था पर विचार करो !

महिला : हाँ। किन्तु जब मैं अहम् वृत्ति पर एकाग्र होती हूँ तब दूसरे संकल्प उदय होते हैं और मुझे अशान्त करते हैं।

म० : देखो ये संकल्प किसके हैं। वे नष्ट हो जायेंगे। उनका मूल केवल अहम् वृत्ति में है। इस पर डटे रहो तो वे लुप्त हो जायेंगे।

महर्षि ने पुनः "योग वाशिष्ठ" के पंचम सर्ग के बीसवें अध्याय में वर्णित पुण्य तथा पाप की कथा की ओर ध्यान दिलाया। जब पुण्य अपने माता-पिता के देहान्त के समय पाप को सान्त्वना देता है तथा उसे आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त करता है। फिर, सृष्टि को उसके दो पक्षों से देखना है. ईश्वर सृष्टि तथा जीव सृष्टि। इन दोनों में से जगत ईश्वर सृष्टि है; तथा जीव से इसका सम्बन्ध जीव सृष्टि है। जीव सृष्टि जगत का विचार किये बिना दुःख एवं सुख का उदय करती है। "पंचदशी" से एक कहानी कही गयी। दक्षिण भारत के एक ग्राम में दो युवक रहते थे। वे उत्तर भारत की तीर्थयात्रा को निकले। उनमें से एक की मृत्यु हो गयी। दूसरे ने, जो कुछ कमाई कर रहा था, उसने कुछ मास ठहरकर घर जाने का निश्चय किया। इसी समय उसे एक तीर्थयात्रा करता हुआ व्यक्ति मिला जिससे उसने अपने तथा दिवंगत साथी के समाचार दक्षिण भारत के ग्राम तक पहुँचा देने को कहा। तीर्थयात्री ने समाचार पहुँचाये किन्तु गलती से दोनों के नाम बदल दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि मृतक के माता-पिता उसके सुरक्षित रहने के उपलक्ष में आनन्द मनाने लगे तथा जीवित व्यक्ति के माँ-बाप शोक करने लगे। इस प्रकार तुम देखोगे कि सुख अथवा दुःख का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मानसिक अवधारणाओं के कारण है। इसके लिए जीव सृष्टि उत्तरदायी है। जीव-भाव को खतम कर दो; न दुःख रहेगा न सुख, किन्तु सदैव के लिए केवल आनन्द ही रहेगा। जीव-भाव को खतम करने का अर्थ है आत्मा में वास करना।

महिला : मैंने यह सब सुना। यह सब मेरी समझ से बाहर है। श्री भगवान से मेरी प्रार्थना है कि यह सब समझने में मेरी सहायता करें।

मैं मैसूर में एक झरना देखने गयी थी। झरने का दृश्य मनोहर था। जलस्रोत अँगुलियों की आकृतियों में चट्टानों को पकड़ने का प्रयास करते प्रतीत होते थे, पर धारा-प्रवाह में नीचे गहराइयों में ढकेले जा रहे थे। मुझे यह दृश्य

व्यक्तियों द्वारा अपने वर्तमान वातावरण से चिपके रहने जैसी अवस्था का लगा। परन्तु मैं भी उसी से चिपकी हुई हूँ ।''

''मैं यह अनुमान नहीं कर सकती कि हम मौसम के पुष्प, फल तथा वृक्षों की पत्तियों से अधिक अच्छे नहीं हैं। मुझे पुष्प प्रिय हैं, तथापि यह विचार मुझे प्रभावित नहीं करता।''

कुछ क्षणों के बाद महिला ने कहा कि उसका विचार महर्षि से मृत्यु तथा उससे सम्बन्धित विषयों पर प्रश्न करने का था, किन्तु फिर उसने पूछा नहीं। तथापि महर्षि समाचार-पत्र में उसी विषय को पढ़ रहे थे तथा उसी विषय पर ज्ञान चर्चा हुई। लक्ष्मी गाय को देखकर महिला ने विदा ली।

९ नवम्बर, १९३६

२७७. **श्री कोहन :** संकल्प क्या है ? मेरा अभिप्राय यह है कि इसका पंचकोषों में कहाँ स्थान है ?

म० : सर्वप्रथम अहम् वृत्ति उदय होती है। तदुपरान्त अन्य संकल्प। वे ही मन हैं। मन दृश्य है तथा 'मैं' द्रष्टा है। क्या 'मैं' के बिना इच्छा हो सकती है ? वह 'मैं' में ही समायी हुई है। अहम् वृत्ति विज्ञानमय कोष है। इच्छा इसी में निहित है।

श्री भगवान ने आगे कहा : अन्नमय कोष स्थूल देह कोष है। प्राण सहित ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ प्राणमय कोष का निर्माण करती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन मनोमय कोष बनाती हैं। वे ही ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। मन केवल संकल्पों से बना है। 'इदम्' दृश्य है तथा 'अहम्' (मैं) द्रष्टा है; दोनों मिलकर विज्ञान-मय कोष बनते हैं।

१० नवम्बर, १९३६

२७८. हिन्दू धर्म अंगीकार करने वाली पौलैण्ड की कुमारी डब्लू० उमा देवी कश्मीर की यात्रा करके वहाँ के चित्र लायी थीं, जिन्हें हम देख रहे थे। श्री भगवान ने विनोद करते हुए कहा, ''यात्रा का कष्ट बिना उठाये हमने ये स्थान देख लिये।''

भक्त : मैं कैलास जाना चाहती हूँ।

म० : यदि प्रारब्ध में हो तभी इन स्थानों को देखा जा सकता है, अन्यथा नहीं। सब कुछ देख लेने के पश्चात् भी इस गोलार्द्ध में नहीं तो दूसरे में और अधिक स्थान भी देखने को बाकी रहेंगे। ज्ञान से अभिप्राय है जो ज्ञात है उससे जो परे है, उससे अनभिज्ञता। ज्ञान सदैव ही सीमित है।

कुछ समय के बाद महर्षि ने कहा : अप्पर दुर्बल तथा वृद्ध होते हुए भी कैलास यात्रा पर चल पड़ा। रास्ते में एक दूसरा वृद्ध मनुष्य मिल गया, उसने उसे वहाँ जाने से रोकने के लिए प्रयास किया और बताया कि वहाँ पहुँचना बहुत ही कठिन है। परन्तु अप्पर हठी था और कहने लगा, "मैं इस प्रयास में अपने प्राणों की जोखिम लेने को तैयार हूँ। उस अपरिचित ने उससे समीप के एक सरोवर में स्नान करने को कहा। अप्पर ने वैसा ही किया, उसे कैलास का तत्काल वहीं दर्शन हुआ। यह सब कहाँ हुआ ? यह हुआ तिरुवय्यार में—तंजौर से केवल नौ मील की दूरी पर। तब कैलास कहाँ है ? कैलास मन के अन्दर है अथवा बाहर ? यदि वास्तव में तिरुवय्यार में कैलास है, तो वह अन्य लोगों को भी दीखना चाहिए। परन्तु यह अनुभूति केवल अप्पर को ही हुई।

इसी प्रकार दक्षिण के अन्य तीर्थों के सम्बन्ध में भी यही प्रचलित है कि वे शिव के निवास हैं, और भक्तों को उनका इसी रूप में दर्शन हुआ है। उनके दृष्टिकोण से यह सत्य है। सब कुछ अन्दर है। बाहर कुछ भी नहीं है।

२७९. **भक्त** : मृत्यु के उपरान्त मनुष्य को पुनर्जन्म में कितना समय लगता है ? मृत्यु के तुरन्त बाद ही अथवा कुछ समय पश्चात्।

म० : जन्म से पूर्व तुम क्या थे, यह तुमको नहीं मालूम तथापि तुम यह जानने को उत्सुक हो कि मृत्यु के बाद तुम क्या होगे ? क्या तुम जानते हो कि अब तुम क्या हो ?

जन्म तथा पुनर्जन्म देह का होता है। तुम आत्मा को देह से मिला रहे हो। यह मिथ्या तादात्म्यता है। तुम देह का जन्म तथा मरण यथार्थ मानकर एक के आभास को दूसरे से मिला रहे हो। अपने वास्तविक स्वरूप को जान लो, और तब यह प्रश्न नहीं रहेंगे।

जन्म तथा पुनर्जन्म की चर्चा केवल इस हेतु की जाती है जिससे कि तुम इस प्रश्न पर विचार करो और यह जान लो कि न जन्म है न पुनर्जन्म। उनका सम्बन्ध देह से है, आत्मा से नहीं। आत्मा को जान लो तथा सन्देहों से अशान्त मत हो।

२८०. **भक्त** : क्या आप मुझे माया से मुक्त होने में सहायता कर सकते हैं ?

म० : माया क्या है ?

भक्त : जगत में आसक्ति।

म० : क्या जगत तुम्हारी गहन निद्रा में था ? तब क्या इसमें आसक्ति थी ?

भक्त : नहीं थी ।

म० : तब तुम वहाँ थे अथवा नहीं ?

भक्त : हो सकता है ।

म० : तब क्या तुम सुषुप्ति में अपने अस्तित्व से इन्कार करते हो ।

भक्त : मैं नहीं करता ।

म० : अतः तुम अभी भी "वही हो जो सुषुप्ति में थे" ।

भक्त : हाँ ।

सुसुप्ति	जागृति
जगत का अभाव	जगत
आसक्ति का अभाव	आसक्ति
आत्मा	आत्मा

तब वह कौन है जो अभी इस समय माया के सम्बन्ध में प्रश्न उठा रहा है ?

भक्त : सुषुप्ति में मन का अभाव था । जगत तथा आसक्ति मन की है ।

म० : ऐसा ही है । जगत तथा उसके प्रति आसक्ति मन की है आत्मा की नहीं ।

भक्त : मैं सुषुप्ति में अनभिज्ञ था ।

म० : यह कौन कह रहा है कि वह अनभिज्ञ था ? क्या वह अभी भी अनभिज्ञ नहीं है ? क्या वह ज्ञानी है ? यहाँ संगदोष से दूषित आत्मा अनभिज्ञता की चर्चा कर रहा है ।

भक्त : तब क्या सुषुप्ति में शुद्ध आत्मा था ?

म० : वह कोई संशय नहीं कर रहा था । वह स्वयं को अपूर्ण अथवा अशुद्ध अनुभव नहीं कर रहा था ।

भक्त : यह आत्मा तो सभी में समान है, मृत देह में भी ।

म० : किन्तु मनुष्य सुषुप्ति में अथवा मृत देह में प्रश्न नहीं करता । विचार करो, प्रश्न कौन करता है । यह तुम हो । क्या तुम सुषुप्ति में नहीं थे ? उस समय अपूर्णता क्यों नहीं थी ? शुद्ध आत्मा अस्तित्व-मात्र है । यह जाग्रत अवस्था जैसे विषय भाव में नहीं आता । इस जाग्रत अवस्था में जिसको अब तुम चेतनता कहते हो, यह चेतना केवल चैतन्य नहीं है क्योकि यह मन,

बुद्धि, देह आदि पर अवलम्बित है। परन्तु सुषुप्ति में इनके बिना चैतन्य का अस्तित्व था।

भक्त : किन्तु सुषुप्ति में मुझे चैतन्य का भान नहीं होता।

म० : इसका भान किसको नहीं है? तुम स्वीकार करते हो "मैं हूँ।" तुम स्वीकार करते हो सुषुप्ति में "मैं था।" यह होने पना ही तुम हो।

भक्त : क्या आपका आशय है कि सुषुप्ति आत्म-साक्षात्कार है?

म० : यह आत्मा है। तुम साक्षात्कार की बात क्यों करते हो? क्या ऐसा एक भी क्षण है जब आत्मा का साक्षात् नहीं होता? यदि ऐसा कोई क्षण होता तो दूसरे क्षण को साक्षात्कार का क्षण कहा जाना सम्भव होता। ऐसा कोई क्षण नहीं जब आत्मा न हो अथवा जब आत्मा का साक्षात्कार न हो? उसके लिए सुषुप्ति को ही क्यों चुनते हो? इस समय भी तुम्हें आत्मा का साक्षात्कार है।

भक्त : किन्तु मैं समझता नहीं।

म० : इसका कारण यह है कि तुम आत्मा को देह से मिला रहे हो। मिथ्या तादात्म्यता को त्याग दो और आत्मा प्रकट ही है।

भक्त : किन्तु मैंने आपसे माया अथवा आसक्ति से निवृत्त होने के लिए आपकी सहायता की जो याचना की थी, मेरे उस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ।

म० : सुषुप्ति में यह आसक्ति नहीं होती। इसकी अनुभूति तथा अनुभव अभी है। यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। यह भ्रान्त धारणा किसको हुई है? अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर मैं—मेरा नहीं रहेगा। यही माया से मुक्ति पाना है। माया बाहर नहीं है कि उससे किसी अन्य प्रकार से मुक्त हुआ जा सके।

१५ नवम्बर, १९३६

निहाई से स्फुलिंग

२८१. अपने को श्री महर्षि का पुराना शिष्य बताने वाले एक मनुष्य ने न्यायालय में अपने को आश्रम का न्यायसंगत सर्वाधिकारी घोषित कराने हेतु एक दावा प्रस्तुत किया है।

श्री महर्षि की आयोग द्वारा साक्षी ली गयी। उत्तर-पूर्व के कक्ष में एक जन-समूह एकत्र हो गया। किन्तु कार्यवाही शान्तिपूर्वक चली।

उसके कुछ रोचक अंश निम्न प्रकार हैं :

श्री भगवान के उत्तर बिलकुल शान्त तथा सहज थे।

प्रश्न : श्री भगवान किस आश्रम में हैं ?

म० : अतिआश्रम (चारों आश्रमों से परे)।

प्रश्न : वह क्या है ?

म० : यह सामान्यतया मान्य चारों आश्रमों से परे है।

प्रश्न : क्या यह शास्त्रसम्मत है ?

म० : हाँ। शास्त्रों में इसका वर्णन है।

प्रश्न : क्या आपके अतिरिक्त इस प्रकार के अन्य व्यक्ति भी हैं ?

म० : हो सकते हैं।

प्रश्न : क्या कोई हुए हैं ?

म० : शुक, ऋषभ्, जड़ भरत तथा दूसरे।

प्रश्न : आपने आरम्भिक अवस्था में गृह तथा सम्पत्ति में आसक्ति न होने से घर को त्याग दिया था। किन्तु यहाँ, आश्रम में सम्पत्ति विद्यमान है। यह कैसे है ?

म० : मैं इसकी इच्छा नहीं करता। सम्पत्ति मेरे ऊपर लाद दी गयी है। मुझे न इससे राग है न द्वेष।

प्रश्न : क्या यह आपको दी गयी है।

म० : वह जो भी स्वामी हो, उसे दी गयी है। किन्तु जगत में देह को ही स्वामी समझा जाता है। वह देह यह है। इस प्रकार इसका आशय मुझसे है।

प्रश्न : इस प्रकार सम्पत्ति में आसक्ति फिर से उत्पन्न हुई। क्या ऐसा है ?

म० : मुझे इससे द्वेष नहीं। मैंने केवल इतना ही कहा था।

प्रश्न : व्यावहारिक जीवन में यह वही बात है जो मैं कहता हूँ।

म० : जिस प्रकार हम व्यावहारिक विषयों में रहते एवं आचरण करते हैं।

प्रश्न : क्या आप उपदेश देते हैं ? क्या आपने कभी ऐसा किया है ?

म० : आने वाले प्रश्न पूछते हैं। मैं जितना जानता हूँ उतना समाधान करता हूँ। वे मेरे शब्दों को जैसा चाहें वैसा समझें।

प्रश्न : क्या यह उपदेश है ?

म० : दूसरे इसे किस प्रकार लेते हैं, यह मैं कैसे कह सकता हूँ ?

प्रश्न : क्या आपके शिष्य हैं ?

म० : मैं लौकिक दीक्षा गुरु जैसे उपदेश नहीं देता। उदाहरण के लिए, कुम्भ स्थापित कर उसका पूजन तथा व्यक्ति को मन्त्रोपदेश मैं नहीं करता। व्यक्ति अपने को मेरा शिष्य या भक्त कह सकता है। मैं किसी को भी

अपना शिष्य नहीं मानता। न मैंने कभी किसी से ऐसा उपदेश लिया है, न मैं किसी को ऐसा उपदेश देता हूँ। यदि लोग अपने को मेरा शिष्य बताते हैं, तो मैं न तो इसका अनुमोदन करता हूँ, न निषेध। मेरी दृष्टि में सभी समान हैं। वे अपने को शिष्य कहलाने की पात्रता मान लेते हैं। मैं उनसे क्या कह सकता हूँ ? मैं अपने को न शिष्य कहता हूँ न गुरु।

प्रश्न : आपने मन्दिर की, जो भूमि पर्वत पर है, उस पर सम्बन्धित अधिकारियों से अनुमति प्राप्त किये बिना स्कन्दाश्रम बनाने की सहमति क्यों दी ?

म० : उसी शक्ति की प्रेरणा से जो मुझे यहाँ लायी तथा जिसने मेरा पर्वत पर निवास कराया।

प्रश्न : आपने यहाँ आने के एक घण्टे के अन्दर ही अपनी नकदी इत्यादि को फेंक दिया, आपने ऐसा इसलिए किया क्योंकि आप सम्पत्ति नहीं चाहते थे। आप कभी धन स्पर्श नहीं करते। आपके आगमन के बाद अनेक वर्षों तक यहाँ कुछ परिग्रह नहीं हुआ। यह कैसे कि अब आश्रम में दान स्वीकार किया जाता है ?

म० : यह परम्परा कुछ देर से आरम्भ हुई, चूँकि कुछ साथी धन एकत्र करने के लिए मेरे नाम का उपयोग करने लगे। मैंने उनके कार्य का अनुमोदन नहीं किया न उनको रोका। अतः यह चल रहा है। एक व्यक्ति जाता है, दूसरा आता है, किन्तु यह प्रक्रिया चलती रहती है। मैं नहीं चाहता कि दान स्वीकार किया जाय। परन्तु लोग उस सलाह पर ध्यान नहीं देते। मैं ऐसी सलाह नहीं देना चाहता जिसका पालन न हो। इसलिए मैं उनको रोकता नहीं। चूँकि धन आता रहता है और सहज ही में इमारतें बढ़ती जाती हैं।

प्रश्न : आप अपने नाम से हस्ताक्षर क्यों नहीं करते ?

म० : आत्म-साक्षात्कार के लेखक ने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है। इसके अतिरिक्त मैं किस नाम से जाना जाऊँ ? मैं स्वयं नहीं जानता। मेरे यहाँ आने के बाद समय-समय पर लोग मुझे अनेक नाम देते आये हैं। यदि मैं एक नाम से हस्ताक्षर करूँ तो सब लोग इसे नहीं समझ पायेंगे। इस कारण मैं हस्ताक्षर संग्रह करने वालों को कहा करता था कि यदि वे मेरे हस्ताक्षर दिखायेंगे तो सामान्य लोग उन्हें वास्तविक नहीं मानेंगे।

प्रश्न : मेरा विश्वास है कि आप धन तथा अन्य भेंट स्पर्श नहीं करते।

म० : लोग कभी-कभी मेरे हाथों में फल रख देते हैं। मैं उनको स्पर्श करता हूँ।

प्रश्न : यदि आप एक प्रकार की भेंट लेते हैं तो आप धन भी क्यों नही लेते ?

म० : मैं धन को खा नहीं सकता। मैं उसका क्या करूँगा ? मैं वह क्यों लूँ जिसका उपयोग मुझे नहीं मालूम ?

प्रश्न : यात्री आश्रम में क्यों ठहरते हैं ?

म० : इसका कारण वे ही जानते हैं, क्यों ?

प्रश्न : मैं समझता हूँ कि आपको किसी के यहाँ आने में तथा ठहरने में कोई आपत्ति नहीं है ?

म० : नहीं।

प्रश्न : इसी प्रकार वे कितने भी दिन ठहरें उसमें भी आपको आपत्ति नहीं है।

म० : नहीं। मुझे यदि उनका ठहरना अनुकूल प्रतीत नहीं होगा तो मैं ही अन्यत्र चला जाऊँगा। बस इतना ही।

एक वकील भक्त ने श्री भगवान से पूछा कि आयोग द्वारा पिछले दिन की गयी जिरह से अधिक थकान तो नहीं हुई ?

म० : मैंने अपने मन से काम नहीं लिया अतः कोई थकान नहीं हुई। वे मुझसे एक सहस्र दिन तक जिरह करें। मुझे चिन्ता नहीं।

१६ नवम्बर, १९३६

२८२. **भक्त** : क्या तान्त्रिक साधना से आत्म-साक्षात्कार हो सकता है ?

म० : हाँ।

भक्त : तन्त्र में सबसे उत्तम आराधना कौनसी है ?

म० : यह स्वभाव पर निर्भर करता है।

भक्त : आत्म-साक्षात्कार के कराने में कुडणिलनी का क्या महत्त्व है ?

म० : तुम्हारा जहाँ भी लक्ष्य है, वहीं से कुण्डलिनी उदय होती है। कुण्डलिनी प्राण-शक्ति है।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि भिन्न देवता भिन्न चक्रों में रहते हैं। क्या साधना की अवस्था में उनके दर्शन होते हैं ?

म० : इच्छा होने पर दर्शन हो सकते हैं।

भक्त : क्या समाधि के द्वारा आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर जाते हैं ?

म० : वे एक-दूसरे के पर्याय हैं।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि गुरु स्वयं अपनी कुछ शक्ति अपने शिष्य में संचार कर उसे आत्म-साक्षात्कार करा सकते हैं। क्या यह सत्य है ?

म० : हाँ ! गुरु आत्म-साक्षात्कार नहीं कराता । वह केवल उसकी बाधाओं को दूर कर देता है । आत्मा साक्षात् ही है ।

भक्त : क्या आत्म-साक्षात्कार हेतु गुरु अनिवार्य है ?

म० : जब तक तुम आत्मा के साक्षात्कार के प्रयास में लगे हुए हो, गुरु आवश्यक है । गुरु आत्मा है । गुरु को पूर्ण आत्मा मानो तथा अपने आपको व्यक्तिगत मानो । द्वैत की इस भावना का लोप होना ही अज्ञान का दूर होना है । जब तक तुम में द्वैत की भावना दृढ़ रहती है, तब तक गुरु आवश्यक है । चूँकि तुमने अपने आपको देह मान लिया है इसलिए तुम गुरु को भी कोई देहधारी ही मानते हो । न तुम देह हो, न गुरु । तुम आत्मा हो, तथा गुरु भी वही है । जिसे तुम आत्म-साक्षात्कार कहते हो उसके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है ।

भक्त : यह कैसे मालूम हो कि अमुक व्यक्ति गुरु होने के योग्य है ?

म० : उनके सान्निध्य में प्राप्त होने वाली मानसिक शान्ति से तथा उसके प्रति तुम में उत्पन्न होने वाली श्रद्धा से ।

भक्त : यदि गुरु अयोग्य हुआ तो उस शिष्य की क्या दशा होगी, जिसको उन पर पूर्ण श्रद्धा थी ?

म० : हर एक की अपनी योग्यता के अनुसार ।

भक्त : सामाजिक सुधारों के सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?

म० : अपने सुधार से समाज का सुधार स्वतः हो जाता है । अपने को अपने सुधार तक सीमित रखो । समाज सुधार अपनी चिन्ता खुद कर लेगा ।

भक्त : गांधीजी के 'हरिजन आन्दोलन' के विषय में आपका क्या मत है ?

म० : उनसे पूछो ।

भक्त : यदि हम मृतक शरीर को स्पर्श करें तो क्या स्नान करना आवश्यक है ?

म० : देह एक मृतक शरीर है । जब तक कोई इसके सम्पर्क में है उसे आत्मा के जल में स्नान करना आवश्यक है ।

भक्त : यदि अद्वैत अन्तिम है, तो माधवाचार्य ने द्वैत का प्रतिपादन क्यों किया ?

म० : तुम्हारी आत्मा द्वैत है अथवा अद्वैत ? सभी सिद्धान्त आत्म-समर्पण पर सहमत हैं । पहले इसे प्राप्त कर लो, तब फिर किसका मत ठीक है अथवा नहीं, इसके निर्णय हेतु पर्याप्त समय रहेगा ।

भक्त : जनता को ठीक मार्ग पर लाने के लिए आप उन्हें उपदेश क्यों नहीं देते ?

म० : तुमने अपने आप पहले ही यह निश्चय कर लिया कि मैं उपदेश नहीं देता। क्या तुम जानते हो कि मैं कौन हूँ और उपदेश देना क्या है ?

भक्त : क्या ब्राह्मणों में विधवाओं के केश कटा देना निर्दयता नहीं है ?

म० : यह प्रश्न धर्मशास्त्रियों अथवा सुधारकों से पूछो। पहले स्वयं का सुधार करो इसके बाद ही हमें दूसरों की ओर ध्यान देना चाहिए।

१७ नवम्बर, १९३६

२८३. **भक्त** : व्यक्ति जितसंगदोषः (संग के दोष से मुक्त) कैसे हो सकता है ?

म० : सतसंग द्वारा (ज्ञानियों के संग से)। सत्संगत्वे निसंगत्वं निसंगत्वे निर्मोहत्वम् निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्तिः।

सत्संग का अर्थ है सत् का संग। सत् केवल आत्मा है। अभी आत्मा को सत् न जानने के कारण ही उन ज्ञानियों के संग की आवश्यकता है जिन्होंने ऐसा जान लिया है। यही सत्-संग है। परिणाम है अन्तर्मुखता। तभी सत् प्रकट होता है। संग किसके लिए है ? दोष किसके लिए है ?

भक्त : आत्मा के लिए।

म० : नहीं। आत्मा शुद्ध तथा अप्रभावित है। दोष केवल अहंकार को ही प्रभावित करते हैं।

भक्त : क्या आत्मा देह बिना रह सकता है ?

म० : थोड़े समय के बाद ऐसा ही होगा। गहन निद्रा में। आत्मा बिना शरीर के है। अभी भी वह ऐसा ही है।

भक्त : क्या संन्यासी संसार के बीच में रह सकता है ?

म० : जब तक कोई अपने को संन्यासी मानता है, वह संन्यासी नहीं है। जब तक व्यक्ति संसार का विचार नहीं करता, वह संसारी नहीं है, अपितु वह संन्यासी है।

१८ नवम्बर, १९३६

२८४. **भक्त** : श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—आत्मा का साक्षात्कार शुद्ध बुद्धि द्वारा तथा गुरु सेवा द्वारा एवं खोज से करो।

इनका सामंजस्य किस प्रकार सम्भव है ?

म० : ईश्वरो गुरुरात्मेति—ईश्वर, गुरु तथा आत्मा एक ही हैं। जब तक तुम में द्वैत का भाव रहता है तब तक तुम गुरु को पृथक मानकर उसकी

खोज करते हो। तथापि वह तुम्हें सत्य का बोध देते हैं और तुमको अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है।

भक्त : इस पर प्रकाश डालने की कृपा करें :

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्
नाहं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम

(मैं अकेला हूँ; मेरा कोई नहीं है; मैं किसी दूसरे का नहीं हूँ; मैं ऐसा कोई नहीं देखता जिसका मैं हूँ, कोई नहीं जो मेरा है।)

म० : यह श्लोक अनेक शास्त्रों तथा पवित्र ग्रन्थों में पाया जाता है, यथा भागवत, महाभारत आदि। "आत्म-साक्षात्कार" के एकादश अध्याय का भी यही भाव है।

अहम् "मैं" केवल एक है। अहंकार भिन्न-भिन्न हैं। वे केवल एक आत्मा में हैं। आत्मा अहंकारों से प्रभावित नहीं है : 'मैं' केवल एक है। 'मैं' ही सत्य है। शेष सब द्वैत के भाव का निषेध करने के लिए हैं।

२८५. **भक्त :** यदि आत्मा को स्वयं का भान हो तो मुझे अभी भी उसका भान क्यों नहीं है ?

म० : द्वैत नहीं है। तुम्हारा वर्तमान ज्ञान अहम् भाव के कारण है तथा सापेक्ष है। सापेक्ष ज्ञान में दृष्टा एवं दृश्य का होना आवश्यक है। जबकि आत्मजाग्रति सहज है तथा उसे किसी दृश्य की आवश्यकता नहीं है। स्मरण भी इसी प्रकार सापेक्ष है। जहाँ दृष्टा के रूप में स्मरण करने वाला होना चाहिए तथा दृश्य के रूप में स्मरण की जाने वाली वस्तु होनी चाहिए। जब द्वैत नहीं है, तो किसे कौन स्मरण करेगा ?

भक्त : शरीर के मृतक होने पर मिथ्या अहंकार का क्या होता है ?

म० : अहम् वृत्ति ही अहंकार है। सूक्ष्म रूप से यह संकल्प रहता है, किन्तु स्थूल रूप से यह मन, इन्द्रिय तथा देह को भी सम्मिलित कर लेता है। गहन निद्रा में यह सब अहंकार के साथ ही लुप्त हो जाते हैं। तथापि आत्मा रहता है। मृत्यु में भी ऐसा ही होगा।

अहंकार का आत्मा से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है—कि वह स्वयं ही अपनी सृष्टि कर ले अथवा नष्ट हो जाय। यह आत्मा के एक यन्त्र के रूप में क्रियाशील रहता है तथा कभी-कभी निष्क्रिय हो जाता है। आशय है कि यह उदय तथा लुप्त होता रहता है; इसे जन्म तथा मृत्यु माना जा सकता है।

सापेक्ष ज्ञान का सम्बन्ध मन से है, आत्मा से नहीं। इसलिए यह भ्रामक है, एवं स्थायी नहीं। एक वैज्ञानिक का उदाहरण लो। वैज्ञानिक पृथ्वी के गोल होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उसे अकाट्य सिद्ध करने का प्रयास करता है। जब वह सो जाता है तो सारा विचार नष्ट हो जाता है; उसका मन शून्य हो

जाता है; जब वह सुषुप्ति में है तब पृथ्वी गोल हो अथवा चपटी उसका क्या महत्त्व है ? इससे तुम देखोगे कि इस प्रकार का समस्त सापेक्ष ज्ञान वृथा है।

मनुष्य को इस सापेक्ष ज्ञान के परे जाकर आत्मा में डटना चाहिए। इस प्रकार का अनुभव ही वास्तविक ज्ञान है, न कि मन द्वारा प्राप्त किया हुआ।

भक्त : श्री भगवान बाहर जाकर सामान्य जनता को सत्य का उपदेश क्यों नहीं देते ?

म० : तुमको कैसे मालूम कि मैं यह नहीं कर रहा हूँ। उपदेश का अर्थ क्या मंच पर जाकर जनता को प्रभावशाली भाषण देना ही है ? उपदेश ज्ञान का संचार-मात्र है। यह मौन से भी सम्भव है।

एक घण्टा उग्र भाषण सुनने के बाद भी यदि कोई व्यक्ति उससे बिना प्रभावित हुए चला जाय और उसे जीवन में परिवर्तन करने की कोई प्रेरणा न हो तो तुम क्या कहोगे ? उसकी तुलना ऐसे व्यक्ति से करो जो एक पवित्र आत्मा की सन्निधि में बैठकर कुछ समय बाद जाता है, पर उसका जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है वह पूर्णतया बदल जाता है।

कौन उत्तम है : जोर से प्रभावहीन प्रचार करना अथवा मौन बैठकर अपनी अन्तः प्रज्ञ शक्ति से—दूसरों को प्रभावित करना ?

वाणी का उदय किस प्रकार होता है ? पहले अव्यक्त ज्ञान होता है। इससे अहंकार उदय होता है जिससे संकल्प तथा शब्द साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं। क्रम यह है :

अव्यक्त ज्ञान
↓
अहंकार
↓
संकल्प
↓
शब्दावली
↓

इस प्रकार शब्द मूल-स्रोत के प्रपौत्र हुए। यदि शब्द परिणाम कर सकते हैं तो मौन के माध्यम से उपदेश कितना अधिक शक्तिशाली होगा ? स्वयं ही निर्णय करो।

२८६. **भक्त** : हम सुषुप्ति में जितनी देर तक रहना चाहें उतनी देर तक क्यों नहीं रह सकते तथा जाग्रत के समान उसमें भी अपनी इच्छा से क्यों नहीं रह पाते ?

म० : इस अवस्था में भी सुषुप्ति बनी रहती है। हम सदैव ही सुषुप्ति में हैं। इस अवस्था में भी जाग्रत रहकर उसे प्राप्त करना आवश्यक है। वास्तव में उसमें जाना अथवा आना ऐसा कुछ नहीं है। उसकी जागरूकता ही समाधि है। एक अज्ञानी व्यक्ति बहुत काल तक सुषुप्ति में नहीं रह सकता क्योंकि प्रकृति उसे उससे बाहर आने को मजबूर करती है। उसके अहंकार का नाश न होने से वह पुनः उदय होगा। किन्तु ज्ञानी पुरुष अहंकार को उसके मूल में ही नष्ट करने का प्रयास करता है। ज्ञानी का अहंकार भी प्रारब्ध-वश बारम्बार उदय होता है। आशय यह है कि ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों का अहंकार अंकुरित होता रहता है। किन्तु अन्तर यह है कि अज्ञानी का अहंकार उदय होने पर अपने मूल से पूर्णतया अनभिज्ञ रहता है अथवा उसे स्वप्न तथा जागृति में अपनी सुषुप्ति का पता नहीं रहता है, जबकि ज्ञानी अहंकार के उदय होने पर उसके साथ अनुभवातीत अनुभव का आनन्द लेता है तथा सदैव ही अपने लक्ष्य को इसके स्रोत में दृढ़ रखता है। यह अहंकार हानिकर नहीं है। यह जली हुई रस्सी के समान है; इस रूप में यह निष्फल रहता है। अपने लक्ष्य को निरन्तर अपने मूल स्रोत में रखने से हमारा अहंकार मूल में ही विलीन हो जाता है जिस प्रकार कि नमक की एक गुड़िया समुद्र में।

भक्त : श्री रामकृष्ण के अनुसार निर्विकल्प समाधि इक्कीस दिन से अधिक समय तक नहीं रह सकती। यदि अधिक समय तक रहा जाय तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। क्या यह ऐसा है ?

म० : जब प्रारब्ध का क्षय हो जाता है अहंकार पूर्णतया विलीन हो जाता है। फिर उसका लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। यह अन्तिम मुक्ति है। जब तक प्रारब्ध सम्पूर्णतया नष्ट नहीं होगा तब तक जीवन-मुक्त पुरुषों में भी अहंकार शुद्ध रूप में पुनः-पुनः उत्पन्न होता रहेगा। इक्कीस दिन की अवधि सम्बन्धी कथन में मेरा अब भी संशय है। ऐसा कहा जाता है कि तीस अथवा चालीस दिन उपवास करने से व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। किन्तु अधिक दिन तक उपवास करने वाले व्यक्ति हैं, जैसे सौ दिन तक। आशय यह है कि उनका प्रारब्ध अभी तक शेष है।

भक्त : साक्षात्कार कैसे सम्भव होता है ?

म० : पूर्ण आत्मा से अग्नि की तरह एक चिनगारी निकलती है। इस चिनगारी को अहंकार कहते हैं। अज्ञानी व्यक्ति का अहम् भाव उदय होते ही वह किसी दृश्य से तादात्म्यता कर लेता है। उसने दृश्यों से जो तादात्म्यता करली है, उनसे वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता। यह तादात्म्यता अज्ञान है जिसका नाश करना हमारे प्रयासों का लक्ष्य है। यदि उसकी तादात्म्यता की प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया जाय तो वह शुद्ध रहता है और अपने मूल स्रोत (आत्मा) में

विलीन हो जाता है। शरीर के साथ मिथ्या तादात्म्यता को देहात्मबुद्धि कहते हैं। इसके नष्ट होने के बाद ही उत्तम परिणाम आयेंगे।

भक्त : इसको कैसे नष्ट किया जाये ?

म० : हम सुषुप्ति में देह तथा मन से सम्बद्ध हुए बिना रहते हैं। किन्तु अन्य दो अवस्थाओं (जाग्रत एवं स्वप्न) में हम इनसे सम्बद्ध रहते हैं। यदि हम देह से सम्बद्ध होते तो हम सुषुप्ति में बिना देह के कैसे रहते ? हम अपने आपको उससे अलग कर सकते हैं जो हम से बाहर है, न कि उससे जो हमसे अभिन्न है। इस प्रकार अहंकार शरीर से अभिन्न नहीं है। जाग्रत अवस्था में इसकी अनुभूति करना नितान्त आवश्यक है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति (अवस्थात्रय) का अध्ययन केवल इस दृष्टिकोण को प्राप्त करने के लिए करना चाहिए।

शुद्ध अहम् का अनुभव—दो अवस्थाओं अथवा दो संकल्पों की सन्धि में होता है। अहम् उस कीड़े के समान है, जो पकड़ी हुई वस्तु को तभी छोड़ता है, जब वह दूसरी पकड़ ले। इसका वास्तविक स्वरूप तभी जाना जा सकता है जब इसका दृश्य पदार्थों एवं संकल्पों से सम्पर्क नहीं रहता है। अवस्थात्रय (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) के अध्ययन से जो विश्वास पैदा हुआ है उससे इस सन्धि का अनुभव करो।

भक्त : हम नींद में कैसे जाते हैं तथा फिर कैसे जाग जाते हैं ?

म० : रात्रि होते ही मुर्गी कुटकुट बोलती हैं और उसके बच्चे उसके पंखों में जाकर छिप जाते हैं। तब मुर्गी नन्हें बच्चों को अपनी सुरक्षा में लेकर रात्रि में घोंसले में सोती है। प्रातःकाल बच्चे तथा मुर्गी बाहर आ जाते हैं। मुर्गी से आशय अहंकार से है जो समस्त संकल्पों को एकत्रित कर रात्रि में सोने चला जाता है। सूर्योदय के साथ ही रश्मियाँ उदय होती हैं, जो सूर्यास्त के समय फिर संगृहीत कर ली जाती हैं। इसी प्रकार जब अहंकार अपने को प्रदर्शित करता है तो अपने सब साज-सामान के साथ ऐसा करता है और जब वह लुप्त होता है तो इसके साथ सब कुछ लुप्त हो जाता है।

भक्त : सुषुप्ति कैसी प्रतीत होती है ?

म० : मेघयुक्त अँधेरी रात्रि में किसी भी वस्तु की ठीक जानकारी नहीं हो सकती। वहाँ केवल घना अन्धकार होता है यद्यपि देखने वाला व्यक्ति अपने नेत्रों को खूब खुले रखता है। इसी प्रकार सुषुप्ति में द्रष्टा केवल अज्ञान का साक्षी है।

ऐसा कहते हैं कि एक जिज्ञासु से श्री भगवान ने कहा, "इस जगत में सत्य एवं मिथ्या की इस वार्ता से क्या प्रयोजन जबकि जगत स्वयं ही मिथ्या है ?"

२७ नवम्बर, १६३६

२८७. व्यवसाय से चिकित्सक, एक पंजाबी सज्जन सपत्नीक श्री भगवान के दर्शनार्थ आये। जब श्री भगवान दोपहर के भोजन के बाद पधारे, वे कक्ष में थे; तब उन्होंने पूछा : "मैं किस प्रकार ध्यान करूँ ? मुझे मन की शान्ति नहीं है।"

म० : शान्ति हमारा वास्तविक स्वरूप है। इसकी प्राप्ति आवश्यक नहीं। हमारे संकल्प नष्ट होने चाहिए।

भक्त : उनको नष्ट करने का प्रयास कर रहा हूँ, किन्तु मैं सफल नहीं हूँ।

म० : इसके लिए गीता में बताया गया मार्ग ही एकमात्र साधन है। जब कभी मन चंचल हो, उसे वापस लाकर ध्यान में लगाओ।

भक्त : मैं अपने मन को ध्यान में लगाने में असमर्थ हूँ।

अन्य भक्त : हाथी जब खुला होता है तब अपनी सूँड़ इधर-उधर रखता है और बेचैन हो जाता है। यदि उसे एक लम्बी जंजीर दे दी जाय तो सूँड़ उसे पकड़ लेती है और फिर उसे बेचैनी नहीं रहती है। इसी तकार लक्ष्यहीन मन बेचैन रहता है, लक्ष्य हो तो वह शान्त हो जाता है।

भक्त : नहीं, नहीं। यह सब सिद्धान्त मात्र है। मैंने बहुत-सी पुस्तकें पढ़ी हैं, परन्तु कोई लाभ नहीं। मन को एकाग्र कर पाना प्रायः असम्भव है।

म० : जब तक पहले के संस्कार शेष रहेंगे, तब तक एकाग्रता असम्भव है। वे भक्ति में भी बाधा डालते हैं।

दुभाषिये ने प्रश्नकर्ता को 'मैं कौन हूँ', के अध्ययन की सम्मति दी। डाक्टर का विरोध तैयार था : "मैं उसको भी पढ़ चुका हूँ। फिर भी मैं अपने मन को एकाग्र नहीं कर पाता।

म० : अभ्यास तथा वैराग्य से होगा—अभ्यासवैराग्यभ्यां।

भक्त : वैराग्य आवश्यक है.......

म० : अभ्यास तथा वैराग्य आवश्यक हैं। विस्तारशील संकल्पों का अभाव वैराग्य है; केवल एक विचार पर एकाग्र होना अभ्यास है। ध्यान का एक निश्चयात्मक पहलू है तथा दूसरा निषेधात्मक।

भक्त : मैं स्वयं ऐसा करने में असमर्थ हूँ। मैं एक शक्ति की खोज में हूँ जो मेरी सहायता करे।

म० : हाँ, जिसे अनुग्रह कहते हैं। मन की दुर्बलता के कारण हम व्यक्तिगत रूप से असमर्थ रहते हैं। अनुग्रह आवश्यक है। साधु सेवा केवल इसीलिए होती है। किन्तु नवीन कुछ भी प्राप्त नहीं करना है।

जिस प्रकार एक दुर्बल व्यक्ति एक सबल व्यक्ति के नियन्त्रण में आ जाता है, उसी प्रकार दुर्बल व्यक्ति का मन सशक्त मन के साधुओं के सान्निध्य में सहज ही नियन्त्रण में आ जाता है। जो है—वह अनुग्रह ही है। अन्य कुछ भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता ने कहा : "मैं अपने कल्याण के लिए आपके आशीर्वाद की याचना करता हूँ।"

श्री भगवान ने कहा, "हाँ, हाँ"।

वह सपत्नीक विदा हुआ।

२९ नवम्बर, १९३६

२८८. वेदान्त की माया तथा प्रत्यभिज्ञा की स्वतन्त्रता को स्पष्ट करते हुए श्री भगवान ने कहा :

वेदान्तियों के मत से माया भ्रम की शक्ति है जिसका निवास शिव में है। माया का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। माया जगत की भ्रान्ति को सत्य-सा प्रतीत कराने के बाद अज्ञानी पुरुषों को भ्रमित करती रहती है। माया के मिथ्यात्व का ज्ञान होने पर, माया लुप्त हो जाती है। प्रत्यभिज्ञा के अनुसार शक्ति शिव के साथ समवयस्क है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। शिव अव्यक्त है, जबकि अपनी स्वतन्त्र इच्छा के कारण शक्ति व्यक्त है। दर्पण में प्रतिबिम्ब जैसे उस शक्ति की अभिव्यक्ति शुद्ध चैतन्य पर संसार के प्रारम्भ द्वारा होती है। बिना दर्पण के प्रतिबिम्ब नहीं रह सकते। इसी प्रकार जगत की स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती। अन्ततः स्वतन्त्र ब्रह्म का एक गुण हो जाता है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म निर्गुण है और माया वह है जो नहीं है और जिसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। दोनों में क्या अन्तर है? दोनों का मत एक है कि आभास मिथ्या है। दर्पण के प्रतिबिम्ब किसी प्रकार भी सत्य नहीं हो सकते। वस्तुतः जगत की कोई सत्ता नहीं है। दोनों मतों का आशय एक ही है। उनका अन्तिम ध्येय संवित् (अर्थात आत्मा) का साक्षात्कार करना है। समष्टि का मिथ्यात्व प्रत्यभिज्ञा में निहित है, जबकि वेदान्त में यह स्पष्ट है। यदि जगत को चित (चैतन्य) मानें तो जगत् सर्वथा सत्य है। वेदान्त के अनुसार नानात्व नहीं है अर्थात सब कुछ एक वही सत्यता है। दोनों मतों में सारे दृष्टिकोणों पर सहमति है, अन्तर केवल शब्दों का एवं शैली का है।

३० नवम्बर, १९३६

२८९. कर्म पर चर्चा करते हुए श्री भगवान ने कहा : "कर्म का फल होता है। वे कारण कार्य के समान हैं। कारण कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध उस शक्ति के कारण है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। ईश्वर फलदाता है।"

एक यात्री कह रहा था कि आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। कुछ समय के बाद श्री भगवान ने कहा : "लोग आत्मा की पूर्णता के बारे में स्मृति तथा विस्मरण की बात करते हैं। विस्मरण तथा स्मृति संकल्प की आकृति मात्र हैं। जब तक संकल्प रहेंगे, ये भी क्रमानुसार आते रहेंगे। किन्तु सत्यता इनसे परे है। स्मृति तथा विस्मृति भी किसी वस्तु पर आधारित हैं। वह वस्तु भी विजातीय होगी; अन्यथा विस्मृति सम्भव नहीं हो सकती। इसको प्रत्येक व्यक्ति 'मैं' कहता है। इसकी खोज करने पर यह नहीं मिलता, क्योंकि यह वास्तविक नहीं है। अत: 'मैं' माया, अविद्या अथवा अज्ञान का पर्याय है। समस्त आध्यात्मिक शिक्षण का लक्ष्य यह जानना है कि अविद्या कभी भी नहीं थी। जो जानने वाला है उसी को अज्ञान होता है। जागृति ही ज्ञान है। ज्ञान नित्य एवं स्वाभाविक है। अज्ञान अस्वाभाविक एवं मिथ्या है।

भक्त : इस सत्य का श्रवण करने के बाद भी व्यक्ति को सन्तोष क्यों नहीं होता ?

म० : संस्कारों के नष्ट न होने के कारण। जब तक संस्कार निर्मूल न हो जायँ तब तक सन्देह तथा भ्रम सदैव बने रहेंगे। समस्त प्रयासों का उद्देश्य सन्देह तथा भ्रम का उन्मूलन करना है। ऐसा करने के लिए इनकी जड़ें काटनी होंगी। संस्कार ही इनकी जड़ें हैं।

गुरु द्वारा निर्धारित साधना से संस्कार निष्फल हो जाते हैं। गुरु यह अभ्यास करना साधक पर छोड़ देता है, जिससे कि वह स्वयं यह जान ले कि अविद्या अथवा अज्ञान नहीं है। इस सत्य की चर्चा की अवस्था को श्रवण कहते हैं। केवल यही दृढ़ नहीं होता। इसको दृढ़ करने के लिए मनन तथा निदिध्यासन का अभ्यास आवश्यक है। यह दोनों साधन वासनाओं के बीजों को भूनकर उन्हें निष्फल कर देते हैं।

कुछ असाधारण व्यक्ति सत्य के केवल एक बार के श्रवण मात्र से दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि वे उच्चकोटि के साधक (कृतोपासक) हैं। जबकि साधारण साधकों (अकृतोपासकों) को दृढ़ ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिक समय की आवश्यकता है।

लोग पूछते हैं : "अविद्या का उदय हुआ ही कैसे ? उनको हमारा उत्तर होगा : "अविद्या कभी उदय नहीं हुई। इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जिसका अस्तित्व है, वह केवल विद्या है।"

भक्त : तब मैं इसका अनुभव क्यों नहीं करता ?

म० : संस्कारों के कारण। तथापि यह मालूम करो कि कौन अनुभव नहीं करता और वह क्या अनुभव नहीं करता। तब यह स्पष्ट हो जायगा कि अविद्या नहीं है।

२६०. श्री सागरमल, एक मारवाड़ी सज्जन, बम्बई में रुई के व्यापारी, श्रीमद्भगवदगीता के विद्वान प्रतीत होते हैं। उन्होंने प्रश्न किया :

श्रीमद्भगवद्गीता का कथन है : "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चि" और बाद में : "सूत्रे मणिगणा इव" गीता ७-७ "मुझसे अन्य कुछ भी नहीं है।" और फिर "धागे में मणियों की तरह।" यदि केवल श्रीकृष्ण की ही सत्ता है तो जगत को "धागे में मणियाँ" किस प्रकार कहा जा सकता है ?

म० : इसका आशय यह है कि सूत्र तथा मणि मुझसे पृथक नहीं हैं। धागे से पृथक मणियाँ नहीं हैं तथा मुझसे पृथक धागा नहीं है। यह श्लोक एकत्व की महत्ता पर जोर देता है न कि अनेकत्व पर, जो केवल सतह पर ही है।

भक्त : भगवान में विलीन होने पर ही एकत्व हो सकता है। यह सत्य है—परन्तु उस समय तक नानात्व अवश्य रहेगा। वही संसार है।

म० : अब हम कहाँ हैं ? क्या हम भगवान से पृथक हैं ? संसार तथा हम सभी भगवान में हैं।

भक्त : किन्तु यह तो ज्ञानियों का अनुभव है। ज्ञान के उदय होने तक भेदभाव रहेगा। इस प्रकार मेरे लिये संसार है।

म० : संस्कार ही संसार है (जन्म और मृत्यु का चक्र)।

भक्त : ठीक। "यह सब वासुदेव है"……इस सत्य को हमने भुला दिया है। इसी कारण हम परमात्मा से अपनी तादात्म्यता नहीं कर पाते।

म० : विस्मृति कहाँ है ?

भक्त : स्वप्नवत्।

म० : किसका स्वप्न ?

भक्त : जीव का।

म० : जीव कौन है ?

भक्त : वह परमात्मा का है।

म० : तब परमात्मा को जिज्ञासा करने दो।

भक्त : मैं अपना संशय एक उदाहरण से स्पष्ट करूँगा।

म० : उदाहरण देकर संशय को कौन स्पष्ट करना चाहता है ? प्रत्यक्ष में स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण की आवश्यकता नहीं होती।

भक्त : प्रत्यक्ष है तथा विस्मरण भी।

म० : कौन क्या विस्मरण करता है ?

भक्त : सुनिए। कोई स्वप्न देखता है और जागने पर स्वप्न जगत लुप्त हो जाता है।

म० : इसी प्रकार वर्तमान स्वप्न से जाग जाओ।

भक्त : प्रकृति अत्यन्त बलवान है।

म० : पुरुष (परमात्मा) का भी दर्शन करो। तब प्रकृति क्या कर सकती है ?

भक्त : दोनों के बीच में ग्रन्थि है।

म० : ग्रन्थि किसकी है ? यह परमात्मा की है अथवा प्रकृति की ? अथवा दोनों की ?

भक्त : ब्रह्म के कारण।

म० : तब ब्रह्म ही पूछे अथवा उससे ही पूछा जाय। स्वप्न किसको है ? अथवा ग्रन्थि किसको है ? तुम सदैव कहते हो : "मैं प्रश्न करता हूँ" वह 'मैं' कौन है ?

भक्त : मैं अनुभव नहीं करता।

म० : "मैं" नित्य है। यदि यह कोई वस्तु विशेष होती तो यह नष्ट हो जाती। यह पूर्णता है। इस कारण यह दृश्य वस्तु जैसे ज्ञेय नहीं बनता।

भक्त : किन्तु मैं तो अपूर्ण हूँ।

म० : अपूर्णता को क्यों लाते हो ? तुम पूर्ण क्यों नहीं हो ? क्या तुम्हें सुषुप्ति में अपूर्णता का भान हुआ था ? तुम अब भी उसी प्रकार क्यों नहीं रहते ? जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति (जाग्रत सुषुप्ति) को लाओ तो तुम्हें समाधान होगा।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(अज्ञानी के लिए जो रात्रि है वही ज्ञानी के लिए दिन है)

भक्त : हाँ, यदि वह मुनि हो।

म० : मुनि कौन है ? क्या वह मनुष्य नहीं है ?

भक्त : यदि आप पर प्रहार हो तो क्या आपको अनुभूति नहीं होगी ? क्या कोई भेदभाव नहीं है ? क्या यह ज्ञान है ?

म० : क्लोरोफॉर्म अथवा मद्य के प्रभाव में व्यक्ति को इसका भान नहीं होता। क्या वह ज्ञानी है ? क्या वह भाव आना ज्ञान के लिए असंगत है ?

भक्त : वहाँ द्रष्टा, दृश्य तथा दृष्टि है। ये ज्ञान के लक्षण नहीं हैं।

म० : सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा बोध-शून्यता में भेदभाव नहीं रहता। क्या तुम इसे ज्ञान कहोगे ? इन अवस्थाओं में क्या हुआ ? क्या वह जो उस समय था, अब नहीं है ? जिसका अस्तित्व है, वह सदैव ही रहता है। भेद मन के कारण है। कभी मन रहता है, कभी नहीं। सत्यता में कभी परिवर्तन नहीं होता। सत्यता सदैव आनन्द है।

भक्त : आनन्द साधना से होता है। वह साधना कौन-सी है ?

म० : जिसको यह समस्त संशय उदय होते हैं उसकी खोज करना ही साधना है।

भक्त : यह अहंकार को होते हैं।

म० : अहंकार का उदय कहाँ से हुआ ?

भक्त : मुझे रास्ता दिखाने के लिए निर्देशन की आवश्यकता है।

म० : अन्तरमुख हो मार्ग को खोजो। इसे तुम बाहर प्राप्त नहीं कर सकते; न तुम्हें यह बाहर खोजना चाहिए।

भक्त : खोज से मैं अहंकार को मालूम नहीं कर सका। मैं वहीं रुक जाता हूँ।

म० : तुम इसे कैसे पा सकते हो ? यह तुम से पृथक नहीं है। इसकी अप्राप्ति को जाने दो। अभी तुम कहाँ हो ? क्या तुम्हारा आशय यह है : "मैं नहीं हूँ।"

भक्त : मैं क्या अथवा कैसे हूँ ?

म० : तुम इस प्रकार अपने को व्याकुल मत करो। उसे जैसा है वैसा रहने दो। तुम चिन्ता क्यों करते हो ? क्या तुम्हें सुषुप्ति में समष्टि तथा व्यष्टि की चिन्ता थी ? वही व्यक्ति अभी भी विद्यमान है। सुषुप्ति तथा जागृति में तुम वही हो।

भक्त : सुषुप्ति तथा जागृति विभिन्न अवस्थाएँ हैं तथा उनके विभिन्न प्रभाव हैं........

म० : तुम्हारे लिये इसका क्या महत्त्व है ? आत्मा सदैव ही वही है।

भक्त : ध्यान में मन स्थिर नहीं रहता।

म० : जब भी यह भटके इसे पुनः-पुनः अन्तरमुख करो।

भक्त : जब मैं दुःख के वश में हो जाता हूँ तब खोज असम्भव हो जाती है।

म० : यह मन की अत्यधिक दुर्बलता के कारण है। इसे सबल करो।

भक्त : किस साधन से ?

म० : सत्संग, ईश्वराराधना, प्राणायाम से।

भक्त : क्या होगा ?

म० : दुःख का निवारण होगा। दुःख का निवारण हमारा लक्ष्य है। तुम्हें आनन्द की प्राप्ति नहीं करनी। तुम्हारा स्वरूप ही आनन्द है। आनन्द की नवीन प्राप्ति नहीं होती है। जो कुछ करना है वह केवल दुःख का निवारण करना है। इन साधनों से यह हो जाता है।

भक्त : सम्भवतः सत्संग मन को बल प्रदान करेगा। अभ्यास भी आवश्यक है। क्या अभ्यास करें ?

म० : हाँ। अभ्यास भी आवश्यक है। अभ्यास से संस्कारों का निवारण होता है। अभ्यास किसी नवीन लाभ के लिए नहीं है। यह संस्कारों को नष्ट करने के लिए है।

भक्त : अभ्यास से मुझे वह शक्ति प्राप्त होनी चाहिए।

म० : अभ्यास ही शक्ति है। संकल्पों को यदि केवल एक संकल्प पर सीमित कर दिया जाय तो यह माना जायगा कि मन बलवान हो गया है। अभ्यास दृढ़ हो जाने पर वह सहज हो जाता है।

भक्त : वह अभ्यास क्या है ?

म० : आत्म-विचार। यही पर्याप्त है : आत्मन्येव वशं नयेत्···· गीता ६-२६। मन को आत्मा पर स्थिर करो।

भक्त : दृष्टि में लक्ष्य क्या होना चाहिए ? अभ्यास का लक्ष्य होना आवश्यक है।

म० : लक्ष्य आत्मा है। इसके सिवाय और क्या हो सकता है ? अन्य लक्ष्य उनके लिए है जो आत्म-लक्ष्य के अयोग्य हों। अन्ततोगत्वा वे आत्म-विचार की ओर ले जाते हैं। निदिध्यासन सब प्रकार के अभ्यासों का फल है। किसी को यह शीघ्र सुलभ है; किसी को अधिक समय के बाद। सब कुछ अभ्यास पर निर्भर करता है।

भक्त : सबसे अधिक प्रशंसा शान्ति की है। हम इसे कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?

म० : यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। आत्मा में विस्मृति कभी भी नहीं होती। अब आत्मा के अनात्मा से मिला देने के कारण ही तुम आत्मा की विस्मृति, शान्ति आदि की बात कर रहे हो। यदि यह भ्रान्त धारणा नष्ट हो जाय तो विस्मृति कभी भी अपना सिर न उठा पाये।

भक्त : यह कैसे करते हैं ?

म० : आत्म-विचार से। निदिध्यासन का अर्थ है, मानसिक क्रिया-कलापों की समाप्ति। विस्मरण अपने लिये होना चाहिए—अच्छा, किसका ? —क्या आत्मा का ? तब क्या आत्माएँ दो हैं। अभ्यास से संस्कार समाप्त हो जायेंगे।

भक्त : किन्तु संस्कार निस्सीम और अनन्त हैं—अनादिकाल से।

म० : यह भी संस्कार ही है। इस विचार को त्याग दो और समस्त संस्कार तुरन्त ही लुप्त हो जायेंगे। यही विश्रान्ति है, शान्ति है। शान्ति नित्य-

सिद्ध है। परन्तु तुम शान्ति को नीचे दबाकर स्वयं उस पर हावी होकर इस प्रकार उसे भंग करते हो। फिर तुम कहते हो : "मैं शान्ति चाहता हूँ।

भक्त : क्या शान्ति धीरे-धीरे होगी।

म० : हाँ। भगवद्गीता (शनैः शनैरुपरमेद्, ६-२५) के अनुसार मन को धीरे-धीरे शान्त करो।

कुछ समय पश्चात् यात्री ने पूछा कि क्या श्री ग० बीस तारीख को या उसके आसपास यहाँ आये थे। महर्षि के सम्बन्ध में मुझे उनसे ही परिचय मिला था। आश्रम से जाने के बाद श्री ग० आनन्द से पूर्ण थे।

म० : मैं सब यात्रियों के नाम कैसे जान सकता हूँ? वे यहाँ आये होंगे। सभी आनन्द से परिपूर्ण हैं। न नाम है, न रूप……तथापि व्यवहार के लिए नाम आवश्यक है।

५ दिसम्बर, १९३६

निहाई से स्फुलिंग

२९१. **प्रश्न** : उस दिन आपने अत्याश्रम की चर्चा की थी। क्या इसका कोई आधार है? क्या इसका कहीं वर्णन आया है?

म० : हाँ,—उपनिषदों में, सूत संहिता (स्कंदपुराण) भागवत, भारत आदि दूसरे ग्रन्थों में।

प्र० : क्या उस अवस्था की कोई मर्यादा एवं संयम आदि हैं।

म० : उनमें अवस्था के लक्षणों का भी विवरण दिया गया है।

प्र० : हर आश्रम में गुरु होते हैं। क्या अत्याश्रम में भी गुरु होता है?

म० : हाँ,

प्र० : किन्तु आप तो गुरु स्वीकार नहीं करते।

म० : प्रत्येक का गुरु है। मैं भी अपने लिये गुरु स्वीकार करता हूँ।

प्र० : आपका गुरु कौन है?

म० : आत्मा।

प्र० : किसके लिए?

म० : मेरे लिये। गुरु आन्तरिक हो अथवा बाह्य हो। वह आन्तरिक रूप से प्रकट हो अथवा बाह्य रूप से बोध दे।

प्र० : क्या अत्याश्रमी सम्पत्ति के स्वामी हो सकते हैं?

टिप्पणी : अत्याश्रम हेतु "नारद परिव्राजक उपनिषद, पंचम सर्ग, १·१५ श्वेताश्वतर उपनिषद षष्ठम, २१, तेजोबिन्दु उपनिषद प्रथम, ४७-४८, सूत संहिता मुक्ति खण्ड पंचम अध्याय, पंचम सर्ग, ९, १४, ४३; शिव महात्म्य खण्ड अध्याय पंचम, ३२, ३७-५५ देखें।

म० : उनके लिए कोई बन्धन नहीं है। वे जैसे चाहें वैसे करें। शुक के लिए कहा जाता है कि उन्होंने विवाह किया और उनके सन्तानें भी हुईं।

प्र० : तब उस अवस्था में अत्याश्रमी गृहस्थ के समान हुआ।

म० : यह मैं बता ही चुका हूँ कि वह प्रचलित चारों आश्रमों से ऊपर है।

प्र० : यदि वे विवाह कर सकते हैं एवं सम्पत्ति के स्वामी हो सकते हैं; तो वे गृहस्थ ही हैं।

म० : यह आपका मत हो सकता है।

प्र० : क्या वे सम्पत्ति के मालिक बनकर दूसरों को उसे दे सकते हैं?

म० : वे ऐसा करें या न करें। सब उनके प्रारब्ध पर निर्भर है।

प्र० : क्या उनके लिए कोई कर्म निर्धारित है?

म० : उनका आचरण किसी भी नियम अथवा संहिता के अन्तर्गत सीमित नहीं है।

प्र० : जब यहाँ यात्री दो या तीन दिन ठहरना चाहें तो क्या वे आपकी अनुमति लेते हैं?

म० : प्रबन्धकों की अनुमति मेरी ही अनुमति है। यहाँ यात्री मेरे निमित्त आते हैं। प्रबन्धक भी मेरे निमित्त हैं। जब भी आपसी सहमति हो, मैं दखल नहीं देता। जब यहाँ यात्री आयें और मैं उनको आने दूँ तो क्या अन्य व्यक्ति मेरी इच्छाओं के विरुद्ध जाने का साहस कर सकते हैं? आपस की सद्भावना से किये हुए कार्यों में मेरी सहमति निहित है।

श्री भगवान को उनके स्वयं के हाथ से लिखा हुआ अपने आपको सुब्रह्मण्य के समान वर्णन करने वाला छन्द दिखाया गया।

श्री भगवान ने कहा कि यह स्वयं मेरे हाथ का लिखा हुआ है, किन्तु विचार पेरुमलस्वामी के हैं।

प्र० : किन्तु क्या आप जो उसमें लिखा है उससे सहमत नहीं हैं?

म० : उसी प्रकार जिस प्रकार एक मूर्ति को सुब्रह्मण्य मानकर प्रशंसा की जाय।

१३ दिसम्बर, १९३६

२९२. एक प्रश्न के उत्तर में कि क्या तन्मात्राएँ ही स्वप्न में मुख्य कारण हैं।

श्री भगवान ने कहा : नहीं। तन्मात्राएँ उससे भी अधिक सूक्ष्म हैं। यद्यपि जाग्रत अवस्था के स्थूल संसार की अपेक्षा स्वप्न सृष्टि सूक्ष्म है, किन्तु वे तन्मात्राओं की अपेक्षा स्थूल हैं। पंचीकरण के पश्चात् तन्मात्राएँ अंतःकरण की

सृष्टि करती हैं । यह भी भिन्न-भिन्न तत्त्व से सम्भव होता है । सत्व के प्रभाव से आकाश तत्त्व की वृद्धि होती है, उससे ज्ञान का उदय होता है जिसका अधिष्ठान मस्तिष्क है ।

वायु से मन उदय होता है ।

तेज से बुद्धि उदय होती है ।

जल से चित्त (स्मरण) उदय होता है ।

पृथ्वी से अहंकार उदय होता है ।

वे समष्टि हैं क्योंकि वे संयुक्त रूप से अथवा पृथक रहकर एक अथवा समस्त ज्ञानेन्द्रियों अथवा कर्मेन्द्रियों के साथ कार्य करने में समर्थ हैं ।

रजोगुण से ये व्यष्टि में ज्ञानेन्द्रियों का रूप धारण करती हैं; तमोगुण से व्यष्टि में कर्मेन्द्रियों का । तन्मात्राओं के समान रूप से विद्यमान होने से बाह्य जगत तथा व्यक्ति का सम्बन्ध सहज हो जाता है ।

तन्मात्राएँ प्रकृति जनित हैं । सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद हैं । युगपत्सृष्टि तथा क्रमसृष्टि दोनों का ही वर्णन है । महत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति पर बल देने का नहीं है, पर उसके मूल स्रोत पर है ।

२९३. श्री के० के० वी० अय्यर : ध्यान द्वारा अन्तरमुख होने का कोई मार्ग मालूम नहीं हुआ है ।

म० : अभी भी हम कहाँ हैं ? हमारा अस्तित्व ही वह है ।

भक्त : ऐसा होते हुए भी हम उससे अनभिज्ञ हैं ।

म० : किसका अज्ञान है तथा अज्ञान किसको है ? यदि आत्मा का अज्ञान है तो क्या आत्माएँ दो हैं ?

भक्त : आत्माएँ दो नहीं हैं । परिसीमा होने की भावना से तो इन्कार नहीं किया जा सकता । परिसीमाएँ होने के कारण·······

म० : परिसीमा केवल मन में है । क्या गहन निद्रा में तुमने इसका अनुभव किया था ? सुषुप्ति में तुम रहते हो । उस समय तुम अपने रहने से इन्कार नहीं करते । वही आत्मा जाग्रत अवस्था में अब और यहाँ विद्यमान है । अब तुम कह रहे हो कि परिसीमाएँ हैं । अब ऐसा क्या हुआ है जो दोनों अवस्थाओं में यह अन्तर आया । यह अन्तर मन के कारण है । सुषुप्ति में मन का अभाव था, जबकि अब यह क्रियाशील है । मन का अभाव होने पर भी आत्मा रहता है ।

भक्त : यद्यपि यह समझ में आ गया, पर यह अनुभव में नहीं आता ।

म० : यह ध्यान द्वारा शनैः-शनैः होगा ।

भक्त : ध्यान मन से होता है तब वह मन को किस प्रकार मारकर आत्मा को प्रकट कर सकता है ?

ध्यान का अर्थ है एक संकल्प पर दृढ़ होना। वह एक संकल्प अन्य संकल्पों को दूर रखता है; मन की चंचलता उसकी दुर्बलता की सूचक है। निरन्तर ध्यान करने से मन सबल होता है, अर्थात् मन के क्षणिक संकल्पों की दुर्बल वृत्ति के स्थान पर उसकी जगह संकल्पों से मुक्त स्थायी पृष्ठभूमि बनती है। यही संकल्पशून्य विस्तार आत्मा है। शुद्ध मन आत्मा है। श्री भगवान उपरोक्त प्रश्नकर्ता को आगे और भी बोध देते हैं : प्रत्येक व्यक्ति कहता है "मैं देह हूँ।" ज्ञानी तथा अज्ञानी का यही अनुभव है। अज्ञानी आत्मा को देह तक ही सीमित मानता है, जबकि ज्ञानी मानता है कि देह आत्मा से पृथक नहीं रह सकती। उसकी दृष्टि में आत्मा निस्सीम है तथा देह भी उसी में है।

श्री बोस ने कहा कि महर्षि के सान्निध्य में उन्हें शान्ति की अनुभूति होती है, जो किंचित काल तक स्थायी रहती है। उन्होंने आगे कहा "यह शान्ति स्थायी क्यों नहीं होती ?

म० : वह शान्ति ही वास्तविक स्वरूप है। विपरीत विचार केवल बाह्य हैं। यही यथार्थ भक्ति, यथार्थ योग एवं यथार्थ ज्ञान है। तुम कह सकते हो कि यह शान्ति अभ्यास से प्राप्त होती है। अभ्यास से भ्रान्त धारणा निकल जाती है। बस इतना ही है। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप सदैव स्थिर रहता है। ये प्रकाश अन्ततोगत्वा आत्मा के प्रकाशित होने के परिचायक हैं।

प्रथम प्रश्नकर्ता के उत्तर में श्री भगवान ने कहा : हृदय ही आत्मा है। यह न अन्दर है न बाहर। मन उसकी शक्ति है। मन में उदय होने के पश्चात् जगत भासित होता है तथा देह उसमें स्थित प्रतीत होती है। जबकि यह सब आत्मा में स्थित हैं तथा वे आत्मा से पृथक नहीं रह सकतीं।

१४ दिसम्बर, १९३६

२९४. श्री पारखी : ध्यान का अभ्यास किस प्रकार किया जाय ?

म० : ध्यान यथार्थ में **आत्मनिष्ठा** है। परन्तु जब मन संकल्पों से घिर जाता है तब उनको नष्ट करने का प्रयास किया जाता है, उस प्रयास को सामान्यतः ध्यान कहते हैं। आत्मनिष्ठा तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। तुम हो वैसे रहो। यही लक्ष्य है।

भक्त : किन्तु संकल्प आते रहते हैं। क्या हमारा प्रयास केवल संकल्पों को नष्ट करने के लिए है ?

म० : हाँ। ध्यान एक संकल्प पर केन्द्रित होने से अन्य संकल्प दूर रहते हैं। इस प्रकार ध्यान निषेधक है क्योंकि संकल्प दूर रहते हैं।

भक्त : ऐसा कहा है कि "आत्मसंस्थं मनःकृत्वा" गीता ६-२५। मन को आत्मा में स्थापित करना। किन्तु आत्मा अचिन्तनीय है।

म० : तुम ध्यान करना ही क्यों चाहते हो ? चूँकि तुम ध्यान करना चाहते हो अतः तुम्हें "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" बताया जाता है। बिना ध्यान के ही तुम्हारा निज स्वरूप जैसा है वैसा क्यों नहीं रहते ? वह मन क्या है ? जब सारे संकल्पों का निरसन हो जाता है तब वह (मन) आत्मसंस्थ हो जाता है।

भक्त : यदि सामने कोई आकृति हो तब मैं उसका ध्यान कर सकता हूँ तथा अन्य संकल्पों का निरसन हो जाता है। परन्तु आत्मा तो निराकार है।

म० : आकार तथा स्थूल पदार्थों पर एकाग्र होने को ध्यान कहते हैं, जबकि आत्मा की खोज को विचार अथवा निदिध्यासन कहते हैं। अध्यारोपापवादाभ्याम् (अध्यारोपण तथा उनका निरसन) को स्पष्ट करते हुए श्री भगवान ने कहा कि प्रथम तुम्हें आत्मा में अन्तर्मुख करेगा तथा द्वितीय से तुम जानोगे कि संसार आत्मा से पृथक नहीं है।

१६ दिसम्बर, १९३६

२९५. एक गुजराती सज्जन श्री नटवरलाल पारिख अन्तरराष्ट्रीय धर्म सम्मेलन में बड़ौदा के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेकर यहाँ मिलने आये हैं। अति उत्तम वस्त्र पहने सजग नवयुवक हैं, जिन्हें अपने सद्गुणों का भान है। उन्होंने एक लिखित प्रश्नावली श्री भगवान के समक्ष रखी।

भक्त : कृपया आत्मा—परमात्मा—सच्चिदानन्द को साक्षात् करने में मेरी सहायता करें।

म० : आत्मा—परमात्मा—सच्चिदानन्द का एक ही अर्थ है अर्थात् आत्मा। आत्मा नित्य साक्षात् है। अन्यथा उसमें आनन्द नहीं होगा। यदि यह शाश्वत नहीं होगी तो इसका प्रारम्भ भी होगा; जिसका आदि है, उसका अन्त भी है; इस प्रकार वह केवल अस्थायी होगी। अस्थायी अवस्था की इच्छा करने का कोई लाभ नहीं है। वास्तव में यह बिना प्रयास के निरन्तर जागरूक शान्ति की अवस्था है। बिना प्रयास के जागरूक बने रहना ही आनन्द की अवस्था है, यही साक्षात्कार है।

भक्त : मैं बौद्धिक उत्तर नहीं चाहता। मैं उन्हें व्यावहारिक चाहता हूँ।

म० : हाँ। प्रत्यक्ष ज्ञान में बौद्धिक चर्चा की आवश्यकता नहीं है। चूँकि आत्मा का प्रत्येक को प्रत्यक्ष अनुभव है, इसलिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति कहता है—"मैं हूँ" क्या इससे कुछ अधिक साक्षात् करना है ?

भक्त : यह मुझे स्पष्ट नहीं हुआ।

म० : तुम्हारा अस्तित्व है। तुम कहते हो : "मैं हूँ।" इसका अर्थ है अस्तित्व।

भक्त : किन्तु मुझे उसके बारे में अर्थात् अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में निश्चय नहीं है।

म० : अरे ! फिर अब कौन बोल रहा है ?

भक्त : मैं, निश्चय ही। किन्तु मेरा अस्तित्व है अथवा नहीं, मुझे इसका निश्चय नहीं। इसके अतिरिक्त अपने अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी मेरी समस्या का हल नहीं हुआ।

म० : अस्तित्व का निषेध करने वाला कोई होना आवश्यक है। यदि तुम्हारा अस्तित्व नहीं है, न कोई प्रश्नकर्ता है, और न कोई प्रश्न उठ सकता है।

भक्त : हम यह मान लें कि मेरा अस्तित्व है।

म० : तुम्हें अपने अस्तित्व का भान कैसे हुआ ?

भक्त : चूँकि मैं सोचता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मैं देखता हूँ, आदि।

म० : तब तुम्हारा आशय यह है कि तुम इनसे अपने अस्तित्व का अनुमान लगाते हो। इसके अतिरिक्त सुषुप्ति में अनुभूति, विचार आदि का अभाव है. फिर भी अस्तित्व है।

भक्त : किन्तु नहीं। मैं गहन निद्रा में था, ऐसा मैं नहीं कह सकता।

म० : क्या तुम सुषुप्ति में अपने अस्तित्व से इन्कार करते हो ?

भक्त : मैं सुषुप्ति में हो भी सकता हूँ अथवा नहीं भी हो सकता हूँ। ईश्वर जानता है।

म० : जब तुम नींद से जागते हो, तब सोने से पहले जो तुम करते हो वह तुम्हें स्मरण रहता है।

भक्त : मैं कह सकता हूँ कि मैं सुषुप्ति से पहले तथा बाद में था, किन्तु मैं नहीं कह सकता कि क्या मैं सुषुप्ति में था।

म० : क्या तुम अब कहते हो कि तुम सो रहे थे ?

भक्त : हाँ।

म० : जब तक तुमको सुषुप्ति की अवस्था का स्मरण नहीं है, तुम यह कैसे जान सकते हो ?

भक्त : इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सुषुप्ति में मेरा अस्तित्व था। इस प्रकार अस्तित्व को स्वीकार कर लेने से कोई लाभ नहीं।

म० : क्या तुम्हारा आशय यह है कि प्रत्येक बार जब व्यक्ति सोता है, तो मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तथा जागते हुए पुनर्जीवित होता है ?

भक्त : सम्भव है। केवल परमात्मा जानता है।

म० : तब परमात्मा ही आकर इन पहेलियों को हल करे। यदि निद्रा का अर्थ मृत्यु होता तो व्यक्ति निद्रा से मृत्यु के समान ही भयभीत होता। इसके विपरीत निद्रा की इच्छा की जाती है। यदि उसमें सुख नहीं होता तो सुषुप्ति की कामना क्यों की जाती ?

भक्त : निद्रा में कोई निश्चित आनन्द नहीं है। शारीरिक थकान से निवृत्त होने के लिए ही सुषुप्ति की कामना की जाती है।

म० : हाँ, यह ठीक है। "थकान से निवृत्त होना।" कोई है जो थकान से निवृत्त है ?

भक्त : हाँ !

म० : इस प्रकार तुम सुषुप्ति में भी हो और अब भी हो। सुषुप्ति में तुम विचार, अनुभूति आदि से शून्य रहकर भी प्रसन्न थे। वही अभी भी है, अब तुम प्रसन्न क्यों नहीं हो ?

भक्त : यह कैसे कहा जा सकता है कि वहाँ प्रसन्नता है ?

म० : प्रत्येक व्यक्ति कहता है—"सुखमहमस्वाप्सम्"—मैं आनन्द से अथवा सुख से सोया।

भक्त : मैं नहीं समझता कि वे ठीक हैं। वहाँ सुख नहीं है। वहाँ केवल दुःख का अभाव है।

म० : आनन्द ही तुम हो। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि मैं आनन्द से सोया। इसका अर्थ है कि व्यक्ति सुषुप्ति में मूल शुद्ध अवस्था में रहता है। जहाँ तक दुःख का सम्बन्ध है; दुःख है ही नहीं। वह है कहाँ, जिससे कि तुम सुषुप्ति में उसका अभाव बताओ ? आत्मा की देह से वर्तमान मिथ्या तादात्म्यता के कारण सब भ्रान्तियाँ उदय हुई हैं।

भक्त : मेरी आकांक्षा साक्षात्कार की है। मुझे अपने अन्तस्थ आनन्द-मय स्वरूप का भान नहीं होता।

म० : चूँकि अब आत्मा की अनात्मा से तादात्म्यता हो गयी है। अनात्मा भी आत्मा से पृथक नहीं है। तथापि मिथ्या धारणा यह है कि देह पृथक है तथा आत्मा को देह से मिला दिया जाता है। आनन्द के व्यक्त होने के लिए इस मिथ्या तादात्म्यता को समाप्त करना होगा।

भक्त : मैं स्वयं यह करने में असमर्थ हूँ।

इन्जीनियर महाशय ने गुरु के प्रति समर्पण करने को कहा।

भक्त : स्वीकार है।

म० : आनन्द तुम्हारा स्वरूप है। तुम कहते हो यह स्पष्ट नहीं है। देखो तुम्हारा निज स्वरूप जैसा है वैसा रहने में क्या बाधा आती है।

तुम्हें बताया जा चुका है कि मिथ्या तादात्म्यता ही बाधा है। इस गलती का निरसन कर दो। अपने रोग से निवृत्त होने के लिए चिकित्सक द्वारा बतायी गयी औषधि रोगी को स्वयं ही सेवन करनी होगी।

भक्त : रोगी स्वयं की सहायता करने में अत्यन्त दुर्बल होने से चिकित्सक के हाथों में पूर्णतया समर्पण करता है।

म० : चिकित्सक को चिकित्सा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए तथा रोगी को बिना कुछ कहे केवल शान्त रहना आवश्यक है। इसी प्रकार चुप हो जाओ। यही सहज है।

भक्त : यह अत्यन्त प्रभावशाली औषधि भी है।

अन्य प्रश्न जो उसने लिखे थे वे निम्न थे :

भक्त : ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मुझे सन्तुष्ट करें।

म० : आत्म-साक्षात्कार ही इस प्रकार की सन्तुष्टि है।

भक्त : पुरुषकार के साथ प्रारब्ध का क्या सम्बन्ध है ?

म० : प्रारब्ध कर्म है। इसके लिए कर्ता होना चाहिए। देखो कर्ता कौन है। पुरुषकार प्रयास है। देखो प्रयास कौन करता है। तभी तादात्म्य स्थापित होता है। जो उनके सम्बन्ध को जानना चाहता है वह स्वयं ही कड़ी है।

भक्त : कर्म तथा पुनर्जन्म क्या हैं ?

म० : कर्ता को देख लोगे तो कर्म स्पष्ट हो जायगा। यदि तुम्हारा अब जन्म हुआ है तो पुनर्जन्म होगा। देखो क्या तुम्हारा अब जन्म हुआ है।

भक्त : ज्योति के दर्शन होने में मेरी सहायता करें।

म० : दर्शन हेतु द्रष्टा अनिवार्य है। उसकी खोज कर लो, दर्शन उसके अन्तर्गत है।

२९६. पूवन, एक गड़रिया, कहता है कि वह श्री भगवान को गत तीस वर्ष से जानता है, जब वे विरूपाक्षी गुफा में निवास करते थे, तब वह दर्शनार्थियों को यदाकदा दूध दिया करता था।

लगभग छ: वर्ष पूर्व उसकी एक भेड़ खो गयी जिसे वह तीन दिन से खोज रहा था। भेड़ गर्भवती थी और उसकी कल्पना में भेड़ जंगली पशुओं द्वारा मारी जा चुकी थी तथा उसके पुन: मिलने की कोई आशा नहीं थी। एक दिन आश्रम के पास से जाते समय श्री भगवान की दृष्टि उस पर पड़ी तथा उन्होंने उसकी कुशल-क्षेम पूछी। उस आदमी ने उत्तर दिया कि वह अपनी खोयी हुई भेड़ को खोज रहा है। स्वभावानुसार श्री भगवान मौन रहे। फिर उन्होंने गड़रिये

से कुछ पत्थर उठवाने में सहायता माँगी, जो कार्य उसने अत्यन्त प्रसन्नता से किया। कार्य सम्पन्न होने पर श्री भगवान ने उसको नगर की ओर जाने वाली सड़क की ओर संकेत करते हुए कहा : "इस ओर जाओ।" "तुमको मार्ग में खोयी हुई भेड़ मिल जायगी।" उसने आज्ञा का पालन किया। खोयी हुई भेड़ मय दो नवजात मेमनों के मिल गयी।

अब वह कहता है : "इन भगवान का क्या कहना ! उनके शब्दों की सामर्थ्य देखो ! वे महान् हैं ! मेरे जैसे निर्धन व्यक्ति को भी वे नहीं भूलते। मेरे पुत्र मनिक्कम को भी वे कृपापूर्वक याद करते हैं। महापुरुष ऐसे ही होते हैं ! श्री भगवान की किंचित भी सेवा मुझसे हो जाय, यथा गर्मी की ऋतु आने पर गौ आदि की देखभाल, तब मैं प्रसन्न होता हूँ।

१८ दिसम्बर, १९३६

२९७. श्री कोहन ने प्रश्न किया : ध्यान जाग्रत अवस्था में मन से होता है। मन स्वप्न में भी है। स्वप्न में ध्यान क्यों नहीं होता ? क्या ऐसा सम्भव नहीं है ?

म० : यह प्रश्न स्वप्न में पूछो।

कुछ देर मौन रहकर श्री भगवान कहने लगे : अभी तुम्हें ध्यान करने के लिए तथा तुम कौन हो, यह खोजने का निर्देश हुआ है। उसको करने के बजाय तुम पूछते हो, "स्वप्न अथवा सुषुप्ति में ध्यान क्यों नहीं होता ? यदि तुम यह जान लो कि जाग्रत किसको है तो यह स्पष्ट होगा कि स्वप्न तथा सुषुप्ति भी उसी के लिए है। तुम जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के साक्षी हो—वास्तव में, ये अवस्थाएँ तुम्हारे समक्ष ही होती हैं। चूँकि अब तुम ध्यान से बाहर हो, यह प्रश्न उदय होते हैं। ध्यान में लगे रहो और देखो क्या यह प्रश्न उदय होते हैं।

२३ दिसम्बर, १९३६

२९८. एक यात्री ने इस प्रकार कहते हुए जिज्ञासा की : खोज की अपेक्षा ध्यान अधिक प्रत्यक्ष है, चूँकि ध्यान सत्य पर आरूढ़ रहता है जबकि खोज असत्य में से सत्य को निकालता है।

म० : आरम्भकर्ता को आकार का ध्यान अधिक सरल तथा अनुकूल होता है। इसके अभ्यास से आत्म-विचार होता है जोकि असत्य में से सत्य का शोधन करना है।

जब तुम विपरीत तत्त्वों से भरे हुये हो तो केवल सत्य का आग्रह करने से क्या लाभ ? आत्म-विचार उन बाधाओं का निवारण कर देता है जो तुम्हें यह

कल्पना कराते हैं कि आतमा का साक्षात्कार नहीं हुआ है तथा इस प्रकार प्रत्यक्ष साक्षात्कार करा देता है ।

२४ दिसम्बर, १९३६

२९९. श्री टी० के० एस० अय्यर ने श्री भगवान से परा के स्रोत के सम्बन्ध में पूछा ।

म० : सामान्य मत यह है कि परा मेरुदण्ड के नीचे स्थित मूलाधारा से आता है । समस्त नाद वैखरी से प्रारम्भ होते हैं, परा में निहित हैं जो कुण्डलिनी से आरम्भ होती है; तथा कुण्डलिनी हृदय से भिन्न नहीं है । वास्तव में सम्पूर्ण षड्धारा (षड्केन्द्र) हृदय में ही स्थित हैं ।

सुषुम्ना तथा उसका स्रोत कुण्डलिनी हृदय के ही अन्तर्गत हैं ।

एक यात्री ने "अन्तरेण तालुके सेन्द्रयोनिः" के सम्बन्ध में जिज्ञासा की ।

म० : इन्द्रयोनिः सुषुम्ना नाड़ी सहित परा में लीन हैं ।

२५ दिसम्बर, १९३६

३००. एक युवक ब्रह्मचारी जो विज्ञान के स्नातक हैं चार-पाँच माह से अनुग्रह की प्रतीक्षा कर रहे हैं; जिससे कोई नौकरी पके सेव की भाँति वृक्ष से उस पर टपक पड़े । नौकरी हेतु वह अन्य कोई प्रयास नहीं कर रहा है । कल उसका भाई उसे अपने माता-पिता के पास लौटा ले जाने को आया था । किन्तु युवक ने जाने से इनकार कर दिया । श्री भगवान से प्रार्थना की गयी ।

श्री भगवान ने कहा : "मैं किसी व्यक्ति को आने के लिए न आमन्त्रित करता हूँ, न चले जाने का निर्देश करता हूँ । यहाँ सब अपनी इच्छा पर रहते हैं । उसका कहना है कि उसे कक्ष में शान्ति मिलती है, साथ ही वह नौकरी भी चाहता है । आशय यह हुआ कि नौकरी कक्ष में ही खोजनी होगी, जिससे कि उसकी शान्ति भंग न हो । शान्ति कक्ष में नहीं है । यह आत्मा में विश्राम करना है । यह कहीं भी प्राप्त हो सकती है ।"

कुछ दिन पश्चात् युवक ने अपने यज्ञोपवीत को फेंक दिया तथा अपने कम्पित अंगों से श्री भगवान के समक्ष उपस्थित हुआ, जिसको युवक ने बाद में अपना आनन्द बताया । श्री भगवान ने युवक को कक्ष में उनके समक्ष बैठे रहने की आदत बनाने से मना किया तथा उसे कक्ष से बाहर चले जाने का आदेश दिया ।

उन्होंने इसके अतिरिक्त और भी कहा : नन्हे पक्षी के माता-पिता पंख उगने तक ही उसकी रक्षा करते हैं । सदैव के लिए उसकी रक्षा नहीं की जाती । भक्तों के लिए भी ऐसा ही है । मैंने मार्ग का निर्देश कर दिया है । अब तुमको उसका पालन कर स्वयं जहाँ कहीं भी रहो वहीं शान्ति प्राप्त करनी है ।

नवयुवक कल्पना करता है कि श्री भगवान ने उसे इन शब्दों में उपदेश दिया है :

"अपने (अर्थात् अहंकार) पर स्वयं विजय पानी होगी।"

तथापि उस व्यक्ति ने एक स्थानीय विद्यालय की नौकरी को स्वीकार नहीं किया। उसके विचार में उसे अरुणाचल अथवा श्री भगवान ने एक शक्तिशाली नौकरी दे दी है। वह कहता है : "उस नौकरी के सम्बन्ध में संसार बाद में ही जान पायगा।" आज के घटना-क्रम की उसे कई माह पूर्व ही सब जानकारी थी तथा वह अपनी माँ एवं मित्रों को यह सब पहले से ही बता चुका था। जो कुछ हो रहा है, उससे वह बहुत प्रसन्न है।

तथापि श्री भगवान ने उस युवक की एक अन्य व्यक्ति से तुलना की जो किसी भी प्रकार अच्छे ढंग का नहीं है। तथापि युवक अपरिपक्व अवस्था में अपने को भगवान मानता है। कुछ समय बाद वह विक्षिप्त हो गया और मृत्यु हो गयी।

३०१. एक महाशय ने श्री भगवान के निर्देशों के पालन में हुए अपने अनेक अनुभव बड़े उत्साह से सुनाये तथा प्रसंगवश यह भी बताया कि वे तथा श्री भगवान सप्ताह के एक ही दिन जन्मे तथा दोनों का नाम भी एक ही था....

श्री भगवान ने वाक्य को पूरा करते हुए कहा : "दोनों में वही एक आत्मा है।"

३०२. त्रिची के एक युवक ने "उपदेश मंजरी" में वर्णित योग्य शिष्य के लक्षण "अत्यन्त वैराग्य" पर प्रश्न किया। उसने पूछा : "वैराग्य क्या है? सांसारिक कार्यों से अनासक्ति तथा मोक्ष की इच्छा। क्या ऐसा ही नहीं है?"

म० : यह किसको प्राप्त नहीं है?

सभी आनन्द चाहते हैं किन्तु अविवेक के कारण दुःख-मिश्रित सुख को आनन्द मान बैठते हैं। ऐसा आनन्द अस्थायी है। उसके मिथ्या कार्यकलाप उसको क्षणिक सुख देते हैं। संसार में दुःख-सुख एक-दूसरे के बाद आते ही रहते हैं। दुःखदायक तथा सुखदायक विषयों में सद्-असद् विवेक करना तथा अपने को केवल आनन्ददायक साधन में संलग्न रखना ही वैराग्य है। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसके पीछे दुःख नहीं लगा है। वह इसकी खोज कर उसी में लगा रहता है। अन्यथा व्यक्ति का एक पैर संसार में तथा दूसरा पैर आध्यात्मिक साधना में रहता है। (एक में भी सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो पाती।)

गुरु के कार्य के सम्बन्ध में पुनः प्रश्न किया गया :

म० : अपने को बहुत अधिक दुर्बल जानकर तथा अपने आप सफलता प्राप्त न कर सकने के कारण व्यक्ति गुरु के रूप में अधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है।

३०३. श्री के० आर० वी० अय्यर ने नाद पर अधिक प्रकाश डालने की प्रार्थना की ।

म० : जो इस पर ध्यान करता है वही इसका अनुभव करता है । नाद दस प्रकार के हैं । अन्तिम भीषण नाद के बाद मनुष्य लय को प्राप्त होता है । यही उसकी स्वाभाविक एवं शाश्वत अवस्था है । नाद, ज्योति तथा खोज एक ही जगह पहुँचाता है । (पूर्व के दो अप्रत्यक्ष साधन हैं तथा तीसरा प्रत्यक्ष है) ।

भक्त : कुछ क्षणों तक मन शान्त रहता है और फिर उदय हो जाता है । क्या करना आवश्यक है ?

म० : जो शान्ति प्रायः प्राप्त हो उसका अन्य अवसरों पर स्मरण किया जाय । वह शान्ति तुम्हारी स्वाभाविक एवं स्थायी अवस्था है । निरन्तर अभ्यास द्वारा यह स्वाभाविक हो जायगा । इसे ही धारा कहते हैं । वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है । नाद, दृष्याभास आदि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी होने के सूचक हैं । आत्म-विचार के फलस्वरूप जो धारा उत्पन्न होती है, वह शुद्ध त्रिपुटी है अर्थात् भेद-रहित त्रिपुटी है ।

२६ दिसम्बर, १९३६

३०४. एक स्विस महिला ने दृष्याभास का अपना अनुभव श्री भगवान को बताया । जब वह अपने पूर्णतया खुले हुए नेत्रों से बैठी थी तब उसने श्री भगवान का चेहरा सुन्दर शिशु के समान होते हुए तथा श्रेष्ठ पुष्पों से सुसज्जित देखा । उस शिशुवत मुखमण्डल को देखकर उसका स्नेह उमड़ आया ।

म० : दर्शन तुम्हारे मन का ही है । इसका कारण तुम्हारा प्रेम है । पाल ब्रण्टन ने मुझे बहुत बड़े आकार में देखा था । तुमने मुझे शिशु के रूप में देखा था । दोनों ही दृश्य हैं ।

(महिला ने कहा : पाल ब्रण्टन ने मुझसे पूछा था कि क्या मुझे यहाँ कोई आध्यात्मिक अनुभव हुआ था, और मैंने इससे इनकार किया था । अब यह अनुभव हुआ है ।)

म० : दर्शनों के धोखे में न आना ।

भक्त : यदि कोई यूरोप में मीलों दूर रहकर आपकी सहायता की याचना करे....

म० : यूरोप कहाँ है ? वह तुम में है ।

भक्त : मैं यहाँ आयी हूँ; मेरी कामना है महर्षि वहाँ पधारें (इतना कहकर वह कोमलतापूर्वक मुस्करायी । कुछ क्षणों तक मौन रहा ।)

म० : तुम स्थूल देह देखती हो, इसलिए परिसीमाएँ देखती हो । देश और काल इसी स्तर पर परिचालन करते हैं । जब तक तुम स्थूल देह देखती

हो भिन्न-भिन्न देह में भेद-दृष्टि रहेगी ही। इसके विपरीत वास्तविक महर्षि का ज्ञान समस्त संशयों को दूर कर देगा।

क्या तुम अब भारत में हो ? अथवा भारत तुम में है ?· अब भी यह भावना कि तुम भारत में हो, निकल जाना चाहिए। भारत तुम में है। इसकी सत्यता को जानने के लिए अपनी सुषुप्त अवस्था को देखो। जब तुम सुषुप्ति में थीं तब क्या तुम्हें यह भान था कि तुम यूरोप में अथवा भारत में हो ? तथापि तुम्हारा अस्तित्व उस समय भी अब की तरह ही था। आकाश तुम में है। स्थूल देह आकाश के अन्तर्गत है किन्तु, तुम नहीं।

पाल ब्रण्टन को जब दर्शन हुआ तो उनकी आँखें बन्द थीं, किन्तु तुम कहती हो, तुम्हारी आँखें खुलीं थीं।

भक्त : हाँ। किन्तु मुझे दर्शन कभी नहीं हुआ था; जबकि वह संवेदन-शील व्यक्ति हैं।

कुछ क्षणों के पश्चात् महिला ने प्रश्न किया कि इस प्रकार के दर्शन देखना हितकारी है अथवा अहितकारी।

म० : यह हितकारी है।

श्री भगवान ने कहा : सम्भवतया तुम्हारे मन में एक शिशु का विचार था जो दर्शन में दीखा........

भक्त : हाँ, केवल शिव का—उनके शिशु तुल्य चेहरे का........

म० : यही बात है।

भक्त : किन्तु शिव तो संहारक हैं ! (आशय है, बालक नहीं हैं।)

म० : हाँ—दुःखों के।

कुछ क्षणों के बाद श्री भगवान ने कहा : क्षीघ्र ही तुम सोने जाओगी। जब प्रातःकाल तुम जागोगी, तुम कहोगी : "मैं अच्छी तरह और आनन्द-पूर्वक सोयी।" सुषुप्ति में जो था वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। वही अब भी है; अन्यथा यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं होगा। अब भी सुषुप्ति की अवस्था प्राप्त करो; यही शिव है।

क्या हमारा कोई आकार है ? शिव के आकार की कल्पना करने से पूर्व यह जान लो। क्या सुषुप्ति में तुम्हारा अस्तित्व नहीं था ? तब क्या तुम्हें किसी आकार का भान था ? क्या सुषुप्ति में तुम आकार सहित थीं ? तथापि तुम्हारा अस्तित्व था। सुषुप्ति में जो 'मैं' था वह अब भी है। तुम्हारा सुषुप्ति का अनुभव है कि तुम देह नहीं थीं। अब भी तुम वही हो—अर्थात् देह रहित हो। देह रहित होकर भी तुम निद्रा में सुखी थीं। अब भी तुम वही हो। जो सदैव रहता है केवल वही वास्तविक स्वरूप हो सकता है। सुषुप्ति में देह नहीं थी परन्तु केवल आनन्द का अनुभव था। वही अब भी विद्यमान है।

आत्मा देह रहित है। यदि इस प्रकार तुम बिना देह के हो तब शिव देह सहित कैसे हो सकते हैं ? यदि तुम सदेह हो तो शिव भी सदेह हैं। यदि तुम नहीं हो तो वे भी नहीं हैं।

भक्त : तब यह शिव क्यों हैं ?

म० : शिव से तात्पर्य है आनन्द की मूर्ति, कल्याण की मूर्ति। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई। कुछ समय पश्चात् वह चली गयी।

३०५. दर्शनार्थी आपस में वार्तालाप कर रहे थे और उनमें से एक ने कहा : "अपने परम्परागत उपदेशों से सुपरिचित होकर भी हम इन (श्री भगवान के) उपदेशों को ग्रहण नहीं कर पाते। जो विदेशी हमारी पद्धति से अपरिचित हैं वे श्री भगवान के उपदेशों को इतनी सरलता से कैसे ग्रहण कर सकेंगे ? उसके कहने में उनके प्रति सहानुभूति का भाव था कि अनेक बाधाएँ होते हुए भी वे समझने का प्रयास करते हैं; उनके साधन के अभाव के प्रति सहृदयता भी थी। श्री भगवान ने अन्ततः समाधान करते हुए कहा : दर्शनों का होना, दर्शनों के न होने की अपेक्षा उत्तम है। इस कारण उनमें रुचि उत्पन्न होने लगती है। वे विदेशी विचारों को ग्रहण नहीं करते; जब वे एक बार ऐसा करते हैं; तब दृढ़ रहते हैं। यह उनका गुण है।

बाद में श्री भगवान ने शिवप्रकाशम् पिल्लई को हुए दर्शनों के प्रसंग में कहा : "दर्शन बाह्य नहीं हैं। वे केवल अन्तस्थ में ही प्रतीत होते हैं। यदि बाह्य हों तो वे द्रष्टा के अभाव में भी प्रकट हों। इस दशा में उनके अस्तित्व का क्या प्रमाण ? केवल द्रष्टा ही।"

३०६. **भक्त** : ध्यान करने के लिए कोई निश्चित आकार आवश्यक है। हम 'मैं' पर कैसे ध्यान करें ?

म० : हम आकारों में सुदृढ़ हो चुके हैं, अतः हमें ध्यान हेतु निश्चित आकार आवश्यक है। हम जिसका ध्यान करते हैं; अन्ततः वही शेष रहेगा। जब तुम ध्यान करते हो तब अन्य संकल्पों का लोप हो जाता है। जब तक तुम्हें ध्यान की आवश्यकता है अन्य संकल्प रहेंगे। तुम कहाँ हो ? चूँकि तुम्हारा अस्तित्व है, तुम ध्यान करते हो। ध्यान करने वाले को ध्यान करना आवश्यक है। जहाँ वह है वहीं ध्यान हो सकता है। ध्यान अन्य समस्त संकल्पों को नष्ट कर देता है। तुम्हें अपने आपको स्रोत में विलीन करना चाहिए। कभी-कभी हम बिना जाने स्रोत में विलीन हो जाते हैं; जैसे—निद्रा में, मृत्यु में, मूर्च्छा आदि में। ध्यान क्या है ? यह जाग्रत रहकर स्रोत में विलीन होना है। तब मृत्यु, मूर्च्छा आदि का भय चला जायगा, क्योंकि तुम सचेत रहकर मूल स्रोत में विलीन होने में समर्थ हो।

मृत्यु का भय क्यों ? मृत्यु का अर्थ अस्तित्व रहित होना नहीं हो सकता। तुम सुषुप्ति को क्यों प्रेम करते हो, जबकि मृत्यु को नहीं ? अब क्या तुम विचार नहीं कर रहे हो ? अब क्या तुम्हारा अस्तित्व नहीं है ? सुषुप्ति में क्या तुम्हारा अस्तित्व नहीं था ? एक बालक भी कहता है कि वह आनन्द से भली प्रकार सोया। वह भी सुषुप्ति में अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है, चाहे बिना जाने करे। इस प्रकार चेतन (ज्ञान) ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। हम अचेत नहीं रह सकते। फिर भी हम कहते हैं कि हम सुषुप्ति में अचेत थे क्योंकि हम सीमित पदार्थ ज्ञान की ही बात करते हैं। जगत, देह आदि हम में इस प्रकार अन्तर्भूत हो गये हैं कि इस सापेक्ष चेतनता को ही हम आत्मा मान लेते हैं। क्या कोई अपनी सुषुप्ति में मानता है कि वह अचेतन है ? ऐसा वह अब मानता है। यह जाग्रत अवस्था सापेक्ष ज्ञान की है। अतः व्यक्ति केवल ज्ञान की बात न कहकर सापेक्ष ज्ञान की बात कहता है। शुद्ध चैतन्य सचेतनता और अचेनता इन दोनों से परे है।

पुनः "तिरुवाचगम" की चर्चा करते हुए श्री भगवान ने कहा : समस्त चारों महान सन्तों ने प्रथम श्लोक में ही अपने अनुभव का वर्णन कर दिया है : (१) अभेद पूजा, (२) सतत स्मरण, (३) संकल्प शून्यता (४) अहंकार का अभाव; केवल आत्मा है—सबका एक ही अर्थ है।

भक्त : किन्तु इस सत्य की अनुभूति नहीं होती।

म० : यथा समय इसकी अनुभूति होगी। तब तक भक्ति है। "क्षण भर के लिए भी तुम मेरे मन का त्याग नहीं करते।" क्या वह कभी तुम्हारा परित्याग करता है ? तुम ही अपने मन को भटकने देते हो। वह सदैव स्थिर रहता है। जब तुम्हारा मन स्थिर होता है तो तुम कहते हो : "वह क्षण-भर के लिए भी मेरे मन का त्याग नहीं करता।" कितना हास्यास्पद है !

२७ दिसम्बर, १९३६

३०७. मैसूर के श्री शमन्ना ने श्री भगवान से जिज्ञासा की : कृपया अहम् स्फुरणा का अर्थ समझायें।

म० : सुषुप्ति में 'मैं' का बोध नहीं होता। जागने पर 'मैं' का देह, जगत तथा सर्व अनात्म से सम्मिलित बोध होता है। ऐसा सम्मिलित 'मैं' अहम् वृत्ति है। जब अहम् केवल आत्मा को निर्देशित करता है, तब यह अहम् स्फुरणा है। ज्ञानी के लिए यह सहज है तथा ज्ञानी इसे ज्ञान तथा भक्त इसे भक्ति की संज्ञा देते हैं। यद्यपि यह नित्य-सिद्ध है, तथा सुषुप्ति में भी है इसकी अनुभूति नहीं होती। सुषुप्ति में इसकी अनुभूति सहसा नहीं हो सकती। पहले इसका अनुभव जाग्रत अवस्था में करना आवश्यक है, क्योंकि यह हमारा वास्तविक स्वरूप है जो तीनों

अवस्थाओं का आधारभूत है। केवल जाग्रत अवस्था में प्रयास करना चाहिए तथा आत्मा की अनुभूति यहाँ एवं अभी करना है। इसके बाद आत्मा की निरन्तर सत्ता का बोध एवं साक्षात् होगा जो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में बिना किसी व्यवधान के सदैव रहता है। इस प्रकार यह अखण्डाकार वृत्ति है। उपयुक्त शब्द के अभाव में "वृत्ति" शब्द का उपयोग किया है। इसका शाब्दिक अर्थ वृत्ति ग्रहण नहीं करना चाहिए। उस अवस्था में वृत्ति 'समुद्र-तुल्य सरिता' होगी जो हास्यास्पद है। वृत्ति अल्पकालीन होती है। यह सीमित निर्दिष्ट चेतना है; अथवा इन्द्रियाँ और संकल्प आदि से टूटा हुआ चेतनता है। वृत्ति मन की क्रिया है, पर अखण्ड चैतन्य मन से परे है। ज्ञानी अथवा मुक्त पुरुष की यही सहज एवं मूल अवस्था है। यही अखण्ड अनुभव है। यह तभी प्रकाशित होता हैं जब सापेक्ष ज्ञान लुप्त हो जाता है। अहम् वृत्ति खण्डित है। अहम् स्फुरणा अखण्ड एवं निरन्तर है। संकल्पों के शमन के पश्चात् स्फुरणा प्रकाशित होती है।

३१ दिसम्बर, १९३६

३०८. अस्पृश्यता के विषय में एक प्रश्न पूछा गया। श्री भगवान ने कहा : अनात्मा ही अस्पृश्य है। सामाजिक अस्पृश्यता मनुष्य की बनायी हुई है जबकि पहली अस्पृश्यता दिव्य तथा सहज है।

भक्त : क्या अछूतों को हमारे मन्दिरों में प्रवेश करने देना चाहिए ?

म० : इसका निर्णय दूसरे व्यक्ति करेंगे।

विष्णु के अवतारों के सम्बन्ध में एक प्रश्न किया गया।

म० : पहले हम अपने स्वयं के अवतार को जान लें; तब दूसरे अवतारों की जानकारी हो जायगी।

फिर ईश्वर के सम्बन्ध में एक प्रश्न किया गया।

म० : हमारी ईश्वर की अवधारणा के पश्चात् ईश्वर के अस्तित्व का उदय होता है। पहले हम यह जानें कि वह किसकी धारणा है। धारणा करने वाले के अनुसार ही अवधारणा होगी। यह जान लो कि तुम कौन हो तो अन्य समस्या का समाधान स्वयं हो जायगा।

१ जनवरी, १९३७

३०९. **भक्त** : अहं ब्रह्मास्मि तथा ब्रह्मैवाहम् में क्या अन्तर है ?

म० : प्रथम प्रत्यक्ष वृत्ति (प्रत्यक्ष अनुभव) है। जबकि द्वितीय परोक्ष ज्ञान (अप्रत्यक्ष ज्ञान) है। प्रथम अहम् के साक्षात्कार के बाद होता है, जबकि द्वितीय श्रवण किए हुए ब्रह्म से प्रारम्भ होता है, जो आत्मा से पृथक नहीं हो सकता, यदि उसका साक्षात् हो गया है।

३१०. **श्री ग्रीनलीस :** इस आश्रम से अक्टूबर में विदा होने के पश्चात् भगवान की शान्ति मुझे दस दिन तक आलिंगन करती रही। सारे समय जब मैं कार्य में व्यस्त रहता था उस एकत्व की शान्ति की धारा रहती थी। वह द्वैत चेतना के समान थी जैसा कि किसी नीरस व्याख्यान में अर्द्ध-निद्रित अवस्था में अनुभव होता है। बाद में यह पूर्णतया क्षीण हो गयी और उसके बजाय पहले की मूर्खताओं ने आ घेरा।

कार्य से अलग ध्यान के लिए समय नहीं मिलता—क्या 'मैं हूँ' को सदैव स्मरण रखकर कार्य करते हुए भी उसकी अनुभूति करते रहना पर्याप्त होगा ?

म० : मन के सशक्त होने पर यह भावना सदैव बनी रहेगी। बारम्बार का अभ्यास मन को सशक्त करता है, और ऐसा मन धारा को ग्रहण किये रहने में समर्थ होता है। उस अवस्था में काम में व्यस्त हो अथवा न हो धारा बिना किसी परिणाम तथा रुकावट के रहती है।

भक्त : क्या अलग से ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है ?

म० : ध्यान ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। चूंकि दूसरे संकल्प तुम्हें विचलित करते हैं इसलिए तुम उसे ध्यान कहते हो। जब यह विचार नष्ट हो जाते हैं; तुम अकेले रहते हो, अर्थात् संकल्प शून्य होकर ध्यान की अवस्था में रहते हो, और यही तुम्हारा निज स्वरूप है जिसे तुम अब अन्य विचारों से दूर रहकर प्राप्त करना चाहते हो। अन्य संकल्पों को इस प्रकार दूर रखना ही ध्यान कहलाता है। जब अभ्यास दृढ़ हो जाता है तब निज स्वरूप स्वयं को वास्तविक ध्यान के रूप में प्रकट करता है।

ध्यान का प्रयास करते समय अन्य संकल्प अधिक बलपूर्वक उदय होने लगते हैं।

कुछ अन्य व्यक्ति तुरन्त ही एक साथ प्रश्न करने लगे।

श्री महर्षि ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा : हाँ, ध्यान में समस्त प्रकार के संकल्प आते हैं। यह ठीक भी है। जो तुम्हारे अन्दर छिपा हुआ है वह बाहर निकलता है। जब तक वे उदय न हों उनको नष्ट कैसे किया जा सकता है ? अतः वे स्वतः ही उदय होते हैं जिससे कि यथासमय उनका शमन हो तथा इस प्रकार मन सशक्त हो।

एक यात्री : सब ब्रह्म कहे जाते हैं।

म० : हाँ, वे हैं। तथापि जब तक तुम उन्हें पृथक मानते हो उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। इसके विपरीत यदि उन्हें आत्मा मानते हो तो 'सब' कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जो कुछ है सब केवल ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

भक्त : ऋभु गीता के अनुसार सारे दृश्य पदार्थ मिथ्या हैं, किन्तु अन्त में बताया जाता है कि वे सब ब्रह्म हैं, और इस प्रकार सत्य हैं।

म० : हाँ, जब तुम उन्हें अनेक रूपों में देखते हो तो वे असत् हैं। किन्तु जब तुम उन्हें ब्रह्म रूप में देखते हो तो वे सत् हैं; वे अपनी वास्तविकता अपने आधार, ब्रह्म से प्राप्त करते हैं।

भक्त : तब फिर ''उपदेश सार'' में देहादि को जड़ क्यों कहा गया है ?

म० : जब तक तुम उन्हें आत्मा से पृथक देहादि कहते हो। परन्तु जब आत्मा की अनुभूति हो जाती है तो देहादि भी उसी के अन्तर्गत मालूम होते हैं। तदुपरान्त न कोई प्रश्न पूछेगा न कोई कहेगा के वे जड़ हैं।

भक्त : आत्मा-अनात्मा के भेद को जानने को विवेक कहा गया है। अनात्मा क्या है ?

म० : वास्तव में अनात्मा कुछ नहीं है। अनात्मा भी आत्मा के अन्तर्गत है। आत्मा ही अनात्मा की बात करता है चूँकि वह स्वयं को भूल चुका है। अपने आपकी पकड़ छूट जाने के कारण वह किसी वस्तु की अनात्मा के रूप में धारणा करता है, जो वस्तुतः स्वयं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

तदुपरान्त भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के समर्थकों के मध्य उष्ण वाद-विवाद होने लगा।

२ जनवरी, १९३७

३११. जिस 'मैं' का उदय होता है उसका अस्त भी अनिवार्य है। वह व्यक्तिगत 'मैं' अथवा 'मैं' की धारणा है। जिसका उदय नहीं उसका अस्त भी नहीं। वह है और सदैव रहेगा। यही वास्तविक 'मैं' है, पूर्ण 'मैं' अथवा आत्मा का साक्षात्कार है।

संध्या साढ़े पाँच बजे स्विस महिला ने श्री भगवान से निवेदन किया कि यदि ध्यान का समय कुछ बढ़ा दिया जाता है तो उसके सिर में दर्द होने लगता है।

म० : यदि ध्यान करने वाले को और ध्यान को एक जान लोगी तो न सिर में दर्द होगा और न इस प्रकार का अन्य कोई कष्ट होगा।

भक्त : किन्तु वे तो भिन्न हैं। हम उनको एक ही कैसे मानें ?

म० : यह तुम्हारे दृष्टिकोण के कारण है। केवल एक अस्तित्व है और कोई भेद नहीं है। ध्यान से सापेक्षिक ज्ञान नष्ट हो जाता है। यह नष्ट होना नहीं है; चूँकि शुद्ध चैतन्य उदय होता है। स्वयं बाइबिल कहती है, ''स्वर्ग का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है।''........यदि तुम स्वयं को देह समझोगे तो इस कथन का अभिप्राय समझने में कुछ कठिनाई होगी। इसके विपरीत, यदि तुम यह जान

लोगे कि वास्तव में तुम कौन हो, तो स्वर्ग का साम्राज्य एवं और सब तुम्हारी वास्तविक आत्मा के अन्तर्गत हैं। यह सब अहंकार के उदय होने के बाद उत्पन्न होने वाली धारणाएँ हैं। "दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममयं जगत्" (अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करो और उसे पूर्ण बना लो)। उस पूर्ण चैतन्य की अनुभूति के पश्चात् बाहर देखने पर तुम्हें जगत साक्षात् किये हुए परब्रह्म से पृथक दृष्टिगोचर नहीं होगा।

चूँकि तुम्हारा दृष्टिकोण बहिर्मुखी है, तुम बाहर की चर्चा करते हो। उस अवस्था में तुम्हें अन्तर्मुख होने का निर्देश दिया जाता है। यह अन्दर उस बाह्य की तुलना में है, जिसकी तुम खोज कर रहे हो। वस्तुतः आत्मा न बाहर है न अन्दर।

स्वर्ग की चर्चा करते समय ऊपर या नीचे, अन्दर या बाहर का भाव आता है, चूँकि हम तुलनात्मक ज्ञान के अभ्यस्त हो गये हैं। मनुष्य केवल दृश्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और तभी इस प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं।

वास्तव में न ऊपर है न नीचे, न बाहर है न अन्दर है। यदि वे सत्य होते तो स्वप्न-रहित सुषुप्ति में भी रहते। क्योंकि जो सत्य है वह अवश्य ही अखण्ड एवं स्थायी होगा। क्या तुम्हें सुषुप्ति में 'अन्दर' या 'बाहर' का भान था? निश्चय ही नहीं था।

भक्त : मुझे स्मरण नहीं ?

म० : यदि उस समय कुछ होता तो स्मरण रहता। परन्तु तुम उस समय अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हो। वही आत्मा अब बोल रहा है। जो आत्मा सुषुप्ति में भेदरहित था अब इस अवस्था में भेदसहित है और नानात्व देख रहा है। वास्तविक सत्ता केवल एक है जिसमें दृश्य पदार्थों का ज्ञान नहीं है। वही शुद्ध चैतन्य है। यही आनन्द की अवस्था है जिसे हम सब स्वीकार करते हैं। यही अवस्था इस जाग्रत अवस्था में भी लाना परम आवश्यक है। इसे जाग्रत सुषुप्ति कहते हैं। यही मुक्ति है।

भक्त : जिसका पुनर्जन्म होता है वह अहंकार है।

म० : हाँ। परन्तु पुनर्जन्म क्या है? अहंकार वही रहता है। नवीन देह उत्पन्न हो इसे धारण करती है। अहंकार में परिवर्तन नहीं होता। यह एक देह त्यागकर दूसरी देह खोजने तथा प्राप्त करने नहीं जाता। तनिक देखो तुम्हारे स्थूल शरीर का क्या होता है। मान लो कि तुम लन्दन जाओ। यह तुम कैसे करते हो? तुम एक वाहन लेकर बन्दरगाह तक जाते हो, तथा स्टीमर पर सवार हो कुछ दिनों में लन्दन पहुँच जाते हो। क्या हुआ है? वाहन चलता गया, किन्तु तुम्हारा शरीर नहीं। तथापि तुम कहते हो कि तुम भू-मण्डल के एक भाग से दूसरे भाग तक यात्रा कर आये। वाहनों का चलन तुम्हारे शरीर

पर अध्यारोपण कर दिया गया। तुम्हारे अहंकार के साथ भी ऐसा ही है। पुनर्जन्म अध्यारोपण है। उदाहरणार्थ, स्वप्न में क्या होता है ? क्या तुम स्वप्न जगत में जाते हो अथवा वही तुम्हारे अन्दर घटित होता है ? बाद की स्थिति ही सही है। पुनर्जन्म के साथ भी ऐसा ही है। अहंकार बिना परिवर्तन के सदैव रहता है।

फिर तुम्हारी सुषुप्ति में देश एवं काल नहीं रहता। यह धारणाएँ हैं जो अहम् वृत्ति के उदय होने के बाद उदय होती हैं। अहम् वृत्ति के उदय से पूर्व धारणाओं का अभाव था। अतः तुम देश व काल से परे हो। अहम् वृत्ति सीमित 'मैं' है। वास्तविक 'मैं' असीमित, सर्वत्र व्याप्त एवं देश व काल से परे है। सुषुप्ति में इनका अभाव है। सुषुप्ति से जागने के बाद तथा दृश्य जगत को देखने से पूर्व जो एक जागृति की स्थिति है वह तुम्हारा निज स्वरूप है। यह जानना आवश्यक है।

भक्त : किन्तु मैं इसका अनुभव नहीं करता।

म० : यह इन्द्रियों द्वारा अनुभूति का विषय नहीं है। तुम वही हो। कौन किसका अनुभव करेगा ?

३१२. पूना के श्री वी० के० चोलकर : कहा जाता है, "अपने को जानो" अथवा यह देखो कि तुम में 'मैं' कौन है। इसको करने का क्या साधन है ? क्या यह केवल निरन्तर यन्त्रवत मन्त्र का जप है अथवा प्रतिक्षण यह भी ध्यान रहे कि तुम मन्त्र का जप क्यों कर रहे हो और मत्र का जप भी करते रहो।

म० : तुम स्वतः सदैव ही मन्त्र का जप कर रहे हो। यदि तुम्हें नित्य ही होने वाले अजपा जप का बोध न हो तो तुम्हें जप करने की आवश्यकता है। जप प्रयास से होता है। यह प्रयास अन्य संकल्पों के निवारण हेतु है। तब जप मानसिक तथा आन्तरिक बन जाता है। अन्ततः उसके अजपा तथा नित्य स्वभाव की अनुभूति हो जायगी। चूंकि तुम्हें यह मालूम हो जायगा कि जप तुम्हारे प्रयास के बिना भी हो रहा है। यह सहज स्थिति ही साक्षात्कार की अवस्था है।

श्री चोलकर ने व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् जो भी निर्देश उनके लिए उपयुक्त हों, देने के लिए श्री भगवान से प्रार्थना की।

म० : वह बाह्य नहीं है, अतएव उसे अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है। यह आन्तरिक तथा शाश्वत भी है। यह सदैव साक्षात है। पर तुम कहते हो कि तुमको भान नहीं है। इसके लिए उसके प्रति निरन्तर जागरूक रहने की आवश्यकता है। अन्य किसी भी प्रयास की आवश्यकता नहीं है।

तुम्हारा प्रयास केवल इसलिए है कि तुम अपने आपको अन्य संकल्पों से व्याकुल न होने दो।

वह व्यक्ति सन्तुष्ट था।

३१३. **श्री ग्रीनलीस** : श्री भगवान ने कल कहा था कि 'अन्तस्थ परमात्मा' की खोज को करते समय बाह्य कार्य स्वतः ही होते रहेंगे। श्री चैतन्य की जीवनी में ऐसा कहा गया है कि जब वे विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे उस समय उनका लक्ष्य कृष्ण पर हुआ, उन्हें अपनी देह का भान नहीं रहा और वे कृष्ण की ही चर्चा करने लगे। इस प्रसंग से यह सन्देह होता है कि कार्य सहज किस प्रकार बन सकेगा। क्या लक्ष्य भौतिक कार्य पर भी रखा जाय ?

म० : आत्मा ही सब कुछ है। अब मैं तुमसे पूछता हूँ : 'क्या तुम आत्मा से पृथक हो ? क्या आत्मा से पृथक कार्य होना सम्भव है ? अथवा क्या देह आत्मा से पृथक है ? इनमें से कोई भी आत्मा से पृथक नहीं हो सकता। आत्मा सर्वव्यापी है। अतः तुम स्वेच्छापूर्वक उनमें संलग्न रहो अथवा नहीं, समस्त कार्य होते रहेंगे। कार्य स्वतः ही होता रहेगा। आत्मा के प्रति जाग्रत रहने में कार्य के प्रति जागरूक रहना भी सम्मिलित है।

भक्त : यदि मैं उस पर ध्यान न दूँ तो कार्य की क्षति हो सकती है।

म० : चूँकि तुम स्वयं को शरीर से मिलाते हो तुम समझते हो कि कार्य तुम करते हो। किन्तु देह तथा इसकी चेष्टा, कार्य सहित आत्मा से पृथक नहीं हैं। तुम काम में ध्यान दो अथवा नहीं, इसका क्या महत्त्व है ? मानलो तुम एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते हो। तुम प्रत्येक उस पग पर ध्यान नहीं देते, जिसे तुम उठाते हो। तथापि कुछ समय बाद तुम स्वयं को गन्तव्य स्थान पर पाते हो। तुमने देखा कि किस प्रकार कार्य अर्थात् चलना तुम्हारे ध्यान के बिना भी होता रहता है। अन्य कार्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है।

भक्त : तब तो यह सुषुप्ति में चलना जैसा हुआ।

म० : ऐसा ही है। जब एक बालक गहन निद्रा में होता है, तब उसकी माँ उसे नींद में भोजन कराती है। बालक अच्छी प्रकार जाग्रत के समान ही भोजन कर लेता है। किन्तु अगले दिन प्रातः वह माँ से कहता है : "माँ ! मैंने पिछली रात भोजन नहीं किया।" माँ तथा अन्य व्यक्तियों को यह ज्ञात है कि उसने भोजन किया। किन्तु वह कहता है कि उसने भोजन नहीं किया। वह जागरुक नहीं था, तथापि कार्य हुआ था। इस प्रकार के कार्य के लिए नींद में चलने का (एक प्रकार का रोग) वास्तव में एक अच्छी अनुरूपता है।

अन्य उदाहरण लो : बैलगाड़ी में एक यात्री सो गया है। यात्रा में बैल चलते हैं; अथवा रुकते हैं, अथवा जुए से मुक्त किये जाते हैं। उसे इन घटनाओं का भान नहीं होता, किन्तु वह जागने पर स्वयं को एक भिन्न स्थान पर पाता है। यात्रा के घटनाक्रम से सानन्द अनभिज्ञ रहकर भी उसकी यात्रा समाप्त हो गयी।

मनुष्य की आत्मा के साथ भी ऐसा ही है। वह देह में सोता है। उसकी जाग्रत अवस्था बैलों का चलना है, उसकी समाधि उनका शान्त होकर ठहर जाना है (चूँकि समाधि=जाग्रत सुषुप्ति) अर्थात् उसे कार्यों का भान है, किन्तु वह कार्यों में संलग्न नहीं। इसी प्रकार बैल जुते हुए हैं किन्तु चलते नहीं। उसकी नींद बैलों को जुए से मुक्त कर देने के समान है, क्योंकि उस समय समस्त क्रियाएँ पूर्णतः बन्द हो जाती हैं जो बैलों को जुए से मुक्त करने जैसा है।

और भी उदाहरण हैं : चलचित्र में परदे पर चित्र प्रक्षिप्त होते हैं। किन्तु चलते हुए चित्र परदे को न प्रभावित करते हैं न बदलते हैं। द्रष्टा चित्र देखता है, किन्तु परदे की उपेक्षा करता है। वे परदे से पृथक नहीं रह सकते। तथापि परदे का अस्तित्व भुला दिया जाता है। इसी प्रकार आत्मा परदा है, जिस पर क्रियारूपी चित्र चल रहे हैं। मनुष्य को कार्यों का भान है, आत्मा का नहीं। तथापि वह आत्मा से पृथक नहीं है। जानकारी हो न हो क्रियाएँ होती रहेंगी।

भक्त : सिनेमा में एक परिचालक होता है।

म० : चलचित्र जड़ वस्तुओं से निर्मित होता है। परदा, चित्र, लेम्प आदि सब जड़ वस्तुएँ हैं, अतः एक परिचालक, एक चेतन प्रतिनिधि आवश्यक है। परन्तु आत्मा तो स्वयं ही चैतन्य है, अतः स्वयं में पूर्ण है। इससे अलग एक परिचालक नहीं हो सकता।

भक्त : उपरोक्त उत्तर से ऐसा प्रतीत होता है कि वह परिचालक की उपमा शरीर से दे रहा है, पर उसका यह आशय नहीं था।

म० : शरीर की क्रिया के लिए परिचालक ध्यान में रखते हुए ही उत्तर दिया गया था। देह के जड़ होने के कारण—एक परिचालक, एक चेतन प्रतिनिधि आवश्यक है।

चूँकि लोग स्वयं को जीव मानते हैं, श्रीकृष्ण ने कहा है कि ईश्वर हृदय में जीवों के परिचालक के रूप में रहता है। वास्तव में न जीव हैं न परिचालक। आत्मा ही सब कुछ है। यही परदा है, चित्र है, द्रष्टा है, अभिनेता है, परिचालक है, प्रकाश है एवं अन्य सब कुछ है। अपने को देह मानकर स्वयं को कर्ता मानना द्रष्टा को चलचित्र के अभिनेता मान लेने के समान होगा। अनुमान करो कि चित्र में अभिनेता इच्छा करे कि क्या वह बिना परदे के दृश्य

प्रस्तुत कर सकता है। यह उस व्यक्ति के समान है जो यह सोचता है कि वह आत्मा से पृथक रहकर कार्य कर सकता है।

भक्त : यह चलचित्र में दृष्टा को अभिनय करने का निर्देश देने की तरह होगा। इस अवस्था में नींद में चलना (एक प्रकार का रोग) आवश्यक प्रतीत होता है।

म० : ऐसी मान्यता है कि कौआ किसी दृश्य को देखने के लिए एक ही पुतली को किसी भी आँख में घुमाता है। उसके पुतली एक ही है पर आँख के गोलक दो हैं। अपनी इच्छानुसार अपनी दृष्टि का उपयोग कर लेता है।

एक और उदाहरण—हाथी के एक सूँड़ है जिससे वह श्वास लेता है तथा जल आदि पीने का काम करता है।

इसी प्रकार कहते हैं कि सर्प एक ही इन्द्रिय से देखने तथा सुनने का कार्य करता है।

इसी प्रकार कियाएँ तथा अवस्थाएँ व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुसार होती हैं। सुषुप्ति-जागृति अथवा जागृति-सुषुप्ति अथवा स्वप्निल-सुषुप्ति अथवा स्वप्निल-जागृति एकसमान-सी हैं।

भक्त : हम भौतिक जाग्रत जगत में भौतिक देह से व्यवहार करते हैं। यदि हम कार्य करते समय निद्रा में हों अथवा जब हमें निद्रा घेर रही हो तब कार्य करें तो कार्य की हानि होगी।

म० : सुषुप्ति अज्ञान नहीं है; वह तुम्हारी शुद्ध अवस्था है। जागृति ज्ञान नहीं है; यह अज्ञान है। सुषुप्ति में पूर्ण बोध रहता है; जागृति में पूर्ण अज्ञान होता है। तुम्हारा निज स्वरूप दोनों को ढक लेता है तथा दोनों से परे जाता है। आत्मा ज्ञान-अज्ञान से परे है।

सुषुप्ति, स्वप्न एवं जागृति आत्मा के समक्ष होने वाली केवल वृत्तियाँ हैं। तुम्हें भान हो अथवा नहीं, ये होती रहती हैं। वह ज्ञानी की अवस्था है जिसमें जागृति, समाधि, गहन निद्रा तथा स्वप्न चलते, खड़े रहते अथवा जुआ खोले हुए बैलों के समान जबकि यात्री ऊपर कहे अनुसार शयन करता है, आते रहते हैं। यह प्रश्न अज्ञानी के दृष्टिकोण से हैं, अन्यथा ये प्रश्न उदय नहीं होते।

भक्त : निश्चय ही यह प्रश्न आत्मा को उदय नहीं हो सकते। वहाँ प्रश्न करने वाला कौन होगा ? किन्तु दुर्भाग्यवश मैंने अभी तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है।

म० : वास्तव में तुम्हारे मार्ग में यही बाधा है। इस विचार को छोड़ दो कि तुम अज्ञानी हो जिसे अभी आत्मा का साक्षात् करना है। तुम आत्मा हो। क्या कभी भी ऐसा समय था, जब तुम आत्मा से पृथक थे ?

भक्त : अतः यह निद्रा में चलना (एक प्रकार का रोग)·······अथवा दिन में स्वप्न का प्रयोग हुआ ।

श्री भगवान हँस दिये ।

३ जनवरी, १९३७

अमृत बिन्दु

३१४. कल के प्रश्नों का समाधान करते हुए श्री भगवान ने कहा था कि गहन निद्रा में आत्मा शुद्ध चैतन्य है । उन्होंने यह भी संकेत किया था कि नींद से जाग्रत अवस्था का जो परिवर्तन है उस समय आत्मा साक्षात् करने के लिए आदर्श है ।

महर्षि से इसको स्पष्ट करने की प्रार्थना की गयी ।

श्री भगवान ने अनुग्रहपूर्ण उत्तर दिया : आत्मा सुषुप्ति में शुद्ध चैतन्य है। परिवर्तन अवस्था में 'अहम्' ('मैं') बिना इदम् ('यह') के विकसित होता है तथा जाग्रत अवस्था में यह 'अहम्' (मैं) एवं इदम् ('यह') के रूप में व्यक्त होता है । व्यक्तिगत अनुभव केवल अहम् ('मैं') से होता है । इसलिए उसे बताये हुए मार्ग से ही साक्षात्कार की प्राप्ति करनी चाहिए । (अर्थात् अन्तर्कालीन 'मैं' के माध्यम से) । अन्यथा सुषुप्ति के अनुभव का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं । यदि अन्तर्कालीन 'मैं' का साक्षात्कार कर लिया जाय तो आधार मिल जाता है और उससे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है ।

फिर सुषुप्ति को अज्ञान की संज्ञा दी जाती है । यह केवल जाग्रत अवस्था में प्रचलित मिथ्या ज्ञान की तुलना में है । वास्तव में जाग्रत अवस्था अज्ञान है तथा सुषुप्ति अवस्था प्रज्ञान है (पूर्णज्ञान) । श्रुति के अनुसार प्रज्ञान ही ब्रह्म है । ब्रह्म नित्य है । सुषुप्ति के अनुभव करने वाले को प्रग्न कहते हैं । वह तीनों अवस्थाओं में प्रज्ञानम है । इसका सुषुप्ति अवस्था में विशेष महत्त्व यह है कि वह ज्ञान से परिपूर्ण (प्रज्ञानघन) है । घन क्या है ? एक ज्ञान है, एक विज्ञान । समस्त अनुभूतियों में दोनों एक साथ परिचालन करते हैं। जाग्रत में विज्ञान विपरीत ज्ञान अर्थात् अज्ञान है । यह व्यक्ति के साथ सदा रहता है। जब यह विस्पष्ट ज्ञान (स्पष्ट ज्ञान) होता है तो यह ब्रह्म है। जब मिथ्या ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है—जैसे सुषुप्ति में तो वह केवल शुद्ध प्रज्ञान रहता है। यही प्रज्ञानघन है। "ऐतरेय उपनिषद" के अनुसार प्रज्ञान, विज्ञान, अज्ञान, सज्ञान सब ब्रह्म के नाम हैं। केवल शुद्ध ज्ञान का होने से उसका अनुभव कैसे होगा ? अनुभव सदैव विज्ञान से होता है। अस्तु अन्तर्कालीन शुद्ध 'मैं' को प्रज्ञानघन के अनुभव हेतु दृढ़ता से पकड़ना आवश्यक है। जाग्रत अवस्था का 'मैं' अशुद्ध है; अतः ऐसे अनुभव के लिए उपयोगी नहीं है। इसलिए अन्तर्कालीन

'मैं' अथवा शुद्ध 'मैं' का उपयोग है। इस शुद्ध 'मैं' का साक्षात् कैसे हो ? विवेक चूड़ामणि के अनुसार, "विज्ञान कोष विलसत्यजस्रम् (वह विज्ञान कोष में सदा ही प्रकाशित हो रहा है) "त्रिपुरा रहस्य" तथा अन्य ग्रन्थों के मत से दो संकल्पों के बीच में जो सन्धि होती है, वह शुद्ध अहम् 'मैं' के सदृश है। अतः शुद्ध 'मैं' पर दृढ़ रहकर प्रज्ञानघन को लक्ष्य रखना चाहिए। इस प्रयास में ही वृत्ति है। इन सबका उपयुक्त क्रमानुसार स्थान है और यही साक्षात्कार कराते हैं।

फिर "विवेक चूड़ामणि" में आत्मा को असत् से परे अर्थात् असत् से भिन्न बताया गया है। यहाँ असत् जाग्रत अवस्था का अशुद्ध 'मैं' है। असद् विलक्षण का अर्थ है सत् अर्थात् सुषुप्ति की आत्मा। आत्मा को सत् तथा असत् दोनों से भिन्न कहा गया है। दोनों का एक ही अर्थ है। वह अशेष (सर्व) साक्षी भी है।

यदि शुद्ध है, तो अशुद्ध 'मैं' द्वारा उसका अनुभव कैसे सम्भव है ? मनुष्य कहता है, "मैं आनन्दपूर्वक सोया"। आनन्द उसका अनुभव था। यदि ऐसा न होता तो जिस वस्तु का उसने अनुभव नहीं किया, उसकी चर्चा कैसे करता ? यदि आत्मा शुद्ध था तो उसने सुषुप्ति में सुख का अनुभव कैसे किया ? वह कौन है जो उसकी चर्चा अब कर रहा है ? कहने वाला विज्ञानात्मा है और वह प्रज्ञानात्मा के बारे में कह रहा है। ऐसा कैसे ठीक हो सकता है ? क्या यह विज्ञानात्मा सुषुप्ति में विद्यमान था ? उसका अब सुषुप्ति के सुख के अनुभव का वर्णन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सुषुप्ति में उसका अस्तित्व था। तब वह कैसे रहा ? निश्चय ही जाग्रत अवस्था के समान नहीं था। वहाँ यह अत्यन्त सूक्ष्म रहा। अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा के आनन्द को माया-वृत्ति द्वारा अनुभव करता था। यह शाखा, प्रशाखा व पत्तों के नीचे चन्द्रमा की किरणें दीखने के समान है।

इस क्षण के प्रकट विज्ञानात्मा को सूक्ष्म विज्ञानात्मा अपरिचित प्रतीत होता है। हम सुषुप्ति में उसके होने का अनुमान क्यों करें ? क्या हमें आनन्द के अनुभव को अस्वीकार कर इस अनुमान को समाप्त नहीं कर देना चाहिए ? नहीं। आनन्द के अनुभव की वास्तविकता से इनकार नहीं किया जा सकता, चूंकि प्रत्येक व्यक्ति नींद की प्रबल इच्छा करता है तथा गहन निद्रा का आनन्द लेने के लिए सुन्दर शय्या का प्रबन्ध करता है।

इससे हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी, तीनों अवस्थाओं में विद्यमान हैं, यद्यपि उनकी सूक्ष्मताओं में अन्तर है। अन्तर्कालीन

अवस्था में 'अहम्' (मैं) शुद्ध है, क्योंकि वहाँ 'इदम्' (इसका) विलीन हो चुका है। 'अहम् (मैं) ही प्रधान है।

उस शुद्ध 'मैं' का हम अब साक्षात् अथवा स्मरण भी क्यों नहीं कर पाते ? चूँकि उससे परिचय नहीं है। जागृति के साथ लक्ष्य लगाओगे तो उसे पहचान सकोगे। अतः जागृति के साथ प्रयत्न करो और उसे प्राप्त करो।

३१५. परिचारकों में से एक ने प्रश्न किया : श्री भगवान का कथन है : "सत्य तथा कल्पित दोनों एक ही हैं" यह कैसे है ?

म० : तान्त्रिक तथा उनके समान अन्य व्यक्ति श्री शंकर के दर्शन को बिना ठीक प्रकार से समझे मायावाद कहकर खण्डन करते हैं। शंकराचार्य का कथन क्या है ? उनका कथन है : (१) ब्रह्म सत्य है; (२) जगत कल्पित है; (३) ब्रह्म ही जगत है। वे दूसरे कथन पर ही रुक नहीं जाते, अपितु तीसरे कथन से उसकी पूर्ति करते हैं। इसका क्या अर्थ हुआ ? जगत को ब्रह्म से अलग माना जाता है और ऐसा मानना मिथ्या है। प्रतिपक्षी उनके रज्जु-सर्प के दृष्टान्त की ओर संकेत करते हैं। यह स्वतन्त्र अध्यारोपण है। रज्जु की सत्यता मालूम होते ही सर्प की भ्रान्ति सदैव के लिए नष्ट हो जाती है।

किन्तु उन्हें प्रतिबन्धी अध्यारोपण पर भी विचार करना है जैसे मरुमरीचिका अथवा मृगतृष्णा।

मृगजल को मृगजल समझ लेने के पश्चात् भी वह अदृश्य नहीं होता। दृश्य दीखता है, किन्तु मनुष्य जल हेतु उसकी ओर दौड़ता नहीं। श्री शंकर को दोनों दृष्टान्तों के प्रकाश में समझना चाहिए। जगत कल्पित है। यह जान लेने के बाद भी संसार बराबर दीखता है। इसे ब्रह्म ही जानना चाहिए न कि पृथक।

यदि जगत भासित होता है, तथापि यह किसको भासित होता है ? तुम्हारा क्या उत्तर है ? तुम्हारा अनिवार्य उत्तर होगा आत्मा। यदि नहीं तो क्या जानने वाले आत्मा के अभाव में जगत दीखेगा ? अतः आत्मा ही सत्यता है। उनका यही निष्कर्ष है। आत्मरूप में दृश्य पदार्थ सत्य हैं तथा आत्मा से पृथक कल्पित हैं।

अब तान्त्रिक आदि क्या कहते हैं ? वे कहते हैं कि दृश्य सत्य हैं, चूँकि वे उस सत्य के अंश हैं जिसके अन्तर्गत वे भासित होते हैं।

क्या यह दोनों वक्तव्य एक ही नहीं हैं ? मेरा सत्य तथा मिथ्या को एक ही कहने से यही आशय था।

प्रतिपक्षी कहते हैं : स्थिति-सापेक्ष तथा स्थिति-निरपेक्ष, भ्रान्तियों पर विचार करने के पश्चात् प्रकट होता है कि मृगतृष्णा में भासित होता जल पूर्णतया भ्रामक है क्योंकि उस जल को किसी भी काम में नहीं लिया जा सकता। जबकि जगत का दृश्य भिन्न प्रकार का है, चूँकि यह उपयोगी है। इस प्रकार बाद का उदाहरण पहले उदाहरण की समानता में कैसे ठहर सकता है ?

कोई दृश्य केवल इसलिए सत्य नहीं हो जाता कि वह एक तथा अनेक उपयोग का है। स्वप्न का उदाहरण लें। स्वप्न की सृष्टियों का उपयोग है; वे स्वप्न के उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। स्वप्न का जल स्वप्न की तृष्णा का शमन करता है। तथापि जाग्रत अवस्था में स्वप्न सृष्टि का निषेध होता है। जाग्रत सृष्टि का अन्य दो अवस्थाओं में निषेध होता है। जो निरन्तर नहीं है व सत्य नहीं हो सकता। यदि सत्य है तो वह वस्तु सदैव ही सत्य होगी—ऐसा नहीं कि थोड़े समय के लिए सत्य तथा दूसरे समय के लिए असत्य हो। यही बात जादू की सृष्टि की है, वे सत्य भासित होते हैं तथापि भ्रामक हैं।

इसी प्रकार जगत स्वतः सत्य नहीं हो सकता—अर्थात्, अधःस्थ सत्यता से पृथक सत्य नहीं हो सकता।

३१६. सिनेमा के चित्र में परदे पर अग्नि है। क्या वह परदे को जलाती है ? वहाँ जल-प्रपात दीखता है। क्या वह परदे को गीला करता है ? वहाँ यन्त्रादि हैं। क्या वे परदे को हानि पहुँचाते हैं ?

इसीलिए कहा गया है अच्छेद्योऽयम्, अदाह्योऽयम्, अक्लेद्योऽयम् आदि। ब्रह्म (अर्थात् आत्मा) के परदे पर अग्नि, जल आदि दृश्य हैं जो उसको प्रभावित नहीं करते।

६ जनवरी, १९३७

३१७. **श्री पारखी** : अनेक दर्शक मुझसे कहते हैं कि उन्हें आपसे दिव्य दर्शन अथवा भाव-धारा आदि की प्राप्ति होती है। मैं गत डेढ़ माह से यहाँ हूँ किन्तु मुझे अभी तक किसी प्रकार का किंचित-मात्र भी अनुभव नहीं हुआ। क्या इसका कारण यह है कि मैं आपकी कृपा का पात्र नहीं हूँ ? यदि ऐसा है, तो मैं अपमानजनक अनुभव करता हूँ कि दूर देश के विदेशी तो आपके अनुग्रह से लाभान्वित हों पर मैं वशिष्ठ के कुल से उत्पन्न होकर भी आपके अनुग्रह से वंचित रहूँ। क्या आप कृपा करके मुझे इस अपमान से बचने के लिए कुछ प्रायश्चित्त बतायेंगे ?

म० : दिव्य दर्शन, भाव-धारा मन की अवस्था के अनुसार होते हैं। यह व्यक्तियों पर निर्भर करता है, विश्व पर नहीं। इसके अतिरिक्त, इनका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व मन की शान्ति का है।

भक्त : मानसिक शान्ति समाधि का परिणाम है । समाधि कैसे प्राप्त करें ?

म० : संकल्प शून्य होना ही समाधि है । सुषुप्ति में यह अवस्था विद्यमान रहती है । क्या उससे तुम्हें स्थायी शान्ति प्राप्त हो जाती है ?

भक्त : आश्रम पत्रिका में लिखा है कि समाधि आवश्यक है ।

म० : समाधि कोई पृथक वस्तु नहीं है जिसे नवीन रूप से प्राप्त करना है । तुम्हारी सहज अवस्था समाधि की है ।

भक्त : किन्तु मुझे इसका अनुभव नहीं होता ।

म० : तुम्हारी विपरीत भावना ही इसमें बाधक है ।

भक्त : चूँकि मैं आत्म-साक्षात्कार नहीं कर पाया हूँ इसलिए मैं कहता हूँ कि मुझे अपनी स्थायी समाधि की अवस्था का बोध नहीं है ।

म० : यह बात को दुहराना ही हुआ । यही बाधा है । इस भाव के उदय होने का कारण यह है कि तुम स्वयं अपने को अनात्मा मानते हो । यही भूल है । अनात्मा को आत्मा मत मानो । तब तुम्हें आत्मा स्पष्ट होगी ।

भक्त : मैं इसे सिद्धान्ततः समझ गया किन्तु यथार्थतः नहीं ।

म० : दो आत्माएँ नहीं हैं—कि आत्मा आत्मा के साक्षात्कार के न होने का वर्णन करे ।

भक्त : यह अब भी मेरे लिये सैद्धान्तिक है । मुझे समाधि कैसे प्राप्त होगी ?

म० : समाधि का प्रभाव अस्थायी है । जब तक यह रहती है तब तक आनन्द रहता है । उस अवस्था से अलग होते ही पुरानी वासनाएँ वापस आ जाती हैं । जब तक सहज समाधि में वासनाएँ नष्ट न कर दी जायें तब तक समाधि से कोई लाभ नहीं ।

भक्त : किन्तु सहज समाधि से पूर्व समाधि आवश्यक है ?

म० : समाधि सहज अवस्था है । यद्यपि वहाँ क्रिया तथा दृश्य हैं तथापि वे समाधि को प्रभावित नहीं करते । यदि इनको आत्मा से पृथक न माना जाय तो आत्मा की अनुभूति हो जायगी । समाधि से क्या लाभ यदि उससे मन की स्थायी शान्ति प्राप्त न हो ? यह जान लो कि चाहे कुछ होता रहे तुम अब भी समाधि में ही हो । बस इतना ही है ।

भक्त : किन्तु मैं इसे कैसे करूँ ?

एक विद्वान ने कहा : "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।" (जहाँ शब्दों का गमन नहीं वहाँ मन से) ।

प्रश्नकर्ता ने प्रत्युत्तर में कहा : "मनसैवाप्तव्यम्" भी तो कहा गया है (केवल मन से साक्षात् करना है) ।

म० : हाँ, शुद्ध मन अर्थात्, संकल्पों से मुक्त मन ही आत्मा है। निर्मल मन अशुद्ध मन से परे है।

भक्त : सिद्ध-पुरुषों ने इसे सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि से देखा है।

म० : जो मन के लिए कहा गया था वह इसमें भी प्रयोग होता है।

भक्त : यदि समाधि मेरी सहज अवस्था हो तो ऐसा क्यों कहा जाता है कि साक्षात्कार से पूर्व समाधि का अनुभव आवश्यक है ?

म० : इसका आशय यह है कि व्यक्ति को अपनी नित्य समाधि अवस्था का भान होना आवश्यक है। इसके प्रति प्रमाद ही अज्ञान है। प्रमादो वै मृत्युः (प्रमाद ही मृत्यु है)।

भक्त : पहले से ही समाधि प्राप्त किये बिना मैं सावधान कैसे रहूँगा ?

म० : बहुत अच्छा। यदि तुम्हें समाधि प्राप्त करने की इतनी अधिक इच्छा है तो वह किसी भी मादक द्रव्य से हो जायगी। परिणाम होगा नशे की आदत न कि मुक्ति। समाधि में भी वासनाएँ गुप्त अवस्था में विद्यमान रहती हैं। वासनाओं का नाश करना आवश्यक है।

अन्य भक्त : वासनाओं के पूर्णतया नष्ट होने के पूर्व क्या आत्म-साक्षात्कार सम्भव है ?

म० : वासनाएँ दो प्रकार की हैं : (१) बन्ध हेतु—जो अज्ञानियों को बन्धकारक होती हैं, तथा (२) भोग हेतु—जो ज्ञानियों को सुख देती हैं। बाद की वासनाएँ साक्षात्कार में बाधक नहीं।

भक्त : क्या आत्मज्ञानी पुरुषों का पुनर्जन्म होता है ? उदाहरण के लिए—नामदेव, जड़, भरत आदि का।

म० : जिन्होंने साक्षात्कार कर लिया है उनका पुनर्जन्म नहीं हो सकता। पुनर्जन्म बन्धकारक वासनाओं से होता है। किन्तु वे आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में नष्ट हो जाती हैं।

भक्त : क्या हम यह मानें कि वे केवल निर्विकल्प अवस्था तक पहुँच पाये थे किन्तु सहज निर्विकल्प तक नहीं।

म० : हाँ।

भक्त : यदि केवल भोग हेतु वासनाएँ साक्षात्कार की अवस्था में बाधक नहीं, तथा यदि मानव अपनी आनन्दमय अवस्था को विभक्त किये बिना संसार की घटनाओं का द्रष्टामात्र रहे तो इसका अर्थ यह हुआ कि केवल आसक्ति ही बन्ध है। क्या मैं सही हूँ ?

म० : हाँ, पूर्णतया। आसक्ति बन्ध है। अहंकार के निरसन के साथ ही आसक्ति लुप्त हो जाती है।

भक्त : कहा जाता है कि गुरु-कृपा से साक्षात्कार सुलभ हो जाता है।

म० : गुरु आत्मा से अन्य नहीं है।

भक्त : श्री कृष्ण के सन्दीपनि गुरु थे तथा राम के वशिष्ठ थे।

म० : साधक के लिए गुरु बाह्य कहा जाता है। गुरु मन को अन्तर-मुख करता है। चूँकि साधक बहिर्मुख होता है उसे बाह्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए परामर्श दिया जाता है जिसे वह समय पर जानता है कि वह आत्मा ही है।

भक्त : क्या मुझे गुरु का अनुग्रह प्राप्त हो सकता है ?

म० : अनुग्रह सदैव ही है।

भक्त : किन्तु मुझे उसकी प्रतीति नहीं होती।

म० : समर्पण से अनुग्रह का बोध होगा।

भक्त : मैंने हृदय तथा आत्मभाव से समर्पण कर दिया है। अपने हृदय की बात मैं सर्वोत्तम रूप से जानता हूँ। तथापि मैं अनुग्रह अनुभव नहीं करता हूँ।

म० : यदि तुमने समर्पण कर दिया होता तो प्रश्न उदय नहीं होते।

भक्त : मैंने समर्पण कर दिया है तो भी प्रश्न उठते हैं।

म० : अनुग्रह सदैव ही है। तुम्हारा निर्णय अस्थिर है। दोष अन्यत्र कहाँ हो सकता है ?

भक्त : मुझे समर्पण करने में सहायता प्रदान करें।

म० : थयूमअनवर ने कहा है : "मुझे इतनी ज्ञान चर्चा करने तथा आपके वचनामृत श्रवण करने तथा समझने का अपूर्व अवसर मिलने के लिए आपका कृतज्ञ हूँ।

७ जनवरी, १९३७

३१८. एक हिन्दी भाषी सज्जन ने जिज्ञासा की कि मृत्यु के भय से किस प्रकार छुटकारा पायें ?

म० : मृत्यु का विचार आने के पूर्व तुम यह मालूम करो कि क्या तुम्हारा जन्म हुआ था। जिसका जन्म हुआ है, वही मर सकता है। सुषुप्ति में भी तुम मृतक तुल्य ही हो। मृत्यु का क्या भय ?

भक्त : सुषुप्ति में हम कैसे होते हैं ?

म० : इस प्रश्न को सुषुप्ति में करो। तुम सुषुप्ति का अनुभव तभी करते हो जब जाग्रत होते हो। उस अवस्था का स्मरण तुम यह कहकर करते हो कि "मैं आनन्दपूर्वक सोया।"

भक्त : हम उस अवस्था का अनुभव किस यन्त्र के द्वारा करते हैं ?

म० : हम इसे अन्तःकरण के विपरीत मायाकरण कहते हैं। अन्तः-करण से हम अपनी अन्य अवस्थाओं में परिचित रहते हैं। एकसे ही यन्त्रों को भिन्न अवस्थाओं में भिन्न नाम दिया जाता है। जिस प्रकार कि सुषुप्त अवस्था के 'आनन्दात्मा' को जाग्रत अवस्था का 'विज्ञानात्मा' कहा जाता है।

भक्त : मुझे मायाकरण के द्वारा आनन्द के अनुभव करने का दृष्टान्त देने की कृपा करें।

म० : यह तुम कैसे कह सकते हो "मैं आनन्दपूर्वक सोया" ? तुम्हारा आनन्द प्रमाणित करने के लिए वहाँ अनुभव है। सुषुप्ति की अवस्था में अनुभव का अभाव हो तो जाग्रत अवस्था में उसकी स्मृति सम्भव नहीं।

भक्त : स्वीकार करता हूँ, किन्तु मुझे एक उदाहरण देने की कृपा करें।

म० : इसका वर्णन कैसे हो ? यदि तुम किसी वस्तु को तलाश करने के लिए जल में डुबकी लगाओ तो तुम उसको प्राप्त करने की बात जल से बाहर आकर ही कह सकते हो। जब तक तुम जल के अन्दर डूबे हो कुछ नहीं कहते।

भक्त : सुषुप्ति में मुझे भय नहीं होता, किन्तु अब होता है।

म० : द्वितीयाद्वै भयं भवति—भय सदैव दूसरे से ही होता है। तुम्हें किसका भय है ?

भक्त : देह, इन्द्रिय, जगत्, ईश्वर, कर्तृत्व, भोग आदि की अनुभूति के कारण।

म० : यदि यह तुमको भयभीत करते हैं तो तुम उनको देखते ही क्यों हो ?

भक्त : चूँकि इनसे बचा नहीं जा सकता।

म० : किन्तु इनको तुम ही देखते हो। भय किसके लिए है ? क्या यह उनको है ?

भक्त : नहीं, वह मेरे लिये है।

म० : चूँकि तुम उनको देखते हो, तुम उनसे भयभीत होते हो। इन्हें न देखो तो भय न होगा।

भक्त : तब जाग्रत अवस्था में मुझे क्या करना आवश्यक है ?

म० : आत्मा बने रहो; तब कोई भी दूसरी वस्तु तुमको भयभीत करने को नहीं रहेगी।

भक्त : हाँ। अब मैं समझा। यदि मैं निज आत्मा का दर्शन करूँ तो मेरी दृष्टि अनात्मा से हटी रहेगी और आनन्द होगा। तथापि मृत्यु का भय है।

म० : केवल जिसका जन्म हुआ है वही मर सकता है। देखो क्या तुम्हारा जन्म हुआ है जिससे मृत्यु तुम्हें भयभीत करे।

३१९. गोआ के एक हिन्दू श्री श्रीधर ने प्रश्न किया। "योगः कर्मसु कौशलम्" में कौशल क्या है। उसे कैसे प्राप्त करें ?

म० : फल की चिन्ता त्यागकर कर्म करो। यह मत सोचो कि तुम कर्ता हो। कार्य को प्रभू को समर्पित कर दो। यही कौशल है और यही उसकी प्राप्ति का मार्ग है।

भक्त : समत्वं योग उच्यते। यह समत्व क्या है ?

म० : यह अनेकत्व में एकत्व है। अब विश्व नानात्व भासता है। सर्व पदार्थों में विद्यमान 'सम' को देखो। जब ऐसा होता है तो द्वन्दों में भी स्वाभाविकतया समता ही दीखेगी। तथापि सामान्यतया इसे ही समत्व की संज्ञा दी जाती है।

भक्त : अनेकत्व में सम की प्रतीति किस प्रकार हो ?

म० : दृष्टा केवल एक है। बिना दृष्टा के वे नहीं दीखते। दृष्टा में कोई परिवर्तन नहीं है, अन्य वस्तुएँ चाहे कितनी ही परिवर्तित हों।

योगः कर्मसु कौशलम् (गीता २-५०)=कर्म की कुशलता ही योग है,
समत्वं योग उच्यते (गीता २-४८)=समत्व ही योग है,
मामेकं शरणं व्रज (गीता १८-६६)=मेरी शरण में आओ,
एकमेवाद्वितीयं=वह एक ही है और दूसरा नहीं है,
कर्म, योग, भक्ति तथा ज्ञान के प्रतीक हैं तथा इनका भावार्थ एक ही है। केवल एक ही सत्य को विविध ढंग से कहा गया है।

श्री एकनाथ राव : क्या इसके लिए अनुग्रह आवश्यक है ?

म० : हाँ।

भक्त : दैवी अनुग्रह को कैसे प्राप्त करें ?

म० : आत्म-समर्पण द्वारा।

भक्त : फिर भी मुझे अनुग्रह की प्रतीति नहीं होती है।

म० : सत्यनिष्ठा का अभाव है। समर्पण न शाब्दिक हो, न प्रतिबन्धी।

इन वक्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए सन्त जुस्तीनियन की पुस्तक में से उद्धरण पढ़े गये।

प्रार्थना शाब्दिक नहीं होती। यह हृदय से होती है। हृदय में विलीन होना ही प्रार्थना है। यह अनुग्रह भी है।

अलवार का कथन है, "मैं सदा ही तुझे खोजता रहा। किन्तु आत्मा का

साक्षात् करके मैंने जाना कि तुम आत्मा हो। आत्मा मेरा सर्वस्व है, इसलिए तुम मेरे सर्वस्व हो।"

भक्त : परिमितता, अज्ञान एवं कामनाओं की अशुद्धियाँ ही ध्यान में बाधा डालती हैं। उन पर कैसे विजय प्राप्त करें ?

म० : उनके वश में नहीं आना चाहिए।

भक्त : अनुग्रह आवश्यक है।

म० : हाँ, आरम्भ भी अनुग्रह है तथा अन्त भी अनुग्रह है। अन्तर्मुखता अनुग्रह के कारण होता है। धैर्य अनुग्रह है तथा साक्षात्कार अनुग्रह है। इसी कारण कहा गया है :

मामेकं शरणं व्रज। यदि किसी ने अपने आपको पूर्णतया समर्पण कर दिया है तो क्या कोई भाग रह गया है जो अनुग्रह की याचना करेगा। अनुग्रह ने उसे आत्मसात् कर लिया है।

भक्त : बाधाएँ बलवान हैं और ध्यान में बाधा डालती हैं।

म० : यदि एक उच्चतर शक्ति को जानकर उसके प्रति समर्पण कर दिया है तो वे तुम्हें कैसे बाधा डाल सकेंगे ? यदि तुम कहो कि "वे बलवान हैं", तो उनके बल के स्रोत को पकड़ लो जिससे कि वे तुम्हें बाधा न कर सकें।

३२०. एक अनौपचारिक वार्ता के मध्य महर्षि ने संकेत किया कि आत्म-साक्षात्कार केवल योग्य पात्र के लिए ही सम्भव है। ज्ञान के उदय होने के पूर्व वासनाओं का निरसन करना आवश्यक है। ज्ञान का उदय होने के लिए जनक तुल्य होना होगा। सत्य के लिए सर्वस्व त्याग करने के लिए तत्पर रहना परमावश्यक है। पूर्ण विरक्ति ही पात्रता का सूचक है।

३२१. **भक्त** : जागृति में क्लेशों का उदय होता है। वे क्यों उदय होते हैं ?

म० : यदि तुम आत्मदृष्टि करोगे तो यह नहीं रहेंगे।

भक्त : यदि मैं "मैं कौन हूँ" देखने का प्रयास करता हूँ तो मुझे कुछ भी नहीं मिलता।

म० : अपनी सुषुप्ति में तुम कैसे रहे थे ? उस समय 'अहम् वृत्ति' नहीं थी तथा तुम सुखी थे। जबकि जाग्रत में मूल-संकल्प 'मैं'—भाव उदय होने पर अनेक संकल्प अंकुरित होते हैं और वह सहज प्रसन्नता को ढक देते हैं। इन संकल्पों से मुक्त हो जाओ जो आनन्द में बाधक हैं। आनन्द तुम्हारी सहज अवस्था है, जैसा तुम्हारी सुषुप्ति में स्पष्ट था।

भक्त : मैं अपनी सुषुप्ति के अनुभव के विषय में कुछ नहीं जानता।

म० : किन्तु तुम यह जानते हो कि वह आनन्द था। अन्यथा तुम यह नहीं कहते कि "मैं सुखपूर्वक सोया।" जब संकल्प नहीं हैं, 'मैं' नहीं है, और वास्तव में तुम से अन्य कुछ नहीं है, तब तुम सुखी रहते हो। यही पूर्ण सत्य है। महावाक्य तत्वमसि का यथार्थ में यही भाव है (तुम वही हो)। अपने को जानो, तब 'उसका' पता लगता है।

भक्त : वह ब्रह्म कैसे है ?

म० : तुम अपने से पृथक ब्रह्म के सम्बन्ध में क्यों जानना चाहते हो ? शास्त्रों का कथन है, "तुम वही हो"। आत्मा तुम्हारा अन्तरंग है, तुम वास्तव में उसके बिना हो ही नहीं सकते। इसका साक्षात् करो। यही ब्रह्म का भी साक्षात्कार है।

भक्त : किन्तु मैं इसे नहीं कर सकता। अपनी आत्मा के साक्षात् करने के लिए मैं अत्यन्त दुर्बल हूँ।

म० : उस अवस्था में स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर दो; और उच्चतर शक्ति स्वयं को प्रकट कर देगी।

भक्त : पूर्णतया समर्पण क्या है ?

म० : यदि कोई अपने आपको समर्पण कर देता है तो प्रश्न करने के लिए अथवा संकल्प करने के लिए कोई नहीं रहता है। या तो 'मैं' (अहम् भाव) के संकल्प के स्रोत को दृढ़ता से पकड़ लेने से अथवा उच्चतर शक्ति को पूर्णतया समर्पण करने से संकल्पों का निरसन हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार के केवल यही दो मार्ग हैं।

३२२. एक सुसंस्कृत महिला, मद्रास के एक प्रसिद्ध सोलिसिटर की पुत्री ने प्रश्न किया : आपके उपदेशानुसार संकल्पों से मुक्त रहने का क्या उपाय है ? क्या वह 'मैं कौन हूँ' की एकमात्र खोज ही है ?

म० : तुम्हें केवल सहज शान्त रहना है। करो और देखो।

भक्त : यह असम्भव है।

म० : सही है। इसीलिए 'मैं कौन हूँ' की शोध का निर्देश दिया जाता है।

भक्त : जिज्ञासा करने पर अन्दर से कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

म० : तुम किस प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा करती हो ? क्या तुम वहाँ नहीं हो ? और क्या ?

भक्त : और अधिक संकल्प उठते हैं।

म० : तभी उस समय यही प्रश्न करो "मैं कौन हूँ ?"

भक्त : क्या मुझे प्रत्येक संकल्प के उठने पर यह करना आवश्यक है ? अच्छा। क्या जगत केवल हमारा संकल्प है ?

म० : यह प्रश्न जगत पर छोड़ दो। यह उसे ही पूछने दो "मैं अस्तित्व में कैसे आया ?"

भक्त : क्या आपका आशय है कि इससे मेरा सम्बन्ध नहीं है ?

म० : गहन निद्रा में कुछ भी अनुभव नहीं होता; ये सब जागृति के बाद ही दीखते हैं; संकल्पों के उदय होने के बाद ही जगत भासित होता है; यह संकल्प के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

एक अन्य दर्शक ने पूछा : मन को शान्त करने के लिए हम क्या करें ?

म० : पहले मन को पकड़कर यहाँ लाया जाय : तब हम उसको शान्त करने के उपाय एवं साधन पर विचार करेंगे।

भक्त : मेरा भाव यह था कि यह सदैव चंचल रहता है—जब हम जप करते हैं तब भी।

म० : जप का उद्देश्य केवल मन को शान्त करना है।

भक्त : इस हेतु कौन-सा जप उत्तम है ?

म० : कोई भी उपयुक्त, जैसे गायत्री।

भक्त : क्या गायत्री से हो जायगा ?

म० : क्या इससे श्रेष्ठ कोई है ? जो इसे करने में समर्थ नहीं हैं वे ही अन्य मन्त्र खोजते हैं। सत्य का पूर्ण क्षेत्र इसके अन्तर्गत आ जाता है। जप से ध्यान होगा और यही आत्म-साक्षात्कार का मार्ग है।

भक्त : क्या इसके लिए आधा घण्टा पर्याप्त होगा ?

म० : यह सदा करना आवश्यक है, अथवा जितनी देर तक तुम कर सको।

३२३. "अरुणाचल अष्टक" के छठे छन्द को स्पष्ट करते हुए श्री भगवान ने इस प्रकार कहा :

पूर्व के छन्द में अन्तिम शब्द में प्रश्न किया गया है "क्या एक ही है ?" वर्तमान छन्द के प्रारम्भिक शब्द में उत्तर है "हाँ केवल एक ही है······"। आगे कहा है, "यद्यपि यह एक ही है तथापि अपनी अद्भुत शक्ति से यह लघु बिन्दु 'मैं' (अहम् वृत्ति) पर प्रतिबिम्बित होता है जिसे अविद्या अथवा संचित सुप्त संस्कार भी कहते हैं; यह प्रतिबिम्बित प्रकाश सापेक्ष ज्ञान है।

यह मनुष्य के प्रारब्ध के अनुसार अन्तस्थ सुप्त संस्कारों को स्थूल जगत के रूप में व्यक्त करता है एवं बाह्य स्थूल जगत को सूक्ष्म अन्तस्थ संस्कारों के रूप में लौटा लेता है; इस शक्ति को सूक्ष्म स्तर पर मन तथा भौतिक स्तर पर

मस्तिष्क कहा जाता है। यह मन अथवा मस्तिष्क उस शाश्वत अद्वितीय वस्तु के विस्तारक के रूप में कार्य करता है और उसे विस्तृत जगत के रूप में प्रदर्शित करता है। जाग्रत तथा स्वप्न की अवस्थाओं में मन बहिर्मुखी रहता है तथा सुषुप्ति में अन्तर्मुखी रहता है; मन के माध्यम से परब्रह्म जाग्रत तथा स्वप्न की अवस्थाओं में अनेक रूपों में भासता प्रतीत होता है तथा सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा आदि की दशा में वापस लौट आता है। अतः तुम केवल वही हो, एवं अन्यथा नहीं हो सकते। कुछ भी परिवर्तन हो, तुम अद्वितीय वस्तु ही रहते हो; तुम्हारे अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

म० : इसके पूर्व का छन्द कहता है : फोटो की प्लेट जब एक बार सूर्य के प्रकाश से खराब हो जाती है तब उस पर चित्र अंकित नहीं होता। इसी प्रकार तुम्हारा मन आत्म-प्रकाश की ज्योति से प्रकाशित होकर फिर जगत रूपी चित्र अंकित नहीं कर सकता। वह सूर्य तुम ही हो। यदि उसकी रश्मियाँ ही इतनी बलवती हैं कि चित्र लेना असम्भव कर देता है तो आत्म-प्रकाश कितना अधिक बलवान होगा? इस प्रकार यह कहा जाता है कि अद्वितीय वस्तु जो तुम हो अर्थात् तुम से परे और कुछ भी नहीं है।

वर्तमान छन्द में लघु बिन्दु=देहाभिमान; तम से निर्मित लघु बिन्दु=गुप्त संस्कार युक्त अहंकार; द्रष्टा, अथवा देखने वाला अथवा उदय होने वाली अहम् वृत्ति, यह दृश्य, पदार्थ अथवा अन्तःकरण के रूप में विस्तार पाता है। अहम् भाव के उदय होने के लिए प्रकाश का मन्द होना आवश्यक है। दिन के प्रकाश में रज्जु सर्प भासित नहीं होती। गहन अन्धकार में स्वयं रस्सी भी नहीं दीख सकती; अतः उसे भूल से सर्प मानने की सम्भावना नहीं है। केवल मन्द प्रकाश में, झुटपुटे में, छायाओं द्वारा किये गये धुँधले प्रकाश में, अथवा अँधेरे के मन्द प्रकाश में ही रज्जु को सर्प मानने की भूल होती है। इसी प्रकार वह शुद्ध प्रकाश आत्मा अहम् बनकर उठता है—अन्धकार के जरिये आये हुए उसके प्रकाश से ही यह सम्भव है। इसको ही मूल अविद्या कहते हैं। उसके साथ होकर जो प्रकाश आता है उसे प्रतिबिम्बित प्रकाश कहते हैं। शुद्ध प्रतिबिम्बित प्रकाश को शुद्ध मन अथवा ईश्वर कहते हैं। ईश्वर माया से युक्त होता है : दूसरे शब्दों में प्रति-बिम्बित प्रकाश ही ईश्वर है।

अन्य नाम—निर्मल मन—अशुद्ध मन का भी संकेत करता है। यही राजसिक, अथवा सक्रिय मन अथवा अहंकार है। यह भी उपरोक्त सात्विक मन से केवल दूसरे प्रतिबिम्ब के द्वारा प्रक्षिप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अहंकार अविद्या का परिणाम है। तब तामसिक अथवा प्रमादी मन अन्तःकरणों के रूप में आता है; यह जगत के रूप में भासता है।

स्थूल देह दृष्टि से इसे मस्तिष्क के माध्यम द्वारा बाह्य स्तर पर जगत रूप में भासित होना कहा जा सकता है।

किन्तु स्थूल देह केवल मन की है। मन चार अन्तःकरणों वाला कहा जा सकता है, अथवा वृत्ति भेद अथवा छठी इन्द्रिय; अथवा बुद्धि को अहंकार से तथा चित्त को मन से अर्थात् स्मरण शक्ति को संकल्प शक्ति से संयुक्त किया जा सकता है। इसके दो भाग माने जा सकते हैं—अहंकार तथा मन। इस दृष्टि से विज्ञानात्मा अथवा अहंकार अथवा देखने वाला द्दष्टा होगा तथा मनोमयकोष अथवा दीखने वाले दृश्य पदार्थ।

जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं की उत्पत्ति मूल अविद्या से है। मन के आवरण में ही मन के बहिर्मुख हो जाने पर तथा जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में अपनी वृत्तियों से अनुभव करने में तथा सुषुप्ति में मन लय हो जाने में एक दिव्य शक्ति जगत एवं व्यक्तियों के कार्यों का नियन्त्रण करती है। स्वयं प्रकाश सतत्व् के आधार पर प्रतिविम्बित प्रकाश से दृश्य मात्र है।

जिस प्रकार दिन के प्रखर प्रकाश में न रज्जु-सर्प दीखना सम्भव है, न गहन अन्धकार में स्वयं रस्सी का। इसी प्रकार जगत स्वयं प्रकाशमय अस्तित्व की समाधि अवस्था में अथवा सुषुप्ति में अथवा मूर्च्छा आदि में नहीं दीखता।

केवल प्रतिबिम्बित प्रकाश से ही (अपने आधार से अस्वतन्त्र) यह संसार उदय होता है, अपनी स्थिति पाता है और लय हो जाता है।

इसका नानात्व भी सत्यता, अर्थात् मूल स्रोत से पृथक नहीं हो सकता। यहाँ एक लीला हो रही है जिसमें अद्वितीय सत्ता नानात्व होकर दीखती है और फिर अद्दष्य हो जाती है। ऐसा करने के लिए एक आश्चर्यजनक शक्ति का होना आवश्यक है।

वह शक्ति भी अपने स्रोत से स्वतन्त्र नहीं हो सकती। स्वप्रकाश शुद्ध स्वरूप में शक्ति का भास नहीं होता है। तथापि उसके कार्य सबको विदित हैं। कितना भव्य !

इसके प्रारम्भिक दिव्य स्पन्दन से सात्विक स्फुरण विद्यमान होते हैं, और वहाँ से राजसिक अहंकार और तब तामसिक वृत्तियाँ उदय होती हैं। जिन्हें सामान्यतया वृत्ति ज्ञान कहते हैं, अथवा प्रकाश जो आवर्धक काँच (magnifying lens) के अनुसार है। जिस प्रकार कृत्रिम प्रकाश किसी काँच (lens) के जरिये ही परदे पर आता है वैसे ही यह प्रतिबिम्बित प्रकाश संसार रूपी द्दश्य आकार लेने से पहले कल्पना के जरिये ही बाहर आता है। वास्तविकता से कल्पना ही बीज से संसार है; आगे वही विस्तृत संसार होकर दीखता है। यह अलौकिक शक्ति है ! इस प्रकार ईश्वर, जीव तथा सब संसार यह प्रतिबिम्बित

प्रकाश मात्र हैं। और इन सबका आधार केवल वह स्वयं प्रकाश सद्वस्तु (ब्रह्म) है।

अब यह "मैं"—कल्पना (अहंकार) क्या है ?

व्यवहार में यह दृष्टा है अथवा दृश्य ?

जहाँ तक जागृति में एवं स्वप्न में यह सब दृश्य का साक्षी बनता है अथवा हम तो इसे साक्षी मानते ही हैं, इसलिए इसको दृष्टा मानना ही पड़ेगा। तथापि शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार के उपरान्त यह दृश्य हो जायगा।

यह अहम् कल्पना किसकी है ? यह खोज ही विचार कहलाता है।

'मैं' और 'यह' दोनों ही उसी प्रकाश से उत्पन्न होते हैं। वे दोनों क्रम से रजोगुण व तमोगुण के सम्बन्ध से हैं। रज और तम से रहित वह प्रकाश पाने के लिए यह "मैं" और "मेरी-कल्पना" की टूट से रहित अखण्ड 'मैं' होकर प्रकाशित होना चाहिए। यह शुद्ध स्थिति सुषुप्ति और जागृति के बीच में क्षणिक होकर रहती है। यदि इसको बढ़ायें तो यह महत् बुद्धि या ईश्वर है। स्वप्रकाशमय सर्वोत्तम आत्मा के साक्षात्कार का एकमात्र यही मार्ग है।

सुषुप्ति में दो प्रकार के अनुभव होते हैं, जिसका जागने के बाद ऐसा स्मरण होता है कि 'मैं सुख से सोया था, और अन्य कुछ भी नहीं जानता था।' सुख और अज्ञान ये वे अनुभव हैं। इस प्रकार हम शक्ति को (१) आवरण और (२) विक्षेप रूप में होते देखते हैं। और मन उस विक्षेप का ही परिणाम है।

१० जनवरी, १९३७

कुछ संस्मरण

३२४. (१) स्कन्दाश्रम में निवास करते समय श्री भगवान ने अपने से लगभग दस फुट दूर एक लघु किन्तु लम्बे आकार का सफेद टिड्डा देखा। श्री भगवान उसकी ओर निहारते रहे तथा वह उनकी ओर। अचानक उसने लम्बी छलाँग लगायी तथा निश्चित रूप से श्री भगवान की एक आँख पर बैठ गया। श्री भगवान ने तुरन्त आँख बन्द कर ली जिससे उसे चोट नहीं पहुँची।

(२) दो मोर पंखे के समान पंख फैलाकर नाचा करते थे। एक काला सर्प भी इस खेल में भाग लिया करता था तथा अपना फन ऊँचा कर उनके इधर-उधर घूमता रहता था।

(३) श्री भगवान का कथन है कि मोर जैसे ही एक हरे गिरगिट को देखता है, सीधा उसके पास जाकर विनम्र भाव से गिरगिट के समक्ष अपनी ग्रीवा रख देता है, गिरगिट इसे काट लेता है तथा मयूर को मार देता है।

(४) एक बार रंगास्वामी आयंगर पर्वत पर घूम रहे थे। समीप ही एक

तेंदुआ था। उन्होंने एक पत्थर फेंका। तेंदुआ घूमकर उनकी ओर आया। वे अपनी जान बचाने को भागे। श्री भगवान उन्हें मार्ग में मिले तथा उनसे कारण पूछा। आयंगर दौड़ते हुए केवल "तेंदुआ" ही कह पाये। जहाँ पशु था उस स्थान पर श्री भगवान गये तो वह शीघ्र ही दूर चला गया। यह प्लेग के समय की घटना है। मन्दिर के आसपास तेंदुए स्वच्छन्दता से घूमा करते थे, कभी-कभी दो एवं तीन की संख्या में।

(५) श्री भगवान ने कहा, "प्राय: मेंढक की योगी से तुलना की जाती है। काफी समय तक वह शान्त रहता है। मेंढक की गर्दन के नीचे की त्वचा में जब कम्पन होता है तभी वह जीवित प्रतीत होता है।

"मेंढ़क असाधारण लम्बे समय तक अपनी जीवन्तता को स्थगित रख सकता है। ऐसा कहा जाता है कि वे अपनी जिह्वा को निगल जाते हैं। जिह्वा को निगल जाना एक योगिक अभ्यास है। इससे सजीवता स्थगित हो जाती है। योगी का शरीर शान्त नहीं होता किन्तु जीवन-क्रिया को फिर से प्रारम्भ करने के पहले किसी अन्य व्यक्ति को योगी की जिह्वा बाहर निकालनी होगी। यह एक आश्चर्य है कि मेंढक निगली हुई जिह्वा को किस प्रकार बाहर निकालकर फिर से गतिशील हो जाता है।"

११ जनवरी, १९३७

(६) सरल मलयालम गद्य में रचित रामायण—"रघुवीरन" पढ़ते समय एक प्रसंग आया कि हनूमानजी शारीरिक रूप से लंका पहुँचने से पूर्व मानसिक रूप से वहाँ पहले ही पहुँच गये। श्री भगवान ने इस बात पर बल दिया कि शारीरिक क्रिया से मानसिक प्रयास शीघ्र कार्य करता है।

(७) श्री भगवान ने निम्न अद्भुत घटना सुनायी: ऐजूथाचन नामक एक महान मलयाली सन्त तथा लेखक ने जब मन्दिर में प्रवेश किया तब उनके पास कुछ मछलियाँ छिपी हुई रखी थीं। किसी शत्रु ने मन्दिर में पूजा अर्चना करने वाले भक्तों को इसकी सूचना दे दी। सन्त की तलाशी ली गयी और उसे राजा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। राजा ने प्रश्न किया: 'तुम मन्दिर में मछली क्यों ले गये" ? उसने उत्तर दिया: "इसमें मेरा दोष नहीं है। मैंने इन्हें वस्त्रों में छिपा रखा था। दूसरों ने मछली को मन्दिर में प्रकट किया। दोष प्रकट करने में है। देह के अन्तर्गत मल को अपवित्र नहीं माना जाता; किन्तु मलोत्सर्ग कर देने पर, उसे अपवित्र माना जाता है। इसी प्रकार यह भी है।

१२ जनवरी, १९३७

३२५. गुंतूर जिले के श्री राम शास्त्री ने श्री भगवान पर आठ श्लोक रचे

और उनको हार्दिक भाव से पढ़कर सुनाया। तदुपरान्त शास्त्री ने मार्गदर्शन के लिए प्रार्थना की।

"मैं संसारी हूँ अतएव ज्ञान मार्ग का अधिकारी नहीं हूँ। संसार के कार्य-कलाप मुझे विचलित कर रहे हैं। कृपया मेरा मार्गदर्शन करें मैं क्या करूँ।"

म० : भगवान का चिन्तन करो। संसार के कार्यकलाप उसे किस प्रकार विचलित करेंगे ? तुम तथा वे उसके अन्तर्गत हैं।

भक्त : क्या मैं नाम स्मरण करूँ ? मैं किस नाम का जप करूँ ?

म० : तुम राम शास्त्री हो। इसी नाम को सार्थक करो। राम के साथ एकरूप हो जाओ।

१३ जनवरी, १९३७

३२९. दीर्घ काल से रहते एक परिचारक के प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान ने कहा : "प्रत्येक व्यक्ति मन की चंचलता की शिकायत करता है। मन की खोज कर लेने पर ही उन्हें मालूम होगा। यह सत्य है कि जब व्यक्ति ध्यान करने के लिए बैठता है तब अनेक संकल्प आकस्मिक आक्रमण करते हैं। मन केवल संकल्पों का समूह है। संकल्पों की श्रृंखला में से निकलने का प्रयास असफल होता है। यदि व्यक्ति किसी भाँति आत्मा में स्थिर रह सके तो उत्तम है। जो ऐसा करने में समर्थ नहीं हैं उनके लिए जप अथवा ध्यान निर्धारित किया जाता है। यह हाथी को अपनी सूँड़ में पकड़ रखने को जंजीर का एक टुकड़ा देने जैसा है। हाथी की सूँड़ सामान्यतया चंचल होती है। नगर की सड़कों पर ले जाते समय वह उसे प्रत्येक दिशा में घुमाता है। यदि एक जंजीर दे दी जाय तो चंचलता नियन्त्रित हो जाती है। चंचल मन की भी यही स्थिति है। यदि उसे जप अथवा ध्यान में संलग्न रखा जाय तो दूसरे विचार नहीं रहते तथा मन एक ही विचार पर एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार यह शान्त हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि लम्बे अभ्यास के बिना शान्ति प्राप्त हो जाती है। अन्य संकल्पों से भी संघर्ष करना होगा।

एक अन्य उदाहरण है। मान लो एक गाय आवारा होकर भटककर पड़ोसी के खेतों में चरने चली जाती है। गाय अपनी चोरी की आदत सहज नहीं छोड़ती। उसे पशु-शाला में रखना कैसे सम्भव हो, यह सोचो। यदि उसे पशु-शाला में बलपूर्वक रस्सी से बाँध दिया जाय तो वह भाग जाने के लिए उत्तम अवसर की प्रतीक्षा करेगी। यदि पशु-शाला में उसे उत्तम घास से लुभाया जाता है तो वह पहले दिन एक बार खाकर फिर भागने के अवसर की प्रतीक्षा करती है। अगले दिन वह दो बार खाती है तथा इस प्रकार प्रतिदिन अधिक-अधिक सेवन करती जाती है जब तक कि उसे उसके दुष्ट संस्कारों से पूर्णतया छुटकारा

नहीं मिल जाता। विकारों से पूरी तरह मुक्त होने पर उसे निश्चिन्ततापूर्वक स्वतन्त्र छोड़ा जा सकता है और तब वह पड़ोसियों के चरागाहों में नहीं भटकेगी। बाद में वह पशु-शाला में पीटे जाने पर भी पशु-शाला नहीं छोड़ेगी। मन की भी यही दशा है।

गुप्त वासनाओं के बल से जो संकल्पों के रूप में उदय होते हैं मन बाहर भटकने का आदी हो गया है। जब तक अन्दर वासनाएँ होंगी, वे बाहर प्रकट होकर ही समाप्त होंगीं। संकल्प ही मन है। मन की खोज करने से कि यह क्या है संकल्प पीछे चले जायेंगे तथा साधक जान लेगा कि वे आत्मा से उदय होते हैं। इन्हीं संकल्पों के समूह को हम 'मन' कहते हैं। यदि व्यक्ति को यह अनुभूति हो जाय कि संकल्प आत्मा से उदय होते हैं और अपने मूल स्रोत में रहते हैं तो मन लुप्त हो जायेगा। जब मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और शान्ति के आनन्द की अनुभूति हो जाती है तब व्यक्ति का एक संकल्प करना उतना ही कठिन हो जाता है जितना कि उसे इस समय समस्त संकल्पों का रोकना कठिन प्रतीत होता है। यहाँ मन उस गाय के समान है जो आवारा होकर भटक रही है : संकल्प पड़ोसियों के चरागाह के समान हैं; संकल्पों से शून्य अवस्था उसकी अपनी सहज अवस्था है जो पशु-शाला के समान है।

शान्ति का परमानन्द इतना श्रेष्ठ है कि उसमें बाधा कदापि नहीं पड़नी चाहिए। गहरी नींद में सोये हुए व्यक्ति को जगाकर उसके काम में लगाना उसको बहुत बुरा प्रतीत होता है।

गहन निद्रा का आनन्द इतना अधिक आकर्षक है कि उसे संकल्पों से उत्पन्न कार्यों को करने के लिए बलिदान नहीं किया जा सकता। संकल्प शून्य अवस्था जीव की सहज अवस्था है जो आनन्दमय है। क्या ऐसी अवस्था को त्यागकर संकल्पों से परिपूर्ण एवं दुःखी अवस्था को ग्रहण करना दुर्भाग्यपूर्ण नहीं ?

यदि व्यक्ति संकल्प शून्य अवस्था में रहना चाहता है, तो संघर्ष अनिवार्य है। जीव को मूल सहज अवस्था की पुनः प्राप्ति के लिए अपना मार्ग खोजना ही होगा। यदि व्यक्ति अपनी साधना में सफल होता है और उसे लक्ष्य की प्राप्ति हो गयी, तो शत्रु, अर्थात् समस्त संकल्प आत्मा में शान्त होकर पूर्णतया लुप्त हो जायेंगे। संकल्प ही शत्रु हैं। ये ही एक प्रकार से जगत की सृष्टि करते हैं। उनके अभाव में न जगत है, न सृष्टिकर्ता ईश्वर। आत्मानन्द केवल है।

जब प्रह्लाद समाधिस्थ था, विष्णु भगवान ने स्वयं अपने आप किया : "इस असुर के समाधिस्थ होने से समस्त असुर शान्ति में हैं। न युद्ध है, न शक्ति परीक्षा, न सत्ता की पिपासा, न सत्ता प्राप्ति के साधन। सत्ता की प्राप्ति के इन साधनों के अभाव में—याग, यज्ञादि अर्थात् देवता समृद्ध नहीं हो रहे हैं; न

नवीन सृष्टि है; न किसी स्थिति का औचित्य ही है। इसलिए मैं उसको जाग्रत कर दूंगा तब असुर उठ खड़े होंगे; उनके मूल स्वरूप की अभिव्यक्ति होगी; देवता उन्हें चुनौती देंगे। तभी असुरादि शक्ति अर्जित करेंगे तथा उसको प्राप्त करने का साधन अपनायेंगे।

तदुपरान्त यज्ञादि की उन्नति होगी; देवताओं का उत्कर्ष होगा; उत्तरोत्तर सृष्टि होगी, युद्ध होगा तथा मेरे पास करने को पर्याप्त होगा।

इस हेतु विष्णु ने प्रह्लाद को जाग्रत कर उसे शाश्वतता एवं जीवन-मुक्ति का वर दिया।

देवासुर संग्राम पुनः प्रारम्भ हो गया तथा प्राचीन व्यवस्था पुनः स्थापित हो गयी और इस प्रकार जगत अपने नित्य स्वरूप में चला आ रहा है।

भक्त : स्वयं ईश्वर असुर तत्त्व को जाग्रत कर कैसे सतत युद्ध करा सकते थे ? क्या उत्तमता ही ईश्वर का स्वभाव नहीं है ?

म० : उत्तमता केवल तुलनात्मक है। उत्तम में निकृष्ट भी रहता है। वे सदैव साथ-साथ रहते हैं। वे दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं।

३२७. कक्ष में श्रोता अत्यन्त एकाग्रता से सुन रहे थे। उनमें से श्री भगवान का एक वास्तविक भक्त इतना प्रभावित हुआ कि वह तुरन्त स्तब्ध हो गया। बाद में उसने अपने अनुभव का निम्न प्रकार से वर्णन किया :

"मैं बहुत समय से आश्चर्य कर रहा था कि "धारा" कहाँ से आरम्भ होती है, देह से अथवा अन्य स्थान से। अचानक मेरी देह सूक्ष्म होते-होते लुप्त हो गयी। 'मैं कौन हूँ' की खोज अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रबल वेग से चलती रही। केवल "मैं" की ध्वनि होती रही। केवल एक अपरिमित विस्तार, और कुछ नहीं।

कक्ष की घटनाओं का मुझे धुँधला आभास था। मैं जानता था कि वैदिक उच्चारण के बाद लोग प्रणाम करने के लिए खड़े हुए थे। मैं खड़ा होना चाहता था, किन्तु यह संकल्प शीघ्र ही विलीन हो गया। मैं फिर उस पूर्णता में खो गया। यह अनुभव बराबर बना रहा जब तक कि मुझे श्री भगवान की वाणी न सुनायी दी। उससे मैं होश में आ गया। तब मैं खड़ा हुआ और मैंने प्रणाम किया। आधे घण्टे से अधिक समय तक एक आश्चर्यजनक भावना बनी रही। मैं इसे भूल नहीं सकता। अब भी यह मेरे ऊपर छायी हुई है।

श्री भगवान उसके शब्द सुनकर कुछ समय तक चुप रहे। तत्पश्चात् उनके अधरों से कुछ विचार निकले :

कोई देह से बाहर निकलता प्रतीत होता हो। किन्तु स्वयं देह भी हमारे संकल्प मात्र से अधिक कुछ भी नहीं है।

संकल्प के अभाव में कोई देह सम्भव नहीं; तथा देह के अभाव में कोई

अन्दर जाना या बाहर जाना सम्भव नहीं। तथापि, स्वभाव के कारण बाहर जाने की भावना उदय होती है।

वर्षा में ओले के कण समुद्र के तल पर गिरने पर पिघलकर जल, लहर, झाग आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म बुद्धि, लघु बिन्दु (अहंकार) के रूप में हृदय से उदय होकर विस्तार पा पुनः हृदय में प्रवेश कर उसके साथ एकरूप हो जाती है। यद्यपि जिस प्रकार समुद्र व्यापक है, उसी प्रकार दूध भी व्यापक है, पर क्या तुम उसको समुद्र के आकार के बराबर मुख से पी सकते हो? उसको पीने के लिए सूक्ष्म केशिका (शिराएँ) का उपयोग आवश्यक है।

वैष्णव सन्त नम्मलवर का कथन है "तुम केवल मेरी आत्मा हो", इसका क्या भाव है? "अपनी आत्मा की अनुभूति के पूर्व मैं आपकी खोज में घूमता-फिरता था; अब अपनी आत्मा की अनुभूति कर मैंने जाना कि तुम ही मेरी आत्मा हो।"

यह विशिष्टाद्वैत में किस प्रकार ठीक बैठेगा? इसको इस प्रकार समझना आवश्यक है: मेरी आत्मा में व्यक्त होकर तुम अन्तरयामी रहते हो। इस प्रकार मैं तुम्हारे शरीर का अंश हूँ तथा तुम इस शरीर के स्वामी (शरीरी) हो।

अपनी स्वयं की देह को निज आत्मा न समझकर इसका त्याग कर देने के बाद कोई भी किसी दूसरे की (ईश्वर की) देह क्यों बनेगा? यदि एक देह आत्मा नहीं है तो अन्य देह भी अनात्मा होगी। विशिष्टाद्वैतवादियों का मत है कि आनन्द का अनुभव प्राप्त करने के लिए व्यक्तित्व का होना आवश्यक है। व्यक्तित्व अर्थात् 'अहम् भाव' को नष्ट नहीं करना चाहिए। विचित्र। आत्मा देह नहीं है किन्तु तुम्हारी आत्मा ईश्वर की देह हो जाती है। क्या यह हास्यास्पद नहीं है? अथवा यदि तुम अपने आप को भगवान को समर्पण कर देते हो तो तुमने अपने आपको उनके सुपुर्द कर दिया है, अब तुम उनके हो, अब अपने नहीं हो। यदि भगवान को देह की आवश्यकता है तो उसे अपने आपके लिए स्वयं ही उसका प्रबन्ध करने दो। तुमको यह नहीं कहना है कि भगवान शरीर का स्वामी है।

१७ जनवरी, १९३७

३२८. एक यूरोप-निवासी सज्जन ने नपे-तुले शब्दों में स्पष्ट तथा धीरे कहना आरम्भ किया:

"संसार के कार्यकलापों में फँसकर मनुष्य परिणामस्वरूप क्यों कष्टों को भुगतते हैं? क्या उन्हें स्वतन्त्र नहीं होना चाहिए? यदि वे आध्यात्मिक जगत में हों तो उन्हें अधिक स्वतन्त्रता होगी।"

म० : जगत केवल आध्यात्मिक है। चूँकि तुम अपने आपकी भौतिक शरीर से तादात्म्यता कर रहे हो, तुम इस जगत को भौतिक तथा दूसरे जगत को आध्यात्मिक कह रहे हो। जबकि जो भी है, वह सब आध्यात्मिक ही है।

भक्त : क्या विदेह आत्माओं की गहरी अन्तर्दृष्टि है एवं अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं ?

म० : चूँकि तुम स्वयं की इस देह से तादात्म्यता करते हो, तुम देह से मुक्त आत्माओं को आत्मा कह रहे हो।

इन परिमितताओं से तुम उनकी परिमितताओं की बात करते हो और उनकी क्षमताओं को जानना चाहते हो। देह-मुक्त आत्माओं के भी सूक्ष्म शरीर होते हैं; अन्यथा तुम उन्हें "देह-मुक्त आत्मा" नहीं कहोगे। देह-मुक्ति से आशय है, "इस स्थूल देह से वंचित होना"। जहाँ तक तुम उन्हें व्यक्तित्व प्रदान करते हो, वहाँ तक वे अपने सूक्ष्म शरीरों में केन्द्रित हैं। उनकी परिसीमाएँ उनकी अवस्था के अनुसार होंगी। जिस प्रकार तुम अपनी परिसीमाओं का भार अनुभव करते हो वे भी अपनी परिसीमाओं के भार को अनुभव करते हैं। आत्मा तथा आध्यात्मिक जगत से मेरा अभिप्राय पूर्ण चैतन्य से है सापेक्ष से नहीं। यदि तुम अपने को आत्मा अनुभव कर लोगे तो यह जगत तुम्हें केवल आध्यात्मिक प्रतीत होगा न कि भौतिक।

भक्त : क्या उनके शरीर हमारे शरीरों के समान अस्थायी हैं ? क्या उनका पुनर्जन्म होता है ?

म० : यह प्रश्न इसलिए उदय होते हैं क्योंकि तुम स्वयं को देह मानते हो। इस देह का जन्म तथा मृत्यु होती है तथा जब यह शरीर गिरता है दूसरी देह उदय होती है जिसे पुनर्जन्म कहते हैं। पर क्या तुम देह हो ? यदि तुम यह जान लो कि तुम यह देह नहीं हो, किन्तु आत्मा हो तो तुम स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से मुक्त हो जाओगे तथा फिर कोई परिसीमाएँ नहीं रहेंगी।

किसी भी प्रकार की परिमितताओं के अभाव में भौतिक अथवा आध्यात्मिक जगत कहाँ है ? पुनर्जन्म का प्रश्न कैसे उत्पन्न होगा ?

फिर, इसे दूसरे दृष्टिकोण से सोचें : तुम स्वप्न में स्वप्न-शरीर का निर्माण कर उस स्वप्न-शरीर से काम लेते हो। जाग्रत अवस्था में वह मिथ्या हो जाता है। इस समय तुम अपने को यह देह समझ रहे हो न कि स्वप्न-शरीर। तुम्हारे स्वप्न में स्वप्न-शरीर इस देह को मिथ्या कर देता है। इस प्रकार तुम देखोगे कि इन शरीरों में कोई भी वास्तविक नहीं है। चूँकि उनमें से प्रत्येक केवल एक समय सत्य रहता है तथा दूसरे अवसर पर मिथ्या हो जाता है।

जो सत्य है वह सदैव ही सत्य होना चाहिए। पर तुम "मैं" कहते हो। यह "मैं"-चेतना तीनों अवस्थाओं में सर्वथा विद्यमान है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं है। केवल वही सत्य है। तीनों अवस्थाएँ मिथ्या हैं। वे केवल मन में हैं। मन ही तुम्हारे वास्तविक स्वरूप के दर्शन में बाधक है।

तुम्हारा वास्तविक स्वरूप अपरिमित आत्मा का है। तुम्हारी सुषुप्ति में ऐसा ही था। अन्य दो अवस्थाओं में तुम्हें परिसीमाओं का भान होता है। अन्तर किस कारण हुआ ? सुषुप्ति में मन का अभाव था, किन्तु स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं में मन विद्यमान रहता है। परिमितता का भाव मन का कार्य है। मन क्या है ? इसे खोजो। यदि तुम इसकी खोज करोगे तो यह स्वयं ही नष्ट हो जायेगा, चूँकि इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। यह संकल्पों का बना हुआ है। संकल्पों के नाश के साथ ही इसका लोप हो जाता है।

भक्त : क्या तब मैं रहता हूँ ?

म० : सुषुप्ति का तुम्हारा क्या अनुभव है ? तब संकल्प नहीं थे, न मन था, तथापि तब भी तुम थे।

भक्त : जब मैं ध्यान करने का प्रयास करता हूँ, तब मैं अपने मन के भटकने के कारण ऐसा नहीं कर पाता हूँ। मुझे क्या करना चाहिए ?

म० : तुम्हारे प्रश्न में ही उत्तर निहित है। पहले, प्रश्न का प्रथम भाग लें, तुम कहते हो, तुम ध्यान करते हो, परन्तु सफल नहीं होते। "तुम" से अर्थ है "आत्मा"। तुम ध्यान किस पर करते हो ? तुम असफल कहाँ होते हो ? क्या आत्माएँ दो हैं कि एक आत्मा दूसरी पर ध्यान करे ? इस समय असफलता की शिकायत करने वाला आत्मा कौन-सा है ? दो आत्माएँ हो ही नहीं सकतीं। केवल एक आत्मा है। उसे ध्यान करना आवश्यक नहीं है।

"तब आनन्द क्यों नहीं है ?" तुम पूछते हो। सुषुप्ति में तुम जो आत्म-रूप हो तुमको वैसेही रहने में क्या बाधा है ? तुम स्वयं स्वीकार करते हो कि वह चंचल मन है। मन की खोज करो। यदि उसका भटकना बन्द हो जाय वह आत्मा अर्थात् जो तुम्हारा वास्तविक "मैं"-भाव है वही रहेगा। वही पूर्ण चैतन्य है। यह ज्ञान तथा अज्ञान से परे है।

भक्त : मैं बहुत व्यस्त रहता हूँ। इसलिए एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए कम समय मिलता है। क्या इसके लिए कोई साधन है ? क्या प्राणा-याम उत्तम है ?

म० : प्राण तथा मन एक ही स्रोत से उदय होते हैं। प्राणायाम से अथवा मन की खोज से स्रोत तक पहुँचा जा सकता है। यदि तुम मन की खोज करने में असमर्थ हो तो प्राणायाम निस्सन्देह उपयोगी होगा। श्वास की गति पर जागरूक रहने से प्राणायाम हो जाता है।

यदि मन को (बाहरी दृश्य से हटाकर) मन पर ही केन्द्रित किया जाय तो संकल्प नष्ट हो जायेंगे। उसका परिणाम होगा शान्ति और वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। राजा जनक का कथन है, "मैंने अब चोर अर्थात् (मन) को खोज लिया है जो मुझसे मेरे असली 'मैं' से हटाता रहा है। मैं इस चोर को तुरन्त खत्म कर दूँगा।" संकल्पों के कारण क्षोभ से आत्मा निज शान्ति

से वंचित हुई प्रतीत होती है। क्षोभ ही मन है। क्षोभ समाप्त हो जाने से मन पलायन कर जाता है। आत्मा ही अटल आधार बना रहता है।

एक अन्य व्यक्ति बीच में बोल उठा : मन ही मन को मारेगा।

म० : हाँ, यदि मन हो। इसकी खोज से यह प्रकट होता है कि इसकी सत्ता नहीं है। जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसे कैसे मारा जा सकता है ?

भक्त : क्या मौखिक जप से मानसिक जप श्रेष्ठ नहीं है ?

म० : मौखिक जप में ध्वनि होती है। ध्वनि संकल्प से होती है। क्योंकि शब्दों में विचार व्यक्त करने से पूर्व विचार करना ही होगा। संकल्प मन का निर्माण करते हैं। इस कारण मौखिक जप से मानसिक जप श्रेष्ठ है।

भक्त : क्या हमें जप का मनन करते हुए उसे मौखिक रूप से नहीं दुहराना चाहिए ?

म० : जब जप मानसिक हो जाय तब उसके उच्चारण की क्या आवश्यकता है ?

जप, मानसिक होकर, ध्यान बन जाता है। ध्यान एवं मानसिक जप एक ही हैं। जब व्यर्थ के संकल्प नष्ट होकर अन्य समस्त संकल्पों के अभाव में केवल एक ही विचार रहता है तब उसी को ध्यान कहते हैं। जप अथवा ध्यान का उद्देश्य विभिन्न संकल्पों को हटाकर अपने को केवल एक ही विचार पर सीमित करना है। तदुपरान्त वह विचार भी अपने स्रोत—शुद्ध चैतन्य अर्थात् आत्मा में विलीन हो जाता है। मन जप में संलग्न हो फिर अपने स्रोत में विलीन हो जाता है।

भक्त : ऐसा कहते हैं कि मन मस्तिष्क से उत्पन्न होता है।

म० : मस्तिष्क कहाँ है ? यह शरीर में है। मैं कहता हूँ देह ही मन की कल्पना है। जब तुम देह का विचार करते हो तभी तुम मस्तिष्क की चर्चा करते हो। मन ही देह को उत्पन्न करता है, तथा उसमें मस्तिष्क का निर्माण करता है तथा यह भी निश्चय करता है कि इसका स्थान मस्तिष्क है।

भक्त : श्री भगवान ने एक पुस्तक में कहा है कि जप के मूल को खोजो। क्या इसका मन से आशय नहीं है ?

म० : ये सब केवल मानसिक कल्पनाएँ हैं। जप मन को एक विचार पर टिकाने में सहायता करता है। अन्य समस्त संकल्पों को पहले अधीनस्थ किया जाता है जब तक कि वे लुप्त न हो जायें। जब यह मानसिक हो जाता है तब इसे ध्यान कहते हैं। ध्यान तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। चूँकि यह प्रयास से प्राप्त होता है, अत: उसे ध्यान कहते हैं। जब तक व्यर्थ के

संकल्प होते हैं प्रयास आवश्यक है। चूँकि तुम अन्य संकल्पों में रहते हो तुम केवल एक ही विचार पर स्थिर होने को ध्यान कहते हो। यदि वह ध्यान बिना प्रयास के हो जाय वह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप होगा।

३२९. प्रातःकाल श्री भगवान ने तमिल भाषा में "रामकृष्ण विजयम" में से सन्त एस्टैला के उपदेश का थोड़ा-सा अंश पढ़कर सुनाया। उसका अभिप्राय है : "तुम्हारे शत्रु काम, क्रोध, आदि हैं। यदि तुम दुःखी हो तो अन्तर्मुख होकर कष्ट का कारण मालूम करो। वह तुम्हारे बाहर नहीं है। बाहरी कारण केवल अध्यारोपण हैं। यदि तुम स्वयं को दुःखी नहीं कर सकते तो क्या करुणा-मूर्ति प्रभु तुम्हें किसी प्रकार दुःखी करेंगे ?"

श्री भगवान ने कहा : सन्त एस्टैला एक अच्छे सन्त थे तथा उनके उपदेश काफी युक्तिसंगत हैं।

३३०. दमे के कारण श्री भगवान का गला भारी था। भेंट में सन्तरे आये थे। सदा की भाँति टुकड़े बाँटे गये। श्री भगवान अपना गला साफ कर रहे थे तो उन्हें अपने मुँह का सन्तरा थूकना पड़ा। उन्होंने कहा कि उन्हें उसे थूकना पड़ा। एक भद्र पुरुष ने कहा : सम्भवतया सन्तरा श्री भगवान के स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है।

म० : यदि अन्य व्यक्ति के स्थान पर फल तुम लाये होते तो क्या तुम ऐसा कहते ?

१८ जनवरी, १९३७

३३१. अन्तरराष्ट्रीय शान्ति संघ की एक अमरीकी महिला, श्रीमती रुरना जैनिंग्स ने, विश्व में शान्ति के प्रसार के विषय में श्री भगवान से पूछा।

श्री भगवान ने उत्तर दिया कि यदि कोई आत्मा की शान्ति प्राप्त कर ले तो व्यक्तिगत किसी प्रयास के बिना भी उसका प्रसार स्वयं ही होगा।

जब व्यक्ति स्वयं शान्त नहीं है तो वह संसार में शान्ति का प्रसार कैसे करेगा ?

भद्र महिला ने पूछा कि क्या यह सत्य नहीं है कि आत्मा के साक्षात्कार के लिए पूर्व का मार्ग वैज्ञानिक है।

म० : तुम आत्मा ही हो। यह सिद्ध करने हेतु किसी भी विस्तृत विज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

भक्त : आपके कथन का सामान्य सत्य मैं समझती हूँ। किन्तु उसके लिए कोई व्यावहारिक पद्धति अवश्य होगी, इसे ही मैं 'विज्ञान' की संज्ञा देती हूँ।

म० : इस प्रकार के संकल्पों की समाप्ति ही आत्मा का साक्षात्कार है। उदाहरण : गले के हार को खोया हुआ मान लेना। जगत तथा स्वयं अपने

शरीर को आत्मा से पृथक कोई नहीं देखता। व्यक्ति सब कुछ देखता है क्योंकि वह स्वयं सद् रूप आत्मा है। ईश्वर तथा जगत सब हृदय में है। दृष्टा को देखो तो सब कुछ आत्मा ही भासित होगा। अपने दृष्टिकोण को बदलो। अन्तर्मुख होओ। आत्मा को खोजो। दृष्टा एवं दृश्य का आधार कौन है? उसे खोज लो और समस्त समस्याओं का समाधान होगा।

तदुपरान्त महिला को "मैं कौन हूँ?" पुस्तक के बारे में बताया गया। महिला ने श्री भगवान से अन्य प्रश्न पूछने से पहले उस पुस्तक को पढ़ लेना स्वीकार किया।

३३२. **भक्त** : तमिल में तीन शून्य (मुप्पाज) क्या हैं?

म० : (१) तत्=**ईश्वर तुरीय।**
(२) त्वं=**जीव तुरीय।**
(३) असि=**असि तुरीय।**

तुरीय जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं का आधार है।

भक्त : प्रथम तथा द्वितीय स्पष्ट हैं; तृतीय क्या है?

म० : **समस्त व्यापकता को जाग्रत कहते हैं;**
समस्त प्रकाश को स्वप्न कहते हैं;
अनन्त को सुषुप्ति कहते हैं;

इन सब की पृष्ठभूमि असि-तुरीय है।

भक्त : यह कितना आश्चर्यजनक है!

म० : क्या यही सब है? वादविवाद की कोई सीमा नहीं है। सुनो। वे कहते हैं कि महावाक्य 'तत्त्वमसि' सामान्य है; अन्य पाँच शब्दों का तत् त्वम् असि अति निजम् अत्यन्त गोपनीय है जिसका उपदेश दक्षिणामूर्ति ने मौन में किया था; पाँचों शब्दों के तदनुरूपी पाँचों अवस्थाओं को व्यवस्थित रूप में रखना।

"विचार सागर" को देखो; लेखक ने आधार को अधिष्ठान से भिन्न बताया हैं। उसके अनुसार रज्जु सर्वदा आधार है जब वह सर्प दीखे अथवा अन्यथा दीखे। रज्जु अधिष्ठान है चूँकि वह जो वास्तव में है उससे भिन्न प्रतीत होती है। यह सामान्य अधिष्ठान है। इसमें सर्प का आभास विशेष अधिष्ठान है। अब प्रश्न उठता है: जीव का अधिष्ठान एक है; ईश्वर का दूसरा है; यह दो अधिष्ठान एक कैसे हो सकते हैं? वह उत्तर देते हैं. दोनों अधिष्ठानों का आधार एक ही है।

इसके अतिरिक्त लेखक ने अनेक ख्यातियों का वर्णन किया है:

(१) असत्-ख्याति : रज्जु के होने से सर्प का आभास हो रहा है जिसका वहाँ अस्तित्व ही नहीं है ।

(२) सत्-ख्याति : स्वयं रज्जु सर्पवत प्रतीत हो रही है ।

(३) आत्म-ख्याति : रज्जु की जानकारी न होने से, पहले कहीं अन्यत्र देखे हुए सर्प की स्मृति के कारण भ्रान्ति उत्पन्न होती है ।

(४) अख्याति : पूर्णतया मिथ्या ।

(५) अन्यथा-ख्याति : सर्प की मानसिक आकृति की कल्पना करना और उसका आभास होना, जैसे कि वह उसके सामने ही हो ।

(६) अनिर्वचनीय-ख्याति : जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती ।

यहाँ वह प्रश्न उठाता है : यदि जगत भ्रम हो अथवा मिथ्या, इन में से कोई एक, यह पहले अनुभव का ही परिणाम हो सकता है । उस समय वह सत्य रहा होगा : एक बार सत्य सदैव ही सत्य होगा ।

वह इसका उत्तर देता है : अनुभव का सत्य होना आवश्यक नहीं; वास्तविक सर्प को बिना देखे केवल उसका चित्र देखा हो और एक प्रभाव पड़ा हो, व्यक्ति भ्रम से रज्जु को सर्प समझ सकता है । इसी प्रकार जगत का सत्य होना आवश्यक नहीं ।

इन वाद-विवादों में समय क्यों नष्ट करते हो ? केवल मन को अन्तर्मुख करो तथा समय का सदुपयोग करो ।

जीव की ब्रह्म से एकता होने में, ब्रह्म श्रुतमात्र है तथा जीव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । तुम प्रत्यक्ष अनुभव से ही लाभ उठा सकते हो; अतः देखो तुम कौन हो ।

तब ईश्वर का वर्णन क्यों किया गया है ?

चूँकि तुम जगत को देखते हो और यह जानना चाहते हो कि यह कैसे उत्पन्न हुआ । वे कहते हैं कि ईश्वर ने इसकी सृष्टि की थी । यदि तुम्हें मालूम हो कि तुमको तथा और सब कुछ को ईश्वर ने बनाया है, तो तुम्हारे मन को कुछ सन्तोष हो जाता है और उसकी बेचैनी में अपेक्षाकृत कुछ कमी आ जाती है । किन्तु यह साक्षात्कार नहीं है । यह केवल तभी हो सकता है यदि तुम स्वयं अपने आपकी अनुभूति कर लो; यही पूर्णता है अथवा साक्षात्कार, आदि है ।

वाद-विवादों के प्रसंग में—'वृत्ति प्रभाकर" के लेखक के अनुसार उसने इस ग्रन्थ को लिखने के पहले ३,५०,००० पुस्तकों का अध्ययन किया । इसका क्या उपयोग है ? क्या वे आतमा का साक्षात्कार करा सकते हैं ? "विचार सागर" तर्क तथा तकनीकी शब्दों का भण्डार है । क्या ये भारी ग्रन्थ किसी वास्तविक उपयोग के हैं ? तथापि कुछ लोग उनका अध्ययन करते हैं और तब ज्ञानियों के पास केवल यह देखने जाते हैं कि क्या वे उनके प्रश्नों का समाधान कर सकते

हैं। उनका अध्ययन नये संशयों का उदय एवं उनका समाधान उनके मनोरंजन का हेतु है। इसे बिलकुल निरर्थक जानकर ज्ञानी ऐसे मनुष्यों को प्रोत्साहित नहीं करते।

एक बार उनको प्रोत्साहित करने से उसका अन्त नहीं होता। केवल आत्म-विचार ही उपयोग का हो सकता है।

जो तर्कशास्त्र, "वृत्ति-प्रभाकर", "विचार-सागर" अथवा "सूत्र भाष्य" तथा अन्य इस प्रकार के वृहत् ग्रन्थों से परिचित हैं, वे इस प्रकार की छोटी-सी पुस्तक जैसे "सत्य प्रकट किया" (Truth Revealed) आदि में रुचि नहीं ले सकते जिसमें केवल आत्मा का ही विवेचन है तथा वह भी स्पष्ट, क्योंकि उनके अन्दर वासनाएँ भरी हुई हैं। केवल वे जिनके मन कम मलिन हैं अथवा निर्मल हैं, छोटी एवं उपयोगी पुस्तकों में रुचि ले सकते हैं।

३३३. प्रत्यभिग्न=प्रति+अभिग्न ?

"अभिग्न" प्रत्यक्ष अनुभूति है; 'प्रति' से तात्पर्य है, पहले से ही प्राप्त ज्ञान की पुनः स्मृति।

"यह एक हाथी है"—प्रत्यक्ष अनुभूति।

"यह वह हाथी है"—प्रत्यभिग्न है।

तकनीकी ग्रन्थों में प्रत्यभिग्न से अभिप्राय है नित्य-सिद्ध सत्यता की अनुभूति करना तथा उसको स्वीकार करना।

शून्य, अतिशून्य तथा महाशून्य से एक ही आशय है अर्थात् अद्वितीय सद्वस्तु।

२० जनवरी, १९३७

३३४. श्री भगवान ने बताया कि उनके पैरों में मालिश की जाने पर भी उनको संवेदना नहीं होती। उन्होने पूछा, "यदि वे चलने का कार्य करते रहें तो संवेदना न भी हो तो क्या अन्तर पड़ता है ? तदनन्तर वार्ता-क्रम में उन्होंने बताया कि प्रकाश की एक किरण की जानकारी के बाद उसके निकलने पर वह यन्त्र-चालक को प्रकट नहीं करता किन्तु उसे चित्र देखने के लिए सहायक हो जाता है। सिद्ध पुरुषों का भी इसी प्रकार है। वे केवल शुद्ध प्रकाश होने से अन्य व्यक्तियों को देखने में समर्थ हैं, जबकि दूसरे व्यक्ति उनको नहीं देख सकते। उदाहरण के लिए, प्रभुलिंग को उत्तर भारत की यात्रा करते समय गोरखनाथ मिले। गोरखनाथ ने उनको अपनी यौगिक शक्तियों का प्रदर्शन कराया। उदाहरणार्थ, जब उनकी बाँह को तलवार से काटा गया तो उनको कोई चोट नहीं लगी पर तलवार भोंथरी हो गयी। यह "काया सिद्धि" है जिसमें शरीर पर चोट नहीं लगती। प्रभुलिंग ने स्वयं को तलवार का प्रहार सहने को

प्रस्तुत किया। जब तलवार से प्रहार किया गया तो उनकी पूरी देह में से तलवार इस ओर से उस ओर ऐसे निकल गयी मानो शरीर वायु का बना था और शरीर पर कोई चोट नहीं थी। गोरख चकित रह गये तथा उन्होंने प्रभुलिंग का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

कैलास पर शिव पार्वती के मध्य सम्वाद हुआ। शिव का कथन था कि अल्लामा ऐसा है जो पार्वती के मधुर भाषण से प्रभावित नहीं हो सकता। पार्वती परीक्षा करना चाहती थी। अतः उन्होंने अपने तमोगुण को एक राजकुमारी की आकृति बनाकर पृथ्वी पर अल्लामा को रिझाने के लिए भेजा। राजकुमारी अत्यन्त गुणवती कन्या बन गयी। वह मन्दिर में गायन करती थी। अल्लामा वहाँ जाकर मृदंग-वादन करता था। मृदंग वादन में राजकुमारी स्तब्ध हो गयी। उसे अल्लामा से प्रेम हो गया। राजकुमारी के शयन-कक्ष में उनका मिलन हुआ। राजकुमारी ने अल्लामा का आलिंगन किया तो वह अगोचर हो गया। राजकुमारी विरह से दुःखी होने लगी। किन्तु एक दिव्य अप्सरा को उसे पृथ्वी पर अवतरित होने के प्रयोजन का स्मरण कराने को भेजा गया। उसने अल्लामा को भ्रष्ट करने का संकल्प किया किन्तु वह सफल न हो सकी। अन्त में वह कैलास लौट आयी। तब पार्वती ने अपने सतोगुण को भेजा जिसने एक ब्राह्मण संन्यासिनी के वेश में जन्म लिया। संन्यासिनी ने जब अल्लामा को समर्पित किया तब उसे अल्लामा की वास्तविक महानता की अनुभूति हुई।

श्री भगवान ने नायण अर्थात् काव्यकण्ठ गणपति मुनि की लगभग एक घण्टे तक अत्यधिक प्रशंसा की—किस प्रकार उन्होंने "उमा सहस्रम्" तथा "हर सहस्रम्" की रचना की, किस प्रकार वे अपने छात्रों को अध्ययन कराते थे, किस प्रकार उन्होंने भट्टश्री नारायण शास्त्री से शास्त्रार्थ किया। इतने अधिक विद्वान एवं समर्थ होकर भी वे कैसे विनम्र एवं विनयशील थे।

श्री भगवान ने बताया किस प्रकार नक्कीरार, जो कवि थे, उन्हें शिव की एक तमिल रचना के सम्बन्ध में संशय व्यक्त करने के कारण शिव के कोप का शिकार होना पड़ा था, किस प्रकार उन्हें एक दूत द्वारा बन्दी बनाया गया और बाद में मुक्त किया गया।

नक्कीरार एक तीर्थ के तट पर तपस्या कर रहे थे। एक वृक्ष से एक पत्ता नीचे गिरा; आधे पत्ते ने जल को स्पर्श किया तथा शेष आधा भूमि पर था।

अचानक जल वाला आधा भाग मछली बन गया तथा भूमि वाला आधा भाग पक्षी बन गया। दोनों एक-दूसरे से पत्ते द्वारा जुड़े हुए थे तथा अपने-अपने तत्त्व में जाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। नक्कीरार आश्चर्य से यह दृश्य देख

रहे थे कि अचानक ऊपर से एक दूत नीचे आकर उसे उठाकर ऐसी गुफा में ले गया जहाँ पहले से अन्य ९९९ बन्दी थे, वे सब तपोभ्रष्ट थे।

भक्त : क्या नक्कीरार तपोभ्रष्ट था ?

म० : हाँ। जब वे ध्यान में थे तब उन्होंने वहाँ से गिरकर अपने सामने घटती रहस्यमय घटनाओं को क्यों देखा ? तदुपरान्त महर्षि ने बताया कि किस प्रकार नक्कीरार ने तिरुमुरुहत्रुप्पडई की रचना कर सारे एक हजार बन्दियों को छुड़ाया।

२१ जनवरी, १९३७

३३५. **भक्त** : कामवासना के आवेग का निवारण कैसे होगा ?

म० : जब भेदभाव का निवारण हो।

भक्त : यह कैसे हो ?

म० : लिंग-भेद तथा उसका सम्बन्ध केवल मानसिक कल्पनाएँ हैं। उपनिषद कहते हैं कि सब प्रिय हैं, चूँकि आत्मा सबको प्रिय है। जीव की प्रसन्नता आन्तरिक है; प्रेम केवल आत्मा का ही है। यह केवल आन्तरिक है; इसे बाहर मत समझो; तभी भेदभाव कार्य करना बन्द करेगा।

२२ जनवरी, १९३७

३३६. किसी एक वैश्य ने, जो उपनिषद तथा श्रीमद्भगवदगीता का अध्ययन किये हुए प्रतीत होता था कुछ प्रश्न किये :

भक्त : आत्मा का साक्षात्कार कैसे करें ?

म० : आत्मा का सदैव प्रत्यक्ष अनुभव है। ऐसा कोई क्षण नहीं जब ऐसा न हो। तब फिर इसका निश्चय किस प्रकार करें ? आत्मा को खोजो। तुम वही हो।

भक्त : परन्तु ऐसा कहते हैं जब ब्रह्म की प्राप्ति होती है तब हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है और समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं। 'दृष्टि' शब्द का उपयोग किया है।

म० : आत्मा होना तथा आत्मा का दर्शन करना एक ही है। आत्माएँ दो नहीं हैं कि एक-दूसरी का दर्शन करें।

बाद में उसने आत्मा की खोज के प्रश्न को जारी रखा।

भक्त : आत्मा की अनुभूति कैसे करें ?

म० : आत्मा अनुभूत ही है। इस सरल तथ्य को जानना आवश्यक है। बस इतना ही पर्याप्त है।

भक्त : पर मैं यह नहीं जानता। मैं यह कैसे जानूँगा ?

म० : क्या तुम अपने अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते ?

भक्त : नहीं, यह कैसे हो सकता है ?

म० : तब सत्य स्वीकार कर लिया गया ।

भक्त : तथापि, मुझे स्पष्ट नहीं हुआ । मैं आत्म-साक्षात्कार किस प्रकार करूँगा ?

म० : यह मालूम करो "मैं" कौन कहता है ?

भक्त : हाँ । मैं ही "मैं" कहता हूँ ।

म० : यह 'मैं कौन' है ? यह शरीर है अथवा देह से परे कोई अन्य ।

भक्त : यह देह नहीं है । यह उससे कोई अन्य है ।

म० : उसे खोजो ।

भक्त : मैं यह करने में असमर्थ हूँ । मैं इसे कैसे खोज पाऊँगा ?

म० : अभी तुम्हें देह का भान है । गहन निद्रा में तुम्हें देह का भान नहीं था । तथापि तुम सुषुप्ति में विद्यमान थे । जागने पर तुम देह में दृढ़ होकर कहते हो "मैं आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता ।" क्या सुषुप्ति में तुमने ऐसा कहा था ? चूँकि तुम उस समय अखण्ड थे, तुमने ऐसा नहीं कहा था । अब चूँकि तुम देह की सीमा में संकुचित हो गये हो तुम कहते हो "मुझे साक्षात् नहीं हुआ है ।" तुम अपनी आत्मा को सीमित क्यों करते हो और फिर दुःखी होते हो ? अपने वास्तविक स्वरूप में रहकर आनन्दित रहो । सुषुप्ति में तुमने "मैं" नहीं कहा । अब तुम ऐसा कहते हो । क्यों ? चूँकि तुम देह में दृढ़ हो । खोजो यह "मैं" कहाँ से उत्पन्न होता है ? तब आत्मानुभूति हो जायेगी ।

देह जड़ होने से "मैं" नहीं कह सकती । आत्मा भी अपरिमित होने के कारण "मैं" नहीं कह सकता । तब "मैं" कौन कहता है ?

भक्त : मैं अभी भी नहीं समझा । "मैं" को कैसे खोजें ?

म० : "मैं" कहाँ से उदय होता है इसको खोजो । तब इस 'मैं' का लोप हो जायेगा और निस्सीम आत्मा शेष रहेगा । यह 'मैं' ही जड़ तथा चेतन की ग्रन्थि है । देह "मैं" नहीं है. आत्मा "मैं" नहीं है । फिर यह 'मैं' कौन है ? इसका उदय कहाँ से होता है ?

भक्त : इसका उदय कहाँ से होता है ?

म० : पता लगाओ ।

भक्त : मैं नहीं जानता । कृपया प्रकाश डालें ।

म० : यह बाहर से नहीं है । यह आन्तरिक है । इसका स्रोत कहाँ पर है ? यदि इसका स्रोत अन्यत्र है; तो तुम्हें वहाँ तक पहुँचाया जा सकता है । चूँकि यह आन्तरिक है स्वयं तुमको ही इसे खोजना है ।

भक्त : मस्तक से ?

म० : क्या 'मस्तक' की कल्पना 'मैं' के बाद उदय होती है अथवा

क्या 'मैं' मस्तक से उदय होता है ? यदि 'मैं' मस्तक में होता तो जब निद्रा तुम पर हावी हो जाती है तो तुम मस्तक को क्यों झुका लेते हो ? "मैं" सर्वदा एकसा रहता है। इसका अधिष्ठान भी इसी के अनुरूप होगा। जो मस्तक कभी झुके कभी उठे, वह "मैं" का अधिष्ठान कैसे हो सकता है ? सुषुप्ति में सिर सीधा पड़ा रहता है, जागृति में खड़ा हो जाता है। क्या यह "मैं" हो सकता है ?

भक्त : तब यह कौन है ?

म० : "मैं" का उदय आन्तरिक है। सुषुप्ति में कोई "मैं" नहीं होता। जागृति से ठीक पहले "मैं"-भाव आता है।

भक्त : हृदय ग्रन्थि का स्थान भ्रूमध्य में कहा जाता है।

म० : कुछ के अनुसार "भ्रूमध्य" में है, कुछ के अनुसार "मेरुदण्ड की अन्तिम तिकोनी हड्डी" में। इसी प्रकार अनेक मत हैं। ये सब देह बुद्धि से हैं। देह 'मैं-भाव' के बाद आता है।

भक्त : किन्तु मैं देह से पृथक नहीं हो सकता।

म० : इस प्रकार तुमने स्वीकार किया कि तुम देह नहीं हो।

भक्त : यदि इस देह में वेदना हो मैं अनुभव करता हूँ किन्तु अन्य देह में आघात हो तो अनुभूति नहीं होती। मैं देह से परे नहीं हो सकता।

म० : ऐसी भावना का कारण यही तादात्म्य है। यही हृदय-ग्रन्थि है।

भक्त : यह ग्रन्थि कैसे जायेगी ?

म० : यह ग्रन्थि किस को है ? तुम इसकी निवृत्ति की कामना क्यों करते हो ? ग्रन्थि ऐसी कामना करती है अथवा तुम ?

भक्त : वह नहीं कर सकती, मैं चाहता हूँ।

म० : वह "मैं" कौन हूँ ? यदि उसको जान लोगे तो ग्रन्थि नहीं रहेगी।

भक्त : ग्रन्थि देह से गुँथी हुई है। देह जन्म के कारण है। पुनर्जन्म कैसे समाप्त हो ?

म० : जन्म किसका हुआ है ? क्या आत्मा का जन्म हुआ है ? अथवा देह का ?

भक्त : देह का।

म० : तब देह को ही जिज्ञासा करने दो, इसका पुनर्जन्म कैसे समाप्त हो।

भक्त : देह नहीं पूछेगी, अतः मैं पूछ रहा हूँ।

म० : देह किसकी है ? सुषुप्ति में तुम देह रहित थे। "मैं-भाव"

के उदय होने के बाद ही देह उदय हुई। पहले "मैं"-भाव का जन्म हुआ। "मैं-भाव" के उपरान्त देह का जन्म हुआ। इस प्रकार देह का जन्म बाद में हुआ। मूल कारण से निवृत्त हो जाओ; गौण कारण स्वतः लोप हो जायगा।

भक्त : उस 'मैं-भाव' को उदय होने से कैसे रोका जाय ?

म० : आत्मा की खोज के द्वारा।

भक्त : मैं समझने का प्रयास करता हूँ किन्तु सफल नहीं होता। क्या मैं जप द्वारा आत्मा को पा सकता हूँ ? यदि ऐसा है, तो कृपया मुझे इसकी प्रक्रिया बतायें।

म० : जप कौन-सा ? तुम कृत्रिम जप क्यों करो ? तुम्हारे अन्दर निरन्तर शाश्वत एवं सहज जप चल रहा है। तुम उसको जान सकते हो।

भक्त : कदाचित कुछ उपदेश लाभकारी हो।

म० : यदि मैं किसी ऐसे व्यक्ति को "राम-राम" के जप का उपदेश दूँ जिसने तुम्हारे समान पुस्तकों से संघर्ष नहीं किया है तो वह उसे करेगा और उस पर टिकेगा। "यदि मैं तुम्हारे समान व्यक्ति से ऐसा करने को कहूँ, जिसने बहुत-से ग्रन्थों का अध्ययन कर विवाद-विषयों की खोज की है, तो तुम उसे अधिक समय तक नहीं करोगे, क्योकि तुम विचार करोगे, "मैं इसे क्यो करूँ ? फिर मैं मन्त्रोच्चारण करने वाला हूँ कौन ? आगे बढ़ने से पहले मैं जान लूँ मैं कौन हूँ" और इस प्रकार तुम जप बन्द कर दोगे और खोज आरम्भ कर दोगे।

भक्त : ऐसा कहा गया है : इन्द्रियाँ बहिर्मुख (परांचखानि) हैं; अन्तर्मुख इन्द्रियाँ (आवृत्तचक्षुः)

आवृतचक्षुः (अन्तर्मुख दृष्टि) कहने से क्या ?

म० : इससे यह तात्पर्य नहीं है कि आँख के गोलक को दूसरी दिशा में उलटना है। चक्षुः क्या है ?

भक्त : आँख।

म० : क्या आँख देखती है अथवा उसके पीछे से कोई देखता है ? यदि आँख देख सकती तो क्या शव देखता है ? जो आँख के पीछे है वही आँख के माध्यम से देख रहा है। उसी का नाम चक्षुः है।

भक्त : प्रभु की दिव्यता का दर्शन करने के लिए दिव्य चक्षुः की आवश्यकता है। भौतिक नेत्र तो सामान्य चक्षु है।

म० : अरे ! मैं समझा। तुम कोटि-सूर्यः सम-प्रभा के दर्शन के इच्छुक हो तथा उसी प्रकार के दृश्य के।

भक्त : क्या हम उस कोटि-सूर्य-सम-प्रभा का दर्शन नहीं कर सकते ?

म० : क्या तुम में एक सूर्य-दर्शन की भी सामर्थ्य है ? कोटि सूर्यों की कामना क्यों करते हो ?

भक्त : दिव्य दृष्टि द्वारा यह सम्भव हो सकता है। "जहाँ सूर्यादि प्रकाशित नहीं होते वही मेरा परम धाम है'। इसलिए एक अवस्था है जहाँ यह सूर्य शक्तिहीन है। वही परमात्मा की अवस्था है।

म० : ठीक। कृष्ण को खोज लो, जिससे समस्या का समाधान हो जाये।

भक्त : कृष्ण जीवित नहीं हैं।

म० : क्या तुमने गीता से यही सीखा है? क्या वे नहीं कहते कि वे शाश्वत हैं? तुम किस पर विचार कर रहे हो? उनकी देह?

भक्त : उन्होंने अपने जीवनकाल में ही दूसरों को उपदेश दिया था। उनका सान्निध्य करने वालों को साक्षात्कार हो गया होगा। मुझे भी उसी प्रकार जीवित गुरु की आवश्यकता है।

म० : तब क्या उनकी देह त्याग के बाद गीता वृथा हो गयी? क्या वे अपनी देह को कृष्ण कहते थे?

न त्वेवाहं जातु नासं............(गीता २-१२)

भक्त : किन्तु मुझे ऐसे जीवित गुरु की इच्छा है जो प्रत्यक्ष सत्य का विवेचन कर सके।

म० : ऐसे गुरु की भी वही गति होगी जैसी कृष्ण की हुई।

प्रश्नकर्ता चला गया। कुछ समय पश्चात् श्री भगवान ने कहा : दिव्य दृष्टि से आशय आत्म-प्रकाश से है। दिव्य शब्द से यही स्पष्ट होता है। पूरे शब्द का अर्थ है आत्मा। दिव्य चक्षुः कौन प्रदान करेगा? और कौन देखेगा? ग्रन्थों में "श्रवण, मनन, निदिध्यासन" की आवश्यकता का पठन कर लोग समझते हैं कि साक्षात्कार से पूर्व उन्हें सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि अवस्था प्राप्त करनी ही होगी।

इस कारण ये सब जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं। इस भूल-भुलैया में भटकने से क्या प्रयोजन? अन्त में उन्हें मिलेगा क्या? वे खोज के परिश्रम से बचना चाहते हैं। वे जानते हैं कि आत्मा शाश्वत तथा प्रत्यक्ष है! वह शान्ति उनको इसी क्षण क्यों नहीं प्राप्त होती?

एक अशिक्षित व्यक्ति जप तथा आराधना से सन्तुष्ट है। ज्ञानी तो सन्तुष्ट होगा ही। सारी कठिनाई पुस्तकों के कीड़ों की है। अच्छा, अच्छा। वे भी प्राप्त करेंगे।

३३७. श्री के० आर० वी० अय्यर : मन निर्मल किस प्रकार हो?

म० : शास्त्र कहते हैं : "कर्म, भक्ति आदि से।" मेरे परिचारक ने एक समय पहले यही प्रश्न पूछा था। उसे बताया गया था, "कर्म भगवान को

समर्पण करने से।" कर्म करते समय ही ईश्वर स्मरण पर्याप्त नहीं है; ईश्वर का निरन्तर एवं सदा ही चिन्तन करना आवश्यक है। केवल तभी मन निर्मल होगा।

परिचारक इस उपदेश को स्वयं व्यवहार में लाने के लिए कहता है, "श्री भगवान की शारीरिक सेवा ही पर्याप्त नहीं है। मुझे उनका निरन्तर स्मरण भी करना चाहिए।"

एक अन्य व्यक्ति को जिसने यही प्रश्न किया था, श्री भगवान ने कहा : आत्म-विचार का अर्थ है : देहात्म-बुद्धि का लोप होना।

२३ जनवरी, १९३७

३३८. एक अमरीकी महिला, श्रीमती जैनिंग्स ने, कुछ प्रश्न किये :

भक्त : क्या परमात्मा की दृढ़ भावना "मैं कौन हूँ ?" की खोज से अधिक प्रभावशाली नहीं है ? दृढ़ भावना निश्चयात्मक है, जबकि दूसरा निषेध है। इसके अतिरिक्त यह अलगपन का संकेत करता है।

म० : जब तक तुम यह जानना चाहते हो कि साक्षात्कार कैसे करें, तुमको अपने आत्मा को खोजने का यह परामर्श दिया जाता है। तुम्हारा पद्धति को खोजना अलगपन का संकेत करता है।

भक्त : क्या यह श्रेयस्कर नहीं होगा कि "मैं कौन हूँ" की अपेक्षा "मैं परब्रह्म हूँ" कहा जाय ?

म० : इसकी पुष्टि कौन करता है ? उसे करने वाला कोई एक होगा ही ? उस एक को खोजो।

भक्त : क्या खोज की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ नहीं है ?

म० : ध्यान में मानसिक आकृति विशेष का भाव होता है, जबकि खोज परम सत्य के लिए की जाती है। ध्यान में पदार्थनिष्ठ होता है, जबकि खोज में आत्मनिष्ठ होता है।

भक्त : इस विषय के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण होना चाहिए।

म० : असद् का त्याग तथा सद्वस्तु की खोज वैज्ञानिक है।

भक्त : मेरा आशय यह है कि धीरे-धीरे निरसन हो, पहले मन का, फिर बुद्धि का, फिर अहंकार का।

म० : आत्मा ही सत्य है। अन्य सब मिथ्या हैं। मन तथा बुद्धि तुमसे पृथक नहीं रहते।

बाइबिल कहती है, "शान्त हो जाओ तथा जान लो कि मैं ईश्वर हूँ।" आत्मा का ईश्वर के रूप में साक्षात् हेतु केवल शान्ति की आवश्यकता है।

भक्त : क्या पश्चिम के निवासी इस उपदेश को कभी समझ पायेंगे ?

म० : देश और काल का प्रश्न नहीं है। समझ मन की परिपक्वता पर निर्भर करती है। पूर्व में अथवा पश्चिम में किसी के रहने से क्या अन्तर पड़ता है ?

श्री भगवान ने "सत्य प्रकट किया" (Truth Revealed) तथा 'थायूमानवर' के कुछ अंश उद्धृत किये। तदुपरान्त महिला ने विदा ली।

कुछ समय पश्चात् श्री भगवान ने कहा : सम्पूर्ण वेदान्त बाइबिल के दो वक्तव्यों में है : "अस्तित्व ही मैं हूँ" और "शान्त हो जाओ तथा जान लो कि मैं ईश्वर हूँ।"

रेलवे के एक अधिकारी, श्री के० एस० एन० अय्यर ने श्री भगवान को बताया कि समष्टि बुद्धि (अर्थात् महत्तत्त्व) (Cosmic Consciousness) के संग्रहकर्ता के अनुसार व्यक्ति की कुछ विशेष आयु तक ही साक्षात्कार सम्भव है।

म० : क्या कभी कोई कहता है, "मुझे अमुक आयु से पूर्व अथवा पश्चात् अस्तित्व में आना है" ? वह अभी तथा यहीं है। इस प्रकार के कथन भ्रान्तिजनक हैं। इससे लोगों की यह धारणा बन जाती है कि इस जीवन में आत्म-साक्षात्कार करना असम्भव है तथा अगले जन्म में पुनः प्रयास करना होगा। यह सब हास्यास्पद है।

३३९. शिव विशिष्टाद्वैत (अर्थात् शैव सिद्धान्त) के सम्बन्ध में श्री भगवान ने कहा : 'गरुड़ोहम' भावना द्वारा मानव का गरुड़ होना सम्भव नहीं। तथापि सर्पदंश के विष का शमन हो जाता है। ऐसा ही शिवोहम् भावना के सम्बन्ध में भी है। जीव के शिव के रूप में परिवर्तन न होने पर भी अहंकार के विनाशकारी प्रभाव नष्ट हो जाते हैं। अथवा साधक अपने व्यक्तित्व को बनाये रखकर भी शिव के शरीर का अंश बनने योग्य शुद्धि प्राप्त कर लेता है। ऐसा बनकर वह परमानन्द का उपभोग कर सकता है। शैव सिद्धान्ती इसी को मुक्ति कहते हैं। इससे केवल उनके व्यक्तित्व के प्रति मोह ही प्रकट होता है और किसी भी प्रकार मुक्ति का वास्तविक अनुभव नहीं है।

३४०. श्री बोस ने कहना आरम्भ किया : "देह-चेतना के वापस आने पर……………"

म० : देह-चेतना क्या है ? पहले हमें यह बताओ। चेतना से पृथक तुम कौन हो ? चूँकि देह-चेतना है, देह का आधार बनता है, जो मैं-चेतना से उदय होती है, और इसका उदय चैतन्य से है।

चैतन्य→ मैं-चेतना→ देह-चेतना→ देह ।

शुद्ध चैतन्य ही सदैव विद्यमान है, तथा इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । जिसे अब तुम देह-चेतना मान रहे हो वह अध्यारोपण के कारण है ।

यदि केवल चैतन्य है और उसके अलावा कुछ भी नहीं; शास्त्र का अभिप्राय "आत्मनस्तु कामाय सर्वम् प्रियं भवति" (आत्मा के प्रेम के कारण ही सब प्रिय है) स्पष्ट हो जायेगा ।

एक प्रश्न उठता है, उस अवस्था में आत्महत्या क्यों होती हैं । जीव आत्म-हत्या क्यों करता है ? चूँकि वह दुःखी है और अपने दुःख का अन्त करना चाहता है । वह वास्तव में ऐसा करके अपनी देह से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करता है जो सारे दुःखों की जड़ है । देह की हत्या करने वाला हत्यारा अवश्य ही होगा । वही आत्महत्या के पश्चात् जीवित रहेगा । वही आत्मा है ।

३४१. श्रीमती जैनिंग्स : श्री भगवान के अनुसार साक्षात्कार की अवस्था संकल्पों के अत्याचार से मुक्ति है । क्या संकल्पों का प्रकृति की योजना में कोई स्थान ही नहीं है—चाहे निम्न भूमिका पर हो ?

म० : संकल्पों का उदय 'मैं-भाव' से होता है जो स्वयं आत्मा से उदय होता है । इस प्रकार आत्मा 'मैं' तथा अन्य संकल्पों के रूप में व्यक्त होता है । संकल्पों के होने या नहीं होने का क्या महत्त्व है ?

भक्त : क्या उत्तम विचार साक्षात्कार में सहायक हैं ? क्या वे प्रामाणिक माध्यम अथवा साक्षात्कार हेतु प्रारम्भिक सीढ़ी नहीं हैं ?

म० : हाँ—इस प्रकार । वे निकृष्ट संकल्पों को दूर करते हैं । साक्षात्कार की अवस्था से पूर्व स्वयं उन्हें भी लुप्त होना होगा ।

भक्त : किन्तु सृजनात्मक संकल्प क्या साक्षात्कार का ही एक पहलू नहीं है तथा उस दृष्टि से सहायक नहीं हैं ?

म० : उपरोक्त प्रकार में ही वे सहायक हैं । इन सबको आत्मा में लुप्त होना होगा । संकल्प उत्तम हों या हीन तुमको दूर ले जाते हैं, समीप नहीं; चूँकि संकल्पों से आत्मा अधिक निकट है । तुम आत्मा हो, जबकि संकल्प आत्मा से अलग हैं ।

भक्त : इस प्रकार आत्मा अपनी स्वयं की सृष्टि को अन्ततः आत्मसात् कर लेती है, जिसने उसके साक्षात्कार में सहायता की थी । इसके विपरीत सभ्यता गलती से अपनी सृष्टियों की उपासना करती है और इस प्रकार अपनी सृष्टियों को अलग करती है और उनका लघुपरिपथ (short-circuits) करती है जो इसकी प्रगति में सहायक हुई हैं ।

म० : क्या तुम संकल्पों से अलग नहीं हो ? क्या तुम्हारा अस्तित्व उनके बिना नहीं है ? किन्तु क्या तुम्हारे बिना संकल्पों का अस्तित्व सम्भव है ?

भक्त : क्या सभ्यता सामान्यतः, धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से, इस आत्म-साक्षात्कार की सही दिशा में आगे बढ़ रही है ?

म० : सभ्यता प्रकृति की योजना में ही है। अन्ततः यह भी सबके समान अपने आपको आत्म-साक्षात्कार में विलीन करेगी।

भक्त : क्या प्राचीन ढंग का एक उत्तम पुरुष आधुनिक सभ्यता के एक बुद्धिमान तथा व्यवहार-कुशल व्यक्ति की तुलना में साक्षात्कार के अधिक निकट है ?

म० : साक्षात्कार करने वाला मनुष्य देखने में गँवार प्रतीत हो सकता है, परन्तु गँवार साक्षात्कारी पुरुष नहीं है।

भक्त : क्या यह धारणा उचित है कि समस्त घटनाएँ जो हमारे साथ होती हैं, ईश्वर प्रेरित हैं, तथा इस कारण उत्तम ही हैं ?

म० : हाँ ऐसा ही है। तथापि अन्य वस्तुएँ तथा ईश्वर आत्मा से पृथक नहीं हैं। यदि तुम आत्मभाव से रहो तो इनका संकल्प भी क्यों उत्पन्न होगा ?

भक्त : क्या 'समर्पण' का आशय यह है कि चींटी, मच्छर, सर्प आदि समस्त शारीरिक सन्तापन को स्वीकार कर वास्तव में उनका कोई दुःख न मानें ?

म० : यह जो कुछ भी है, क्या यह तुम, दृष्टा अथवा विचारक से पृथक है ?

श्रोताओं में से एक पारसी महिला बीच में बोल पड़ी :

यदि वे पृथक नही हैं तो क्या हमें चींटी का दंश अनुभव नहीं होता ?

म० : चींटी किसको काटती है ? वह देह है। तुम देह नहीं हो। जब तक तुम में देह से तादाम्यता है, तुम चींटियाँ, पौधे, आदि देखते हो। यदि तुम आत्मभाव से रहो, तो आत्मा से अलग कोई दूसरा नहीं है।

भक्त : देह दंश की वेदना को अनुभव करती है।

म० : यदि देह उसे अनुभव करती है तो उसे ही प्रश्न करने दो। देह की चिन्ता देह पर छोड़ो। तुम्हें उससे क्या सम्बन्ध ?

अमरीकी महिला ने पुनः कहा : क्या पूर्ण समर्पण का यह आशय है कि हमें अपने वातावरण की समस्त कोलाहल एवं अशान्ति, ध्यान करते समय भी स्वीकार करना चाहिए ? अथवा एकान्त सेवन के लिए हम किसी पहाड़ी की गुफा में जायें ? क्या श्री भगवान ने ऐसा ही नहीं किया था ?

म० : न कहीं जाना है, न आना है। आत्मा को पंचभूतों से अप्रभावित कहा गया है, यह निस्सीम है, शाश्वत है। यह चल नहीं सकता। आत्मा को जाने के लिए कोई स्थान नहीं है।

भक्त : किन्तु आत्मा को खोजने की प्रक्रिया में, क्या बाह्य साधनों का उपयोग आध्यात्मिक दृष्टि से उचित है ?

म० : आत्मा का शरीर से तादात्म्य करना ही भूल है। यदि भगवान देह है तो तुम उस देह से प्रश्न करो। किन्तु जिसे तुम भगवान कहकर सम्बोधित कर रहे हो उसे जानो। वह देह नहीं है। वह आत्मा है।

फिर महिला ने "हरिजन" पत्र में प्रकाशित एक लेख का उल्लेख किया जिसमें यह कहा है कि प्रत्येक पदार्थ ईश्वर है तथा व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है। तथा इसी प्रकार।

म० : प्रत्येक वस्तु, व्यक्तिगत, ईश्वर एवं समस्त आत्मा ही हैं।

इसके बाद महिला ने कवि शैली रचित कुछ पंक्तियाँ* सुनायीं तथा प्रश्न किया कि क्या शैली आत्म-साक्षात्कारी पुरुष नहीं था ?

मनुज की दुर्गम्य उस अन्तर गुहा में
मूर्त दिव्यासीन रूप अतीव सुन्दर
तनिक भी यदि पहुँच पाते अदम भाव समीप
अर्चना आजानु करते सलज कम्पित गात
त्वरित धर लेते उसी नव ज्योति का परिधान
स्वप्नवत वपु मुखर करता रश्मिपुंज अशोक
उस शिखा की दीप्ति भर देती अमन्दालोक

म० : हाँ। पंक्तियाँ श्रेष्ठ हैं। उस ने जो लिखा है उसका साक्षात्कार अवश्य ही किया होगा।

तब महिला श्री भगवान को धन्यवाद देकर विदा हुई।

*Within a cavern of man's trackless spirit
Is throned an Image so intensely fair
That the adventurous thoughts that wander near it
Worship, and as they kneel, tremble and wear
The splendour of its presence, and the light
Penetrates their dreamlike frame
Till they become charged with the strength of flame.

३४२. रात्रि के ११ बजे गण्टूर से आन्ध्रवासियों का एक दल आया जिसमें मध्यम आयु की उदास किन्तु दृढ़ आकृति धारण किये एक महिला, उसकी माता तथा दो पुरुष थे। उन्होंने महर्षि से मिलने की प्रार्थना की।

महिला ने श्री भगवान से कहा :

"जब मेरा पुत्र गर्भ में था मेरे पति का देहान्त हो गया। पति की मृत्यु के बाद पुत्र जन्मा। पाँच वर्ष की आयु तक वह स्वस्थ रहा। तब उसे

पक्षाघात हो गया। नौ वर्ष का होने पर वह शैयाग्रस्त हो गया। तथापि वह कान्तिमय एवं प्रसन्न था। दो वर्ष तक वह उसी हालत में था। अब लोग कहते हैं उसकी मृत्यु हो गयी है। मैं जानती हूँ कि वह सो रहा है तथा शीघ्र जागने वाला है। उसके समाप्त हो जाने की बात सुनकर मुझे धक्का लगा। मुझे एक दर्शन में ऐसा दिखायी दिया कि एक साधु ने बालक के शरीर पर हाथ फेरा तथा बालक स्वस्थ होकर जाग उठा। मेरा विश्वास है उक्त साधु आप ही हैं। महिला ने विनती की, कृपा कर पधार कर बालक को स्पर्श कर दें; जिससे वह उठ खड़ा हो।"

श्री भगवान ने डाक्टरों के मत के बारे में पूछा।

महिला ने उत्तर दिया : "वे कहते हैं उसकी मृत्यु हो चुकी है। लेकिन वे क्या जानते हैं ? मैं बालक को गण्टूर से यहाँ तक ले आयी हूँ।"

एक व्यक्ति ने पूछा : कैसे ? "क्या शव यहाँ तक ले आयीं ?"

महिला : शव लाने की उन्होंने विशेष दर माँगी—प्रति मील एक अठन्नी। उसके लिए डेढ़ सौ रुपया देकर हम उसे सामान की तरह लाये हैं।

म० : यदि तुम्हारा दर्शन सही होगा तो बालक कल जाग जायगा।

महिला : कृपा कर उसे स्पर्श कर दें। क्या मैं उसे चौक में ले आऊँ ?

अन्य व्यक्तियों ने विरोध किया तथा उनको चले जाने को प्रेरित किया। वे चले गये। अगले प्रातःकाल सूचना मिली कि शव की दाह-क्रिया कर दी गयी। जिज्ञासा करने पर, श्री भगवान ने कहा : "कुछ सन्तों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उन्होंने मृतकों को जीवित किया। वे, भी, सब मृतकों को जीवित नहीं करते थे। यदि यह सम्भव होता तो न जगत होता, न मृत्यु, न श्मशान, आदि।

एक व्यक्ति ने कहा : माँ का विश्वास अत्यन्त अलौकिक था। ऐसा आशा-जनक दिव्यानुभव कर भी उसे निराशा क्यों हाथ लगी ? क्या यह अपने बच्चे के प्रेम पर अध्यारोपण हो सकता है ?

म० : महिला तथा उसका बालक दोनों ही वास्तविक नहीं हैं। केवल दर्शन कैसे अध्यारोपण हो सकता है ?

भक्त : तब यह स्पष्ट कैसे हो ?

कोई उत्तर नहीं।

३४३. **भक्त** : श्रीमद्भगवदगीता ने आत्मा को देह से भिन्न कहा है, तब हाथ कट जाने पर भी जीव को उससे अनभिज्ञ होना चाहिए।

म० : क्या चोट के कष्ट की अनुभूति न होना ही ज्ञान है ?

भक्त : क्या उसे कष्ट की अनुभूति से अनभिज्ञ नहीं होना चाहिए ?

म० : विशेष शल्य-क्रियाओं में रोगी को वेदना न हो, इस हेतु उसे

अचेत कर दिया जाता है। क्या रोगी को उस समय ज्ञान की भी प्राप्ति हो जाती है ? वेदना से अनभिज्ञ होना ज्ञान नहीं हो सकता।

भक्त : क्या ज्ञानी को वेदना से अनभिज्ञ नहीं होना चाहिए ?

म० : शारीरिक पीड़ा केवल देह-चेतना के कारण होती है। देह-चेतना के अभाव में यह नहीं हो सकती। मन को देह का भान न रहे, तो देह के सुख-दुःख का भी भान न रहे। योग वाशिष्ठ में इन्द्र तथा अहिल्या की कथा पढ़ो; वहाँ मृत्यु को भी मन की क्रिया कहा गया है।

पीड़ाएँ अहंकार पर आश्रित हैं; 'मैं' के बिना उनका अस्तित्व नहीं, किन्तु "मैं" उनके बिना रह सकता है।

३४४. **भक्त** : "विचार सागर" के अनुसार आत्म-साक्षात्कार में चार बाधाएँ हैं।

म० : चार ही क्यों ? कुछ के अनुसार वे नौ हैं। उनमें से एक सुषुप्ति है। सुषुप्ति क्या है ? वह केवल जागृति का विरोधी है। सुषुप्ति, जागृति से स्वतन्त्र नहीं हो सकती ? सुषुप्ति शुद्ध आत्मा है। यह मत समझो कि तुम जाग्रत हो। न सुषुप्ति हो सकती है, न अवस्था त्रयी ही। आत्मा को भूल कर ही तुम कहते हो मैंने स्वप्न देखा। क्या आत्मा के अभाव में किसी वस्तु का अस्तित्व सम्भव है ? तुम उसे क्यों छोड़ते हो और अनात्मा को क्यों पकड़ते हो ?

ज्योंही मन बहिर्मुख प्रवृत्त हो, उसे तभी तुरन्त अन्तर्मुख करो। अपने से बाहर आनन्द खोजने के स्वभाव के कारण यह बाहर जाता है। बाह्य वस्तुएँ प्रसन्नता का कारण नहीं हैं—यह ज्ञान मन को संयमित रखेगा। यही वैराग्य है। पूर्ण वैराग्य के उपरान्त ही मन सुस्थिर होगा।

मन केवल ज्ञान-अज्ञान अथवा सुषुप्ति-जागृति का सम्मिश्रण है। यह पाँच प्रकार से कार्य करता है :

क्षिप्त
मूढ़
विक्षिप्त
काषाय
एकाग्र

इनमें से केवल काषाय प्रवृत्तियों की अव्यक्त अवस्था है, स्वयं प्रवृत्तियाँ नहीं; यथा—राग, द्वेषादि।

तुम स्वयं आनन्द हो तो उसका उपभोग यह कहते हुए, क्यों करते हो, "अहा ! कैसा आनन्ददायक है !" यह रसस्वाद है।

विवाह-संस्कारों में एक कुमारी पति के आलिंगन के पूर्व ही वधू के समान आनन्द अनुभव करती है, यह रसस्वाद है।

भक्त : स्वयं जीवन-मुक्ति आनन्द ही है........

श्री भगवान ने बीच में टोका : शास्त्रों की बात मत करो। जीवन-मुक्ति क्या है? आनन्द क्या है? मुक्ति स्वयं सन्देहजनक है। यह समस्त शब्द क्या हैं? क्या ये आत्मा से स्वतन्त्र हो सकते हैं?

भक्त : केवल हमें इन सबका अनुभव नहीं है।

म० : जिसका अस्तित्व नहीं है, उसका अस्तित्व कभी नहीं होगा। जिसका अस्तित्व है, वह नित्य-सिद्ध है, अभी और यहीं। यह सनातन नियम है। दृष्टान्तः गले का हार।

३४५. कुछ ठहरकर श्री भगवान ने पुनः कहना आरम्भ किया : मन की खोज कर उसकी शक्ति को नष्ट कर दो। मन की परीक्षा करने से उसकी क्रियाशीलता स्वतः समाप्त हो जाती है।

मन की खोज करने की एक अन्य पद्धति है। स्रोत ईश्वर आत्मा अथवा चैतन्य कहा जा सकता है।

एक संकल्प पर ध्यान केन्द्रित करने पर, अन्य समस्त संकल्प लुप्त हो जाते हैं; और अन्त में वह एक संकल्प भी नहीं रहता। संकल्पों पर नियन्त्रण करते समय सतर्क रहना आवश्यक है अन्यथा सुषुप्ति आ घेरती है।

भक्त : मन की खोज कैसे करें?

म० : प्राणायाम साधन में सहायक हो सकता है किन्तु केवल प्राणायाम स्वयं लक्ष्य की प्राप्ति नहीं करा सकता। वह करते समय मन में सतर्क रहने की सावधानी रखो तथा "मैं-भाव" को स्मरण करते हुए इसके उद्‌गम की ओर लक्ष्य रखो। तब तुम जानोगे कि जहाँ श्वास अस्त होने लगता है वहाँ 'मैं-भाव' उदय होता है। उनका उदय और अस्त साथ-साथ होता है। श्वास के साथ "मैं-भाव" भी अस्त हो जाता है। साथ ही साथ एक अन्य ज्योतिर्मय तथा निस्सीम "मैं" प्रकट होगा, जो निरन्तर एवं अखण्ड है, यही लक्ष्य है। उसके अनेक नाम हैं—ईश्वर, आत्मा, कुण्डलिनी-शक्ति, चैतन्य आदि; आदि।

जब प्रयास करोगे तो वह स्वयं तुम्हें लक्ष्य तक ले जायगा।

३४६. स्वतन्त्र संकल्प तथा प्रारब्ध तभी तक हैं, जब तक शरीर है। किन्तु ज्ञान दोनों से आगे है, क्योंकि आत्मा, विद्या एवं अविद्या दोनों से परे है।

३४७. मन संकल्पों का समूह है। संकल्प इसलिए उदय होते हैं कि वहाँ चिन्तन करने वाला है। चिन्तन करने वाला अहंकार है। अहंकार को

खोजोगे तो यह स्वतः ही लुप्त हो जायगा। अहंकार तथा मन एक ही हैं। अहंकार मूल-संकल्प है जिससे अन्य समस्त संकल्प उत्पन्न होते हैं।

३४८. **भक्त :** ऐसे क्षण आते हैं जब व्यक्ति तथा वस्तुएँ जैसे स्वप्न में फीका, पारदर्शक सा आकार ग्रहण करते हैं। बाहरी दृश्य जैसे स्पष्ट नहीं देखता है। तथापि अपने लिए कोई स्पष्ट ममत्व न रखते हुये ही उसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। मन में गहन शान्ति रहती है। क्या यह समय आत्मा में डुबकी लगाने का है ? अथवा क्या यह स्थिति कुछ हानिकरक तथा आत्म-सम्मोहन का परिणाम है ? क्या इस स्थिति को कुछ शान्तिदायक समझकर उसे स्थान दिया जाय ?

म० : मन में जागृति के साथ शान्ति है; वस्तुतः यही वह अवस्था है जिस पर लक्ष्य रखना है। इस जानकारी के बिना कि यही आत्मा है, जो प्रश्न इस विषय पर किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि अवस्था स्थायी नहीं अपितु कभी-कभी आती है।

बहिर्मुखी प्रवृत्ति की अवस्था को पलटकर मन को अन्तर्मुखी करने की अवस्था हेतु "डुबकी लगाना" शब्द उपयुक्त है, क्योंकि बाहरी सतह से नीचे डुबकी लगाना है। किन्तु जब गहन शान्ति चेतना को बिना बाधा डाले व्याप्त हो, तब डुबकी लगाने से क्या प्रयोजन ? यदि उस अवस्था का आत्मा की भाँति साक्षात्कार न हुआ हो, तब ऐसा करने के प्रयास को "डुबकी लगाना" कहा जा सकता है। तब उस अवस्था को साक्षात्कार अथवा "डुबकी लगाने" के लिए उपयुक्त माना जा सकता है। इस प्रकार परिच्छेद में दो अन्तिम प्रश्न अनावश्यक हैं।

भक्त : मन बालकों की ओर पक्षपाती भावना बनाये रखता है, सम्भवतया इसलिए कि कभी वह आकार इष्ट को मूर्तिमान करने को उपयोग में लेते हैं। इस अभिरुचि पर किस प्रकार विजय प्राप्त करें ?

म० : आत्मा में टिको। बालकों अथवा उनके प्रति प्रतिक्रियाओं का विचार क्यों करते हो ?

भक्त : ऐसा प्रतीत होता है कि तिरुवन्नामलाई की इस तीसरी यात्रा ने मेरे अहंकार की भावना में उग्रता कर दी, जिससे ध्यान कठिन हो गया है। क्या यह साधारण सी क्षणिक अवस्था है अथवा यह इस बात का संकेत है कि मैं भविष्य में ऐसे स्थानों पर न जाऊँ ?

म० : यह कल्पित है। यह तथा अन्य स्थान तुम्हारे अन्तर्गत हैं। ऐसी कल्पनाओं का परित्याग करना आवश्यक है जिससे मन की क्रियाएँ स्थान से प्रभावित न रहें। तुम्हारे आसपास का वातावरण भी तुम्हारे अनुरूप

नहीं है। वे स्वतन्त्र हैं। तुमको उनसे ऊपर उठना है और उसमें फँसना नहीं है।

३४९. **श्री शंकर का सद्-असद् विवेक द्वारा मुक्ति का मार्ग।**

श्री महर्षि की टिप्पणी

("दि विजन" नामक पत्रिका के वर्तमान अंक में श्री शंकराचार्य कृत "विवेक चूड़ामणि" पर श्री रमण महर्षि द्वारा लिखित भूमिका का श्री एस० कृष्ण एम० ए० द्वारा अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।)

संसार का प्रत्येक प्राणी उस आनन्द की सदैव इच्छा करता है, जिसमें लेशमात्र भी दुःख न हों, एवं वह दैहिक कष्टों से छुटकारा चाहता है जो उसके वास्तविक स्वरूप के नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, वह, अपने लिये सर्वाधिक स्नेह सँजोता है, और यह स्नेह आनन्द के अभाव में सम्भव नहीं। गहन निद्रा में, यद्यपि प्रत्येक वस्तु का अभाव है, मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। तथापि, अपने स्वयं के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता के कारण जो आनन्द ही है, लोग भौतिक संसार के अपार सागर में ठोकरें खा-खाकर आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं, इस भ्रमपूर्ण विश्वास में कि इहलोक तथा परलोक के सुख प्राप्त करने से ही आनन्द प्राप्त हो सकता है, वे आनन्ददायक सत्य मार्ग को छोड़ देते हैं।

सुरक्षित मार्ग दर्शक : किन्तु खेद, वह आनन्द जिसमें कि लेशमात्र भी दुःख नहीं है उसकी अनुभूति नहीं की जाती। आनन्द के सहज मार्ग का यथार्थतः निर्देश करने के अभिप्राय से ही भगवान शंकर श्री शंकराचार्य के रूप में भू-तल पर अवतरित हुए तथा वेदान्त की "प्रस्थान त्रय" टीका लिखी जिसमें इस आनन्द की श्रेष्ठता की अत्यधिक प्रशंसा की है; उन्होंने जीवन में स्वयं अपने आचरण से ऐसा करके दिखाया। तथापि, यह टीकाएँ, उन निष्ठावान साधकों के लिए कम उपयोगी हैं जो कि निर्वाण के आनन्द का साक्षात्कार करने के लिए कटिबद्ध हैं पर उनमें उनके अध्ययन करने की विद्वत्ता नहीं है।

ऐसे साधकों के लिए श्री शंकर ने उन टीकाओं का सार इस छोटी-सी पुस्तक "विवेक चूड़ामणि" में प्रकट किया है। इस पुस्तक में उन समस्त विषयों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है जो कि साक्षात्कार करने वाले जिज्ञासुओं को ग्रहण करना आवश्यक है। और इस प्रकार उनको सीधे तथा वास्तविक मार्ग पर चलने का निर्देशन किया है।

विद्वता से नहीं होगा : श्री शंकर विषय को आरम्भ करते हुये कहते हैं कि वास्तव में मानव जन्म प्राप्त करना दुर्लभ है। जो अपना निज स्वरूप है, ऐसी मुक्ति के आनन्द का साक्षात्कार करने के लिए प्रयास करना आवश्यक है।

इस परमानन्द की अनुभूति केवल ज्ञान से हो सकती है, तथा ज्ञान की प्राप्ति केवल आत्म-विचार अथवा सतत खोज से होती है। आचार्य शंकर कहते हैं कि खोज की इस पद्धति को जानने के लिए गुरु की कृपा प्राप्त करना आवश्यक है। इसके बाद वे गुरु एवं उनके शिष्य की विशेषताओं का वर्णन करते हैं और किस प्रकार शिष्य को गुरु के समीप आना तथा उनकी सेवा करना आवश्यक है। आगे वे इस पर जोर देते हैं कि मोक्ष का आनन्द प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत प्रयास अनिवार्य है। केवल पुस्तक-अध्ययन द्वारा उस आनन्द की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं, जिसकी अनुभूति केवल खोज अथवा विचार द्वारा हो सकती है; जो कि श्रवण अथवा गुरु के आदेशों का भक्तिपूर्ण सावधानी से पालन, मनन एवं निदिध्यायन है।

मार्ग त्रयी : तीन शरीर स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण—अनात्म हैं एवं मिथ्या हैं। आत्मा अथवा "मैं" इनसे सर्वथा भिन्न है। अज्ञान के कारण आत्मा की भावना अथवा 'मैं' के अन्तर्बोध को अनात्म पर आरोपित कर दिया जाता है; औरवास्तव में यही बन्धन है। चूँकि अज्ञान बन्धन का कारण है, ज्ञान मोक्ष का है। गुरु से यह बोध प्राप्त होना श्रवण है।

तीनों शरीर जो पंच कोषों से युक्त हैं उनका त्याग कि वह 'मैं' नहीं है एवं "मैं कौन हूँ ?" की सूक्ष्म खोज में से सार निकालना—जैसे कि घास के आन्तरिक अंश का सार बड़ी सूक्ष्मता से पत्तों के घुमावदार गुच्छे से निकाला जाता है, उसी प्रकार व्यापक शुद्ध चैतन्य "मैं" जो हृदय में स्थित है जो कि "त्वम्" शब्द से निर्देशित किया जाता है वह इन तीनों शरीरों से भिन्न है। इस सूक्ष्म ख़ोज की प्रक्रिया को मनन कहते हैं।

परमानन्द : नाम और रूप का जगत सत् अथवा ब्रह्म की उपाधि होने से उससे भिन्न नहीं है। उसके भिन्न न होने के कारण वैसा अर्थात् नाम रूप नहीं माना जाता तथा उसे ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं माना जाता। गुरु का शिष्य को महावाक्य, 'तत्-त्वम्-असि', का निर्देशन जिसका अभिप्राय है, आत्मा तथा ब्रह्म की अनन्यता, उपदेश है। तदुपरान्त शिष्य को अहं ब्रह्म के परमानन्द में स्थित रहने का निर्देश दिया जाता है। तथापि उस परमानन्द की अवस्था में मन के पूर्व संचित संस्कार अनेक प्रकार से अंकुरित होकर बाधा उपस्थित करते हैं। ये बाधाएँ तीन प्रकार की हैं; और अहम्-वृत्ति जो उनका मूल है, बाह्य एवं नानात्व चेतना में राजस के कारण विक्षेप शक्ति द्वारा तथा तामस के कारण आवरण की शक्ति द्वारा विस्तार को प्राप्त करता है।

मन का मन्थन : मन को हृदय में दृढ़ता से टिकाना है जब तक कि यह प्रवृत्तियाँ नष्ट न हो जायें तथा निश्चल, निरन्तर सतर्कता जो आत्मा का वास्तविक तथा सहज स्वाभाविक स्वरूप है उसके साथ जाग्रत रहना है जो 'अहं

ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) तथा 'ब्रह्मैवाहम्' (मैं केवल ब्रह्म हूँ) से अभिव्यक्त होता है। इसे निदिध्यासन अथवा आत्मानुसन्धान कहते हैं। इसी को भक्ति, योग तथा ध्यान भी कहते हैं।

आत्मानुसन्धान की तुलना दही को मथकर नवनीत निकालने से की गयी है। यहाँ मन की तुलना मथनी से की गयी है। हृदय की तुलना दही से तथा आत्मा में निरन्तर स्थिर रहने के अभ्यास को मथने की विधि से तुलना दी गयी है। जिस प्रकार दही के मन्थन से नवनीत की प्राप्ति होती है, तथा जिस प्रकार घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार निश्चल जागरूकता से आत्मा में निरन्तर स्थित रहने से, अविरल तेल धार की भाँति—स्वाभाविक एवं सहज, सदा एकरस निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होती है जिससे सहज एवं अनायास ही प्रत्यक्ष, साक्षात, बाधा-रहित एवं सर्वव्यापी ब्रह्म की अनुभूति होती है। जो कि एक साथ ज्ञान एवं अनुभव है और जो देश-काल से परे है।

अनन्त आनन्द : यह आत्म-साक्षात्कार है। इससे हृदय-ग्रन्थि पूर्णतया कट जाती है। अज्ञान की मिथ्या भ्रान्तियाँ, मन की पूर्व-संस्कार जनित एवं दूषित वृत्तियाँ, जिसमें इस ग्रन्थि का निर्माण होता है, नष्ट हो जाती हैं। सारे संशय दूर हो जाते हैं एवं कर्म के बन्धन टूट जाते हैं।

इस प्रकार इस "विवेक चूड़ामणि" में श्री शंकर ने समाधि का वर्णन किया है जो मोक्ष का अनन्त आनन्द है, संशय तथा द्वैत से परे है, उन्होंने उसके साथ ही उसकी उपलब्धि के मार्ग का संकेत भी कर दिया है। द्वैत से मुक्त इस अवस्था की प्राप्ति ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, और केवल वही जिसने इस को प्राप्त कर लिया है जीवन-मुक्त है, न कि वह जिसे केवल सिद्धान्ततः यह जानकारी है कि पुरुषार्थ क्या है अथवा मनुष्य के प्रयास का लक्ष्य एवं वांछित ध्येय क्या है ?

अन्तिम निर्वाण : जीवन-मुक्त की इस प्रकार परिभाषा देते हुए उसे संचित, आगामी एवं प्रारब्ध तीनों प्रकार के कर्म बन्धनों से मुक्त कहा गया है। जिस शिष्य ने यह अवस्था प्राप्त कर ली है तब वह अपने निजी अनुभव का वर्णन करता है। वस्तुतः मुक्त-पुरुष अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र है, और जब वह देह त्याग करता है, वह निर्वाण प्राप्त करता है। तब वह इसमें "जन्म जो मृत्यु है" पुनः नहीं आता।

इस प्रकार श्री शंकर साक्षात्कार का वर्णन करते हैं जो दो प्रकार की मुक्ति का गुण-निर्देश करता है, अर्थात्, जीवन-मुक्ति एवं विदेह-मुक्ति जैसा कि ऊपर बताया गया है। इसके अतिरिक्त, इस छोटी पुस्तक में जो गुरु एवं शिष्य के संवाद के रूप में हैं उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण किया है।

६ फरवरी, १६३७

३५०. परम श्रद्धालु वकील भक्त, श्री जी० शणमुघम से, वार्ता करते समय श्री भगवान ने कहा : शास्त्र का निर्देश है कि आत्म-साक्षात्कार के लिए बारह वर्ष तक गुरु की सेवा करना परम आवश्यक है। गुरु क्या करता है ? क्या गुरु शिष्य के हाथ में उसे दे देता है ? क्या आत्मा सदैव साक्षात् नहीं है ? तब सामान्य विश्वास का क्या अभिप्राय है ? मनुष्य सदैव आत्मा है तथापि वह उसे जानता नहीं है। वह उसे अनात्मा, अर्थात्, देह आदि से मिला लेता है। यह भ्रम अज्ञान के कारण है। यदि अविद्या का नाश हो जाये तो भ्रान्ति नहीं रहेगी और यथार्थ ज्ञान प्रकाशित होगा। आत्मज्ञानी के सम्पर्क में रहने से मनुष्य का अज्ञान धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है और अन्ततोगत्वा वह पूर्णतया नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शाश्वत आत्मा प्रकट होता है।

अष्टावक्र तथा जनक की कथा का यही अभिप्राय है। भिन्न-भिन्न पुस्तकों में उक्त घटना भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित है। हमें नाम तथा अलंकार से कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तत्त्व को नहीं भूलना चाहिए। शिष्य गुरु के प्रति अपने को समर्पण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि शिष्य अपने व्यक्तित्व को अलग नहीं बचाता है।

यदि समर्पण यथावत है तो व्यक्तित्व का समस्त भाव नष्ट हो जाता है और फिर दुःख का कोई कारण नहीं रहता। शाश्वत सत्ता केवल आनन्द है। वह प्रकट होता है।

इसको ठीक तरह से न समझकर, मनुष्य यह मान लेते हैं कि गुरु शिष्य को किसी वस्तु के समान "तत्वमसि" का उपदेश करता है तथा शिष्य "अहं ब्रह्म" की अनुभूति कर लेता है। अपने अज्ञान में वे ब्रह्म की ऐसी धारणा कर लेते हैं कि अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा वह बहुत बड़ा तथा बलवान है। सीमित 'मैं' के कारण मनुष्य कितना दम्भी तथा दुराग्रही है। यदि यही 'मैं' विशाल हो जाय तो क्या स्थिति होगी ? वह असाधारण अज्ञानी और मूढ़ हो जायगा ! इस मिथ्या 'मैं' का नष्ट होना परम आवश्यक है। इसका उन्मूलन गुरु-सेवा का फल है। साक्षात्कार शाश्वत है तथा गुरु उसे नया लाकर नहीं देता। गुरु अज्ञान के निवारण में सहायता करता है। यही सब कुछ है।

७ फरवरी, १६३७

३५१. डाक्टर सुब्रमनिया अय्यर, सलेम के निवृत्त स्वास्थ्य अधिकारी ने, एक लेख पढ़कर सुनाया जिसमें यह निर्देश थे :

व्यक्ति को यह जानना आवश्यक है कि संसार क्षणभंगुर है; संसार के भोग वृथा हैं; इसलिए व्यक्ति को उनसे उकताकर उनकी तरफ से हटकर, इन्द्रियों का संयम कर आत्मा की अनुभूति के लिए उस पर ध्यान करना चाहिए।

श्री भगवान ने निर्देश किया : किसी व्यक्ति को यह कैसे मालूम कि संसार अनित्य है ? जब तक किसी नित्य वस्तु पर नहीं टिकोगे जगत की अनित्यता का ज्ञान नहीं हो सकता। चूंकि मनुष्य आत्मा ही है और आत्मा ही शाश्वत सत्यता है, इसलिये उसका लक्ष्य उस तरफ खींचा जाता है; और उसे निर्देश किया जाता है कि वह नित्य सत्यता, आत्मा पर अपने ध्यान को एकाग्र करे।

विविध सम्प्रदाय

३५२. 'अहम् वृत्ति' द्रष्टा तथा दृश्य के रूप में उदय होती है। केवल 'मैं' पर टिकने से अन्य सब विलीन हो जाता है। यही पर्याप्त है, किन्तु केवल थोड़े-से समर्थ साधकों के लिए।

दूसरे तर्क करते हैं—"ऐसा ही है। जो जगत मेरी सुषुप्ति में रहता है, मेरे जन्म से पूर्व भी था तथा मेरी मृत्यु के बाद भी रहेगा। क्या अन्य व्यक्ति इसे नहीं देखते ? यदि मेरा अहंकार उदय न हो तो जगत का अस्तित्व कैसे समाप्त हो जायगा ? जगत की उत्पत्ति तथा भिन्न विशिष्ट सिद्धान्त ऐसे व्यक्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए हैं।

भक्त : तथापि, केवल बौद्धिक होने से वे मन को अन्तर्मुख नहीं कर सकते।

म० : केवल इसी कारण से शास्त्र "आन्तरिक दृष्टि" "एकाग्र दृष्टि" आदि का उल्लेख करते हैं।

आत्मा सदैव आत्मा ही है, तब केवल धीर पुरुष को ही ज्ञान का प्रकाश क्यों होता है ? क्या इसका अर्थ है एक साहसी व्यक्ति ? नहीं; धीः=बुद्धि; रः= जागरूकता; रक्षा। अतः धीर वह है जो मन को ढीला छोड़े बिना सदैव उसे अन्तर्मुखी रखता है।

८ फरवरी, १९३७

३५३. **भक्त** : तुरीय क्या है ?

म० : केवल तीन अवस्थाएँ हैं, जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। तुरीय चतुर्थ नहीं है : यह इन तीनों का आधार है। किन्तु लोग इसको सहज में समझ नहीं पाते। इस कारण इसको चतुर्थ अवस्था तथा केवल सत्यता कहा जाता है। वस्तुतः यह किसी वस्तु से पृथक नहीं है, चूंकि, यह समस्त घटनाओं का आधार है; केवल यही सत्य है; यही तुम्हारा वास्तविक अस्तित्व

है। तीनों अवस्थाएँ इसी पर क्षणिक दृश्य की भाँति प्रकट हो केवल इसी में लीन हो जाती हैं। अतः वे मिथ्या हैं।

चित्रपट के चित्र परदे पर केवल अस्थायी छाया हैं। वे प्रकट होकर कभी आगे तथा कभी पीछे चलते हैं; एक बदलकर दूसरे आते हैं; अतः मिथ्या हैं, जबकि परदा सदैव अपरिवर्तित रहता है। कलापूर्ण चित्र भी इसी प्रकार हैं : आकृतियाँ असत्य हैं तथा परदा सत्य है। हमारे साथ भी ऐसा ही है : जगत के दृश्य आन्तरिक अथवा बाह्य केवल अस्थायी दृश्य हैं तथा हमारी आत्मा से स्वतन्त्र नहीं हैं। उनको सत्य तथा उनकी स्थिति अपने से बाहर मानने का हमारा यह जो स्वभाव बन गया है, यह स्वभाव ही हमारे निज स्वरूप को छिपा रहा है और अन्यता को सामने ला रहा है। केवल नित्य-सिद्ध सत्य-स्वरूप आत्मा की उपलब्धि से ही सब असत्य छिप जायगा, और यह ज्ञान हो जायगा कि वे आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।

तुरीय आत्मा का केवल दूसरा नाम है। हम जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति का भान रखते हुए भी स्वयं अपनी आत्मा से अनभिज्ञ रहते हैं। तथापि आत्मा अभी और यहाँ है, केवल यही सत्य है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब तक देह से तादाम्यता रहती है जगत हमसे बाहर स्थित प्रतीत होता है। केवल आत्मा का साक्षात्कार करो, और वे है ही नहीं।

३५४. एक थियोसोफिस्ट, अमरीकी महिला ने, जिज्ञासा की : किन साधनों से मैं अपने गुरु के निकटतर पहुँच सकती हूँ ?

म० : अब तुम उनसे कितनी दूर हो ?

भक्त : मैं उनसे दूर हूँ। किन्तु उनके अधिक समीप आना चाहती हूँ।

म० : यदि तुम पहले अपनी आत्मा को जान लो तब तुम मालूम कर लेना कि दूसरा तुमसे कितनी दूर है। अभी तुम कौन हो ? क्या तुम व्यक्तित्व हो ?

भक्त : हाँ, मैं व्यक्तित्व हूँ।

म० : क्या व्यक्तित्व आत्मा से स्वतन्त्र है ?

भक्त : कभी-कभी।

म० : किस समय पर ?

भक्त : मेरा आशय है कि मुझे सत्य के कुछ स्फुरण होते हैं जो मुझे अन्य क्षणों में नहीं होते।

म० : उन स्फुरणों का किसे भान होता है ?

भक्त : मुझे, मेरा आशय है मेरे व्यक्तित्व को।

म० : क्या इस व्यक्तित्व को यह बोध है कि वह आत्मा से पृथक है ?

भक्त : कौन-सी आत्मा ?

म० : तुम व्यक्तित्व किसे मानते हो ?

भक्त : निम्न आत्मा ।

म० : तो मैं यह पूछता हूँ क्या वह निम्न आत्मा उच्चतर आत्मा को स्वतन्त्र जानता है ?

भक्त : हाँ, कभी-कभी ।

म० : यह कौन अनुभव करता है कि अभी वह गुरु से दूर है ?

भक्त : उच्चतर आत्मा ।

म० : क्या उच्चतर आत्मा के देह है जो कहती है कि गुरु उससे दूर है ? क्या वह तुम्हारे मुख के माध्यम से बोलती है ? क्या तुम उससे पृथक हो ?

भक्त : क्या आप कृपा कर मुझे परामर्श देंगे कि मैं किस अभ्यास द्वारा वह जागरूकता प्राप्त कर लूँ जिसे मैं बिना देह के भी कर लेती हूँ जैसे सुषुप्ति में ?

म० : जागरूकता तुम्हारा स्वरूप है । गहन सुषुप्ति में अथवा जागृति में, वह एक ही है । तो उसकी पुनः प्राप्ति ही क्या है ?

भक्त : किन्तु मुझे स्मरण नहीं अपनी सुषुप्ति में मैंने क्या तथा किस प्रकार किया ?

म० : यह कौन कहता है, "मुझे स्मरण नहीं" ?

भक्त : मैं अब कह रही हूँ ।

म० : तब भी तुम वही थीं; तुम सुषुप्ति में ऐसा क्यों नहीं कहतीं ?

भक्त : सुषुप्ति में मैं क्या कहती हूँ मुझे याद नहीं ।

म० : जाग्रत अवस्था में तुम कहती हो, "मैं जानती हूँ, मुझे स्मरण है ।" वही व्यक्तित्व कहता है, "मुझे ज्ञान नहीं था—मुझे सुषुप्ति में स्मरण नहीं था ।" सुषुप्ति में यह प्रश्न क्यों नहीं उठता ?

भक्त : सुषुप्ति में क्या होता है, मैं नहीं जानती । इसी कारण मैं अब जिज्ञासा कर रही हूँ ।

म० : इस प्रश्न का सम्बन्ध सुषुप्ति की अवस्था से है तथा वहीं पूछना चाहिए । जाग्रत अवस्था से इसका सम्बन्ध नहीं है तथा इस प्रश्न का कोई स्पष्ट कारण नहीं है ।

वास्तव में सुषुप्ति में तुम परिमितता से रहित होते हो एवं कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता । जबकि अब तुमने परिसीमाएँ बना ली हैं, देह से अपनी तादात्म्यता कर ली है, और इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं ।

भक्त : मैं इसे समझती हूँ किन्तु इसकी अनुभूति नहीं करती हूँ (विविधता में एकता)।

म० : चूँकि तुम विविधता में हो, तुम कहती हो कि तुमने एकता को समझ लिया है—कि तुम्हें स्फुरण होते हैं, आदि; वस्तुओं, आदि, का स्मरण है; तुम इस विविधता को सत्य मानती हो। इसके विपरीत एकता ही सत्यता है तथा विविधता मिथ्या है। एकता अपने आपको—अपनी सत्यता को प्रकट करे इसके पहले विविधता का जाना आवश्यक है। वह सदैव सत्य है। वह अपने अस्तित्व का स्फुरण इस मिथ्या विविधता में प्रकट नहीं करता। इसके विपरीत यह विविधता सत्य में रुकावट करता है।

तदुपरान्त कुछ अन्य व्यक्ति इसी विषय पर चर्चा करते रहे।

म० : अभ्यास का लक्ष्य है अज्ञान का निवारण, न कि साक्षात्कार की उपलब्धि। साक्षात्कार नित्य-सिद्ध है; अभी और यहीं। यदि इसकी प्राप्ति नये सिरे से होती तो यह विदित होना आवश्यक था कि साक्षात्कार एक समय अनुपस्थित है तथा दूसरे समय उपस्थित है। उस अवस्था में, यह स्थायी नहीं होता, एवं इस कारण प्रयास करने योग्य भी नहीं होता। किन्तु साक्षात्कार स्थायी तथा नित्य है तथा यहीं एवं अभी है।

भक्त : अज्ञान निवारण हेतु अनुग्रह आवश्यक है।

म० : निश्चय ही। किन्तु अनुग्रह निरन्तर है। अनुग्रह ही आत्मा है। यह कोई वस्तु नहीं है जिसकी प्राप्ति करनी है। केवल इसके अस्तित्व का बोध होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, सूर्य केवल प्रभा है। वह अन्धकार नहीं देखता। जबकि दूसरे लोग कहते हैं कि सूर्योदय होते ही अँधेरा भाग जाता है। इसी प्रकार, अज्ञान भी भ्रम है, वास्तविक नहीं। उसके मिथ्या होने के कारण, उसके मिथ्यात्व का बोध होते ही उसका निवारण होना कहा जाता है। फिर, सूर्य है, तथा प्रकाश भी है। तुम सूर्य के प्रकाश से घिरे हुए हो। तथापि यदि तुम्हें सूर्य को जानना है तो तुम्हें उसकी ओर अपनी दृष्टि करनी होगी और उसे देखना होगा। इसी प्रकार अनुग्रह केवल अभ्यास के द्वारा प्राप्त होता है यद्यपि वह यहीं एवं अभी है।

भक्त : मैं आशा करता हूँ, समर्पण की निरन्तर कामना होने से अनुग्रह में वृद्धि का अनुभव होगा।

म० : एक बार में ही सदैव के लिए समर्पण कर डालो और इच्छा को समाप्त कर दो। जब तक कर्तृत्व की भावना रहती है तब तक इच्छा है; यही व्यक्तित्व भी है। यदि यह समाप्त हो जाय तो शुद्ध आत्मा प्रकाशित होगी। स्वयं कर्म नहीं अपितु कर्तृत्व की भावना ही बन्धन है।

"शान्त हो जाओ तथा जान लो कि मैं ईश्वर हूँ ।" यहाँ शान्त होने का अर्थ है, पूर्ण समर्पण जिसमें किंचित-मात्र भी व्यक्तित्व का अवशेष नहीं है। निश्चलता व्याप्त होगी तथा मन में कोई क्षोभ नहीं होगा। मन का क्षोभ वासना, कर्तृत्व की भावना तथा व्यक्तित्व के कारण है। यदि यह समाप्त हो जाय तो शान्ति है। यहाँ 'जानने' से आशय है 'होना'। यह सापेक्ष ज्ञान नहीं है जिसमें ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय की त्रिपुटी है।

भक्त : क्या "मैं भगवान हूँ" अथवा "मैं परब्रह्म हूँ" का संकल्प सहायक है ?

म० : "अस्तित्व ही मैं हूँ" "मैं हूँ" ईश्वर है—यह सोचना नहीं "मैं ईश्वर हूँ"। अनुभव करो "मैं हूँ" यह चिन्तन मत करो "मैं हूँ"। निर्देश है—"जानो मैं ईश्वर हूँ" न कि "विचार करो मैं ईश्वर हूँ।"

बाद में श्री भगवान ने कहा : यह कहा गया है—"अस्तित्व ही मैं हूँ" इसका अभिप्राय है कि मनुष्य को आत्मभाव से रहना चाहिए। वह सदैव केवल आत्मा है। इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। तथापि वह जिज्ञासा करता है "मैं कौन हूँ"। जो माया से भ्रमित है वही यह जिज्ञासा करेगा "मैं कौन हूँ ?" न कि वह मनुष्य जिसे स्वयं का पूर्ण ज्ञान है। आत्मा की अनात्मा से मिथ्या तादात्म्यता ही तुमसे प्रश्न कराती है, "मैं कौन हूँ ?"

श्री भगवान ने फिर बाद में कहा : तिरुवन्नामलाई के अनेक मार्ग हैं, किन्तु किसी भी रास्ते से वहाँ पहुँचो तिरुवन्नामलाई वही है। इसी प्रकार विषय का प्रवेश व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न होता है। तथापि आत्मा वही है। तथापि तिरुवन्नामलाई में रहते हुए, कोई मार्ग पूछे तो यह हास्यास्पद है। इसी प्रकार आत्मा होकर आत्म-साक्षात्कार कैसे करूँ यह पूछना अर्थहीन है। तुम आत्मा हो। आत्मभाव से रहो। यही सब कुछ है। आत्मा की शरीर से अब मिथ्या तादात्म्यता के कारण प्रश्न उदय होते हैं। यही अज्ञान है। इसको जाना होगा। इसके हटने के पश्चात् केवल आत्मा ही है।

३५५. क्या निरक्षरता की तुलना में शिक्षा ज्ञानी को जगत के लिए अधिक उपयोगी नहीं बनाती ?

म० : एक सुशिक्षित व्यक्ति को भी अशिक्षित ज्ञानी के समक्ष सिर झुकाना होगा।

निरक्षरता अज्ञान है : शिक्षा पाण्डित्यपूर्ण अज्ञान है। दोनों ही अपने वास्तविक लक्ष्य से अनभिज्ञ हैं; जबकि ज्ञानी अनभिज्ञ नहीं है क्योंकि उसके लिए कोई लक्ष्य नहीं है।

३५६. **भक्त** : संसार में निद्रा क्यों है ?

म० : केवल पाप के कारण ।

भक्त : क्या यह नष्ट हो सकती है ?

म० : हाँ ।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि स्वयं का अनुभव कराकर ही यह नष्ट होती है ।

म० : फिर ईश्वर की भक्ति क्यों ?

भक्त : सुषुप्ति को कैसे नष्ट किया जा सकता है ?

म० : इसकी क्रियाओं तथा प्रभावों से अवगत न रहने से ।

भक्त : यह कैसे किया जा सकता है ?

म० : केवल आत्म-विचार द्वारा ।

संस्मरण

३५७. श्री भगवान निरुवन्नामलाई में अपने निवास की कुछ घटनाएँ सुना रहे थे :

१. एक दिन उन्हें एक पत्ते पर रखकर किसी वस्तु के कुछ कण चखने के लिए दिये गये । यह बताया गया था कि यह पाचन में अच्छी सहायता करता है । उन्होंने उसका सेवन लिया । बाद में उन्होंने अपना भोजन किया । कुछ समय पश्चात् जो लोग उपस्थित थे वे सब प्रकाश से घिरे हुए (तेजोमय) दीखे । कुछ समय के बाद यह अनुभव विलीन हो गया ।

२. जब वे पवलकुनरु में निवास कर रहे थे, उन्होंने पर्वत के एक झरने में स्नान करना चाहा । पलानिस्वामी को इसकी सूचना दे दी गयी । समाचार फैल गया कि जड़ पद्मनाभस्वामी ने, जो पर्वत पर निवास कर रहे थे पलानिस्वामी के साथ श्री भगवान को पर्वत पर अपने आश्रम के निकट ले जाने का आयोजन किया है । श्री भगवान को सूचित किये बिना ही पलानिस्वामी उन्हें वहाँ ले गये । वहाँ स्वागत का विशाल आयोजन था । उनके लिए बैठने का प्रबन्ध किया गया, दुग्ध एवं फल भेंट किये गये तथा पद्मनाभस्वामी अत्यन्त कृपाशीलता से उनकी सेवा में उपस्थित रहे ।

३. यद्यपि "आत्म-साक्षात्कार" पुस्तक में जड़ पद्मनाभस्वामी के सम्बन्ध में लिखा है कि वे श्री भगवान को हानि पहुँचाना चाहते थे, वास्तव में वे महर्षि के प्रति सर्वदा कृपालु थे, और उनके हास्य को भ्रान्त धारणा के कारण द्वेषपूर्ण समझ लिया जाता था । उसकी एक ही कमजोरी थी कि वे श्री भगवान के नाम से धन संग्रह करना चाहते थे जो निश्चय ही महर्षि को पसन्द नहीं था । जड़ पद्मनाभस्वामी में कोई दोष नहीं था ।

४. माधवस्वामी, सेवक ने, प्रश्न किया : क्या श्री भगवान मन्दिर में भूमि के नीचे तहखाने. में महीनों तक निराहार रहे ।

म० : ओउम् !—ओउम् !—भोजन आता रहता था—दूध, फल—किन्तु भोजन का ध्यान ही किसे था !

५. आम के पेड़ की गुफा में निवास करते समय श्री भगवान मन्दिर की प्रतिमाओं के लिए कमल, पीले फूल एवं हरी पत्तियों से मालाएँ बनाते थे ।

६. कल्याणमन्तपम के पूर्ण होने के पश्चात् श्री भगवान वहाँ एक रात्रि वेष-परिवर्तन करके रहे थे ।

७. जब वे मन्दिर के अहाते में एक वृक्ष के नीचे बैठे थे तब कभी भी स्नान न करने से उनके शरीर पर धूल जम गयी थी । दिसम्बर की शीतल रात्रियों में वे पैरों को मोड़, अपना सिर मुड़े हुए पैरों के बीच में रखते तथा बिना हिले-डुले रहते । प्रात.काल सवेरे धूल की परत ओस तथा कुहरे से भीगकर सफेद दीखती । धूप में सूखने पर वह काली प्रतीत होती थी ।

८. श्री भगवान पर्वत पर निवास करते समय घण्टे बजाकर, पात्रों, आदि को स्वच्छ कर जड़ पद्मनाभस्वामी की पूजा में सहयोग देते थे और सारे समय मौन रहते थे । वे चिकित्सा-शास्त्र के ग्रन्थ, जैसे मलयालम में "अष्टांग हृदयं" भी पढ़ते थे तथा अन्य साधू के पास सहायता के लिए आने वाले रोगियों को पुस्तक में बतायी चिकित्सा का निर्देश करते थे । वह साधु इन पुस्तकों को स्वयं पढ़ने में असमर्थ था ।

१२ फरवरी, १६३७

३५८. कक्ष का एक दृश्य : रात्रि के आठ बजकर बीस मिनट हुए हैं । श्री भगवान सायंकाल का भोजन करके पधारे हैं तथा सोफे पर लेटे हैं । प्रकाश मन्द है; भूमि पर तीन व्यक्ति आसीन हैं; एक किसी पत्रिका में से कुछ प्रतिलिपि करने में व्यस्त है; दूसरा ध्यानस्थ है; तीसरा बिना किसी कार्य के वैसे ही चारों ओर देख रहा है । कक्ष में शान्ति है, सिवाय इसके कि यदाकदा श्री भगवान गले को साफ करते हैं ।

भक्त परिचारक, माधवस्वामी, शान्ति से पानों का बण्डल हाथ में लिये प्रवेश करता है । वह मेज के समीप आता है । श्री भगवान जो सोफे पर लेटे हैं, उसे देख लेते हैं तथा बुलाते हैं, तथापि सौम्यता से, "श, श; तुम क्या कर रहे हो ?"

परिचारक कोमल एवं मन्द स्वर से कहता है "कुछ नहीं", पान वहीं छोड़ कर घबराहट के साथ असमंजस में पड़ जाता है ।

म० : "मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ।" (परिचारक धीरे से भूमि पर बैठ जाता है) श्री भगवान : "कस्तूरी बटी—एक के बाद दूसरी ।"

शीशी खाली हो जायगी—फिर और खरीद ली जायगी। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।"

भक्त : कुशलता से दिन के भोजन 'ओला पोडरिडा' (मद्रासी भोजन) को श्री भगवान की अस्वस्थता के लिए दोषी ठहराता है।

म० : "नहीं-नहीं—वह अच्छा बना था। वह उत्तम था।" खखार और डकार अन्यथा खामोशी। कुछ क्षणों के बाद परिचारक चुपचाप चला जाता है तथा हाथ में एक शीशी लेकर वापस आता है, श्री भगवान के समीप जाता है और एक गोली बाहर निकालते हुए कहता है : "जीरे के बीज की गोली"। श्री भगवान कोमल एवं मन्द स्वर से कहते हैं, "इसमें नीबू का रस है। नीबू का रस इसके लिए लाभदायक नहीं है।" एक भक्त रंगास्वामी आयंगर इस बीच ध्यान से जाग्रत हो चुके हैं तथा देखते हैं। परिचारक ने गोली के साथ अपना हाथ अभी भी बढ़ा रखा है। श्री भगवान कहते हैं : "इसे चबायेगा कौन ?"

रंगास्वामी आयंगर, "इसे चबाना आवश्यक नहीं। इसे मुँह में रखकर चूसना पर्याप्त है।" परिचारक तुरन्त अनुमोदन करता है, "हाँ-हाँ इसे केवल चूसना है।"

म० : रंगास्वामी आयंगर की ओर संकेत करते हुए, "यह उनको दे दो"।" "वे इसे चबायें या चूसें। मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।"

परिचारक निराश हो वापस जाता है तथा भूमि पर बैठ जाता है; फिर खड़ा हो जाता है।

म० : "अरे !—अरे ! तुम क्या करते हो ? मुझे आवश्यकता नहीं।"

परिचारक औषधि-पेटिका के समीप जाता है, मन्द स्वर में कहता है : "कस्तूरी वटी—यह लाभ करेगी।"

श्री भगवान : "मैं इसके बिना भी शीघ्र स्वस्थ हो जाऊँगा। उसे बाहर मत निकालो। अरे !—अरे !—उसे वहीं रखो—मैं उसे नही लूँगा—तुम्हें जो अच्छा लगे करो।" परिचारक पुनः बैठ जाता है और शयन हेतु जाने से पूर्व सब शान्त रहते हैं।

१३ फरवरी, १९३७

३५९. लगभग ७·३० प्रातःकाल जलपान के पश्चात् श्री भगवान पर्वत पर चढ़ रहे थे। पादनन्द ने जाकर साष्टांग प्रणाम किया, खड़े होकर कहा "अच्छा, मुझे दर्शन हो गये·······मैं जाऊँगा।"

श्री भगवान ने मुस्कराते हुए कहा "किसका दर्शन ? तुम यह क्यों नहीं कहते कि तुमने मुझे दर्शन दिया ?"

लगभग ६ बजे प्रातःकाल पूना के एक भक्त (श्री पारखी) ने प्रणाम किया और अपना अष्टक पढ़ा जिसमें श्री भगवान से अनुग्रह की याचना की थी। पद्य के अन्त में शीघ्र मुक्ति की प्रार्थना है एवं भक्त ने उस पर विशेष बल दिया।

म० : मुक्ति भविष्य में प्राप्त नहीं होनी है। वह सदा के लिए है, यहीं और अभी।

भक्त : मैं सहमत हूँ, किन्तु मैं इसका अनुभव नहीं करता।

म० : अनुभव यहीं और अभी है। कोई अपने अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकता।

भक्त : इसका तात्पर्य है अस्तित्व, पर आनन्द नहीं।

म० : अस्तित्व=आनन्द=सद्वस्तु। मुक्ति शब्द कितना उत्तेजक है? कोई उसकी इच्छा क्यों करता है? उसका विश्वास है कि बन्धन है और इसलिए वह मुक्ति की इच्छा करता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कोई बन्धन नहीं है किन्तु केवल मुक्ति है। उसको एक नाम से संकेत कर उसकी इच्छा क्यों करते हो?

भक्त : सत्य—किन्तु हम अज्ञानी हैं।

म० : केवल अज्ञान का निवारण करो। बस यही करना है।

१४ फरवरी, १९३७

३६०. लखनऊ के विशिष्ट सज्जन ने श्री पाल ब्रण्टन को पत्र लिखा है कि उनकी धर्मपत्नी ने श्री भगवान के दर्शनों से जो मन की शान्ति प्राप्त की थी, वह अब लुप्त हो गयी है। उनकी इच्छा है कि श्री भगवान कृपा कर उसी शान्ति को पुनःस्थापन करें।

प्रार्थना किये जाने पर, श्री भगवान ने कहा, "यह मन की दुर्बलता के कारण है कि एक बार प्राप्त की हुई शान्ति बाद में लुप्त हो गयी।"

३६१. जो महिला श्री भगवान के लिए प्रतिदिन भिक्षा लाती है उसके पुत्र मुदालियर स्वामी ने निम्न रोचक घटना सुनायी :

जब श्री भगवान विरुपाक्ष गुफा में निवास करते थे, श्री भगवान तथा मुदालियर स्वामी एक साथ स्कन्दाश्रम के निर्माण-स्थल के पीछे भ्रमण कर रहे थे। वहाँ लगभग १५ फुट ऊँची बड़ी चट्टान थी, वह एक दरार थी, एक बालिका (एक गड़ेरनी) वहाँ खड़ी रो रही थी। श्री भगवान ने उसके दुःख का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया "मेरी एक भेड़ इस दरार में गिर पड़ी है; इसलिए मैं रो रही हूँ।" श्री भगवान दरार में उतर पड़े, उन्होंने भेड़ को कन्धों पर उठा लिया, सतह पर ऊपर आकर उसे भेड़ सौंप दी। मुदालियर स्वामी

का कथन है कि यह साहसिक कार्य किसी व्यक्ति के लिए अत्यन्त असाधारण था।

३६२. श्री सुब्बरामैया ने, जो नैलोर में कॉलेज में प्रोफेसर हैं, 'मुक्ति' के सम्बन्ध में प्रश्न किया।

म० : मुक्ति के सम्बन्ध में पूछे गये समस्त प्रश्न असंगत हैं; चूँकि मुक्ति का तात्पर्य है बन्धन से मुक्त होना, जिसका अर्थ है कि अब बन्धन है। बन्धन नहीं है और इसीलिए मुक्ति भी नहीं है।

भक्त : शास्त्र मुक्ति का तथा उसकी श्रेणियों का वर्णन करते हैं।

म० : शास्त्र ज्ञानियों के लिए नहीं है क्योंकि उन्हें शास्त्र की आवश्यकता नहीं है, अज्ञानियों को उनकी इच्छा नहीं है। केवल मुमुक्षुओं को शास्त्रों की आवश्यकता है। इसका अर्थ है कि शास्त्रों का उपयोग न ज्ञान के लिए है, न अज्ञान के लिए।

भक्त : वशिष्ठ को जीवनमुक्त कहा है जबकि जनक विदेहमुक्त थे।

म० : वशिष्ठ अथवा जनक की बात क्यों करते हो? स्वयं के बारे में क्या?

इस दिन बहुत-से नये दर्शक थे। उनमें से दो श्री भगवान के समक्ष गणपति मुनि की चर्चा कर रहे थे। उनकी वार्ता के मध्य श्री भगवान ने कुछ शब्द कहे :

(१) कुछ कहते हैं कि ज्ञान तथा उपासना दो पंख हैं जिनसे मुक्ति तक उड़ते हैं। ज्ञान क्या है? उपासना क्या है? ज्ञान नित्य-सिद्ध है। वही अन्तिम लक्ष्य भी है। जब प्रयास किया जाता है तो उस प्रयास को उपासना कहते हैं; जब यह सहज है तब इसे ज्ञान कहते हैं, जो मुक्ति के तुल्य है।

(२) आपस में कुछ विचार-विमर्श के पश्चात्, एक दर्शक ने कहा : किसी उत्कृष्ट शक्ति का बाहरी दृश्यों को अनुकूल बनाने में हमारी सहायता करना नितान्त आवश्यक है।

श्री भगवान ने कहा : बाहरी दृश्यों को कौन देखता है? अथवा क्या वे कहते हैं कि वे विद्यमान हैं? यदि ऐसा है तो जगत को कहने दो कि वह विद्यमान है।

फिर, यदि जगत अन्दर का उभार है तो यह स्वीकार करना ही होगा कि यह 'अहम् वृत्ति' के साथ ही उभरा है।

किसी भी प्रकार मानो "मैं" मूल आधार है, जिसे जानने से सब कुछ जान लिया जाता है।

(३) एक अन्य व्यक्ति ने कहा कि गणपति मुनि कहा करते थे कि वे

इन्द्रलोक भी जा सकते थे और बता सकते थे कि इन्द्र क्या कर रहा है, किन्तु वे अन्तरमुख हो "मैं" की खोज नहीं कर सकते थे ।

श्री भगवान ने कहा : गणपति मुनि कहा करते थे कि आगे जाना सरल है किन्तु पीछे जाना असम्भव है ।

तदुपरान्त श्री भगवान ने कहा : कोई कितना ही आगे चला जाय, वह वहीं है । पीछे कहाँ जाना है ? "ईशोपनिषद" मन्त्र में भी इसी सत्य का वर्णन है ।

(४) गणपति मुनि आशु कवि कैसे बने, इस जिज्ञासा के उत्तर में श्री भगवान ने कहा : ऐसा कहते हैं कि जब गणपति मुनि तपस्या कर रहे थे तब शिव प्रकट हुए तथा उन्होंने उनको सेवन करने के लिए मधु अथवा दूध दिया, जिसके पश्चात् वह आशु कवि हो गये ।

२० फरवरी, १९३७

३६३. मद्रास सरकार के वित्त उपसचिव यूरोप-निवासी सिविलियन श्री डोडवैल एक बजे दोपहर से पूर्व सपत्नीक आकर साढ़े तीन बजे तक कक्ष में रहे ।

महिला ने जिज्ञासा की : पश्चिम के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शकों के अनुसार आध्यात्मिक केन्द्र भारत में है । क्या भारत में आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शकों में आपस में कोई सम्पर्क है ? अथवा क्या पश्चिम एवं पूर्व के पथ-प्रदर्शकों में सम्पर्क सम्भव है ?

म० : आध्यात्मिक केन्द्र से तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?

भक्त : आध्यात्मिक केन्द्र आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शकों का स्थान है ।

म० : 'आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शकों' से तुम क्या समझती हो ?

भक्त : पश्चिम में एक संकट है । वैज्ञानिक ज्ञान बहुत अधिक प्रगति कर चुका है । ऐसे ज्ञान का उपयोग विनाशकारी शक्तियों के उत्पादन हेतु किया जा रहा है । उनको रचनात्मक बनाने के लिए एक आन्दोलन चल रहा है । जब इस प्रकार मोड़ होगा तब यह जगत के हित के लिए होगा । इस आन्दोलन के नेता उद्धार करने वाले हैं ।

म० : 'आध्यात्मिक' से हमारा तात्पर्य उनसे है जो 'आध्यात्मिक' हैं, "भौतिक" नहीं । आत्मा असीमित तथा निराकार है । आध्यात्मिक केन्द्र भी इसी प्रकार है । इस प्रकार का एक ही केन्द्र है । चाहे पश्चिम में हो अथवा पूर्व में, केन्द्र में भेद नहीं हो सकता; न उसका कोई स्थान ही है । असीमित होने के कारण इसमें पथ-प्रदर्शक, मनुष्य, जगत, ध्वंसात्मक तथा रचनात्मक शक्तियाँ सभी सम्मिलित हैं । वहाँ कोई भेदभाव नहीं है । तुम सम्पर्क की बात इसलिए कर रही हो क्योंकि तुम शरीर-धारी मनुष्यों को आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक

मान रही हो। आध्यात्मिक मनुष्य देह नहीं हैं, उन्हें अपनी देह का भान नहीं है। वे केवल आत्मा हैं, असीमित तथा निराकार। उनमें तथा और सब में सदैव एकता है; यही नहीं, उनमें सभी सम्मिलित हैं।

स्वयं आत्मा ही है। यदि आत्म-साक्षात्कार हो जाय तो ये संशय कभी उत्पन्न नहीं हो सकते।

अडयार की श्रीमती जिनराजदास : आत्म-साक्षात्कार सुनने में इतना सरल प्रतीत होता है, किन्तु फिर भी व्यवहार में कितना कठिन है।

म० : इससे सरल क्या हो सकता है? आत्मा किसी भी अन्य वस्तु से अधिक निकट है। यदि इसका साक्षात् न हो सके, तो क्या सुदूर तथा पृथक का साक्षात् करना सरल होगा?

भक्त : आत्म-साक्षात्कार कितना भ्रामक है। यह स्थायी किस प्रकार बनाया जा सकता है?

म० : आत्मा कभी भी भ्रामक नहीं हो सकता। केवल यही सत्य है। जो प्रकट होता है, वह लुप्त भी होगा और इसलिए अस्थायी है। आत्मा का न उदय होता है न विलय, अत: स्थायी है।

भक्त : हाँ—सत्य है। आप जानते हैं कि थियोसोफिकल समाज में, मार्गदर्शन हेतु गुरुओं की खोज के लिए ध्यान किया जाता है।

म० : गुरु अन्दर है। ध्यान का उद्देश्य अज्ञान तथा उनको बाहर समझने की मिथ्या धारणा का निवारण करना है। यदि वह अपरिचित है जिसके आगमन की तुम्हें प्रतीक्षा है तो वह अवश्य अदृश्य भी होगा। उसके जैसे अस्थायी व्यक्ति से क्या लाभ?

तथापि जब तक तुम स्वयं को एक व्यक्ति अथवा देह मानते हो, तब तक गुरु की भी आवश्यकता है और वह सशरीर उपस्थित होगा। जब इस मिथ्या तादात्म्यता का निवारण हो जायगा, तब आत्मा गुरु रूप में प्रकट होगा।

कैवल्य में एक छन्द है:

"मेरे प्रभो! आत्मा के रूप में आपने अन्तस्थ रहकर समस्त पूर्व-जन्मों में मेरी रक्षा की है। अब आपने अनुग्रह कर अपने आपको गुरु रूप में अभिव्यक्त किया है तथा स्वयं को आत्मा के रूप में प्रकट किया है।"

तनिक देखो सुषुप्ति में क्या होता है। वहाँ न अहंकार है, न भारत है, न साधक हैं, न गुरु, आदि हैं; तथापि तुम हो तथा सुखी भी हो।

अहंकार, भारत, साधक, आदि अभी दीखते हैं; किन्तु वे न तो तुमसे पृथक हैं और न स्वतन्त्र।

मतदान की छुट्टियों के कारण बड़ी संख्या में दर्शक आये थे और उनमें से कुछ विचार-विमर्श में भी सम्मिलित हो गये।

एक ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।

म० : जब तक अज्ञान है केवल तभी तक पुनर्जन्म हो सकता है। न अब जन्म हुआ है, न पहले था, न भविष्य में होगा। यही सत्य है।

भक्त : अशुद्ध-आत्मा क्या है ?

म० : अशुद्ध-आत्मा का उदय एवं विलय होता रहता है तथा यह अस्थायी है, जबकि शुद्ध आत्मा सदैव स्थायी रहता है। यद्यपि तुम स्वयं वास्तविक आत्मा हो तथापि तुम शुद्ध आत्मा का अशुद्ध-आत्मा से मिथ्या तादात्म्य कर लेते हो।

भक्त : यह भूल कैसे होती है ?

म० : विचार करो, क्या यह भूल हुई है ?

भक्त : अशुद्ध-आत्मा को वास्तविक आत्मा में निर्मल करना होगा।

म० : अशुद्ध-आत्मा का कोई भी अस्तित्व नहीं है।

भक्त : यह हमें कष्ट क्यों देता है ?

म० : कष्ट किसको है ? कष्ट भी कल्पित है। दुःख तथा सुख केवल अहंकार को हैं।

भक्त : जगत अज्ञान से इतना आवृत क्यों है ?

म० : स्वयं की चिन्ता करो। संसार को अपनी सँभाल स्वयं करने दो। निज आत्मा को देखो। यदि तुम देह हो तो स्थूल जगत का अस्तित्व भी है। यदि तुम आत्मा हो, सब केवल आत्मा है।

भक्त : व्यक्ति के लिए यह उत्तम होगा, किन्तु बाकी सबके लिए क्या ?

म० : पहले इसे करो और तब देखो; क्या बाद में संशय रहता है।

भक्त : क्या अविद्या है ?

म० : वह किसके लिए है ?

भक्त : अशुद्ध-आत्मा के लिए।

म० : हाँ, अहंकार के लिए। अहंकार के लिए निवारण करो; अविद्या गयी। उसे खोजोगे तो अहंकार नष्ट हो जायगा। केवल शुद्ध आत्मा रहता है। अविद्या को मानने वाला अहंकार नहीं दीखेगा। वास्तव में अविद्या का कोई अस्तित्व नहीं है। समस्त शास्त्रों का अभिप्राय अविद्या के अस्तित्व का प्रतिवाद करना है।

भक्त : अहंकार का उदय कैसे हुआ ?

म० : अहंकार नहीं है। अन्यथा क्या तुम दो आत्माएँ स्वीकार करते हो ? अहंकार के अभाव में, अविद्या का होना कैसे सम्भव है ? यदि तुम खोज

करोगे, तो ज्ञात होगा कि जिस अविद्या का अस्तित्व ही नहीं है वह नहीं मिलेगी अथवा तुम कहोगे कि वह लुप्त हो गयी।

अविद्या अहम्-भाव के अन्तर्गत है। तुम अहंकार का क्यों विचार करते हो और दुःखी भी होते हो? फिर अविद्या क्या है? यह वह है जिसका अस्तित्व नहीं है। तथापि सांसारिक जीवन अविद्या की कल्पना चाहता है। अविद्या केवल हमारा अज्ञान है, और अधिक कुछ नहीं। यह आत्मा का अज्ञान अथवा उसकी विस्मृति है। क्या सूर्य के समक्ष अन्धकार सम्भव है? क्या इसी प्रकार प्रत्यक्ष एवं स्व-प्रकाशित आत्मा के समक्ष अज्ञान सम्भव है? यदि तुम आत्मा को जान लोगे तो न अन्धकार होगा, न अज्ञान होगा, और न दुःख होगा।

कष्ट, दुःख आदि का अनुभव मन करता है। अन्धकार न आता है, न जाता है। सूर्य को देखो और कोई अन्धकार नहीं है। इसी प्रकार, आत्मा को देखो एवं जानोगे कि अविद्या का अस्तित्व ही नहीं है।

भक्त : श्री रामकृष्ण एवं दूसरों ने एकाग्रता का अभ्यास किया था।

म० : एकाग्रता तथा अन्य समस्त अभ्यासों का उद्देश्य है, अज्ञान के अभाव को अनुभव करना। स्वयं की सत्ता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। अस्तित्व ज्ञान है अर्थात् जागरूकता। उस जागरूकता का अभिप्राय है अज्ञान का अभाव। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतया अज्ञान के अस्तित्व के न होने को स्वीकार करता है। और फिर भी वह कष्ट क्यों उठाता है? चूंकि वह यह समझता है कि वह यह है अथवा वह है। यही भूल है। केवल "मैं अस्तित्व हूँ" न कि "मैं ऐसा हूँ और ऐसा" अथवा 'मैं वैसा हूँ और वैसा।" जब अस्तित्व पूर्ण है वह सत् है; जब इसका विशेष रूप से वर्णन किया जाता है, तब असत् है। यही सम्पूर्ण सत्य है।

देखो प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकार करता है। क्या वह अपने अस्तित्व को जानने के लिए किसी दर्पण में देखता है? उसका बोध उससे अपने अस्तित्व को स्वीकार कराता है। किन्तु वह उसको देह, आदि से मिला देता है। वह ऐसा क्यों करता है? क्या सुषुप्ति में उसे अपनी देह का बोध रहता है? नहीं; तथापि सुषुप्ति में उसके अस्तित्व का अभाव नहीं हो जाता। वहाँ वह बिना देह के भी होता है। उसे यह बोध किस प्रकार होता है कि वह सुषुप्ति में रहता है? अभी क्या उसे अपना अस्तित्व प्रकट करने को दर्पण की आवश्यकता है? केवल जागरूक रहो, और तुम्हारी जागरूकता में तुम्हारा अस्तित्व स्पष्ट है।

भक्त : व्यक्ति आत्मा को कैसे जानें?

म० : "आत्मा को जानने" से तात्पर्य है "आत्मा होना।" क्या तुम

कह सकते हो कि तुम आत्मा को नहीं जानते ? यद्यपि तुम स्वयं अपने नेत्रों को नहीं देख सकते और यद्यपि देखने को तुम्हारे पास दर्पण नहीं है, क्या तुम अपने नेत्रों के अस्तित्व से इन्कार करते हो ? इसी प्रकार, यद्यपि आत्मा बाहरी वस्तु नहीं है तथापि तुम आत्मा से अवगत हो। अथवा क्या तुम अपने आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करते हो क्योंकि वह बाहरी दृश्य नहीं है ? जब तुम कहते हो "मैं आत्मा को नहीं जान सकता" इसका अर्थ है सापेक्ष ज्ञान के सन्दर्भ में अभाव, चूँकि तुम सापेक्ष ज्ञान के इतने अभ्यस्त हो गये हो कि तुम स्वयं को उससे मिला लेते हो। इस प्रकार की मिथ्या तादात्म्यता स्पष्ट आत्मा को जानने में कठिनाई पैदा करती है, चूँकि वह बाहरी दृश्य पदार्थ नहीं हो सकता; और तुम जिज्ञासा करते हो, "व्यक्ति आत्मा को किस प्रकार जानें ?" तुम्हारी कठिनाई "किस प्रकार ?" में केन्द्रित हो जाती है। आत्मा को कौन जानेगा ? क्या देह उसे जान सकती है ?

देह को उत्तर देने दो। यह कौन कहता है कि इस समय देह की अनुभूति हो रही है ?

इस प्रकार के अज्ञान का सामना करने के लिए शास्त्रों ने परमात्मा की लीला अथवा क्रीड़ा के सिद्धान्त की रचना की है। ऐसा कहते हैं कि ईश्वर मन, इन्द्रिय तथा देह रूप में प्रकट होकर लीला करता है ! तुम यह कहने वाले कौन हो कि यह लीला तुमको कष्ट देती है ? ईश्वर की लीला पर आपत्ति करने वाले तुम कौन हो ?

तुम्हारा कर्तव्य है 'होना' : न कि यह अथवा वह होना "अस्तित्व ही मैं हूँ" सम्पूर्ण सत्य का सार है। संक्षेप में इसकी पद्धति है—"शान्त हो जाओ।" शान्ति का क्या अर्थ है ? इसका आशय है अपने आप (अर्थात् देह-भाव) को नष्ट कर दो"। क्योंकि जो भी आकार या रूप है, कष्ट का कारण है। यह धारणा त्याग दो कि "मैं ऐसा हूँ और ऐसा"। हमारे शास्त्र कहते हैं; "अहमिति स्फुरति" (यह 'मैं' के रूप में प्रकाशित होता है)

भक्त : स्फुरण क्या है ?

म० : 'मैं' आत्मा है; 'मैं यह हूँ' अथवा 'मैं और यह' अहंकार है। स्फुरण नित्य है। अहंकार अनित्य है : जब 'मैं' को केवल 'मैं' माना जाता है, यह आत्मा है; जब यह अपने निज स्वरूप से भटक जाता है और अपने को 'यह' कहता है यह अहंकार है।

भक्त : क्या परमात्मा आत्मा से पृथक है ?

म० : आत्मा परमात्मा है। "मैं अस्तित्व हूँ" परमात्मा है। हे अर्जुन ! मैं आत्मा हूँ। (अहमात्मा गुडाकेश गीता १०-२०)

चूँकि तुम अशुद्ध-आत्मा पर टिके हुए हो, इसलिए यह प्रश्न उदय होता है।

यदि तुम वास्तविक आत्मा पर टिकोगे तो यह उदय नहीं होगा। क्योंकि शुद्ध आत्मा न कोई प्रश्न करेगा न कर सकता है। यदि परमात्मा आत्मा से भिन्न हो तो वह परमात्मा अनात्मा होगा, जो हास्यास्पद है।

भक्त : नमस्कार क्या है ?

म० : नमस्कार का अभिप्राय है "अहंकार का शमन"। 'शमन' क्या है ? अपने उद्गम के मूल में विलीन होना। परमात्मा को ऊपरी ढंग, जैसे घुटने टेककर उपासना करना, प्रणाम तथा साष्टांग दण्डवत से धोखा नहीं दिया जा सकता। वह देखता है कि वहाँ व्यक्तित्व है अथवा नहीं।

श्री शमन्ना : क्या "मैं अस्तित्व हूँ" की अनुभूति किसी छठी इन्द्रिय से होती है ?

म० : क्या वह सुषुप्ति में होती है ? केवल एक ही सत्ता पाँचों इन्द्रियों में कार्य कर रही है। अथवा क्या तुम्हारा यह आशय है कि प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा से स्वतन्त्र है तथा पाँच आत्माएँ हैं जो अपने नियन्त्रण के लिए छठी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ? एक शक्ति है जो पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से कार्य कर रही है। तुम ऐसी शक्ति के अस्तित्व को कैसे अस्वीकार कर सकते हो ? क्या तुम स्वयं के अस्तित्व को नहीं मानते ? क्या तुम सुषुप्ति में भी नहीं रहते, जहाँ देह की अनुभूति नहीं होती ? वही 'मैं' अब भी विद्यमान है। इस प्रकार हम अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, चाहे देह हो अथवा नहीं। इन्द्रियाँ नियत समय पर कार्य करती हैं। उनका कार्य आरम्भ होता है तथा समाप्त होता है। ऐसे आधार का होना परम आवश्यक है जिस पर उनका कार्य निर्भर करे। वे कहाँ उदय तथा विलीन होती हैं ? केवल एक ही आधार होगा। यदि तुम यह कहो कि उस अद्वितीय सद्वस्तु की प्रतीति नहीं होती तो तुम उस एक अस्तित्व का होना स्वीकार कर रहे हो; चूँकि तुम कहते हो कि उसे जानने के लिए कोई दूसरा नहीं है।

यह सारे वादविवाद केवल अज्ञान के उन्मूलन के लिए हैं। इसके हो जाने पर प्रत्येक वस्तु स्पष्ट हो जायगी। यह विषय योग्यता अथवा परिपक्वता का है।

भक्त : क्या अनुग्रह साधक में ऐसी योग्यता शीघ्रता से नहीं ला सकता ?

म० : यह उस पर छोड़ दो। सम्पूर्ण समर्पण करो। दो में से एक करना आवश्यक है। या तो इसलिए समर्पण करो कि तुम स्वयं की अयोग्यता स्वीकार करते हो तथा एक उच्चतर शक्ति की सहायता चाहते हो; अथवा दुःख के कारण को खोजो और स्रोत में जाकर आत्मा में विलीन हो जाओ। किसी भी मार्ग से तुम दुःख से मुक्त हो जाओगे। जिसने समर्पण कर दिया है परमात्मा उसे कभी नहीं त्यागते। मामेकं शरणं व्रज (गीता १८-६६)।

भक्त : समर्पण के पश्चात् मन का प्रवाह कैसा होता है ?

म० : क्या यह प्रश्न समर्पित मन कर रहा है (हँसी)।

३६४. नैलोर के प्रोफेसर ने विश्वरूप दर्शन के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।

म० : विश्वात्मा दर्शन, विश्वरूप दर्शन, विश्व ही है। श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय से यह कहते हुए उपदेश आरम्भ किया, "मेरा कोई आकार नहीं है।" एकादश अध्याय में वे कहते हैं "विश्व को मेरे आकार के रूप में देखो।" क्या यह संगत है ? फिर वे कहते हैं "मैं तीनों लोकों से परे हूँ", किन्तु अर्जुन उनमें तीनों लोकों के दर्शन करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं मनुष्यों, देवताओं आदि द्वारा नहीं देखा जा सकता", तथापि अर्जुन उनमें अपने आपको और देवताओं का दर्शन करता है। अन्य कोई भी नहीं देख सकता था तथापि अर्जुन उनको देखने के लिए दिव्य दृष्टि से युक्त था। क्या यह सब उलझाव पैदा करने वाले विरोधाभास नहीं हैं ?

उत्तर है कि समझ गलत है। शारीरिक स्तर पर स्थूल दृष्टि निरर्थक है। ज्ञान दृष्टि आवश्यक है। इसी कारण अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान किये गये। क्या ऐसी दृष्टि स्थूल हो सकती है ? क्या ऐसा अर्थ तुम्हें ठीक समझ दे सकता है ?

श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं काल हूँ।" क्या काल का आकार है ?

फिर यदि विश्व उसका आकार है, तो क्या इसका सदैव एक ही रहना तथा एकसा रहना आवश्यक नहीं ? श्रीकृष्ण अर्जुन से यह क्यों कहते हैं, "जो कुछ भी तुम देखना चाहो मुझ में देखो ?" इसका आशय है कि उसका आकार द्रष्टा की इच्छाओं के अनुसार होता है। वे "दिव्य दृष्टि" का वर्णन करते हैं तथापि प्रत्येक व्यक्ति दृश्य का वर्णन अपने दृष्टिकोण से करता है। उस दृश्य में द्रष्टा भी है। यह सब क्या है ? एक जादूगर भी तुमको विचित्र दृश्य दिखाने में समर्थ है। इसको तुम हाथ की सफाई कहते हो, जबकि दूसरी को तुम दिव्य कहते हो। यह भेद क्यों ? जो कुछ दीखता है सत्य नहीं हो सकता। यही सत्य है।

३६५. जब श्री भगवान इसी विषय पर बोल रहे थे, एक दर्शक ने पूछा आत्मा की देह से तादात्म्यता का निवारण कैसे हो।

म० : सुषुप्ति के सम्बन्ध में क्या ?

भक्त : उस समय अज्ञान रहता है।

म० : सुषुप्ति में तुमको अपने अज्ञान का ज्ञान कैसे हुआ ? सुषुप्ति में तुम थे, अथवा नहीं ?

भक्त : मैं नहीं जानता।

म० : क्या तुम सुषुप्ति में अपने अस्तित्व के होने से इन्कार करते हो ?

भक्त : अपने तर्क से तो मुझे इसे स्वीकार करना आवश्यक है ।

म० : अपने अस्तित्व का तुम किस प्रकार अनुमान करते हो ?

भक्त : तर्क तथा अनुभव से ।

म० : क्या अनुभव के लिए तर्क आवश्यक है ? (हँसी)

भक्त : क्या ध्यान विश्लेषणात्मक है अथवा समन्वयात्मक ?

म० : विश्लेषण तथा समन्वय बुद्धि के क्षेत्र में हैं । आत्मा बुद्धि से परे है ।

३६६. साढ़े तीन बजे दोपहर को चलने से पूर्व श्रीमती डोडवैल ने दूसरा प्रश्न किया कि नेति-नेति का क्या अर्थ है ?

म० : अब आत्मा का देह, इन्द्रियों, आदि से मिथ्या तादात्म्य है । तुम इनको हटाना प्रारम्भ करो, और यह 'नेति' है । यह केवल उस एक पर टिकने से होगा, जिसको कभी अलग नहीं किया जा सकता । केवल यही इति है ।

२१ फरवरी, १९३७

३६७. सामयिक आने वाली एक मराठी महिला जाते समय लगभग रोने सी लगी, उसने जिज्ञासा की; मैं जानती हूँ कि मुक्ति एक जीवन में असम्भव है । तथापि क्या मैं इस जीवन में मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकती ?

महर्षि ने महिला की ओर अत्यन्त करुणापूर्ण दृष्टि से देखा एवं कोमल स्वर में मुस्कराते हुए कहा : जीवन तथा अन्य समस्त केवल ब्रह्म के अन्तर्गत है । ब्रह्म यहीं और अभी है । खोजो ।

भक्त : मैं अनेक वर्ष से ध्यान का अभ्यास कर रही हूँ । तथापि मेरा मन निश्चल नहीं है तथा ध्यान में मन स्थिर नहीं होता ।

महर्षि ने सुस्थित दृष्टि से महिला की ओर देखा तथा कहा : "अब ध्यान करो तथा सब ठीक होगा ।"

३६८. श्री मारिस फ्रायडमैन के साथ एक ९-१० वर्ष की लड़की दोपहर १२ बजे पलाकोथू में श्री भगवान के दर्शनार्थ आयी । लड़की की माँ मद्रास विश्वविद्यालय में संस्कृत की रिसर्च स्कालर है । श्री भगवान यथास्वभाव कृपापूर्वक उसकी ओर मुस्कराये ।

उसने श्री भगवान से प्रश्न किया "पृथ्वी पर दुःख क्यों है ?"

म० : कर्म के कारण ।

भक्त : कर्म का फल कौन देता है ?

म० : ईश्वर ।

भक्त : ईश्वर हमें कर्म में प्रवृत्त करता है तथा फिर दुष्कर्म के फलस्वरूप दुःख देता है । क्या यह उचित है ?

श्री भगवान लगभग हँस पड़े तथा उससे बहुत प्रसन्न हुए । तदुपरान्त कक्ष में वापस आने के बाद श्री भगवान ने लड़की से कुछ पढ़ने के लिए आग्रह किया । तब से श्री भगवान उसकी ओर दृष्टि रख रहे हैं ।

२२ फरवरी, १६३७

३६९. एक मराठी सज्जन जिनकी मध्यायु निकल चुकी है यहाँ सपत्नीक दर्शनार्थ आये हैं । वे शान्त तथा सरल हैं । दोनों ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से विदा ली तथा पुरुष ने सिसकते हुए श्री भगवान के अनुग्रह के लिए प्रार्थना की ।

श्री भगवान ने खुले हुए होठों से, शुभ्र दन्त-पंक्ति को दिखाते हुए उनकी ओर दृष्टि जमायी । महर्षि के कमल नेत्रों में भी एक आँसू था ।

३७०. श्री भगवान पशुशाला में थे । लोग कार्य कर रहे थे तथा वे कुछ देर तक उनके कार्य का निरीक्षण करते रहे । तब एक व्यक्ति ने आकर कहा कि कक्ष में बहुत-से दर्शनार्थी प्रतीक्षा कर रहे हैं । श्री भगवान ने अपने सहज शान्त स्वर में कहा : "हाँ—हाँ, तुम अपना कार्य करो । मुझे अपना कार्य करने जाने दो । लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं । मुझे जाने दो ।" तदुपरान्त महर्षि चले गये ।

२३ फरवरी, १६३७

३७१. मध्यम-आयु के तीन आन्ध्रवासियों का समूह श्री भगवान के दर्शनार्थ आया ।

एक ने घुटने टेककर पूछा, "मैं हठयोग का अभ्यास कर रहा हूँ अर्थात् बस्ती, धोती, नेती, आदि । मेरे टखने की नाड़ी सख्त हो गयी है । क्या यह योगाभ्यास से हुई है ?

म० : नाड़ी किसी भी परिस्थिति में कड़ी हो सकती थी । अब तुम्हारे लिये यह उतनी कष्टदायक नहीं है जितनी कि अन्यथा होती । हठयोग स्वच्छता की प्रक्रिया है । इससे प्राणायाम सहज होता है और मन की शान्ति भी होती है ।

भक्त : क्या मैं प्राणायाम करूँ ? क्या यह उपयोगी है ?

म० : प्राणायाम मन को निग्रह करने का साधन है । तुम्हें केवल प्राणायाम तक ही नहीं रुकना चाहिए । तुम्हें उसके आगे प्रत्याहार, धारणा,

ध्यान तथा समाधि तक पहुँचना परम आवश्यक है। अन्ततोगत्वा पूर्ण सफलता प्राप्त होगी।

दल के एक अन्य सदस्य ने पूछा : काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, मत्सर पर किस प्रकार विजय प्राप्त करें ?

म० : ध्यान द्वारा।

भक्त : ध्यान क्या है ?

म० : ध्यान एक विचार पर एकाग्र होना तथा अन्य समस्त संकल्पों को दूर रखना है।

भक्त : किस पर ध्यान करें ?

म० : अपनी रुचि के अनुसार।

भक्त : कहा जाता है कि शिव, विष्णु तथा गायत्री समान रूप से कल्याणकारी हैं। मैं किस पर ध्यान करूँ।

म० : जिसको तुम उत्तम समझो। उन सबका प्रभाव समान है। किन्तु तुम एक पर टिके रहो।

भक्त : ध्यान किस प्रकार करें ?

म० : जो तुम्हारा इष्ट हो उस पर एकाग्र होओ। यदि एक ही विचार व्याप्त रहता है, तो दूसरे समस्त विचार दूर हो जायेंगे तथा पूर्णतया नष्ट हो जायेंगे। जब तक नानात्व है, बुरे संकल्प रहेंगे। जब इष्ट का ध्यान होगा तो केवल उत्तम विचार रहेंगे। इस कारण केवल एक ही विचार पर टिके रहो। ध्यान ही मुख्य अभ्यास है।

कुछ समय पश्चात् श्री भगवान ने कहा : ध्यान का अर्थ है संघर्ष। जैसे ही तुम ध्यान का प्रारम्भ करते हो दूसरे संकल्प इकट्ठे होंगे, शक्ति ग्रहण करेंगे और तुम्हारे एकमात्र विचार जिस पर तुम दृढ़ रहने का प्रयास कर रहे हो उसे दृष्टि से परे करने का प्रयास करेंगे। बारम्बार के अभ्यास द्वारा उत्तम विचार को धीरे-धीरे निश्चय ही शक्ति प्राप्त होगी। इसके सबल होने पर अन्य विचार विलीन हो जायेंगे। ध्यान में यह शानदार युद्ध निरन्तर चलता रहता है।

व्यक्ति अपने आपको दुःख से मुक्त करना चाहता है। इसके लिए मानसिक शान्ति आवश्यक है, जिसका अर्थ है क्षोभ का अभाव जो कि नाना प्रकार के संकल्पों से होता है। मानसिक शान्ति केवल ध्यान से सुलभ होती है।

भक्त : फिर प्राणायाम की क्या आवश्यकता है ?

म० : प्राणायाम की आवश्यकता उसके लिए है जो अपने संकल्पों पर सीधे विजय नहीं पा सकता है। यह मोटर के ब्रेक के समान है। किन्तु यहीं तक

न रुका जाये, जैसा कि मैंने पूर्व में कहा था, किन्तु प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान तक जाना आवश्यक है। ध्यान के सफल होने पर प्राणायाम के बिना भी मन नियन्त्रित हो जायगा। आसनों से प्राणायाम में सहायता मिलती है; जिससे ध्यान सुलभ होता है, और इसका फल होता है मन की शान्ति। हठयोग का यही अभिप्राय है।

श्री भगवान ने आगे कहा : ध्यान के भली प्रकार दृढ़ हो जाने के पश्चात् उसका त्याग नहीं हो सकता। कार्य, खेल तथा उपभोग में संलग्न रहते हुए भी ध्यान स्वतः बना रहेगा। यह निद्रा में भी बना रहेगा। ध्यान इतना सुदृढ़ हो जाना चाहिए कि वह व्यक्ति के लिए स्वाभाविक हो जाय।

भक्त : ध्यान की प्रगति के लिए किस धार्मिक क्रिया अथवा प्रयास की आवश्यकता है ?

म० : ध्यान स्वयं ही कर्म, धार्मिक क्रिया तथा प्रयास है। यह सबसे अधिक तीव्र तथा शक्तिशाली है। अन्य कोई प्रयास आवश्यक नहीं है।

भक्त : क्या जप आवश्यक नहीं है ?

म० : क्या ध्यान बोलना नहीं है ? इसके लिए जप की क्या आवश्यकता है ? यदि ध्यान हो जाय तो फिर किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है।

भक्त : क्या मौनव्रत सहायक नहीं है ?

म० : व्रत तो केवल व्रत ही है। यह किसी सीमा तक ध्यान में सहायक हो सकता है। यदि मन चंचल रहे तो मौन से क्या लाभ होगा। यदि मन ध्यान में संलग्न हो जाय तो फिर बोलने की क्या आवश्यकता है ?

ध्यान से बढ़कर कुछ भी नहीं है। क्या मौन का व्रत लेकर कर्म करना चाहिए, उस व्रत से क्या लाभ ?

भक्त : ज्ञान-मार्ग क्या है ?

म० : इतनी देर से मैं यही बता रहा था। ज्ञान क्या है ? ज्ञान का अर्थ है सत्य का अनुभव करना। यह ध्यान से होता है। ध्यान समस्त संकल्पों का निवारण करके तुमको सत्य पर टिकने में सहायता करता है।

भक्त : इतने देवताओं का वर्णन क्यों किया गया है ?

म० : शरीर एक ही है। फिर भी, वह कितने तरह के कार्य करता है ? समस्त कार्यों का स्रोत केवल एक है। देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार है।

भक्त : मनुष्य दुःख क्यों भोगता है ?

म० : नाना प्रकार के संकल्पों के कारण दुःख होता है। यदि संकल्पों को एकीकृत कर उन्हें केवल एक वस्तु पर केन्द्रित कर लिया जाय तो दुःख

नहीं रहेगा किन्तु उसका परिणाम आनन्द होगा। तब "मैं कुछ करता हूँ" का भाव भी लुप्त हो जायगा; तब कर्म के फल पर भी दृष्टि नहीं रहेगी।

३७२. **भक्त** : रोमांच, गद्गद् स्वर, आनन्द के आँसू, आदि; का "आत्म विद्या विलास" तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णन आया है। क्या यह समाधि में, अथवा पहले, अथवा बाद में होते हैं ?

म० : यह सब मन की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों के लक्षण हैं। बिना द्वैत के यह नहीं रह सकते। समाधि पूर्ण शान्ति की अवस्था है, जहाँ इनके लिए कोई स्थान नहीं। समाधि से बाहर आने पर उस अवस्था की स्मृति से यह लक्षण उदय होते हैं। भक्ति मार्ग में यह समाधि से पहले होते हैं।

भक्त : क्या ज्ञान मार्ग में वे इस प्रकार नहीं हैं ?

म० : सम्भव है। इस विषय में कुछ निश्चितता नहीं है। यह व्यक्तिगत स्वभाव पर निर्भर है। व्यक्तित्व के पूर्णतया नष्ट होने पर यह लक्षण नहीं रह सकते। यदि व्यक्तित्व का तनिक भी लेश होगा, यह लक्षण प्रकट होंगे।

मानिकवचागर तथा अन्य सन्तों ने इन लक्षणों का वर्णन किया है। उनके अनुसार अश्रुधारा स्वतः ही बिना रुके प्रवाहित होती रहती है। अश्रुओं का भान होते हुए भी वे उनको रोक नहीं सकते। जब मैं विरुपाक्ष गुफा में रहता था तब मुझे भी यही अनुभव हुआ था।

भक्त : सुषुप्ति की अवस्था को आनन्द का अनुभव कहा गया है, तथापि, इसका स्मरण कर रोमांच नहीं होता। समाधि का स्मरण करने पर ऐसा क्यों होता है ?

म० : समाधि का अर्थ है जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति (जाग्रत सुषुप्ति)। आनन्द अत्यधिक है तथा अनुभव बहुत स्पष्ट होता है, जबकि सुषुप्ति में यह भिन्न होता है।

भक्त : क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि सुषुप्ति में न दुःख है, और न सुख, अर्थात् अनुभव निषेधक है न निश्चयात्मक।

म० : किन्तु स्मृति निश्चयात्मक है। "मैं आनन्द से सोया," मनुष्य कहता है। इससे निश्चय होता है कि सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव था।

भक्त : क्या केवल दुःख के अभाव को आनन्द कहते हैं; अथवा यह कुछ निश्चयात्मक है ?

म० : यह निश्चयात्मक है। दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति एक साथ होती है।

भक्त : क्या ऐसा है कि सुषुप्ति के आनन्द की स्मृति स्पष्ट न होने से रोमांच, आदि नहीं होता ?

म० : समाधि के आनन्द का अनुभव पूर्णतया स्पष्ट होता है तथा इसकी स्मृति भी इसी प्रकार होती है। परन्तु सुषुप्ति का अनुभव भिन्न प्रकार का है।

२८ फरवरी, १९३७

३७३. हिज हाईनैस महाराजा मैसूर ने प्रातःकाल ९·१५ से ९·३० तक श्री भगवान से नव-निर्मित स्नानागार में निजी भेंट की। महाराजा ने श्री भगवान के चरण कमलों में सिर टेककर प्रणाम करते हुए कहा : मुझे श्री भगवान के जीवन-चरित्र को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं बहुत समय से उनके दर्शन का इच्छुक था, किन्तु मेरी परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो इस तरह की आकांक्षाओं की पूर्ति सरलता से नहीं होने देतीं। अपनी समस्त मर्यादाओं के कारण मैं अन्य शिष्यों की भाँति यहाँ ठहर भी नहीं सकता। जो पन्द्रह मिनट मैं यहाँ रहूँगा उसमें केवल आपके अनुग्रह की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करूँगा। (विदा लेते समय हिज हाइनैस ने श्री भगवान को पूर्ववत् प्रणाम किया तथा दो उत्तम दुशाले तथा कुछ धनराशि कार्यालय को भेंट कर पधार गये।)

१३ मार्च, १९३७

३७४. त्रावणकोर के महाराजा ने संध्या के ४·३० से ५·१५ तक भेंट की।

त्रावणकोर के महाराजा जो महारानी सहित तिरुवन्नामलाई प्रातःकाल ८ बजे की ट्रेन से पधारे थे, ४·१५ बजे सायंकाल आश्रम में दर्शन हेतु आये। जिस कक्ष में श्री भगवान विराजमान थे, वहाँ से जनता को बाहर कर दिया गया था।

एक दुःखजनक भूल के कारण प्रतिदिन आने वाले भक्तों को भी उस भेंट के समय बाहर कर दिया गया था। एक अवकाश प्राप्त जिलाधीश ने राज्य परिवार का श्री भगवान से परिचय कराया। हिज हाइनैस के दो ए० डी० सी०, महाराजा के व्यक्तिगत सचिव, त्रावणकोर राज्य के कुछ अधिकारी तथा मैलापुर के एक वकील उपस्थित थे। चर्चा का प्रारम्भ जिलाधीश ने किया जो मन, ध्यान, साक्षात्कार, सृष्टि का अभिप्राय, आदि विषयों पर चलती रही। महारानी ने अपने संशयों को प्रकट करते हुए कुछ प्रश्न किये जिन सबका श्री भगवान ने समाधान किया। हिज हाइनैस महाराजा ने भी चर्चा में भाग लिया। पूरी वार्ता तमिल तथा मलयालम में हुई।

ट्रावनकोर राज्य परिवार के आगमन के समय महारानी ने अपनी सुसंस्कृति, तथा सजीवता का बहुत अधिक परिचय दिया। उनको मलयालम, तमिल तथा अंग्रेजी भाषाओं का अच्छा अभ्यास था। अधिकतर प्रश्न महारानी ने किये थे। एक प्रश्न था :

भक्त : सृष्टि का क्या प्रयोजन है ?

म० : इस प्रश्न को उठाना ही इसका प्रयोजन है; इस प्रश्न का उत्तर खोजो, और अन्ततः आत्मा सहित सबके असली स्रोत ब्रह्म में स्थिर रहो। इस खोज की प्रक्रिया का आत्मानुसन्धान में विलय होगा और खोज तभी समाप्त होगी जबकि अनात्मा विलीन हो जाये एवं शुद्ध एवं दिव्य आत्मा की अनुभूति हो जाये।

भक्त : खोज कैसे आरम्भ करें ?

म० : आत्मा सबको स्पष्ट है तथा प्रारम्भ भी उसी प्रकार स्पष्ट है।

भक्त : प्रगति की जो मेरी अवस्था है उसमें प्रारम्भ कहाँ से हो ?

म० : प्रत्येक व्यक्ति उपासना तथा जप का कोई अभ्यास करता है। यदि उसमें पूर्ण निष्ठा एवं धैर्य के साथ निरन्तर लगा रहेगा तो उससे आत्मा की खोज स्वतः ही हो जायगी।

[इस वार्तालाप का लेखक उपस्थित नहीं था। उपरोक्त विवरण श्री महर्षि के एक परिचारक से प्राप्त किया गया है।]

२१ मार्च, १९३७

३७५. मध्यम-उम्र के एक कन्नड़ दर्शक ने अकर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया।

म० : अहंकार के नष्ट होने के बाद व्यक्ति जो भी कर्म करता है वह अकर्म है।

३७६. एक विद्वान तेलुगु दर्शक, जिसने श्री भगवान की प्रशंसा में एक भजन बनाया था, पढ़कर सुनाया तथा उसे उनके श्री चरणों में रखकर प्रणाम किया। कुछ समय के बाद उसने उपदेश की आकांक्षा प्रकट की।

म० : "उपदेश सारम" में उपदेश का वर्णन है।

भक्त : किन्तु मौखिक तथा व्यक्तिगत उपदेश मूल्यवान है।

म० : यदि कोई नवीन तथा अब तक अज्ञात वस्तु हो तो उपदेश का औचित्य है। यहाँ मन को शान्त करना एवं संकल्पों से मुक्त रहना है।

भक्त : यह असम्भव प्रतीत होता है।

म० : किन्तु यथार्थतः यही सबकी मूल एवं नित्य अवस्था है।

भक्त : हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार में इसका अनुभव नहीं होता।

म० : दैनिक जीवन शाश्वत अवस्था से पृथक नहीं है। जब तक दैनिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन से भिन्न माना जायगा, यह कठिनाइयाँ उदय होंगी। यदि आध्यात्मिक जीवन को यथार्थतः समझ लिया जाय तो व्यावहारिक जीवन इससे भिन्न नहीं दीखेगा।

क्या मन को दृश्य वस्तु मानकर, मन द्वारा उसको प्राप्त किया जा सकता है? मानसिक क्रिया के स्रोत को खोजकर उसे प्राप्त करना चाहिए। यही सत्य है।

संकल्पों के विघ्न के कारण व्यक्ति आत्मा को नहीं जानता। जब संकल्पों का शमन हो जाता है तब आत्मा की अनुभूति होती है।

भक्त : कोई विरला ही (लाखों में एक) साधनों की पूर्णता तक उसमें लगा रहता है। (गीता ७-३)

म० : जब भी चंचल मन इधर-उधर भागे उसी क्षण वहीं उसे रोको और संयम में करो। (गीता ६-२६)

उपनिषदों का कथन है : (मनसा मन आलोक्य) "मन का मन द्वारा दर्शन"।

भक्त : क्या मन उपाधि है?

म० : हाँ।

भक्त : क्या दृश्य जगत सत्य है?

म० : यह उतने ही अंश में सत्य है जितना कि दृष्टा। दृष्टा, दृश्य तथा दृष्टि की त्रिपुटी है। सत्य इन तीनों से परे है। यह उदय होते हैं तथा विलीन होते हैं, जबकि सत्य नित्य है।

भक्त : यह 'त्रिपुटी सम्भाव' केवल अस्थायी हैं।

म० : हाँ, यदि सांसारिक कार्यों में भी आत्मा का अनुभव करोगे तो त्रिपुटी का अस्तित्व नहीं दीखेगा, वास्तव में वे आत्मा से पृथक नहीं किये जा सकते हैं, और वे एक ही समय विद्यमान होंगे।

२२ मार्च, १९३७

३७७. मध्यम आयु के एक आन्ध्र-निवासी दर्शक ने प्रश्न किया : मनुष्य को दिव्य माना गया है। फिर उसे क्षोभ क्यों होता है?

म० : दिव्यत्व वास्तविक स्वरूप का सूचक है। क्षोभ प्रकृति का है।

भक्त : क्षोभों पर विजय कैसे प्राप्त की जाये?

म० : स्वयं में विद्यमान दिव्यत्व को अनुभव कर।

भक्त : किस प्रकार ?

म० : अभ्यास से ।

भक्त : किस प्रकार का अभ्यास ।

म० : ध्यान ।

भक्त : ध्यान करते समय मन स्थिर नहीं होता ।

म० : यह अभ्यास से ठीक हो जायगा ।

भक्त : मन को स्थिर किस प्रकार करें ?

म० : उसे शक्तिशाली बनाकर ।

भक्त : उसे शक्तिशाली कैसे बनायें ?

म० : सत्संग से वह शक्तिशाली होता है ।

भक्त : क्या प्रार्थना, आदि की आवश्यकता है ?

म० : हाँ ।

भक्त : जो क्षोभरहित हो उसके लिए क्या निर्देश है ?

म० : वह पूर्ण योगी है । उसके बारे में कोई प्रश्न नहीं है ।

भक्त : लोग भूकम्प, अकाल, आदि विपदाओं के उदाहरण देकर ईश्वर का खण्डन करते हैं । हम उनके इस तर्क का कैसे समाधान करें ?

म० : उन तर्क करने वालों का आगमन कहाँ से हुआ ?

भक्त : वे कहते हैं "प्रकृति" ।

म० : कुछ उसको "प्रकृति" कहते हैं—दूसरे "ईश्वर" ।

भक्त : क्या संकटकाल के लिए कुछ संग्रह कर सकते हैं; अथवा आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए संकटग्रस्त जीवन व्यतीत करें ?

म० : परमात्मा प्रत्येक वस्तु की देखभाल करता है ।

२७ मार्च, १९३७

३७८. आन्ध्रवासी दर्शक से वार्ता के मध्य श्री भगवान ने भगवद्गीता के छठे अध्याय का पैंतीसवाँ श्लोक उद्धृत किया :

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। (६-३५)

हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मन अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है, इसलिए इसको अवश्य वश में करना चाहिए ।

वैराग्य को स्पष्ट करते हुए श्री भगवान ने पुनः उद्धृत किया :

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।। (६-२४)

मनुष्य को चाहिए कि संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेषता से अर्थात् वासना और आसक्ति सहित त्यागकर और मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से ही अच्छी प्रकार वश में करे।

अभ्यास पर :

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ (६-२५)

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके, परमात्मा के सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे।

ज्ञान पर :

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (गीता ६-२६)

परन्तु जिसका मन वश में नहीं हुआ हो उसको चाहिए कि यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस-जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है, उस-उससे रोककर बारम्बार परमात्मा में ही निरोध करे।

२ अप्रेल, १९३७

३७९. एक मलयाली सज्जन, निलंबूर के श्री तिरुमलपाद ने "आत्म-विद्या" का अर्थ पूछा।

म० : श्री भगवान ने पाँच अक्षरों की इस संक्षिप्त रचना का अर्थ इस प्रकार बताया : चिदंबरम नन्दनार के नाम से सम्बद्ध प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। नन्दनार ने अपनी काव्य-रचना में आत्म-विद्या की प्राप्ति को अत्यन्त कठिन बताया है।

मुरुगनार (श्री भगवान के पुराने भक्त) ने भिन्न मत व्यक्त करते हुए आत्म-विद्या की उपलब्धि को सर्वाधिक सुलभ बताया। भजन की प्रमुख विषय-वस्तु है : "अय्ये अति सुलभम्"। इस असाधारण कथन को स्पष्ट करते हुए उनका तर्क है कि आत्मा स्वयं होने के कारण साधारण-से व्यक्ति को भी नित्य स्पष्ट है। मूल वक्तव्य एवं बाद के तर्क में समन्वय नहीं है क्योंकि आत्मा समस्त जीवों का आधार तथा स्पष्ट होने के कारण उसकी उपलब्धि की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। स्वभावतया इस विषय का आगे निरूपण न कर पा सकने के कारण लेखक ने अपनी बनायी चार पंक्तियाँ श्री भगवान के समक्ष उनकी पूर्ति हेतु रख दीं।

श्री भगवान ने शिष्य के कथन के सत्य को स्वीकार किया तथा स्पष्ट किया कि यद्यपि आत्मा स्पष्ट है, तथापि गुप्त क्यों है ? यह आत्मा का देह, आदि से मिथ्या तादात्म्यता के कारण है ।

भक्त : इस मिथ्या तादात्म्यता का कैसे उदय हुआ ?

म० : संकल्पों के कारण। यदि संकल्पों का नाश हो जाय तो वास्तविक आत्मा स्वत: ही प्रकाशित होगी ।

भक्त : इन संकल्पों का नाश किस प्रकार हो ?

म० : उनके आधार को खोजो। समस्त संकल्प केवल "अहंभाव" में गुथे हुए हैं। इसको नष्ट कर दो; शेष सब नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त आत्मा को तो नहीं जाना पर सब कुछ जान लिया; इसका कोई भी लाभ नहीं है। यदि आत्मा को जान लिया तो सब कुछ जान लिया इसलिए आत्म-साक्षात्कार ही मनुष्य का मुख्य एवं एकमात्र कर्तव्य है ।

भक्त : "अहंभाव" को कैसे नष्ट करें ?

म० : यदि इसके स्रोत की खोज करोगे तो यह उदय नहीं होगा और इस प्रकार यह नष्ट हो जायगा ।

भक्त : स्रोत को कहाँ तथा किस प्रकार खोजें ?

म० : वस्तुत: चेतना ही व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करने के योग्य बनाती है। शुद्ध चैतन्य ही आत्मा है। आत्मा की अनुभूति के लिए केवल "शान्त होना" है ।

भक्त : इससे सुलभ और क्या होगा ?

म० : इस प्रकार आत्म-विद्या की उपलब्धि सर्वाधिक सुलभ है ।

३८०. एक यूरोपवासी सज्जन ने पूछा "तुम कौन हो" ? इस प्रश्न का उत्तर आप किस प्रकार देते हैं ?

म० : स्वयं से प्रश्न करो "मैं कौन हूँ" ?

भक्त : कृपा कर मुझे बतायें आपने इसका अनुभव किस प्रकार किया ? मैं स्वयं यह मालूम नहीं कर पाऊँगा। 'मैं' जीव-विज्ञान की शक्तियों का परिणाम है। अन्त में मौन हो जाना पड़ता है। मैं जानना चाहता हूँ महर्षि इसे किस प्रकार अनुभव करते हैं ।

म० : क्या इसे केवल तर्क द्वारा पाया जाता है ? वैज्ञानिक विश्लेषण बुद्धि के कारण होता है ।

भक्त : डा० जगदीशचन्द्र बोस के अनुसार, प्रकृति कीड़े अथवा मनुष्य के बीच कोई भी भेद नहीं करती ।

म० : प्रकृति क्या है ?

भक्त : यह वह है जिसका अस्तित्व है।

म० : अस्तित्व को तुम कैसे जानते हो ?

भक्त : अपनी इन्द्रियों द्वारा।

म० : 'अपनी' से तात्पर्य है तुम्हारा अस्तित्व। परन्तु तुम दूसरे के अस्तित्व के बारे में कह रहे हो। 'अपनी इन्द्रियाँ' कहने के लिए तुम्हारा होना आवश्यक है। बिना "मैं" के 'मेरा' नहीं हो सकता।

भक्त : मैं एक साधारण जीव हूँ। आप महान गुरु हैं। मैं आपसे पूछने के लिए आया हूँ, यह अस्तित्व क्या वस्तु है। 'अस्तित्व' शब्द में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उसका अस्तित्व है, मेरा अस्तित्व है, दूसरों का अस्तित्व है। उससे क्या ?

म० : किसी के भी अस्तित्व को तथ्यरूप में मान लेने से, तुम्हारा स्वयं का अस्तित्व प्रकट होता है। "अस्तित्व तुम्हारा स्वरूप है"।

भक्त : किसी भी वस्तु के अस्तित्व के होने में क्या आश्चर्य है।

म० : अपने स्वयं के अस्तित्व की अपेक्षा, अन्य वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान तुम्हें कैसे होता है ?

भक्त : किसी वस्तु के अस्तित्व के होने में क्या नयी बात है ? मैं आपकी पुस्तक में पढ़ता हूँ कि जीव को अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि "मैं कौन हूँ" ? मैं आपसे पूछना चाहता हूँ "आप कौन हैं" ? मेरा अपना उत्तर मेरे पास है। यदि दूसरा भी यही कहे, और लाखों व्यक्ति भी ऐसा ही कहें तो आत्मा की सम्भावना होती है। मैं प्रश्न का स्पष्ट उत्तर चाहता हूँ, केवल शब्द-जाल नहीं।

म० : इस प्रकार तुम केवल उत्तम सम्भावनाओं के क्षेत्र में ही भ्रमण कर रहे हो।

भक्त : हाँ। निश्चयात्मक कुछ भी नहीं है। ईश्वर भी पूर्ण निश्चितता से प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

म० : अभी ईश्वर को रहने दो। तुम क्या हो ?

भक्त : मैं आत्मा की पुष्टि चाहता हूँ।

म० : तुम दूसरों से पुष्टि कराना चाहते हो। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को "तुम" कहकर सम्बोधित किया जाता है, वह स्वयं को "मैं" कहता है। पुष्टि केवल 'मैं' से है। 'तुम' कुछ भी नहीं है। सब 'मैं' के अन्तर्गत हैं। आत्मा को स्वीकार करने के पश्चात् ही अन्य का जानना सम्भव है। द्रष्टा के बिना अन्य का अस्तित्व नहीं है।

भक्त : इसमें भी कुछ नया नहीं है ? जब मैं सर सी० वी० रमन के

साथ था तब उन्होंने मुझे बताया था कि गन्ध का सिद्धान्त उनके प्रकाश के सिद्धान्त के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। अब गन्ध को रसायन-शास्त्र के आधार पर सिद्ध करना आवश्यक नहीं रहा। अब इसमें कुछ नया है। यह प्रगति है। जब मैं यह कहता हूँ कि उन समस्त वक्तव्यों में जो अब मैं सुन रहा हूँ, कुछ नया नहीं है, मेरा यही अभिप्राय है।

म० : 'मैं' कभी नया नहीं है। यह अनादि से वही है।

भक्त : क्या आपका आशय यह है कि कुछ प्रगति नहीं है ?

म० : प्रगति बहिर्मुख मन की अनुभूति है। मन को अन्तर्मुख कर आत्मा की खोज कर लेने पर सब कुछ शान्त रहता है।

भक्त : वैज्ञानिक विषयों का क्या होता है ?

म० : वे सब आत्मा में लीन हो जाते हैं। आत्मा उनकी पूर्णता है।

(संध्या के पाँच बज गये थे, श्री भगवान कक्ष से चल दिये तथा वह सज्जन स्टेशन के लिए रवाना हो गये।)

३८१. बंगाली इंजीनियर श्री बोस ने "आत्म-विद्या" के अन्तिम श्लोक का आशय पूछा—श्री भगवान ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया :

म० : जगत प्रतीत होता है, अनुभूति केवल दिखावटी है। इसको रहने के लिए स्थान तथा प्रकाश की आवश्यकता है। मन के उदय होने के साथ ही स्थान तथा प्रकाश उदय होता है। इस प्रकार भौतिक स्थिति तथा प्रकाश मानसिक स्थिति तथा प्रकाश का अंश है। मन भी पूर्ण नहीं है क्योंकि इसका उदय तथा अस्त होता रहता है। मन का अधिष्ठान आत्मा है जो प्रत्यक्ष है अर्थात् इसका अस्तित्व तथा स्व-प्रकाश स्पष्ट है। यह पूर्ण चैतन्य है जो सुषुप्ति, जागृति तथा स्वप्न में निरन्तर विद्यमान रहता है।

संसार में नानात्व है जो मन का कार्य है। मन प्रतिबिम्बित प्रकाश से प्रकाशित होता है—अर्थात् आत्मा के प्रतिबिम्बित प्रकाश से। जिस प्रकार चलचित्र का दर्शन कृत्रिम प्रकाश में ही सम्भव है न कि प्रखर ज्योति अथवा घने अन्धकार में, उसी प्रकार जगत के दृश्य पदार्थ अविद्या के अन्धकार के माध्यम से आत्मा से प्रतिबिम्बित प्रकाश में दृष्टिगोचर होते हैं। जगत न तो शुद्ध अज्ञान जैसे सुषुप्ति में, अथवा आत्म-साक्षात्कार के शुद्ध प्रकाश में दृष्टि-गोचर हो सकता है। अविद्या ही नानात्व का कारण है।

इंजीनियर ने कहा, मैं केवल बुद्धि द्वारा समझा हूँ।

म० : कारण यह है कि अभी जाग्रत अवस्था में जब तुम वाद-विवाद कर रहे हो, तब तुम बुद्धि की पकड़ में हो।

बाद में यह कहा गया कि साक्षात्कार करने के लिए अनुग्रह की आवश्यकता है।

इंजीनियर ने जिज्ञासा की कि अनुग्रह किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?

म० : अनुग्रह आत्मा ही है। अज्ञान के कारण अनुग्रह व्यक्त नहीं है। श्रद्धा द्वारा यह प्रकट होगा। श्रद्धा, अनुग्रह, प्रकाश, जीवात्मा सब आत्मा के पर्याय हैं।

५ अप्रेल, १९३७

३८२. शान्त प्रतीत होने वाले किन्तु दर्शन के विद्वान एक तेलुगु सज्जन ने 'मनोलय' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।

उन महाशय के हाथ में जो "उपदेश सार" की प्रति थी उसकी ओर संकेत करते हुए श्री भगवान ने कहा : इसमें सब कुछ हैं।

भक्त : मन क्या है ?

म० : देखो यह क्या है।

भक्त : मन संकल्प-विकल्प करता है।

म० : किसके संकल्प ?

भक्त : संकल्प मन का स्वभाव है।

म० : किसका संकल्प ?

भक्त : बाहरी दृश्यों का।

म० : ऐसा ही है। क्या वह तुम्हारा स्वरूप है ?

भक्त : वह मन का है।

म० : तुम्हारा स्वरूप क्या है ?

भक्त : शुद्ध चैतन्य।

म० : फिर तुम संकल्प आदि की क्यों चिन्ता करते हो ?

भक्त : यह स्वीकार किया जाता है कि मन चंचल तथा अस्थिर है।

म० : वहीं पर यह भी लिखा है कि मन को अन्तर्मुख कर आत्मा में विलीन करना है। अभ्यास निरन्तर तथा लम्बे समय तक करना आवश्यक है जब तक कि मन आत्मा में पूर्णतया विलीन न हो जाये।

भक्त : मैं इसके लिए प्रसाद चाहता हूँ।

म० : प्रसाद तुम्हारे पास सदैव ही है। तुमको केवल इतना ही करना है कि तुम स्वयं को बहिर्मुखी मन से संयुक्त न कर आत्मा होकर रहो। यही प्रसाद है।

उक्त सज्जन प्रणाम कर विदा हुए।

३८३. स्वामी लोकेसानन्द, एक संन्यासी ने श्री भगवान से पूछा : क्या जीवनमुक्त के लिए भी प्रारब्ध है ?

म० : प्रश्नकर्ता कौन है ? प्रश्न कहाँ से निकला ? क्या जीवनमुक्त प्रश्न कर रहा है ?

भक्त : नहीं, मैं अभी तक मुक्त नहीं हुआ।

म० : तब जीवनमुक्त को अपने लिये प्रश्न क्यों नहीं करने देते ?

भक्त : संशय तो मेरा है।

म० : ठीक है। संशय अज्ञानी को होते हैं, ज्ञानी को नहीं।

भक्त : अजातवाद (किसी भी नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती।) के समर्थन में श्री भगवान के स्पष्टीकरण निर्दोष हैं। किन्तु क्या यह अन्य सिद्धान्त वालों को भी स्वीकार हैं ?

म० : अद्वैतवाद में तीन पद्धतियाँ हैं :

(१) अजातवाद के अनुसार न हानि है, न सृष्टि, न कोई बद्ध है, न साधक, न कोई मोक्षाकांक्षी, न मोक्ष। यह सर्वोच्च सत्य है। (माण्डूक्य कारिका, २-३२)

इसके अनुसार केवल एक ही है और उसमें किसी विवाद को स्थान नहीं है।

(२) दृष्टि सृष्टिवाद का उदाहरण इस प्रकार है : एक साथ सृष्टि। दो मित्र पास-पास शयन कर रहे हैं। उनमें से एक को स्वप्न आया कि वह अपने साथी के साथ बनारस जाकर वापस आ गया। वह अपने मित्र को बताता है कि दोनों बनारस हो आये। मित्र इसका खण्डन करता है। कथन एक की दृष्टि से सत्य है तथा दूसरे की दृष्टि से असत्य।

(३) सृष्टि दृष्टिवाद (क्रमानुसार सृष्टि तथा उसका ज्ञान) स्पष्ट है।

कर्म को पहले के कर्म, आदि माना गया है, प्रारब्ध, आगामी तथा संचित। इस हेतु कर्तृत्व तथा कर्ता आवश्यक है। कर्म देह के निमित्त सम्भव नहीं, चूँकि देह जड़ है। देह के निमित्त तभी तक है जब तक कि देहात्म-बुद्धि विद्यमान है। देहात्म-बुद्धि से परे होने पर मनुष्य ज्ञानी बन जाता है। उस विचार बुद्धि के अभाव में न कर्तृत्व है, न कर्ता। अतः ज्ञानी का कोई कर्म नहीं है। यह उसका अनुभव है। अन्यथा वह ज्ञानी नहीं है। तथापि अज्ञानी ज्ञानी को उसकी देह के साथ मिला देते हैं जबकि ज्ञानी ऐसा नहीं करता। इसलिए अज्ञानी ज्ञानी को कर्म करते हुए देखता है, क्योंकि उसकी देह सक्रिय दृष्टिगोचर होती है। इस कारण वह प्रश्न करता है कि क्या ज्ञानी प्रारब्ध से प्रभावित नहीं होता है ?

शास्त्रानुसार ज्ञान वह अग्नि है जो समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। सर्व की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है: (१) प्रारब्ध सहित तथा (२) प्रारब्ध रहित। प्रथम आशय के अनुसार किसी व्यक्ति का देहान्त हो गया हो तथा उसके तीन पत्नियाँ हों तो प्रश्न उठेगा "क्या उनमें से दो को तो विधवा की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु तीसरी को नहीं ?" सभी विधवा हैं। प्रारब्ध, आगामी तथा संचित के साथ भी ऐसा ही है। जब कोई कर्ता नहीं है तो इनमें से कोई भी और अधिक टिक नहीं सकता है।

दूसरा स्पष्टीकरण प्रश्नकर्ता के सन्तोष हेतु दिया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि प्रारब्ध को अकेला छोड़कर समस्त कर्म दग्ध हो जाते हैं। देह जिन कर्मों के कारण उत्पन्न हुई है उनको करती रहती है। यही प्रारब्ध है। किन्तु ज्ञानी के दृष्टिकोण से केवल आत्मा ही इन रूपों में प्रकट होता है। आत्मा से पृथक न देह है, न कर्म, इसलिए कर्म उसे प्रभावित नहीं करते।

भक्त : क्या ज्ञानी में देहात्म-बुद्धि नहीं होती ? उदाहरणार्थ—यदि श्री भगवान को कोई कीड़ा काटे तो क्या उसकी अनुभूति नहीं होती ?

म० : अनुभूति भी है तथा देहात्म-बुद्धि भी है। ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों में देहात्म-बुद्धि होते हुए भी यह अन्तर है कि अज्ञानी अपने को केवल देह मानता है (देहैव आत्मा) जबकि, ज्ञानी के विचार में सब आत्मा का ही है (आत्मामयम् सर्वम्) अथवा यह सब ब्रह्म है (सर्वम् खल्विदं ब्रह्म)। यदि पीड़ा हो तो हो। यह भी आत्मा का अंश है। आत्मा पूर्ण है।

अब ज्ञानी के कर्म के विषय में, वे केवल तथाकथित हैं क्योंकि वे निष्फल हैं। सामान्यतया कर्म संस्कार बनकर व्यक्ति में अन्तर्भूत हो जाते हैं। यह तभी तक होता है जब तक कि मन फलप्रद होता है जैसे अज्ञानी का। ज्ञानी का मन केवल काल्पनिक है; वह पहले ही मन से परे हो चुका है। उसके दीखने वाले कर्मों के कारण उसके मन का केवल अनुमान ही सम्भव है। उसका मन अज्ञानी के मन की तरह फलप्रद नहीं है। इस कारण यह कहते हैं कि ज्ञानी का मन ब्रह्म है। वास्तव में ब्रह्म ज्ञानी के मन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उस भूमि में वासनाएँ फलप्रद नहीं हो सकतीं। उसका मन बंजर है, वासनाओं, आदि से मुक्त है।

तथापि, चूँकि ज्ञानी का भी प्रारब्ध होना स्वीकार किया गया है, अतः वासनाओं का होना भी मानना होगा। यदि वे हैं तो वे केवल भोग-हेतु हैं। आशय यह है कि वासनाएँ दो प्रकार से फल देती हैं, एक फल भोगने हेतु तथा दूसरी भविष्य में होने वाले जन्मों में बाद में अभिव्यक्त होने के लिए मन पर संस्कार छोड़ जाती हैं। ज्ञानी का मन बंजर होने से कर्म के बीजों को ग्रहण नहीं

कर सकता। उसकी वासनाएँ केवल भोग-हेतु कर्मों में ही समाप्त हो जाती हैं। वास्तव में, वह अज्ञानी की दृष्टि में ही कर्म करते दीखता है। वह कर्म रहित ही रहता है। उसे देह का आत्मा से पृथक होने का भान नहीं है। उसके लिए मुक्ति अथवा बन्धन किस प्रकार हो सकता है? वह दोनों से परे है। वह न तो अभी कर्म से बँधा है, न कभी होगा। उसके अनुसार न कोई जीवन-मुक्त है न विदेह-मुक्त।

भक्त : इस सबसे ऐसा दीखता है कि वह ज्ञानी जिसने समस्त वासनाओं को भस्म कर दिया है वह श्रेष्ठ है, एवं वह जड़ अथवा पाषाण के समान निष्क्रिय रहेगा।

म० : नहीं, यह आवश्यक नहीं। वासनाएँ उसे प्रभावित नहीं करतीं। क्या यह स्वयं वासना ही नहीं है कि कोई जड़ अथवा पाषाण के समान रहता है? वह सहज अवस्था है।

३८४. वार्ता में वासनाओं की चर्चा आयी। श्री भगवान ने बताया कि सुवासनाएँ तथा कुवासनाएँ सहगामी हैं—एक-दूसरी के बिना नहीं रह सकतीं। एक प्रकार की वासनाओं की प्रधानता हो, यह हो सकता है। सुवासनाएँ बढ़ायी जाती हैं तथा अन्ततः उन्हें भी ज्ञान द्वारा नष्ट करना आवश्यक है।

विलक्षण प्रतिभाशाली एक युवक की चर्चा की गयी। श्री भगवान ने कहा, उसमें पूर्व-जन्म के संस्कार प्रबल थे।

भक्त : विख्यात सन्तों को उद्धृत कर देने की योग्यता के रूप में वह किस प्रकार अभिव्यक्त होता है? क्या यह वासना केवल बीजरूप में है?

म० : हाँ। पूर्व-अर्जित ज्ञान जो संगृहीत है उसे ही संस्कार कहते हैं। वह अनुकूल वातावरण में अभिव्यक्त होता है। प्रबल संस्कारवान व्यक्ति निर्बल संस्कार अथवा बिना संस्कारवान व्यक्ति की अपेक्षा विषय को अपने समक्ष आने पर शीघ्र ही समझ लेता है।

भक्त : क्या यह बात आविष्कारकों के लिए भी इसी प्रकार है?

म० : ''जगत में कुछ भी नवीन नहीं है''। जिन्हें हम आविष्कार अथवा खोज कहते हैं वे विचाराधीन दिशा में प्रबल संस्कारवान समर्थ व्यक्तियों द्वारा केवल फिर से खोज करना है।

भक्त : क्या न्यूटन, आइन्स्टीन, आदि के साथ भी ऐसा ही है?

म० : हाँ। ऐसा ही है। किन्तु संस्कार कितने भी प्रबल क्यों न हों, मन के निश्चल एवं शान्त हुए बिना अभिव्यक्त नहीं होंगे। यह सबके अनुभव की बात है कि स्मृति को जाग्रत करने के उसके प्रयास सफल नहीं होते परन्तु जब वह शान्त एवं निश्चल है तब मन में कुछ चमक होती है। भूली हुई

वस्तुओं के स्मरण करने के लिए भी मन का शान्त होना आवश्यक है। तथा-कथित प्रतिभा वह है जो व्यक्ति द्वारा पूर्व-जन्मों में कठिन परिश्रम से ज्ञान का अर्जन कर संस्कार के रूप में संचित की हुई है। अब वह अपने मन को एकाग्र करता है जब तक कि वह उस विषय में विलीन न हो जाय। उस निश्चलता में विलीन हुए विचार बाहर प्रकाशित होते हैं। इसके लिए अनुकूल परिस्थितियों की भी आवश्यकता है।

६ अप्रेल, १९३७

३८५. वार्ता के मध्य एक आन्ध्रवासी सज्जन श्री वेंकटराव से श्री भगवान ने कहा :

"जब तक तुम ज्ञान प्राप्त न कर लो तुम ज्ञानी की अवस्था नहीं जान सकते हो। ईश्वर के कार्य एवं शेष के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने से कोई लाभ नहीं है। कुछ व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि दारुक वन में शिव ने विवस्त्र प्रवेश कर ऋषि पत्नियों का सतीत्व नष्ट क्यों किया ? जिन पुराणों में इस कथा का वर्णन है उन्हीं में दूध के समुद्र मन्थन के अवसर पर देवताओं एवं संसार की रक्षा हेतु शिव के हलाहल विष-पान की कथा का भी वर्णन है। जिसने हलाहल विष से जगत की रक्षा की तथा ऋषियों का उद्धार किया वही उनकी स्त्रियों में नग्न विचरण करते हैं। उनके कार्य सामान्य बुद्धिजीवियों के लिए अबोध्य हैं।

ज्ञानी अथवा ईश्वर को जानने के लिए ज्ञानी होना आवश्यक है।"

भक्त : क्या हमें ज्ञानी का व्यवहार सीखकर उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए ?

म० : इससे कोई लाभ नहीं। वासनाएँ चार प्रकार की हैं : (१) शुद्ध (२) मलिन, (३) मध्य, तथा (४) सत्। यह ज्ञानियों के वरिष्ठ, वरीय, वर तथा वित् के अनुसार हैं। इनके फल तीन प्रकार से प्राप्त किये जाते हैं : (१) स्वेच्छा, (२) परेच्छा, तथा (३) अनिच्छा। ज्ञानियों में गौतम, व्यास, शुक तथा जनक हुए हैं।

भक्त : क्या व्यास भी ज्ञानी थे ?

म० : हाँ। निश्चय ही।

भक्त : तब फिर स्नान करती हुई दिव्य-लोक की सुन्दरियों ने व्यास के अपने सामने उपस्थित होने पर वस्त्र क्यों धारण कर लिये, जबकि शुक के आगमन पर ऐसा नहीं किया ?

म० : उन्हीं व्यास ने शुक को जनक के पास उपदेश प्राप्त करने हेतु भेजा था। जनक ने शुक की परीक्षा की तथा अन्ततः व्यास की महानता से सन्तुष्ट होकर शुक ने वहाँ से प्रस्थान किया।

भक्त : क्या ज्ञान तथा अरुधा (तमिल शब्द) एक ही हैं ?

म० : ऐसा ही है ।

भक्त : भक्ति तथा ज्ञान में क्या सम्बन्ध है ?

म० : शाश्वत, अखण्ड, सहज अवस्था ज्ञान है । क्या इसमें आत्मा का प्रेम ध्वनित नहीं होता ? क्या यह भक्ति नहीं है ?

भक्त : मूर्ति-पूजा उत्तम प्रतीत नहीं होती । इस्लाम-धर्मानुलम्बी निराकार परमात्मा की उपासना करते हैं ।

म० : उनकी ईश्वर की कल्पना क्या है ?

भक्त : जैसे सर्वव्यापिता, आदि ।

म० : तब क्या ईश्वर गुणों से युक्त नहीं है । आकार केवल एक प्रकार का गुण है । बिना किसी भावना के कोई ईश्वरोपासना कर ही नहीं सकता । किसी भावना से ईश्वर के सगुण होने का आधार बनता है । इसके अतिरिक्त ईश्वर के साकार अथवा निराकार होने की बहस से क्या लाभ ? यह मालूम करो कि क्या तुम्हारा कोई आकार है । तभी तुम ईश्वर को समझ पाओगे ।

भक्त : मैं स्वीकार करता हूँ, मेरा कोई आकार नहीं है ।

म० : ठीक । सुषुप्ति में तुम्हारा कोई आकार नहीं है किन्तु जागृति में तुम स्वयं की एक आकार से तादात्म्यता कर लेते हो । देखो तुम्हारी वास्तविक अवस्था कौनसी है । खोज से वह अवस्था आकार रहित प्रतीत होगी । यदि तुम अपने ज्ञान द्वारा अपने आत्मा को निराकार जान लेते हो तो क्या तुमको ईश्वर को भी उतना ही ज्ञानी मानकर उसे आकार रहित नहीं मान लेना चाहिए ?

भक्त : किन्तु ईश्वर के लिए जगत है ।

म० : जगत कैसे भासित होता है ? हम कैसे हैं ? यह जान लेने पर तुम ईश्वर को जानोगे । तुम जानोगे कि वह शिव है अथवा विष्णु है अथवा अन्य कोई अथवा समस्त एक साथ ।

भक्त : क्या वैकुण्ठ परमपद में है ?

म० : यदि वैकुण्ठ अथवा परमपद तुम में नहीं है तो फिर कहाँ है ?

भक्त : वैकुण्ठ, आदि अनिच्छा से भासित होते हैं ।

म० : क्या यह जगत स्वतः भासित होता है ?

प्रश्नकर्ता ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

म० : प्रत्यक्ष 'मैं' आत्मा की उपेक्षा कर, अनात्मा की खोज करता फिरता है । कितना अयुक्त है ।

भक्त : यह सांख्य योग है । यह समस्त दूसरे योगों का शिखर होने से इससे प्रारम्भ करना, यह कैसे समझ में आ सकता है ? क्या भक्ति इससे पहले नहीं है ?

म० : क्या श्री कृष्ण ने गीता का प्रारम्भ सांख्य से नहीं किया ?

भक्त : हाँ। अब मैं समझा।

३८६. **भक्त** : श्री रामकृष्ण के जीवन-चरित्र में वर्णन आया है कि रामलाल की प्रतिमा सजीव थी। क्या यह सत्य है ?

म० : क्या तुम इस देह के सजीव होने का कारण बता सकते हो ? क्या मूर्ति का संचलन देह के संचलन की अपेक्षा अधिक रहस्यमय है ?

भक्त : धातु स्वतः चलायमान होने में समर्थ नहीं ?

म० : क्या देह शव नहीं है ? तुम कदाचित शव के चलायमान होने पर उसे रहस्यपूर्ण मानोगे। क्या यह ऐसा ही है ?

३८७. तीन सज्जन थोड़े समय के लिए दर्शन हेतु आये। उनमें से सबसे बड़े ने जिज्ञासा की : उपनिषदों में सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन कुछ और है एवं पुराणों में दूसरा है। उनमें से कौनसा सत्य है ?

म० : वे अनेक हैं, तथा उनका अभिप्राय यह बताना है कि सृष्टि का कारण है तथा सृष्टिकर्ता को सत्य मानना आवश्यक है जिससे कि जीव कारण की खोज करे। महत्त्व सिद्धान्त के उद्देश्य पर है न कि सृष्टि की प्रक्रिया पर। इसके अतिरिक्त, सृष्टि किसी के द्वारा अनुभव की जाती है। दृष्टा के बिना दृश्य नहीं होते, अर्थात् दृश्य आकर तुमसे यह नहीं कहते कि वे हैं, किन्तु वह तुम ही हो जो यह कहते हो कि दृश्य हैं। इस प्रकार दृश्यों का अस्तित्व दृष्टा के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। दृष्टा से स्वतन्त्र उनका कोई अस्तित्व नहीं है। यह मालूम करो कि तुम क्या हो, और तब तुम समझना कि संसार क्या है। सिद्धान्त का यही अभिप्राय है।

भक्त : आत्मा केवल एक छोटा अणु है जबकि सृष्टि इतनी विशाल है। हम इसका अनुमान कैसे कर सकते हैं ?

म० : अणु विशाल सृष्टि का वर्णन करता है; इसमें विरोधाभास कहाँ है ?

३८८. तदुपरान्त श्री भगवान ने कहा :

धार्मिक एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त अनेक हैं। क्या वे किसी सृष्टि-कारण सिद्धान्त पर पहुँचे ? यह सम्भव ही नहीं है। ब्रह्म को सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म, महानतम से भी महान कहा गया है। अणु एक अनन्त सूक्ष्म कण है। इसका परिणाम है सूक्ष्म अनुभूति। यह अतिसूक्ष्मता सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन की है। मन से परे आत्मा है। बड़ी से बड़ी वस्तु भी कल्पना ही है, कल्पनाएँ मन की हैं; मन से परे आत्मा है। इस प्रकार आत्मा सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म है।

सृष्टि के उत्पन्न होने के कितने भी सिद्धान्त हों, उन सब का विस्तार बाहर ही है। इनकी कोई सीमा नहीं है। क्योंकि देश एवं काल असीमित हैं। तथापि वे केवल मन में हैं। मन को देखो; देश एवं काल से परे हो जाओ और आत्मा की अनुभूति होगी।

सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन वैज्ञानिक ढंग से अथवा तर्कपूर्वक अपने निज के सन्तोष के लिए किया जाता है। परन्तु क्या इसके बारे में कोई अन्तिम निष्कर्ष है? इस प्रकार के सिद्धान्त क्रम-सृष्टि कहे गये हैं। इसके विपरीत दृष्टि-सृष्टि को युगपद् सृष्टि कहा गया है। दृष्टा के बिना दृश्य नहीं दीखते हैं। दृष्टा को जान लो; सृष्टि उसमें समाविष्ट है। बाहर क्यों देखते हो और बाहरी दृश्यों का वर्णन करते रहते हो जिनका कोई अन्त नहीं है?

३८९. श्री भगवान को भेंट (presents) के सम्बन्ध में, वे कहने लगे : वे भेंट क्यों लाते हैं? क्या मुझे उनकी इच्छा है? मेरे अस्वीकार करने पर भी वे मुझे आग्रहपूर्वक भेंट अर्पित करते हैं। किसलिए? यदि मैं उन्हें स्वीकार कर लूँ तो मुझे उनकी इच्छाओं के समक्ष झुकना होगा। यह मछली को पकड़ने के लिए उसे दाना देने के समान है। क्या मछलीमार मछली को भोजन कराने का इच्छुक है? वास्तव में वह मछली से ही भोजन प्राप्त करने का इच्छुक है।

एक संन्यासी, स्वामी लोकेसानन्द ने पूछा : ज्ञान तथा विज्ञान से क्या आशय है?

म० : सन्दर्भ के अनुसार इन शब्दों के अर्थ भिन्न हो सकते हैं। ज्ञान=सामान्य ज्ञान अथवा शुद्ध चैतन्य। विज्ञान=विशेष ज्ञान। विशेष (१) सांसारिक (सापेक्ष ज्ञान) भी हो सकता है; तथा (२) अनुभवातीत (आत्म-साक्षात्कार)।

विशेष हेतु मन की आवश्यकता है; यह पूर्ण चैतन्य की शुद्धता का रूपभेद करता है। इस प्रकार विज्ञान बुद्धि तथा उसके कोष अर्थात् सापेक्ष ज्ञान का निरूपण करता है। उस स्थिति में ज्ञान सामान्य है जो भिन्न ज्ञान वृत्तियाँ, विज्ञान, संज्ञान, प्रज्ञान, अज्ञान, मति, धृति में निरन्तर हैं (सन्दर्भ एतरेयोपनिषद् तृतीय अध्याय) अथवा ज्ञान परोक्ष है तथा विज्ञान अपरोक्ष है। व्यक्ति ज्ञान तथा विज्ञान से पूर्णतया सन्तुष्ट है, जिस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान तृप्तात्मा में।

भक्त : ब्रह्म तथा ईश्वर में क्या सम्बन्ध है?

म० : ब्रह्म को जगत के सन्दर्भ में ईश्वर कहा जाता है।

भक्त : जिस प्रकार श्री रामकृष्ण परमहंस ईश्वर से बातें करते थे, क्या उस प्रकार बातें करना सम्भव है?

म० : जब हम एक-दूसरे से वार्ता कर सकते हैं तो हम ईश्वर से उसी प्रकार बात क्यों नहीं कर सकते ?

भक्त : फिर हमारे साथ ऐसा क्यों नहीं होता ?

म० : इसके लिए मन की शुद्धता एवं शक्ति तथा ध्यान का अभ्यास आवश्यक है ।

भक्त : उपरोक्त अवस्थाएँ होने पर क्या ईश्वर प्रकट होता है ?

म० : ऐसी अभिव्यक्ति उतनी ही सत्य है जितनी कि तुम्हारी स्वयं की सत्यता । दूसरे शब्दों में, जब तुम स्वयं को देह मानते हो जैसे जागृति में, तुम स्थूल पदार्थ देखते हो; जब सूक्ष्म शरीर अथवा मानसिक स्तर पर रहते हो जैसे स्वप्न में, तुम वैसे ही सूक्ष्म पदार्थ देखते हो; देह से तादात्म्यता के अभाव में जैसे सुषुप्ति में तुम कुछ भी नहीं देखते । जो दृश्य दीखते हैं उनका सम्बन्ध दृष्टा की अवस्था से है । ईश्वर के दर्शनों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है ।

पर्याप्त अभ्यास के बाद ईश्वर का आकार जिस पर ध्यान किया जाता है स्वप्न में दीखता है तथा बाद में जाग्रत में भी दीख सकता है ।

भक्त : क्या ईश्वर-साक्षात्कार की यही अवस्था है ?

म० : वर्षों पूर्व जो एक घटना हुई उसे सुनो :

नामदेव नामक एक सन्त हुए हैं । वे विठोबा के दर्शन, उनके साथ वार्ता एवं क्रीड़ा उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार हम आपस में एक-दूसरे से करते हैं । वे अपना अधिकतर समय मन्दिर में विठोबा के साथ खेलने में व्यतीत किया करते थे ।

एक अवसर पर बहुत-से सन्त एकत्रित हुए, जिनमें अत्यन्त प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ महात्मा ज्ञानदेव भी थे । ज्ञानदेव ने सन्त गोरा कुम्हार को उनकी पकी मिट्टी के पात्र की परीक्षा करने की योग्यता के आधार पर आगन्तुक सन्तों की पकी हुई मिट्टी के परीक्षण करने का निर्देश दिया । विनोद के भाव से गोरा कुम्हार ने अपनी छड़ी प्रत्येक के सिर पर जैसे परीक्षण कर रहे हों कोमलतापूर्वक लगायी । जब वे नामदेव के समीप आये तो उन्होंने क्रुद्ध होकर विरोध प्रकट किया । सब व्यक्ति हँसने तथा व्यंग करने लगे । नामदेव क्रुद्ध हो मन्दिर में विठोबा के समीप आये । विठोबा ने उत्तर दिया कि सन्तों का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है । इस आकस्मिक उत्तर से नामदेव को और अधिक क्षोभ हुआ । उन्होंने कहा : ''आप परमेश्वर हैं । मैं आपके साथ वार्तालाप करता तथा खेलता हूँ । क्या मनुष्य इससे भी कुछ अधिक प्राप्त कर सकता है ?

विठोबा दृढ़ रहे : ''सन्त जानते हैं ।''

नामदेव : यदि आपसे भी कोई अधिक (real) वास्तविक हो तो बताने की कृपा करें।

विठोबा : हम आपस में इतने घनिष्ठ मित्र हैं कि मेरी सलाह तुम्हें आवश्यक रूप से प्रभावित नहीं करेगी। वन में भिक्षु-सन्त के दर्शन करो तथा सत्य को जानो।

इस प्रकार नामदेव विठोबा निर्दिष्ठ सन्त से मिले। चूँकि सन्त नग्न एवं मलिन थे तथा भूमि पर लेटे हुए लिंग पर चरण रखे थे, नामदेव उनकी पवित्रता से प्रभावित नहीं हुए। नामदेव को आश्चर्य हुआ कि यह सन्त किस प्रकार हो सकता है। इसके विपरीत सन्त ने नामदेव से मुस्कराते हुए पूछा, "क्या तुम्हें विठोबा ने यहाँ भेजा है ?" नामदेव को इससे बहुत आश्चर्य हुआ तथा उनमें सन्त की महानता के प्रति अधिक आस्था उत्पन्न हुई। इसलिए नामदेव ने पूछा : "आपको सन्त कहा जाता है फिर आप लिंग को क्यों अपवित्र कर रहे हैं ? सन्त ने उत्तर दिया : "वास्तव में मैं इतना वृद्ध तथा दुर्बल हूँ कि उचित कार्य कर नहीं पाता। कृपया मेरे पैरों को उठाकर ऐसी जगह रख दें जहाँ लिंग न हो।" तदनुसार नामदेव ने सन्त के चरण उठाकर अन्य स्थान पर टिका दिये। किन्तु उनके नीचे भी लिंग था। जहाँ पर भी चरण रखे गये वहाँ उसी समय तुरन्त नीचे से लिंग प्रकट हुआ। अन्त में नामदेव ने उनके चरण स्वयं अपने ऊपर रख लिये तो वे भी लिंग बन गये। तब नामदेव को यह बोध हुआ कि परमात्मा सर्वव्यापी है तथा इस सत्य को जानकर वे वहाँ से विदा हुए। घर आकर वे कई दिन तक देव-मन्दिर में नहीं गये। अब विठोबा ने स्वयं उनके घर जाकर उनसे पूछा कि अब वे देव-मन्दिर में परमेश्वर के दर्शन करने क्यों नहीं जाते। नामदेव का उत्तर था : "क्या कोई स्थान ऐसा है, जहाँ परमेश्वर न हो ?"

कथा का आशय स्पष्ट है। ईश्वर के दर्शनों का स्थान आत्म-साक्षात्कार की भूमिका से नीचे है।

३६० **भक्त** : जब मैं श्री भगवान की पुस्तकों का अध्ययन करता हूँ तो मुझे ज्ञात होता है कि साक्षात्कार की एक पद्धति अनुसन्धान है।

म० : हाँ, वह विचार है।

भक्त : वह कैसे किया जाय ?

म० : प्रश्नकर्ता को अपनी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना होगा। "मैं हूँ" ही साक्षात्कार है। साक्षात्कार की अवस्था तक निरन्तर साधानारत रहना ही विचार है। विचार तथा साक्षात्कार एक ही हैं।

भक्त : यह भ्रान्तिजनक है। मैं ध्यान किस पर करूँ ?

म० : ध्यान हेतु किसी दृश्य की आवश्यकता है, जबकि विचार में दृष्टा ही है, दृश्य नहीं। विचार और ध्यान में यही अन्तर है।

भक्त : क्या साक्षात्कार की प्रभावशाली प्रक्रिया में ध्यान नहीं है ?

म० : एक दृश्य पर एकाग्र होना ध्यान है। इसका उद्देश्य विभिन्न विचारों का निवारण कर मन को एक विचार पर टिकाना है, और उसका भी साक्षात्कार से पूर्व लोप होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु साक्षात्कार कोई नवीन वस्तु उपलब्ध करना नहीं है। यह पहले से ही है, किन्तु संकल्पों के पर्दे से बाधित है। हमारे समस्त साधनों का उद्देश्य इस पर्दे को हटाना है और तब साक्षात्कार प्रकट होता है।

यदि वास्तविक जिज्ञासु को ध्यान का परामर्श दिया जाता है तो अनेक परामर्श से सन्तुष्ट होकर जा सकते हैं। किन्तु उनमें से कुछ व्यक्ति उलटकर प्रश्न कर सकते हैं "किसी दृश्य पर ध्यान करने वाला मैं कौन हूँ ?" ऐसे व्यक्ति को आत्मा को खोजने का निर्देश देना होता है। यही अन्तिम निष्कर्ष है। यही विचार है।

भक्त : क्या ध्यान के अभाव में विचार ही पर्याप्त होगा ?

म० : विचार प्रक्रिया तथा लक्ष्य भी है। "मैं हूँ" लक्ष्य है तथा अन्तिम सत्य भी है। प्रयास सहित इस पर टिकना ही विचार है। जब यह स्वतः तथा स्वाभाविक हो यह साक्षात्कार है।

३९१. उसी संन्यासी दर्शक, स्वामी लोकेसानन्द ने समाधि के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।

म० : (१) सत्य पर टिकना समाधि है।
(२) प्रयास सहित सत्य पर टिकना सविकल्प समाधि है।
(३) सत्य में विलीन हो जगत के बोध से रहित रहना निर्विकल्प समाधि है।
(४) अज्ञान में विलीन हो जगत के बोध से रहित रहना सुषुप्ति है। (सिर झुक जाता है जो समाधि में नहीं होता।)
(५) असली शुद्ध सहज अवस्था में बिना प्रयास के रहना सहज निर्विकल्प समाधि है।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि इक्कीस दिन तक निर्विकल्प समाधि में रहने से देह निश्चय ही छूट जाती है।

म० : समाधि से तात्पर्य देहात्म-बुद्धि से परे होना है तथा देह का आत्मा से तादात्म्य न होना पूर्व-निश्चित है।

कहा जाता है कि ऐसे व्यक्ति भी हैं जो एक सहस्र वर्ष तथा इससे भी अधिक समय तक निर्विकल्प समाधि में निमग्न रहे हैं।

३९२. (स्वामी लोकेसानन्द ने पुनः कुछ प्रश्न और किये।)

भक्त : ऐसा मत है कि साक्षात्कार से पूर्व कुण्डलिनी को जगाना आवश्यक है तथा उसकी जागृति देह को उष्णता प्रदान करती है। क्या ऐसा ही है ?

म० : योगी उसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। यही भक्तों की भगवताकार वृत्ति तथा ज्ञानियों की ब्रह्माकार वृत्ति है। यह साक्षात्कार की प्रारम्भिक आवश्यक अवस्था है। जो संवेदना उत्पन्न होती है उसे उष्ण कह सकते हैं।

भक्त : कुण्डलिनी को सर्प के आकार का कहते हैं, किन्तु वृत्तियाँ ऐसी नहीं हो सकती हैं।

म० : ज्ञानमार्ग की कुण्डलिनी को हृदय कहते हैं, जिसका नाड़ियों के समूह, सर्प के आकार एवं कमल की कली, आदि के रूपों में भी वर्णन किया गया है।

भक्त : क्या यह हृदय वही है जो शारीरिक हृदय है ?

म० : नहीं, "श्री रमण गीता" में इसको 'मैं-भाव' का मूल निर्धारित किया गया है।

भक्त : परन्तु मैंने पढ़ा है यह वक्ष के दाहिने ओर है।

म० : इस सबका आशय भावना को बल प्रदान करना है। षड्चक्र तथा अन्य अनेक आन्तरिक तथा बाह्य लक्ष्यों के सम्बन्ध में पुस्तकें हैं। हृदय का विवरण भी अनेक लक्ष्यों में से एक है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है। यह केवल 'मैं-भाव' का स्रोत है। यही अन्तिम सत्य है।

भक्त : क्या हम इसे अन्तःकरणों का स्रोत मान सकते हैं ?

म० : अन्तःकरणों का वर्गीकरण पाँच में किया गया है : (१) ज्ञान, (२) मन, (३) बुद्धि, (४) चित्त, तथा (५) अहंकार; कुछ के अनुसार केवल बाद के चार हैं; कुछ के मत से केवल दो हैं : (१) मन, तथा (२) अहंकार; और भी मत हैं कि अन्तःकरण केवल एक है, जिसकी विभिन्न क्रियाएँ उसे विभिन्न रूपों में भासित कराती हैं और इसलिए उसके भिन्न नाम हैं। इस प्रकार हृदय अन्तःकरणों का स्रोत है।

इनका पुनः विभाजन इस प्रकार हो सकता है :

सविकल्प समाधि		निर्विकल्प समाधि	
बाह्य	आन्तरिक	बाह्य	आन्तरिक
(दृश्यानुविधा) मन एक बाहरी दृश्य से दूसरे पर छलांग मारता रहता है। उसे उनके पीछे जो सत्यता है उस पर दृढ़ता से जमाना । (शब्दानुविधा) बाहर के दृश्यों का उद्गम अद्वितीय सद्वस्तु से है । इसका अनुसन्धान कर उसी पर टिको ।	मन काम, क्रोध, आदि से पीड़ित है। देखो कि वे कहाँ से उदय होते हैं तथा उनका अस्तित्व कैसे है ? उनके स्रोत पर टिको। अनेक भाँति के संकल्प हैं जो आन्तरिक सत्यता से उदय होकर अपने आपको व्यक्त करते हैं। उस सत्यता पर जमे रहो।	समस्त बाह्य दृश्यों के अधःस्थ एकमात्र सत्यता में विलीन हो अस्थायी दृश्यों से अनभिज्ञ रहना । इस अवस्था की तुलना तरंगहीन सागर से की गयी है जिसका जल स्थिर तथा शान्त है ।	अन्तस्तम अस्तित्व में विलीन रहना जो अद्वितीय सद्वस्तु है जिससे सारे संकल्प, आदि उदय होते हैं तथा अन्य वस्तुओं से अनभिज्ञ रहना । इस अवस्था की तुलना उस ज्योति से की गयी है जो वायु के वेग से अप्रभावित है, परन्तु पूर्णतया सतत प्रज्वलित है ।
सविकल्प समाधि के ये चारों प्रकार प्रयास सहित किये जाते हैं।		जब निर्विकल्प समाधि के ये प्रकार बिना प्रयास के होते हैं तथा यह अनुभूति हो जाती है कि बाह्य समाधि का तरँगहीन सागर तथा अन्तरिक समाधि की स्थिर ज्योति एक ही हैं तो उस अवस्था को महज निर्विकल्प समाधि कहते हैं ।	

देह है जो जड़ है; आत्मा है जो शाश्वत है तथा स्वप्रकाशित है; इन दोनों के मध्य एक बाहरी दृश्य उदय हो गया है अर्थात 'अहंकार' जिसे इन भिन्न नामों से जाना जाता है : मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शक्ति, प्राण आदि। अपने उद्‌गम को खोजो; वह खोज, तुम्हें स्वतः ही हृदय तक ले जायगी। अन्तःकरण सूक्ष्म शरीर की व्याख्या करने हेतु केवल कल्पना है। शरीर पंच तत्त्व : पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि से बना है; यह जड़ है। आत्मा शुद्ध एवं स्वप्रकाशित है और इस प्रकार प्रत्यक्ष है। इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित करने हेतु सूक्ष्म शरीर को माना जाता है, जो एक ओर पंच तत्त्वों के सूक्ष्म रूप से तथा दूसरी ओर आत्मा के प्रतिबिम्बित प्रकाश से मिलकर बना है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर जो मन का पर्यायी है संवेदनाशील तथा संवेदनारहित, दोनों गुणों से युक्त है, अर्थात् आभास। फिर पंच तत्त्वों पर सत्वगुण की क्रिया से सत्व अंश मन के रूप में तथा ज्ञानेन्द्रियों के रूप में अभिव्यक्त होता है; राजस की क्रिया से रजो अंश प्राण तथा कर्मेन्द्रियों के रूप में अभिव्यक्त होता है; तथा तामस की क्रिया से तम अंश देह, आदि का स्थूल दृश्य के रूप में अभिव्यक्त होता है।

भक्त : किन्तु मन को इन तीन गुणों से भी युक्त माना जाता है।

म० : हाँ। सत्व में शुद्धता, क्रियाशीलता तथा प्रमाद आदि भी हैं। शुद्ध सत्व पूर्ण शुद्ध है; मिश्रित सत्व अन्य गुणों से युक्त सत्व है। सत्व गुण का अर्थ है अन्य दो गुणों पर उसका प्रभाव।

बाद में श्री भगवान ने कहा : ऐसा कहते हैं कि विभिन्न विचारधाराओं के दर्शनशास्त्र की पेचीदा भूलभुलैया विषय को स्पष्ट करती है तथा सत्य को प्रकट करती है। पर वास्तव में वे भ्रम ही उत्पन्न करते हैं जहाँ कि कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। किसी भी वस्तु को जानने के लिए आत्मा का अनिवार्य होना आवश्यक है। आत्मा सुस्पष्ट है। आत्मा होकर क्यों नहीं रहते? अनात्मा की व्याख्या करने की क्या आवश्यकता है?

उदाहरण के लिए वेदान्त को लें : वे कहते हैं कि प्राण पन्द्रह प्रकार के हैं। विद्यार्थी को समस्त नाम तथा उनके कार्यों को रटाया जाता है। ऊपर जाने वाली वायु को प्राण कहते हैं; नीचे जाने वाली को अपान कहते हैं; तथा इन्द्रियों को परिचालन करने वाली वायु को अन्य नाम से कहते हैं। यह सब क्यों? कार्यों का वर्गीकरण, नामकरण तथा परिगणना, आदि क्यों किया जाता है? क्या यह बोध पर्याप्त नहीं है कि एक ही प्राण समस्त कार्य सम्पादित करता है।

अन्तःकरण विचार करता है, इच्छा करता है, संकल्प करता है, तर्क,

आदि करता है और प्रत्येक क्रिया को किसी एक नाम जैसे मन, बुद्धि, आदि का स्वभाव बताया जाता है। क्या किसी ने प्राण तथा अन्तःकरणों को देखा है ? क्या उनका कोई वास्तविक अस्तित्व है ? वे केवल विकल्प हैं। ऐसे विकल्पों का कब और कहाँ अन्त होगा ?

निम्नलिखित पर विचार करो :—

एक व्यक्ति सोता है। जागने पर वह कहता है कि वह सोया था। प्रश्न उठता है : सुषुप्ति में वह व्यक्ति क्यों नहीं कहता कि वह सो रहा है ? उत्तर दिया जाता है कि वह तल में से किसी वस्तु को निकालने हेतु जल में डुबकी लगाये हुए व्यक्ति की भाँति आत्मा में निमग्न है तथा बोलने में असमर्थ है। डुबकी लगाने वाला व्यक्ति जल के नीचे बोल नहीं सकता; जब वह वास्तव में पदार्थों को पुनः प्राप्त कर लेता है, वह बाहर आता है और बोलता है। अच्छा, क्या स्पष्टीकरण है ?

जल में होने के कारण, यदि वह बोलने के लिए मुँह खोलेगा, तो जल उसके मुँह में प्रवाहित हो जायगा। क्या यह सरल नहीं है ? किन्तु दार्शनिक इतने सरल तथ्य से सन्तुष्ट नहीं होता। वह यह कहकर समझायेगा कि वाणी का देवता अग्नि है; यह जल का विरोधी है, अतः कार्य नहीं कर सकती। इसको दर्शनशास्त्र कहा जाता है तथा इस सबको जानने के लिए विद्वान कठिन परिश्रम कर रहे हैं। क्या यह सरासर समय का अपव्यय नहीं है ? फिर व्यष्टि के भिन्न-भिन्न अंग तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता कहे जाते हैं। विराट (समष्टि) के अंग तथा इन्द्रियाँ हैं। इसी प्रकार वे हिरण्यगर्भ, आदि की व्याख्या करते हैं। भ्रम उत्पन्न ही क्यों किया जाये और फिर उसको स्पष्ट किया जाये ? अरे ! वह व्यक्ति भाग्यवान है जो अपने आपको इस उलझन में ही नहीं फंसाता !

मैं निश्चय ही भाग्यवान रहा कि मैंने इसे कभी नहीं अपनाया। यदि मैं इसे अपनाता तो मैं सम्भवतः कहीं भी नहीं रहता—सदैव ही भ्रमित रहता। मेरी पूर्व वासनाएँ मुझे सीधे "मैं कौन हूँ" की खोज पर ले गयीं। यह वास्तव में सौभाग्यपूर्ण था।

११ अप्रेल, १९३७

३९३. **भक्त :** 'प्रबुद्ध भारत' के मार्च के अंक में संत थेरेसा के आध्यात्मिक अनुभवों का संक्षिप्त वर्णन है। संत थेरेसा को मैडोना (माँ मेरी) की मूर्ति के प्रति अत्यधिक भक्ति थी जो उनकी दृष्टि पड़ते ही सजीव हो उठती थी और उनको आनन्द होता था। क्या यह शक्तिपात जैसा है ?

म० : सजीव मूर्ति ध्यान-बल की सूचक है। शक्तिपात मन को अन्तर्मुख करता है। ऐसी भी एक प्रक्रिया है जिसमें मन को स्वयं की छाया पर एकाग्र किया जाता है तथा कालान्तर में छाया सजीव होकर प्रश्नों के उत्तर देती है। यह सब मानसिक शक्ति अथवा ध्यान-बल के कारण है। जो कुछ भी बाह्य है, वह अस्थायी है। ऐसे दृश्य कुछ समय के लिए प्रसन्नता प्रदान कर सकते हैं, किन्तु इनका परिणाम 'शान्ति' नहीं हो सकता। इसकी प्राप्ति केवल अज्ञान के निवारण से ही हो सकती है।

३९४. **भक्त** : मन को शान्त किस प्रकार करें ?

म० : मन को मन से देखने से अथवा मन को आत्मा में जमाने से मन आत्मा के नियन्त्रण में आ जाता है।

भक्त : क्या इस हेतु कोई योग अथवा कोई प्रक्रिया है ?

म० : केवल आत्म-विचार ही पर्याप्त है।

३९५. **भक्त** : पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो ? गृहस्थ के योग्य कौन-सी पद्धति श्रेष्ठ है ?

म० : तुम अभी पूर्ण कह चुके हो। क्या तुम पूर्ण से पृथक हो ? यदि उससे पृथक हो तो क्या वह पूर्ण होगा ? यदि पृथक नहीं तो यह प्रश्न कैसे उठा ? यह बोध कि ब्रह्म पूर्ण है तथा तुम उससे पृथक नहीं हो, यही अन्तिमता है। इसे देखो और तुम जानोगे कि तुम गृहस्थ अथवा सीमित जीव नहीं हो।

भक्त : तत्त्व क्या हैं ?

म० : पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान अन्य विषयों को अनायास स्वतः ही स्पष्ट कर देगा।

१२ अप्रेल, १९३७

३९६. जावा में बहुत समय तक सेवा-कार्य करने वाली तथा वर्तमान में अड्यार में रहने वाली डच महिला श्रीमती गाँगरिज्प एक उत्साही थियोसोफिस्ट हैं, कुछ समय के लिए पधारीं। उन्होंने जिज्ञासा की :

थियोसोफी में 'तन्हा' की चर्चा है जिसका अर्थ है पुनर्जन्म की इच्छा। इसका क्या कारण है ?

म० : पुनर्जन्म की इच्छा पुनः जीवन प्राप्त करने की इच्छा है जिससे कि बारम्बार जन्म न हों। वर्तमान अवस्था में आत्मा मृतप्राय है; इसे पुनः जीवित करना होगा जिससे कि वर्तमान में दीखने वाली मृत्यु के उपरान्त पुनः जीवन प्राप्त हो। अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति ही अब की मृत्यु

है। इसका स्मरण ही पुनर्जन्म है। यह भविष्य के बारम्बार के जन्मों को समाप्त कर देता है। तुम्हारा जीवन शाश्वत है।

भक्त : मैं 'तन्हा' का तात्पर्य 'जीवन से टिके रहना'—शाश्वत जीवन की इच्छा समझती हूँ।

म० : निस्सन्देह ऐसा ही है। ऐसी इच्छा कैसे उत्पन्न हुई ? चूँकि वर्तमान अवस्था असहनीय है। क्यों ? चूँकि यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। यदि यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप होता तो तुम्हें कोई भी इच्छा अशान्त नहीं करती। वर्तमान अवस्था तुम्हारे वास्तविक स्वरूप से किस प्रकार भिन्न है ? वस्तुतः तुम आत्मा हो। किन्तु आत्मा भूल से स्वयं की स्थूल देह से तादात्म्यता कर रही है। देह मन का उभार है। स्वयं मन आत्मा से उदय हुआ है। यदि मिथ्या तादात्म्यता समाप्त हो जाय तो शान्ति तथा अवर्णनीय स्थायी आनन्द होगा।

भक्त : जीवन देह का है, और पुनर्जन्म दूसरी देह में जन्म लेना है।

म० : केवल देह परिवर्तन का कोई महत्त्व नहीं। इस देह से सम्बद्ध अहंकार दूसरी देह में बदल दिया जाता है। इससे किसी को कैसे सन्तोष हो सकता है ?

इसके अतिरिक्त, जीवन क्या है ? जीवन अस्तित्व है, जो तुम्हारी आत्मा है। यही शाश्वत जीवन है। अन्यथा क्या तुम स्वयं के न होने की कभी भी कल्पना कर सकते हो ?

वह जीवन इस समय देह नियन्त्रित है तथा तुम स्वयं की भ्रमवश देह से तादात्म्यता कर रहे हो। तुम निरुपाधि जीवन हो। यह शरीर तुम से मानसिक कल्पनाओं के उभार रूप में सम्बद्ध हो जाते हैं। और अब तुम "मैं देह हूँ" के विचार से दुःखित हो। यदि यह विचार समाप्त हो जाय तुम निज आत्मा हो।

जन्म लेने से पूर्व तुम कहाँ तथा कैसे थे ? क्या तुम सुषुप्ति में थे ? तुम कैसे थे ? तब भी तुम बिना देह के ही रहते हो। तदुपरान्त अहंकार उत्पन्न होता है तथा फिर मन जो शरीर को उभारता है। इसका परिणाम होता है; "मैं देह हूँ" विचार। देह का अस्तित्व होने से तुम कहते हो इसका जन्म हुआ था तथा यह मरेगी और फिर इसी विचार को आत्मा में आरोपित कर कहते हो कि तुम जन्मे हो तथा मरोगे। वास्तव में सुषुप्ति में तुम बिना देह के रहते हो : किन्तु अब तुम देह के साथ रहते हो। आत्मा बिना देह के रह सकता है किन्तु देह आत्मा से अलग नहीं रह सकती।

देहात्म-बुद्धि अज्ञान है, देह आत्मा से पृथक नहीं है, यह ज्ञान है। ज्ञान तथा अज्ञान में यही अन्तर है।

देह मन का उभार है। मन अहंकार है; तथा अहंकार आत्मा से उदय होता है। इस प्रकार देहात्म-बुद्धि विक्षेप करने वाली है तथा आत्मा से विचलित करने वाली है। देह अथवा जन्म किसके लिए है ? यह आत्मा के लिए नहीं है। यह अनात्मा के लिए है, जो स्वयं को पृथक मानता है। जब तक पृथक होने का भाव है, तब तक पीड़ा देने वाले संकल्प होंगे। यदि हम मूल स्रोत को पुनः प्राप्त कर लें तथा पृथक होने के भाव को नष्ट कर दें तो शान्ति है।

विचार करो, जब एक पत्थर को ऊपर फेंके तो क्या होता है ? अपने स्रोत को छोड़कर वह ऊपर जाता है, नीचे आने का प्रयत्न करता है, तथा बराबर चलता रहता है, जब तक कि वह निज स्रोत को प्राप्त न कर ले जहाँ वह स्थिर होता है। इसी प्रकार सागर का जल भाप बनकर मेघ बनता है। वायु मेघ को जल में परिवर्तित करती है, वर्षा के रूप में नीचे आता है और वर्षा का जल पहाड़ों पर गिरता हुआ, सरिता एवं तालाबों में होता हुआ अपने मूल स्रोत सागर में पहुँचकर ही शान्ति पाता है। इस प्रकार, तुम देखो, जहाँ कहीं भी स्रोत से पृथक होने का भाव है, वहीं उद्वेग एवं चांचल्य है, जब तक कि पृथक भाव नष्ट नहीं हो जाय। तुम्हारे साथ भी ऐसा ही है। अब चूँकि तुम देह से तादात्म्यता करते हो, तुम समझते हो कि तुम वास्तविक आत्मा से पृथक हो। इस मिथ्या तादात्म्यता के नष्ट होने से पहले तथा तुमको सुखी होने के लिए अपने मूल स्रोत को प्राप्त करना होगा।

स्वर्ण एक आभूषण नहीं है तथापि आभूषण स्वर्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आभूषण किसी भी आकृति का हो तथा आभूषण कितने ही भिन्न हों, केवल एक सत्यता है, अर्थात् स्वर्ण। इसी प्रकार देह तथा आत्मा के बारे में भी है। अद्वितीय सद्वस्तु आत्मा ही है। स्वयं की देह से तादात्म्यता करना और फिर भी आनन्द खोजना मगर की पीठ पर बैठकर नदी पार करने के समान देह से तादात्म्यता बहिर्मुखी प्रवृत्ति एवं मन के चांचल्य के कारण होता है। है। इस अवस्था में बने रहने से सदैव ही उलझन बनी रहेगी तथा कभी भी शान्ति नहीं होगी। निज स्रोत को खोजो, आत्मा में विलीन हो जाओ एवं केवल होकर रहो।

पुनर्जन्म का अर्थ है वर्तमान अवस्था से असन्तोष एवं पुनःजीवन प्राप्त करने की इच्छा, जहाँ कोई भी असन्तोष नहीं होगा। जन्म देह का होने से आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकता। देह-नाश के उपरान्त भी आत्मा विद्यमान रहता है। असन्तोष का कारण शाश्वत आत्मा का नश्वर देह की मिथ्या तादात्म्यता से है। देह अहंकार की आवश्यक उपाधि है। यदि अहंकार नष्ट हो जाय तो शाश्वत आत्मा सम्पूर्ण दिव्य ज्योति में प्रकट होगा।

देह सलीब (Cross) है। मानव का पुत्र ईसा अहंकार अथवा देहात्म-बुद्धि है। जब ईसा को सलीब (Cross) पर चढ़ा देते हैं तब वह परमानन्दकर आत्मा—यीशू, परमात्मा के पुत्र के रूप में पुनर्जीवित होता है "यदि तुझे जीना है तो वर्तमान जीवन त्याग।"*

३६७. **भक्त** : न रहने की सम्भावना के फलस्वरूप भय होता है। यह देह से सम्बन्ध के कारण है। सुषुप्ति में देह का भान नहीं होता। भयभीत होने के स्थान पर व्यक्ति सुषुप्ति की कामना करता है, जबकि उसे मृत्यु से भय होता है। इन दोनों दृष्टियों में यह अन्तर क्यों है ?

म० : सुषुप्ति की इच्छा अथवा मृत्यु का भय तब होता है जब मन सक्रिय है न कि स्वयं तत्सम्बन्धी अवस्थाओं में। मन जानता है कि देह की सत्ता सुषुप्ति के बाद बनी रहती है तथा पुनः प्रकट होती है। इस कारण सुषुप्ति से भय नहीं लगता तथा देह रहित अस्तित्व के आनन्द की कामना की जाती है। जबकि मन को तथाकथित मृत्यु के उपरान्त देह के पुनः प्रकट होने का निश्चय न होने के कारण वह उससे भयभीत होता है।

१४ अप्रेल, १९३७

३६८. एक आश्रम-निवासी भक्त दण्डपाणि ने जो इस समय उत्तर भारत की यात्रा कर रहे हैं, 'मार्डन साइकॉलाजिकल रिव्यू' का एक उद्धरण भेजा है, जिसमें कहा गया है कि हृदय का शक्ति-विषयक केन्द्र दायीं ओर है न कि बायीं ओर जबकि शारीरिक अंग बायीं ओर है।

उस विषय पर वार्ता होती रही।

म० : योग मार्ग के अनुसार षट्चक्र हैं, जिनमें से प्रत्येक पर अभ्यास द्वारा ही पहुँचा जा सकता है तथा उनसे परे होना होता है जब तक व्यक्ति 'सहस्रार' तक न पहुँच जाय, जहाँ अमृत की प्राप्ति होती है और इस प्रकार अमरत्व की प्राप्ति होती है। योगी कहते हैं कि व्यक्ति परानाड़ी में प्रवेश करता है जिसका आरम्भ त्रिकास्थि स्नायु-जाल से होता है, जबकि ज्ञानियों के मत से उस नाड़ी का आरम्भ हृदय से होता है। बाहर से विरोधी दीखने वाले दोनों वक्तव्यों में गुप्त सिद्धान्त द्वारा समन्वय होता है जो स्पष्टतया प्रकट करता है कि यौगिक परानाड़ी मूलाधार से प्रारम्भ होती हैं तथा ज्ञान परानाड़ी हृदय से प्रारम्भ होती है। वास्तविकता यह है कि परानाड़ी में

---

* "GIVE UP THIS LIFE IF THOU WOULDST LIVE."

प्रवेश होना होगा। यौगिक अभ्यास से साधक पहले नीचे प्रवेश करता है, फिर ऊपर जाता है एवं सब ओर भटकता है, जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय। ज्ञान के अभ्यास से साधक सीधे केन्द्र में स्थित हो जाता है।

भक्त : क्या 'परा' के पीछे 'पश्यन्ति' आदि नहीं हैं ?

म० : तुम 'वाक्' की चर्चा कर रहे हो, जिसे (१) परा, (२) पश्यन्ति, (३) मध्यमा, तथा (४) वैखरी में विभाजित किया गया है; वाक् प्राण शक्ति है जबकि मन तेजोरूप अथवा चित् शक्ति है। शक्ति अव्यक्त मूल का प्रागट्य है।

योगी 'सहस्रार' अर्थात् मस्तिष्क केन्द अथवा सहस्र पत्तीदार कमल तक जाने को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। कुछ योगी कहते हैं कि अन्य केन्द्र हैं जो और अधिक उच्चतर तथा आवलन अर्थात् १००,००० (१००) पत्तीदार अथवा १००,०००,००० (१०८) पत्तीदार हैं। अभी हम उनको छोड़ दें। उनका आशय शास्त्रीय कथन से है कि प्राण देह में ब्रह्मरन्ध्र से प्रवेश करता है तथा उनका तर्क यह है कि उस मार्ग से वियोग हुआ है, अतएवं विपरीत मार्ग से निश्चय ही योग भी प्राप्त होगा। अतः हमें योगाभ्यास द्वारा प्राणों को एकत्रित कर योग-सिद्धि हेतु ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करना होगा। ज्ञानी निर्देश करते हैं कि योगी देह का अस्तित्व तथा आत्मा से इसकी पृथकता मानकर ही योगाभ्यास द्वारा उनको फिर से एक होने का परामर्श देता है।

वास्तव में, देह का अस्तित्व मन में है जिसका संस्थान मस्तिष्क है, जो स्वयं योगियों द्वारा प्रतिपादित कलान्तराल सिद्धान्त के अनुसार अन्य स्रोत से प्राप्त ज्योति से कार्य करता है। ज्ञानी आगे तर्क देते हैं : यदि ज्योति अन्यत्र से ली गयी है तो उसे अपने असली स्रोत से ही आना होगा। बाहर के साधनों पर निर्भर न होकर सीधे स्रोत तक जाओ। जिस प्रकार एक लोहे की गेंद लोहे के द्रव्यमान से पृथक होकर बनती है तथा अग्नि में उत्तप्त होती है, बाद में अग्नि को त्यागकर शीतल हो जाती है, किन्तु मूल पदार्थ से संयुक्त होने के लिए पुनः उत्तप्त की जाती है, उसी प्रकार वियोग का कारण ही पुनर्योग का कारण होगा।

फिर यदि एक आकार प्रतिबिम्बित होता है तो इसका स्रोत एवं सूर्य तथा जल के पात्र के समान उपसाधन भी अवश्य होंगे। योगियों के अनुसार प्रतिबिम्ब के निवारण हेतु या तो सतह को इस प्रकार ढक दिया जाता है जो तदनुरूपी कलान्तराल तक पहुँचता है अथवा जल को खाली कर दिया जाता है जिसे तपस की संज्ञा दी जाती है (तपो ब्रह्मेति—तपस ब्रह्म है)। अर्थात् संकल्पों अथवा मस्तिष्क की क्रियाओं की समाप्ति। यह ज्ञान-मार्ग है।

यह सब यह मानकर है कि जीव, आत्मा अथवा ब्रह्म से पृथक है। किन्तु क्या हम पृथक हैं ? ज्ञानी कहता है, "नहीं"। अहंकार केवल आत्मा का अनात्मा से मिथ्या तादात्म्यता है जैसे कि रंगहीन स्फटिक और उसकी रंगीन पृष्ठभूमि। यद्यपि स्फटिक रंगहीन है तथापि अपनी पृष्ठभूमि के करण लाल प्रतीत होता है। यदि पृष्ठभूमि को हटा दिया जाय तो स्फटिक अपनी असली शुद्धता में चमकेगा। आत्मा एवं अन्तःकरणों के साथ भी ऐसा ही है।

तथापि यह दृष्टांत पूर्णतया उपयुक्त नहीं है। क्योंकि अहंकार का स्रोत आत्मा है तथा यह स्फटिक की भाँति पृष्ठभूमि से पृथक नहीं है। इसका उद्‌गम आत्मा से होने से, अहंकार को केवल इसलिए मूलस्रोत खोजना है जिससे कि यह स्रोत में विलीन हो जाय।

अहंकार का केन्द्र एवं उसका अन्तस्तल हृदय कहलाता है, जो आत्मा के समान ही है।

एक भद्र पुरुष ने जिज्ञासा की कि क्या योगी भी अन्य मार्ग से ज्ञानियों के समान ही अनाहत तक पहुँचते हैं तथा इस प्रकार हृदय-केन्द्र की अनुभूति कर लेते हैं।

म० : अनाहत हृदय-केन्द्र के समान नहीं है। यदि ऐसा होता तो वे सहस्रार तक क्यों भटकते ? इसके अतिरिक्त, यह प्रश्न इसलिए उठता है चूँकि हम में पृथकता का भाव दृढ़ है। हृदय-केन्द्र से हम कभी भी दूर नहीं हैं। अनाहत तक पहुँचने से पूर्व अथवा इसके आगे निकलने के पश्चात् भी व्यक्ति केवल केन्द्र में ही है। चाहे इसे कोई समझे या न समझे। कोई भी केन्द्र से परे नहीं है। योग का अभ्यास अथवा विचार सदैव ही केवल केन्द्र में स्थिर रहकर ही किया जाता है।

भक्त : हमारी साधना क्या हो ?

म० : साधक की साधना सिद्ध की सहज है। सहज मूलभूत अवस्था है, अर्थात् साधना इस शाश्वत सत्य के साक्षात्कार में होने वाली बाधाओं का हटाना मात्र है।

भक्त : क्या मन की एकाग्रता भी एक साधना है ?

म० : एक वस्तु का चिन्तन एकाग्रता नहीं है। इसके विपरीत यह उन समस्त संकल्पों का शमन है जो हमारे वास्तविक स्वरूप के दर्शन में बाधा डालते हैं। हमारे समस्त प्रयत्नों का अभिप्राय केवल अज्ञान के आवरण को हटाना मात्र है। अब संकल्पों को शान्त करना कठिन प्रतीत होता है। आत्म-सुधार करने की अवस्था में संकल्प करना अधिक कठिन लगेगा। इसका कारण है, क्या वास्तव में वस्तुएँ हैं जिनका चिन्तन किया जाय ? केवल

आत्मा ही है। संकल्प तभी होंगे जब दृश्य पदार्थ हों। पर दृश्य पदार्थ हैं ही नहीं। फिर संकल्प उदय ही कैसे हो सकते हैं ?

स्वभाव के कारण हमें ऐसा विश्वास हो गया है कि संकल्प न होने देना कठिन है। यदि भूल मालूम हो जाय तो व्यक्ति चिन्तन करके अपनी शक्ति को अनावश्यक अपव्यय करने की मूर्खता नहीं करेगा।

भक्त : क्या अभ्यास की अपेक्षा अनुग्रह अधिक प्रभावशाली नहीं है ?

म० : गुरु केवल अविद्या के निवारण में तुम्हारी सहायता करता है। क्या वह तुम्हें साक्षात्कार दे देता है ?

भक्त : हम अज्ञानी हैं।

म० : जहाँ तक तुम यह कहते हो कि तुम अज्ञानी हो, तुम बुद्धिमान हो। क्या वह मनुष्य पागल है जो यह कहता है कि वह पागल है ?

गुरु का अनुग्रह तुमको जल से बाहर निकालने के लिए सहायता हेतु बढ़ाये गये हाथ के समान है, अथवा वह अविद्या को दूर करने के लिए तुम्हारे मार्ग को सरल कर देता है।

भक्त : क्या यह अविद्या रोग की चिकित्सा हेतु औषधि की तरह नहीं है ?

म० : औषधि किस हेतु है ? औषधि रोगी के स्वास्थ्य की मूल अवस्था को केवल पुनः स्थापित करती है। गुरु, अनुग्रह, ईश्वर आदि की यह सब चर्चा क्या है ? क्या गुरु तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हारे कान में धीरे से कुछ कह देता है ? तुम उसका अनुमान अपने जैसा ही कर लेते हो। चूँकि तुम एक देह के साथ हो, तुम सोचते हो कि तुम्हारे लिये कुछ निश्चित कार्य करने के लिए वह भी एक देह है। उसका कार्य आन्तरिक है। गुरु की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? परमात्मा, जो सर्वव्यापी है अपने अनुग्रह में अपने प्रिय भक्त पर करुणा करता है और भक्त के मापदण्ड के अनुसार अपने आपको प्राणी के रूप में प्रकट करता है। भक्त सोचता है कि वह मनुष्य है और देहों के मध्य जैसे सम्बन्धों की आशा करता है। परन्तु गुरु, जो कि ईश्वर अथवा आत्मा का अवतार है, अन्दर से कार्य करता है, व्यक्ति को उसके मार्ग की भूलों को देखने में सहायता करता है, और जब तक उसे अन्दर आत्मा का साक्षात् नहीं हो जाय, तब तक उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए उसका मार्ग-दर्शन करता है।

ऐसे साक्षात्कार के पश्चात् शिष्य को अनुभव होता है "पहले मैं कितना चिन्तित रहता था। फिर भी में वही पूर्ववत आत्मा ही हूँ, पर किसी भी वस्तु से प्रभावित नहीं हूँ; जो दुःखी था वह कहाँ है ? वह कहीं भी नहीं दीखता।"

अब हमारा क्या कर्तव्य है ? केवल गुरु के वचनों का पालन करो, अन्दर प्रयत्न करो । गुरु अन्दर भी है और बाहर भी। इस प्रकार वह तुमको अन्दर अग्रसर होने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है और अन्तरंग को तुम्हें केन्द्र तक खींचने के लिए उद्यत करता है । इस प्रकार गुरु बाहर से धक्का देता है तथा अन्दर से खींचता है कि जिससे तुम केन्द्र पर स्थिर हो सको ।

सुषुप्ति में तुम अन्दर केन्द्रित होते हो । जाग्रत होने के साथ ही तुम्हारा मन बहिर्मुख होता है एवं इस, उस तथा अन्य समस्त वस्तुओं पर विचार करने लगता है । इसका निरोध आवश्यक है । यह उसी शक्ति के द्वारा सम्भव हो सकता है जो अन्दर तथा बाहर दोनों ओर कार्य कर सकती है । क्या उसकी एक देह से तादात्म्यता की जा सकती है ? हम सोचते हैं कि हम अपने प्रयास से जगत पर विजय पा सकते हैं । जब हम बाहर से हताश हो जाते हैं और अन्तर्मुख होते हैं तो हमें प्रतीत होता है, "ओह ! ओह ! एक शक्ति है जो मनुष्य की अपेक्षा उच्चत्तर है ।" उच्चतर शक्ति का अस्तित्व स्वीकृत एवं मान्य करना ही होगा । अहंकार अत्यन्त शक्तिशाली हाथी है तथा इसे सिंह से कम कोई भी वश में नहीं कर सकता है, जो इस उदाहरण में गुरु के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है; जिसका दर्शन मात्र हाथी को कम्पित कर खतम कर देता है । समय आने पर हमें मालूम होगा कि जब हम नहीं होते हैं तभी हमारा ऐश्वर्य होता है । उस अवस्था को प्राप्त करने हेतु मनुष्य को अपने आपको समर्पण करते हुए कहना होगा "प्रभु ! आप मेरे आश्रय-दाता हैं !" तब गुरु देखता है "यह व्यक्ति मार्गदर्शन का पात्र है" और इसलिये उसका मार्गदर्शन करता है ।

भक्त : आत्म-समर्पण क्या है ?

म० : यह आत्म-संयम जैसा ही है । संस्कारों के कारण अहंकार कार्य करता है, उनके निवारण से संयम होता है । अहंकार तभी अपने आपको समर्पित करता है जब वह उच्चतर शक्ति को मान्यता देता है । इस प्रकार की मान्यता ही समर्पण है अथवा अपने आपको समर्पण करना आत्म-संयम है । अन्यथा अहंकार स्तम्भ पर गढ़े चित्र के समान स्थिर रहता है जो अपने गम्भीर भाव एवं थकी हुई आकृति से स्तम्भ को अपने कन्धों पर उठाये रखने का आडम्बर करता है । शक्ति के बिना अहंकार का अस्तित्व नहीं रह सकता । किन्तु वह समझता है कि वह स्वत: ही कार्य करता है ।

भक्त : निरंकुश मन को कैसे नियन्त्रित करें ?

म० : या तो इसके स्रोत को खोजो जिससे कि यह लुप्त हो जाय अथवा समर्पण करो जिससे कि यह निष्क्रिय हो जाय।

भक्त : किन्तु मन हमारे नियन्त्रण से बाहर हो जाता है।

म० : हो जाने दो। उसका चिन्तन न करो। जब तुम्हें इसका बोध हो तभी इसे पीछे की ओर लौटाकर इसे अन्तर्मुख करो। यही पर्याप्त है।

बिना प्रयास के किसी को सफलता नहीं मिलती है। मन का संयम किसी का जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं है। इने-गिने व्यक्ति अपने धैर्य के कारण ही सफल हुए हैं।

रेलगाड़ी में एक यात्री अपनी मूर्खता के कारण ही अपने भार को सिर पर रखता है। यदि वह इसे नीचे रख दे, तो उसे अनुभव होगा कि भार उसी प्रकार गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार, हमें कर्ता का अभिमान न कर मार्गदर्शक शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण कर देना चाहिए।

भक्त : स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि एक आध्यात्मिक गुरु शिष्य को आध्यात्मिकता पर्याप्त रूप से हस्तान्तरण कर सकता है।

म० : क्या कोई पदार्थ है जो हस्तान्तरित किया जाय ? हस्तान्तरण करने से आशय शिष्य होने की भावना का उन्मूलन करना है। गुरु यही करता है। ऐसा नहीं है कि वह व्यक्ति एक समय कुछ था और बाद में उसका दूसरे में रूपान्तरण कर दिया गया।

भक्त : क्या अनुग्रह गुरु की देन नहीं है ?

म० : ईश्वर, अनुग्रह एवं गुरु सब पर्यायवाची हैं तथा शाश्वत एवं सर्वव्यापी भी हैं। क्या आत्मा अभी भी अन्तस्थ नहीं है ? क्या गुरु उसे अपनी दृष्टि से प्रदान करे ? यदि गुरु ऐसा समझता है तो वह उस नाम के योग्य नहीं है।

पुस्तकों में दीक्षा के अनेक प्रकार हैं : (हस्त दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, चक्षु दीक्षा, मनो दीक्षा, आदि।) उनमें यह भी वर्णन है कि गुरु, अग्नि, जल, जप, मन्त्रों आदि द्वारा कुछ संस्कार करता है, तथा इस प्रकार के विलक्षण आचरणों को दीक्षा कहा जाता है, जैसे कि गुरु द्वारा ऐसी प्रक्रियाओं के करने के बाद ही शिष्य परिपक्व होता है।

यदि व्यक्ति की खोज है तो वह कहीं भी प्राप्त नहीं होगा। गुरु ऐसा ही है। दक्षिणामूर्ति ऐसे ही हैं। उन्होंने क्या किया ? वे मौन थे; शिष्य उनके समक्ष उपस्थित हुए। वे मौन ही रहे। शिष्यों के संशय निवारण हो गये, जिसका अभिप्राय है कि उनकी व्यक्तिगत तादत्म्यताएँ समाप्त हो गयीं। यही ज्ञान है न कि प्रायः उससे सम्बद्ध शब्दाडम्बर।

मौन कार्य का परम शक्तिशाली रूप है। शास्त्र कितने ही सबल एवं वृहत् हों, उनका प्रभाव सफल नहीं है। गुरु शान्त है तथा सबमें शान्ति व्याप्त होती है। गुरु का मौन समस्त शास्त्रों की अपेक्षा अधिक सबल एवं वृहत् है। यह प्रश्न इस भावना के कारण उदय होते हैं कि यहाँ इतना लम्बे समय तक निवास कर; इतना अधिक श्रवण कर, इतना अधिक परिश्रम कर व्यक्ति को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। अन्दर होने वाला कार्य प्रत्यक्ष नहीं है। वास्तव में गुरु सदैव तुम्हारे अन्दर है।

थायूमानवर का कथन है: "हे प्रभु! तुम समस्त जन्मों में मेरा परित्याग किये बिना मेरे संग रहे और अन्ततः मेरा उद्धार किया!" साक्षात्कार का ऐसा ही अनुभव है।

श्रीमद्भगवदगीता में यही भिन्न प्रकार से कहा गया है: "हम दोनों अभी ही नहीं अपितु सदैव ही ऐसे रहे हैं।"

भक्त : क्या गुरु प्रत्यक्ष आकार ग्रहण नहीं करता?

म० : प्रत्यक्ष से क्या अभिप्राय है? चूँकि तुम अपने अस्तित्व को अपनी देह से मिला देते हो, इसलिए तुम यह प्रश्न करते हो। मालूम करो क्या तुम देह हो?

गीता के अनुसार "परं भावमजानन्तो" (गीता ९-११) जो (श्रीकृष्ण के) विकल्पातीत स्वरूप को नहीं जान सकते हैं वे मूर्ख हैं, अविद्या से भ्रमित हैं।

गुरु उस मूढ़ता के निवारण के लिए प्रकट होता है। थायूमानवर के शब्दों में, वह मनुष्य के रूप में मनुष्य का अज्ञान निवारण करने के लिए प्रकट होता है, जिस प्रकार जंगली मृग को धोखे से पकड़ने के लिए मृग का ही उपयोग किया जाता है। उसे हमारे "मैं देह हूँ" के ज्ञानशून्य विचार को नष्ट करने के लिए देह सहित प्रकट होना पड़ता है।

१५ अप्रेल, १९३७

३९९. बंगाली इन्जीनियर श्री बोस ने अब तक 'गौड़पाद करिकाएँ' तथा सर एस० राधाकृष्णन का 'भारतीय दर्शन' पढ़ लिया है, इसलिए उन्होंने निम्न प्रश्न किये:

भक्त : स्वप्न अनुभव तथा जाग्रत अवस्था में क्या कोई वास्तविक अन्तर है?

म० : चूँकि तुम स्वप्न सृष्टि को जाग्रत अवस्था की तुलना में अस्थायी मानते हो, इसलिए अन्तर कहा गया है। अन्तर वास्तविक नहीं अपितु केवल भासित होता है।

भक्त : क्या जाग्रत अवस्था दृश्य पदार्थों से स्वतन्त्र है ?

म० : यदि ऐसा होता तो दृश्य पदार्थ द्रष्टा के बिना भी अवश्य ही रहते; अर्थात् दृश्य पदार्थ ही तुमसे अपने अस्तित्व के बारे में कहते। क्या वह ऐसा करता है ? उदाहरणार्थ, क्या तुम्हारे सामने चलती हुई गाय यह कहती है कि वह चल रही है ? अथवा तुम स्वयं अपने आप ही कहते हो, "एक गाय चल रही है।" पदार्थ हैं चूँकि द्रष्टा उनको अनुभव करता है।

भक्त : गौड़पाद 'माण्डूक्य-करिकाओं' में कहते हैं कि ब्रह्म के दृष्टिकोण से दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है।

म० : वास्तव में नहीं है।

भक्त : मेरा विश्वास है भगवान भी यही कहते हैं। 'भारतीय दर्शन' में प्रो० राधाकृष्णन का मत है कि श्री शंकर ने ब्रह्म-सूत्र की टीका में दोनों अवस्थाओं में भेद का प्रतिपादन किया है। क्या यह सत्य है ? यदि ऐसा है, तो यह क्या है ? वास्तविकता के दृष्टिकोण से किसी प्रकार का भेद कैसे हो सकता है ? जब तक मन किसी भी रूप में है, भेद रहेगा। किन्तु आत्मा, अद्वैत ब्रह्म के दृष्टि-बिन्दु से क्या कोई भेद हो सकता है ?

म० : स्वप्न उसके लिए है जो कहता है कि वह जाग्रत है। वास्तव में आत्मा के दृष्टि-बिन्दु से जागृति तथा स्वप्न एकसमान असत्य हैं।

भक्त : क्या शुद्ध अद्वैत में विकास, सृष्टि अथवा अभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान है ? विचार के उस सिद्धान्त के सम्बन्ध में क्या है जिसके अनुसार अपने वास्तविक स्वरूप से च्युत हुए बिना ब्रह्म ही जगत रूप भासता है, जिस प्रकार रज्जु सर्प रूप भासती है।

म० : जगत के मिथ्यात्व को प्रमाणित करने की प्रक्रिया के भिन्न मार्ग हैं। स्वप्न का उदाहरण उनमें से एक है। शास्त्रों में जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का पर्याप्त वर्णन इसलिए किया गया है जिससे उन सबकी पृष्ठभूमि में जो सत्य है वह प्रकट हो सके। इस वर्णन का आशय यह नहीं है कि इन तीनों अवस्थाओं में भेद को तीव्र किया जाय। लक्ष्य को दृष्टि में स्पष्ट रखना होगा।

अब वे कहते हैं जगत मिथ्या है। यह मिथ्यात्व किस मात्रा का है ? क्या यह बन्ध्या माता के पुत्र अथवा आकाश में पुष्प के समान है, अर्थात् वास्तविकता के विपरीत केवल शब्द हैं ? इसके विपरीत जगत एक वास्तविकता है न कि शब्द मात्र। उत्तर है कि यह उस अद्वितीय सद्वस्तु पर अध्यारोपण है जैसे मन्द प्रकाश में कुण्डलित रस्सी सर्प की भाँति दीखे।

किन्तु यहाँ भी मित्र द्वारा उसे रज्जु बताये जाने पर भ्रान्त धारणा तुरन्त समाप्त हो जाती है। जबकि जगत के मिथ्यात्व की जानकारी होने के बाद भी वह बना रहता है। यह कैसे है ? मृग-जल की जानकारी होने के बाद भी मृग-जल में जल का आभास बना रहता है। जगत के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। इसे मिथ्या जान लेने पर भी यह भासता रहता है।

किन्तु प्यास बुझाने के लिए मृग-जल के जल की इच्छा नहीं की जाती। जैसे ही किसी को यह पता चल जाय कि यह मृग-जल है वह उसे वृथा समझ कर छोड़ देता है और जल की तलाश में उसके पीछे नहीं भागता।

भक्त : जगत के आभास में ऐसा नहीं है। बारम्बार इसे मिथ्या कहने के बाद भी व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति संसार से ही करनी पड़ती है। जगत मिथ्या कैसे हो सकता है ?

म० : यह ऐसा है जैसे कोई मनुष्य अपने स्वप्न की इच्छाओं की पूर्ति स्वप्न की सृष्टि से करता हो। वहाँ दृश्य पदार्थ हैं, वहाँ इच्छाएँ हैं और वहाँ सन्तोष है। स्वप्न-सृष्टि उतनी ही उपयोगी है जितना कि जाग्रत जगत, फिर भी इसे सत्य नहीं माना जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनमें से प्रत्येक उदाहरण मिथ्यात्व की अवस्थाओं को निश्चित करने में एक स्पष्ट उद्देश्य पूरा करता है। सिद्ध ज्ञानी अन्तत: घोषित करता है कि आत्म-सुधार करने की अवस्था में जाग्रत जगत भी उतना ही मिथ्या प्रतीत होता है जितना कि जाग्रत अवस्था में स्वप्न-जगत।

प्रत्येक दृष्टान्त को उसके वास्तविक सन्दर्भ में समझना आवश्यक है; उसे एक विलगित वक्तव्य के रूप में नहीं लेना चाहिए। यह श्रृंखला की एक कड़ी मात्र है। इन सबका उद्देश्य साधक के मन को उन सब के आधार एकमात्र सत्य की ओर निदेशन करना है।

भक्त : क्या शंकर तथा गौड़पाद के दर्शनशास्त्र में वैसा अन्तर है जो कि विद्वान प्रोफेसर चाहते हैं कि हम उस पर विश्वास कर लें ?

म० : अन्तर केवल हमारी कल्पना में है।

भक्त : सर एस० राधाकृष्णन लिखते हैं :

''गौड़पाद के ग्रन्थ में व्याप्त सामान्य विचार कि बन्धन एवं मुक्ति, व्यक्तिगत जीव एवं जगत सब मिथ्या हैं, इस पर एक कटु आलोचक ने आलोचना की है, कि जिस सिद्धान्त में मिथ्या आत्मा द्वारा मिथ्या सर्वोच्च सुन्दर से बाहर निकलने की चेष्टा के अतिरिक्त और कुछ अधिक अच्छा कहने को नहीं है, वह सम्भवतया स्वयं भी मिथ्या होगा। ऐसा कहना एक बात है कि परिवर्तनशील संसार में अपरिवर्तन सत्य का अपने वास्तविक स्वरूप से

च्युत हुए बिना व्यक्त होना एक चमत्कार है। पर यह दूसरी बात है कि सारे परिवर्तनशील जगत का निरसन कर उसे केवल मृग-जल कहा जाय। यदि हमें जीवन का खेल खेलना है तो हम इस विश्वास पर ऐसा नहीं कर सकते कि खेल एक दृश्य है एवं समस्त पुरस्कार केवल शून्य हैं। कोई भी दर्शनशास्त्र ऐसे सिद्धान्त को निरन्तर प्रतिपादित कर स्वयं स्थित नहीं रह सकता। ऐसे सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि हमें उन पदार्थों के साथ निर्वाह करना होता है जिनकी स्थिति एवं महत्ता को हम सिद्धान्ततः निरन्तर मिथ्या कह रहे हैं। इससे केवल यह स्पष्ट होता है कि इसके अतिरिक्त कुछ और भी है जिसके अन्तर्गत जगत है एवं जो जगत से परे है किन्तु इसका आशय यह नहीं कि जगत एक स्वप्न है।"

म० : जैसा पहले कहा जा चुका है सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र का उद्देश्य उस सत्य को बताना है, जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा व्यक्तिगत जीवात्माएँ, जगत एवं ईश्वर का आधार है।

तीन दृष्टिकोण सम्भव हैं :

(१) व्यावहारिक : मनुष्य जगत के भिन्न रूपों को देखता है, उसके बनाने वाले की कल्पना करता है, और अपने को दृष्टा मानता है। इस प्रकार यह सब केवल तीन मूल सिद्धान्त रह जाते हैं, जगत, जीव तथा ईश्वर। उसे सृष्टि के उत्पन्न करने वाले के अस्तित्व की जानकारी होती है और वह अमरत्व को प्राप्त करने के लिए उसके पास पहुँचना चाहता है। यदि एक व्यक्ति इस प्रकार बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर ले तो भी अन्य व्यक्ति पूर्ववत रहते हैं जिन्हें अपने स्वयं के निर्वाण हेतु प्रयास करना होगा। मनुष्य न्यूनाधिक समस्त बाहरी दृश्यों के आधार एक ही सत्य को स्वीकार करता है। बाहरी दृश्य माया की लीला के कारण हैं। माया ईश्वर की शक्ति अथवा उसका विलास है। इस प्रकार भिन्न जीवात्माएँ, दृश्य पदार्थों; आदि के होने से अद्वैतवादी दृष्टिकोण का विरोध नहीं होता।

(२) प्रातिभासिक : जगत, जीव तथा ईश्वर सबकी अनुभूति केवल दृष्टा करता है। दृष्टा से स्वतन्त्र उनका कोई भी अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार एक ही जीव है, चाहे जीवात्मा हो अथवा परमात्मा। शेष सब केवल मिथ्या है।

(३) पारमार्थिक : अर्थात् अजातवाद (सृष्टि के न होने का सिद्धान्त) जिसमें अन्य कुछ है ही नहीं। वहाँ न सत्य है, न असत्य, न प्रयास है, न उपलब्धि, न बन्धन है, न मुक्ति आदि।

प्रश्न उठता है, तब फिर समस्त शास्त्र परमात्मा को सृष्टि करने वाला क्यों कहते हैं? तुम जीव होकर सृष्टा की सृष्टि कैसे करते हो तथा तर्क करते हो कि जगत, जीव और ईश्वर केवल मानसिक कल्पनाएँ हैं?

उत्तर निम्नलिखित है :

तुम जानते हो कि इस जाग्रत अवस्था के तुम्हारे पिता का देहान्त हो चुका है तथा उनकी मृत्यु हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो गये हैं तथापि तुम उनको अपने स्वप्न में देखते हो और पहचान लेते हो कि वह तुम्हारे पिता हैं, जिनसे तुम्हारा जन्म हुआ था तथा जो तुम्हारे लिये पैतृक सम्पत्ति छोड़ गये थे। यहाँ सृष्टिकर्ता सृष्ट वस्तु में है। फिर तुम स्वप्न देखते हो जिसमें तुम एक राजा की सेवा कर रहे हो और तुम राज्य की प्रशासनिक मशीनरी के एक अंग हो। जैसे ही तुम जाग जाते हो वे सब लुप्त हो जाते हैं तथा बाद में केवल तुम एक व्यक्ति ही रह जाते हो। वे सब कहाँ थे ? केवल तुम में ही। दूसरे उदाहरण में भी यही अनुरूपता है।

भक्त : उपरोक्त व्यावहारिक विवेचन में माया कैसे आती है ?

म० : माया केवल ईश्वर-शक्ति अथवा उसका विलास है।

भक्त : यह क्रियाशील क्यों होता है ?

म० : यह प्रश्न कैसे उठ सकता है ? तुम स्वयं भी उसी के अन्तर्गत हो। क्या तुम यह प्रश्न करने के लिए उस ईश्वर-शक्ति से अलग हो ? वही शक्ति यह संशय उत्पन्न करा रही है, जिससे कि अन्ततः समस्त संशय समाप्त हो जायँ।

भक्त : स्वप्न-जगत जाग्रत-जगत के समान उपयोगी नहीं है, क्योंकि हम अनुभव नहीं करते कि वहाँ इच्छाओं की सन्तुष्टि होती है।

म० : तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। स्वप्न में भी क्षुधा एवं तृषा होती है। तुमने अपनी क्षुधा की निवृत्ति कर ली हो और शेष भोजन अगले दिन के लिए रख लिया हो तथापि तुम्हें स्वप्न में क्षुधा लगती है। यहाँ का भोजन काम में नहीं आता। तुम्हारी स्वप्न-क्षुधा की तृप्ति स्वप्न-भोजन खाने से ही होगी। स्वप्न-इच्छाएँ केवल स्वप्न-सृष्टि से सन्तुष्ट होती हैं।

भक्त : अपनी जाग्रत अवस्था में हम स्वप्नों का स्मरण करते हैं किन्तु स्वप्न में जाग्रत का नहीं।

म० : यह भी ठीक नहीं है। स्वप्न में तुम अपने को उसी से मिला लेते हो, जो अब वार्ता कर रहा है।

भक्त : जाग्रत में जिस प्रकार हम जानते हैं कि हम जाग्रत हैं, उसी प्रकार स्वप्न में हमको यह नहीं भान होता कि हम स्वप्न देख रहे हैं।

म० : स्वप्न, जाग्रत तथा सुषुप्ति का संयोग है। यह जाग्रत अवस्था के संस्कारों के कारण है। इस कारण अब हमें स्वप्न स्मरण रहते हैं। इससे विपरीत क्रम में संस्कारों का निर्माण नहीं होता; अतः एक ही समय में हमें

स्वप्न तथा जाग्रत का भान नहीं होता। तथापि प्रत्येक व्यक्ति स्वप्न में विचित्र उद्विग्नताओं का स्मरण करेगा। सुनने वाले को आश्चर्य होता है कि वह स्वप्न देख रहा है अथवा जाग्रत है। वह तर्क करता है तथा निश्चय करता है कि यह केवल जाग्रत है। जब वह वास्तव में जाग्रत होगा, तब वह जानेगा कि यह सब केवल स्वप्न था।

४००. अन्य वार्ता के मध्य श्री भगवान ने कहा : दीप्तिभ्रम से ध्यान में आनन्द की वृद्धि होती है, इससे अधिक कुछ नहीं।

१६ अप्रेल, १९३७

४०१. एक आन्ध्रवासी सज्जन श्री कृष्णमूर्ति ने निम्नलिखित जिज्ञासा की :—हमें तप करते समय किस दृष्य पर अपनी दृष्टि एकाग्र करना आवश्यक है ? हमारा मन हमारे कहे हुए शब्दों पर एकाग्र होता है।

म० : तप किसलिए है ?

भक्त : आत्म-साक्षात्कार के लिए।

म० : ठीक है। तप साधक की योग्यतानुसार होता है। व्यक्ति को ध्यान हेतु आकृति की आवश्यकता है। किन्तु यही पर्याप्त नहीं है। क्या कोई साधक सदैव एक ही आकृति पर दृष्टि स्थिर रख सकता है ? अतः आकृति की अभिपूर्ति जप, द्वारा होगी। जप, दृष्टि के अतिरिक्त मन को आकृति में स्थिर करने में सहायता करता है। इन प्रयासों का परिणाम मन की एकाग्रता है जो कि अन्तिम लक्ष्य है। साधक जिसका चिन्तन करता है वही हो जाता है। कुछ साधक आकृति के नाम से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक आकृति का नाम अवश्य ही होगा। वह नाम ईश्वर के समस्त गुणों का सूचक है। निरन्तर जप अन्य समस्त संकल्पों को हटाकर मन को निश्चल कर देता है। यही तप है। एकाग्रता ही आवश्यक तप है।

तप क्या है, यह प्रश्न यह जानने के लिए किया गया था कि यह किस उद्देश्य का सम्पादन करता है। यह उद्देश्य के अनुसार रूप धारण करेगा।

भक्त : क्या त्यागमय जीवन भी तप नहीं है ?

म० : यह भी एक प्रकार का तप हो सकता है। त्यागमय जीवन वैराग्य से होता है।

भक्त : मैंने एक व्यक्ति को उसके पूरे जीवन-भर अपनी बाँह को ऊपर किये देखा है।

म० : यही वैराग्य है।

भक्त : इसके लिए किसी को अपनी देह को पीड़ा क्यों पहुँचाना चाहिए ?

म० : तुम समझते हो यह पीड़ा है जबकि यह व्रत है तथा दूसरे व्यक्ति के लिए यह एक उपलब्धि है तथा आनन्द है।

ध्यान बाह्य अथवा आन्तरिक अथवा दोनों प्रकार का हो सकता है। बाह्य आकृति की अपेक्षा जप का अधिक महत्त्व है। इसका तब तक करना आवश्यक है जब तक यह सहज न हो जाय। इसका प्रारम्भ प्रयास से होता है और जारी रहता है जब तक स्वतः ही न होने लगे। सहज होने पर इसे साक्षात्कार कहते हैं।

अन्य कार्य करते हुए भी जप किया जा सकता है। वह जो है वही एकमात्र सत्य है। इसे आकृति, जप, मन्त्र, विचार अथवा किसी भी प्रकार के प्रयास से प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्ततः वे समस्त अपने आपको उसी एक अद्वितीय सद्वस्तु में रूपान्तरित कर लेते हैं। भक्ति, विचार, जप, असत् को हटाने के लिए केवल हमारे प्रयासों के भिन्न रूप हैं। इस समय असत् एक मोह ही है। सत्य हमारा वास्तविक स्वरूप है। भ्रान्ति के कारण हम असत् में अर्थात् संकल्पों एवं सांसारिक कार्यों में दृढ़ हो रहे हैं। इनकी समाप्ति से सत्य प्रकट होगा। हमारे प्रयासों का ध्येय इनको दूर करना है। यह केवल सत्य के चिन्तन से किया जाता है। यद्यपि वह हमारा वास्तविक स्वरूप है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम सत्य का चिन्तन कर रहे हैं। वास्तव में हम जो कुछ करते हैं वह इतना ही है कि हमारे वास्तविक स्वरूप के प्रकट होने में जो बाधाएँ हैं उनको दूर कर दें। इस प्रकार ध्यान अथवा विचार अपने मूलस्वरूप में लौट आना है।

भक्त : क्या हमारे प्रयास निश्चय ही सफल होंगे ?

म० : साक्षात्कार हमारा स्वरूप है। यह कोई नवीन वस्तु प्राप्त नहीं करनी है। जो नवीन है वह शाश्वत नहीं हो सकती। इसलिए यह सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है कि जीव, आत्मा की प्राप्ति करेगा अथवा नहीं।

४०२. मस्तिष्क तथा हृदय की चर्चा करते समय श्री भगवान ने एक प्राचीन घटना को निम्न रूप में बताया :—

एक बार काव्यकंठ गणपति मुनि ने यह तर्क दिया कि मस्तिष्क सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, तथा श्री भगवान ने प्रतिपादन किया कि हृदय उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरे लोग भी इस वार्तालाप को सावधानी से सुन रहे थे। कुछ दिनों के बाद श्री भगवान को एक बालक, एन० एस० अरुणाचलम

से, जिसने अभी दसवीं कक्षा भी पास नहीं की थी, एक पत्र मिला जिसमें अंग्रेजी में लिखी एक छोटी कविता थी जो उसने उस वार्तालाप पर लिखी थी।

काव्यात्मक कल्पना की दृष्टि से कविता असाधारण है। श्री भगवान, काव्यकंठ तथा अन्य उपस्थित सज्जनों को क्रमश: हृदय, मस्तिष्क तथा देह बताया गया है। और फिर सूर्य, चन्द्रमा एव पृथ्वी के रूप में भी वर्णन किया गया है। सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा पर प्रतिबिम्बित होता है और पृथ्वी प्रदीप्त होती है। इसी प्रकार हृदय से प्राप्त चेतना से मस्तिष्क कार्य करता है तथा इस प्रकार देह की रक्षा होती है। श्री भगवान का यह उपदेश 'रमण गीता' में भी मिलता है। हृदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, जिसमें जीवन-शक्ति एवं प्रकाश मस्तिष्क को विकीर्ण (प्रदीप्त) कर उसे कार्यक्षमता प्रदान करते हैं। हृदय में वासनाएँ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से बन्द रहती हैं, वे बाद में मस्तिष्क में प्रवाहित होती हैं जो इन्हें प्रत्येक स्थिति में चलचित्र (सिनेमा-शो) के समान अत्यन्त विशाल रूप में प्रतिबिम्बित करता है अर्थात् इस प्रकार जगत को सिनेमा-शो से कुछ अधिक नहीं कहा जाता है।

श्री भगवान ने आगे कहा :

यदि वासनाएँ हृदय के स्थान पर मस्तिष्क में होतीं तो सिर काटने से वे निश्चय ही विलुप्त हो जातीं और पुनर्जन्मों का अन्त हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा स्पष्टतया वासनाओं की अत्यन्त निकटता से अर्थात् अपने अन्दर हृदय में उसी प्रकार रक्षा करता हैं जिस प्रकार एक कृपण अपनी अत्यन्त मूल्यवान सम्पत्ति (खजाने) को अपने पास रखता है एवं कभी भी अपने से अलग नहीं होने देता। अतएव वासनाओं का स्थान आत्मा अथवा हृदय है, मस्तिष्क नहीं (वह केवल वासनाओं के खेल के लिए रंग-भूमि है, जो हृदय के हरे-भरे कक्ष से वहाँ पहुँचती है)।

१७ अप्रैल, १९३७

४०३. 'मार्डन साइकॉलाजिकल-रिव्यू' के उद्धरण के प्रसंग में यह आश्चर्य प्रकट किया गया कि क्या हृदय-केन्द्र के पता लगाने के लिए कोई यन्त्र उपयोगी हो सकता है और क्या वास्तविक ज्ञाता उपलब्ध हो सकते हैं जो आध्यात्मिक मार्ग के सिद्धों के अनुभवों, इत्यादि को अंकित कर सकें। अन्य व्यक्ति बोल रहे थे। श्री भगवान ने कहा : 'आत्म-साक्षात्कार' पुस्तक में मेरे अचेत होने तथा मृत्यु के लक्षणों के अकस्मात प्रकट होने की जिस घटना की चर्चा है, उसकी मुझे पूरे समय तक जागरूकता रही। मैं शारीरिक हृदय

की धड़कन के बन्द होने का अनुभव कर रहा था तथा यह भी अनुभव कर रहा था कि हृदय-केन्द्र बिना किसी बाधा के कार्य कर रहा है। यह स्थिति लगभग पन्द्रह मिनट तक रही।

हमने पूछा कि क्या यह सत्य है कि कुछ शिष्यों को यह विशेष सुविधा प्राप्त हो चुकी है कि उन्होंने श्री भगवान के वक्षस्थल पर हाथ रखकर हृदय-केन्द्र के दाहिनी ओर होने का अनुभव किया है। श्री भगवान ने कहा, "हाँ"।

(श्री विश्वनाथ अय्यर, नारायण रेड्डी तथा अन्य व्यक्तियों का कहना है कि उन्होंने श्री भगवान के वक्षस्थल पर हाथ रखकर हृदय-केन्द्र के दाहिनी ओर होने की अनुभूति की है)।

एक भक्त ने ठीक ही कहा कि यदि हाथों से हृदय-केन्द्र की अनुभूति करना तथा स्थान निर्धारित करना सम्भव है तो सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्र निश्चित रूप से यह कर सकते हैं।

भक्त : हृदय को दायीं ओर, वाम भाग में अथवा मध्य में माना गया है। जब विचारों में इतनी भिन्नता है, तब हम हृदय पर ध्यान कैसे कर सकते हैं ?

म० : तुम हो और यह एक वास्तविकता है। ध्यान तुम्हारे द्वारा, तुम्हारा तथा तुम में होता है। तुम जहाँ भी हो यह होता रहेगा। यह तुम से बाहर नहीं हो सकता। इस प्रकार तुम ध्यान के केन्द्र हो और यही हृदय है।

तथापि देह के सन्दर्भ में हृदय का स्थान निर्धारित किया जाता है। तुम जानते हो कि तुम हो। तुम कहाँ पर हो ? तुम देह में हो, इससे बाहर नहीं। तथापि समग्र देह नहीं हो। यद्यपि तुम सारे देह में व्याप्त हो, तथापि तुम एक केन्द्र स्वीकार करते हो जहाँ से तुम्हारे समस्त विचारों का आरम्भ होता है; तथा जहाँ वे शान्त होते हैं। अंगों के विच्छेद के पश्चात् भी तुम्हारा अस्तित्व रहता है, यद्यपि इन्द्रियबोधशक्ति दोषपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार एक केन्द्र स्वीकार करना ही होगा। इसे ही हृदय कहते हैं। हृदय न केवल केन्द्र है, अपितु आत्मा ही है। हृदय आत्मा का ही दूसरा नाम है।

हृदय की स्थूल अथवा भौतिक वस्तुओं से तादात्म्यता कर लेने से ही संशय उत्पन्न होते हैं। शास्त्रों ने निःसन्देह इसे १०१ नाड़ियों, आदि का स्रोत कहा है। 'योग वाशिष्ठ' में चुड़ाला का कथन है कि कुण्डलिनी में १०१ नाड़ियाँ हैं, इस प्रकार एक को दूसरे के समान माना गया है।

हृदय न संकल्पना है न ध्यान की वस्तु। किन्तु यह ध्यान का स्थान है; केवल आत्मा ही रहता है। तुम देह को तथा जगत को हृदय में देखते हो।

इससे पृथक कुछ भी नहीं है। इस प्रकार समस्त प्रयासों का केवल यही स्थान निर्धारित है।

१८ अप्रेल, १९३७

४०४. एक सामयिक दर्शक ने जिज्ञासा की : निष्ठा क्या है ? दृष्टि को भ्रू-मध्य में किस प्रकार स्थिर करें ?

म० : इन वस्तुओं को हम कैसे देखते हैं ? प्रकाश है जिससे यह देखी जाती हैं। तुम्हारे प्रश्न का आशय यह पूछना है उस प्रकाश को कैसे देखते हैं।

भक्त : भ्रू-मध्य के बीच के बिन्दु का क्या महत्त्व है ?

म० : इस प्रकार कहने का तात्पर्य है : "अपने नेत्रों से मत देखो"

भक्त : प्राणायाम किसलिए है ?

म० : केवल मन को वश में करने के लिए।

कुछ क्षणों के पश्चात् श्री भगवान ने कहा : मन प्रकाश एवं पदार्थ दोनों प्रकार से कार्य करता है। यदि उसे पदार्थों से वंचित कर दिया जाय तो केवल प्रकाश ही रहेगा।

भक्त : किन्तु हमारे लिये यह जानना आवश्यक है कि ऐसा प्रकाश है।

म० : ऐसे प्रकाश के अभाव में दृष्टि अथवा संज्ञान असम्भव है। सुषुप्ति में तुम किसी वस्तु की अनुभूति कैसे करते हो ? हमारी अनुभूति का सम्बन्ध वर्तमान अवस्था से है चूँकि यहाँ प्रकाश है। दृष्टि के लिए प्रकाश अनिवार्य आवश्यक गुण है। हमारे दैनिक जीवन में यह स्पष्ट है। समस्त प्रकाशों में सूर्य-प्रकाश सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए करोड़ों सूर्यों के ऐश्वर्य का वर्णन किया जाता है।

भक्त : यदि हम आँख के पलकों को अँगुलियों से दबायें तो प्रकाश की अनुभूति होती है।

एक अन्य जिज्ञासु ने प्रश्न किया : ऐसे प्रकाश को देखने से क्या लाभ ?

म० : यह इसलिए किया जाता है कि हम कहीं लक्ष्य को न भूल जायें। इस पद्धति से व्यक्ति को यह सहायता मिलती है कि ध्यान अन्य कार्यों की ओर नहीं जाता।

पदार्थ दीखते हैं अथवा प्रकाश प्रकट होता है क्योंकि वहाँ दृष्टा ऐसा करने के लिए है। दृश्य दीखें अथवा न दीखें इससे दृष्टा पर कैसे प्रभाव पड़ता है ? यदि प्रकाश अर्थात् प्रज्ञाता अथवा चैतन्य का दर्शन हो जाय तो

देखने के लिए कोई पदार्थ नहीं रहेगा। केवल शुद्ध प्रकाश अर्थात् चैतन्य ही अवशिष्ट रहेगा।

भक्त : तब फिर प्राणायाम क्यों आवश्यक है ?

म० : श्वास का संयम तथा नियन्त्रण केवल मन को वश में करने के लिए है जिससे मन इधर-उधर न भागे।

भक्त : क्या यह केवल मन को वश में करने के लिए है ?

म० : यही पर्याप्त नहीं है कि प्रकाश का दर्शन हो जाय; यह भी आवश्यक है कि मन एक ही क्रिया में संलग्न रहे, जैसे हाथी की सूँड़ तथा लोहे की जंजीर के उदाहरण में बताया गया है।

भक्त : किसी व्यक्ति को चिन्तामणि को प्राप्त करने हेतु कितना समय लगेगा ?

म० : चिन्तामणि का उदाहरण 'योग वाशिष्ठ' में पाया जाता है। चिन्तामणि आत्मा के वास्तविक स्वरूप का सूचक है। कथा इस प्रकार है :—

एक व्यक्ति चिन्तामणि की प्राप्ति हेतु तपस्या कर रहा था। उसके हाथ में रहस्यपूर्ण ढंग से एक मणि आकर गिरी। उसने सोचा कि यह चिन्तामणि नहीं हो सकती क्योंकि उस मणि को प्राप्त करने के लिए उसका प्रयास अत्यन्त अल्प एवं सामान्य था। उसने उसे त्यागकर तपस्या जारी रखी। बाद में एक साधु ने उसके समक्ष कई पहलू वाला कटाई किया हुआ देदीप्यमान रत्न प्रस्तुत किया। वह मनुष्य उसके रूप को देखकर तो आकर्षित हुआ किन्तु उसे लगा कि उसकी मूल कल्पना के अनुसार वह उसकी इच्छाएँ पूर्ण करने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार आत्मा अन्तर्निहित होने से उसे अन्यत्र खोजने की आवश्यकता ही नहीं है।

पुनः, एक हाथी के साथ उसका महावत प्रायः छेड़खानी किया करता था। एक बार महावत दुर्घटनाग्रस्त हो नीचे गिर पड़ा। हाथी उसे वहीं मार सकता था पर उसने ऐसा नहीं किया। तथापि बाद में महावत ने वन में एक बड़ा गड्ढा खोदकर हाथी को खतम कर दिया।

चुड़ाला ने इस कहानी से शिखिध्वज की भूल दिखायी है। उसे अपने राज्य के शासनकाल में भी वैराग्य था तथा यदि वह प्रबल चेष्टा करके अपने वैराग्य से अहंकार को मार देता तो आत्म-साक्षात्कार कर लेता। उसने ऐसा नहीं किया, परन्तु वन में गया और तपस्या का कार्यक्रम बनाया पर अठारह वर्ष की तपस्या के बाद भी कुछ सुधार न कर सका। वह अपनी निज की बनायी हुई सृष्टि का ही शिकार बन गया। चुड़ाला ने

उसे अहंकार को त्यागकर आत्म-साक्षात्कार करने का परामर्श दिया, जिसका पालन कर वह मुक्त हुआ।

चुड़ाला की कथा से यह स्पष्ट है कि अहंकार सहित वैराग्य वृथा है, जबकि अहंकार के अभाव में समस्त परिग्रह का भी कोई महत्व नहीं है।

१९ अप्रेल, १९३७

४०५. एक सम्माननीय धर्मनिष्ठ सज्जन ने श्री चक्र के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।

म० : इसका गहरा महत्त्व है। इसमें ४३ कोण हैं, जिनमें पवित्र अक्षर हैं। इसकी पूजा मन को एकाग्र करने की एक पद्धति है। मन का बाहर भटकने का स्वभाव है। इसे नियन्त्रित कर अन्तर्मुख करना आवश्यक है। इसका स्वभाव नाम तथा रूप में निवास करने का है, चूँकि समस्त बाहरी पदार्थ नाम और रूप से युक्त हैं। ऐसे नाम और रूप मानसिक संकल्पनाओं के प्रतीकात्मक बनाये जाते हैं, जिससे कि मन को बाहरी पदार्थों से हटाकर उसे अपने अन्दर टिकाया जाय। प्रतिमाएँ, मन्त्र, यन्त्र आदि मन की अन्तर्मुखी अवस्था को पोषण प्रदान करने हेतु ही हैं जिससे कि मन बाद में एकाग्र होने में समर्थ हो सके, जिसके पश्चात् उत्कृष्ट अवस्था स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है।

२० अप्रेल, १९३७

४०६. आश्रमवासी भक्त श्री कोहेन इन दिनों एक प्रमुख थियोसोफिस्ट द्वारा लिखित पुस्तक 'निर्वाण' के चिन्तन में लगे हुए हैं जिसमें लेखक बल-पूर्वक कहता है कि वह प्रत्येक रात्रि को निद्रा में जाने के पश्चात् निर्वाण प्राप्त करता है। वह यह भी कहते हैं कि उन्हें उनके स्वयं के गुरु तथा थियोसोफिकल सोसायटी के अन्य गुरुओं का दिव्य ज्योतियों के रूप में प्रकाश के सागर में दर्शन होता है जो निर्वाण है। उन्होंने श्री भगवान से पूछा कि अद्वैत के सिद्धान्त पर विचार करते हुए कि निर्वाण तथा शुद्ध आत्म-चैतन्य का अनुभव एक ही है, यह कैसे सम्भव हो सकता है।

म० : निर्वाण पूर्णता है। पूर्णावस्था में न दृष्टा है न दृश्य; वहाँ न कुछ देखने को है, न कुछ अनुभव करने को है और न कुछ जानने को है। देखना तथा जानना मन के कार्य हैं। निर्वाण में "मैं हूँ" की आनन्दपूर्ण शुद्ध चेतना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

भक्त : तब फिर एक प्रमुख थियोसोफिकल सोसाइटी के नेता ने जो

अपने आप में उच्च प्रकार की दिव्य शक्ति का दावा करते हैं लेखक की निर्वाण के स्पष्ट तथा ठीक माने जाने वाले वर्णन की प्रशंसा कैसे की है, तथा थियोसोफिकल सोसायटी का "सेवा" के विचार के प्रति इतना अधिक आग्रह क्यों है ?

म० : ठीक। थियोसोफी तथा दूसरे समान आन्दोलनों का यही लाभ है कि वे मनुष्य को निःस्वार्थ बनाते हैं तथा उसे परम सत्य के लिए उद्यत करते हैं। सेवा, प्रार्थना और जप की तरह तथा परमात्मा के नाम से किया गया व्यवसाय भी परम लक्ष्य—आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति कराता है।

भक्त : परन्तु कितने समय के पश्चात् ? और फिर जिस मनुष्य की पूर्ण ज्ञान की पात्रता है, वह सापेक्ष के ज्ञान में क्यों लगे ?

म० : प्रत्येक वस्तु अपने नियत समय पर ही होती है। जो मनुष्य पूर्ण ज्ञान का पात्र है वह किसी न किसी प्रकार उससे परिचित होकर उसका साधन करेगा ही। उसे यह अनुभूति होगी कि आत्म-विद्या समस्त सद्गुणों में उच्चतम है तथा यात्रा का अन्त भी है।

तब बाह्य तथा आन्तरिक निर्विकल्प समाधियों के सम्बन्ध में अन्तर जानने की जिज्ञासा किये जाने पर जिसका सन्दर्भ ३९१ के उपरोक्त विवरण में है, महर्षि ने कहा :

बाह्य समाधि जगत का साक्षी होते हुए भी उस पर अन्दर से प्रभावित हुए बिना सत्य पर टिकना है। ऐसा सागर जो तरंगहीन होने के कारण शान्त है। आन्तरिक समाधि में देह-चेतना का लुप्त होना सन्निहित है।

भक्त : क्या सहज समाधि की उपलब्धि हेतु पहले देह-चेतना का लोप होना आवश्यक है ?

म० : देह-चेतना क्या है ? इसका विश्लेषण करो। इसके लिए देह तथा उस तक सीमित चेतना का होना आवश्यक है, जो एक साथ मिलकर देह-चेतना बनाते हैं। इनका अन्य चेतना में होना आवश्यक है जो पूर्ण है तथा यथार्थ है। इस पर टिको। यही समाधि है। जब देह-चेतना नहीं होती है तब यह रहती है क्योंकि यह उससे परे है, जब देह-चेतना होती है तब भी इसका अस्तित्व रहता है। इस प्रकार इसकी सत्ता सदैव ही है। देह-चेतना समाप्त हो गयी हो अथवा देह-चेतना बनाये रखी हो इसका क्या महत्त्व है ? जब (देह-चेतना) लुप्त हो जाती है, तब समाधि आन्तरिक है, जब वह रहती है, तब यह बाह्य समाधि है। बस इतना ही है।

मनुष्य को छः समाधियों में से किसी एक में अवश्य ही रहना चाहिए, जिससे कि उसके लिए सहज समाधि सुलभ हो सके।

भक्त : मन क्षण-भर के लिए भी उस अवस्था में अस्त नहीं होता।

म० : एक प्रबल, पूर्ण विश्वास की आवश्यकता है कि मैं आत्मा हूँ, और मन तथा बाहरी दृश्यों से परे हूँ ।

भक्त : तथापि मन को अस्त करने के प्रयास में वह रज्जु प्रमाणित होता है ।

म० : यदि मन सक्रिय है तो भी उसका क्या महत्त्व है ? ऐसा केवल आत्मा के अधिष्ठान पर ही होता है । मानसिक कार्यकलापों के समय में भी आत्मा पर टिको ।

भक्त : मैं अन्दर पर्याप्त गहराई में नहीं जा सकता ।

म० : ऐसा कहना गलत है । अभी तुम आत्मा में नहीं हो तो कहाँ हो ? तुम्हें जाना कहाँ है ? केवल आवश्यकता इस दृढ़ विश्वास की है कि तुम आत्मा हो । वस्तुतः यों कहें कि अन्य क्रियाएँ तुम्हारे ऊपर आवरण डाल देती हैं ।

भक्त : हाँ, ऐसा ही है ।

म० : इसका अर्थ है कि विश्वास दुर्बल है ।

भक्त : मैं समझता हूँ कि 'मैं' केवल कृत्रिम है, वास्तविक 'मैं' को साक्षात् करने के मेरे प्रयास विफल हो जाते है, क्योंकि असली 'मैं' की अनुभूति के लिए बनावटी 'मैं' को सक्रिय किया जाता है ।

म० : 'विवेक चूड़ामणि' में इसे स्पष्ट किया गया है कि विज्ञान कोष का कृत्रिम 'मैं' उभार मात्र है जिसके माध्यम से सत्य सिद्धान्त 'मैं' के महत्त्व (वाच्य) को देखना चाहिए ।

४०७. **भक्त** : सन्त थेरेसा तथा अन्य व्यक्तियों ने प्रतिमा अथवा मडोना को सजीव देखा है । यह दर्शन बाह्य था । अन्य व्यक्ति अपने इष्ट के आकार को मानसिक दृष्टि में चलायमान देखते हैं; यह आन्तरिक है । क्या इन दोनों स्थितियों में किसी श्रेणी का अन्तर है ?

म० : दोनों इस बात के सूचक हैं कि साधक ने ध्यान को प्रबल रूप से विकसित किया है । दोनों ही उत्तम तथा प्रगतिशील हैं । दोनों में किसी श्रेणी का अन्तर नहीं है ।

एक में दिव्यता की संकलपना है एवं मानसिक प्रतिमाओं की रचना कर उनकी अनुभूति करता है। दूसरा प्रतिमा में दिव्यता की संकलपना करता है और प्रतिमा में उसकी अनुभूति करता है । दोनों उदाहरणों में भावना आन्तरिक ही है ।

२१ अप्रेल, १९३७

४०८. मानव देह के दाहिनी ओर हृदय-केन्द्र का स्थान निर्धारण करने के सन्दर्भ में श्री भगवान ने कहा :

मैं सदैव ही कहता रहा हूँ कि हृदय-केन्द्र दाहिनी ओर है, यद्यपि कुछ विद्वान मनुष्य इसका निषेध इस आधार पर करते थे कि शरीर-विज्ञान ने उनको अन्यथा सिखाया है। मैं अनुभव से कहता हूँ। मुझे ऐसा अनुभव समाधि में अपने बाल्यकाल में ही हो गया था। फिर उस घटना की अवधि में जो 'आत्म-साक्षात्कार' पुस्तक में वर्णित है मुझे इसका अत्यन्त स्पष्ट दर्शन तथा अनुभव हुआ। अकस्मात् एक ओर से प्रकाश का आगमन हुआ जो जगत के दृश्य को लोप करने लगा। अन्ततोगत्वा यह प्रकाश सर्वत्र फैल गया और समस्त जगत का दृश्य पूर्णतया लोप हो गया। मैंने अनुभव किया कि बायीं ओर स्थित पेशीय अंग ने कार्य करना बन्द कर दिया; मैं जान रहा था कि शरीर एक शव के समान था, रक्त का प्रवाह बन्द हो गया था एवं शरीर नीला तथा गतिहीन हो गया। वासुदेव शास्त्री ने देह का आलिंगन किया, मेरी मृत्यु पर विलाप किया, किन्तु मैं बोलने में असमर्थ था। मुझे इस सारे समय इस बात की अनुभूति थी कि दाहिनी ओर हृदय-केन्द्र यथावत् ठीक कार्य कर रहा था। यह अवस्था १५ अथवा २० मिनट तक रही। तब सहसा हवा में फूटे हुए राकेट के समान कोई वस्तु दाहिनी ओर से बायीं ओर द्रुत वेग से गयी। रक्त प्रवाह फिर से आरम्भ हो गया तथा सामान्य अवस्था पुनः स्थापित हो गयी। तब मैंने वासुदेव शास्त्री से साथ चलने को कहा तथा हम अपने निवास-स्थान पर आ गये।

उपनिषदों के अनुसार हृदय में १०१ नाड़ियाँ समाप्त होती हैं और उनसे ७२००० उत्पन्न होकर शरीर का आवरण करती हैं। इस प्रकार हृदय देह का केन्द्र है। देह के अभाव में भी इसकी अनुभूति की जा सकती है। इसको केन्द्र कहा जाता है चूँकि हम यह मानने के अभ्यस्त हो गये हैं कि हम देह में रहते हैं। वस्तुतः देह तथा अन्य सब कुछ उस केन्द्र में ही है।

संस्मरण

४०९. एक मध्यम आयु के व्यक्ति ने श्री भगवान को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया; उन्होंने उसका कुशल-क्षेम पूछा। कुछ क्षणों के पश्चात् श्री भगवान ने एक घटना का स्मरण करते हुए बताया कि केवल यही वह व्यक्ति है जिसको श्री भगवान ने चाँटा मारा था। यह घटना तीस वर्ष पहले की है।

श्री भगवान मुलयप्पल तीर्थ में निवास कर रहे थे। समीप में ही जड़

स्वामी निवास करते थे (ममाराथू गुहाई)। यह आदमी जिसकी उस समय आयु आठ वर्ष की थी, श्री भगवान समेत वह सबसे नटखटपन किया करता था। एक दिन वह महर्षि के समीप आया तथा कहा कि जड़ स्वामी बाल्टी मँगा रहे हैं। अनुमति की प्रतीक्षा किये बिना ही वह बाल्टी ले गया। पलानी स्वामी सेवक वहाँ नहीं थे। अतः श्री भगवान लड़के के पीछे-पीछे जड़ स्वामी के स्थान तक गये। भगवान के वहाँ पहुँचने से पूर्व ही वह जड़ स्वामी से कह चुका था कि ब्राह्मण स्वामी ने उनको बाल्टी भेजी है। जड़ स्वामी आश्चर्य कर रहे थे, क्यों! कुछ क्षणों में महर्षि वहाँ पहुँच गये तथा जो कुछ हुआ था वह मालूम हुआ। उन्होंने लड़के को थप्पड़ मारने को हाथ उठाया किन्तु मन चाँटा मारने को सहमत नहीं हुआ। किन्तु महर्षि ने अपने आप में तर्क करके निश्चय किया कि शरारती लड़के को चाँटा मारना चाहिए और इसलिए उन्होंने ऐसा किया।

४१०. 'अव्वइ' का एक तमिल पद्य है, जिसमें प्राण उदर को सम्बोधित करता है; इसका आशय है :

"हे उदर! तुम्हारे साथ निर्वाह करना कैसा कठिन है! भोजन के अभाव में तुम भूखे नहीं रह सकते, न तुम पर्याप्त भोजन उपलब्ध होने पर उसे ग्रहण कर भविष्य के लिए सुरक्षित रख सकते हो! तुम केवल वही ग्रहण करोगे जिसकी तुम्हें इच्छा होगी तथा जब तुम्हारी इच्छा होगी; इस प्रकार तुम मुझे कष्टदायक हो, मुझे कभी आराम नहीं करने देते।"

श्री भगवान ने इसे इस प्रकार परिवर्तित किया : उदर प्राण को सम्बोधित कर रहा है : "हे प्राण! तुम मुझे कितने कष्टदायक हो! तुम मुझे कभी भी विश्राम नहीं करने देते हो किन्तु निरन्तर ही रह-रहकर मुझे भोजन से लादते रहते हो। तुम्हारे साथ निभाना कितना कठिन है।"

ऐसा कहकर श्री भगवान हँसे। श्री भगवान प्रायः कहते हैं कि उन्हें उनकी अनुकूलता की अपेक्षा से अधिक भोजन कराया जाता है।

२१ मई, १९३७

४११. ब्राह्मणों के विवाह-संस्कारों की व्याख्या करते हुए श्री भगवान ने कहा कि काशी-यात्रा वर को वैरागी-पुरुष के रूप में प्रस्तुत करती है। इसलिए यह उचित ही है कि उसे गृहस्थ-जीवनयापन हेतु एक कन्या प्रदान की जाय। इसका आशय है कि केवल वैरागी ही श्रेष्ठ गृहस्थ हो सकता है।

४१२. एक समय शीतकाल में श्री भगवान शीत से रक्षा हेतु अपने हाथों को अपने वक्ष पर जोड़कर पर्वत पर एक गुफा में बैठे थे। कोई आन्ध्र-निवासी दर्शक आया था; उसने एक नारियल तोड़कर उसका शीतल रस श्री भगवान के सिर पर अभिषेक की तरह उँड़ेल दिया; श्री भगवान चकित रह गये।

४१३. एक दर्शक ने जिज्ञासा की :

नाम-जप करते समय और उसे एक घण्टे अथवा अधिक समय तक करने के पश्चात् मुझे निद्रा-तुल्य अवस्था हो जाती है। जाग्रत होने पर मुझे ध्यान आता है कि मेरा जप बीच में रुक गया था। अतः मैं पुनः आरम्भ करता हूँ।

म० : "निद्रा-तुल्य"। यह ठीक है। यही सहज अवस्था है। चूँकि अभी तुम अहंकार से सम्बद्ध हो, अतः तुम सहज अवस्था को कोई वस्तु मानते हो जो तुम्हारे कार्य में बाधा डालती है। तुम इस अनुभव की आवृत्ति करते रहो जब तक कि तुम्हें यह अनुभूति न हो जाय कि यही तुम्हारी सहज अवस्था है। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि जप, आदि बाहरी है। तथापि यह स्वतः ही होता रहेगा। तुम्हारा वर्तमान संशय मिथ्या तादात्म्य के कारण है।

जप का अर्थ है, अन्य समस्त संकल्पों को हटाकर केवल एक विचार में टिके रहना। जप का यही उद्देश्य है; इससे ध्यान स्थिर होता है, जिसका अन्त आत्म-साक्षात्कार में है।

४१४. एक भक्त श्री जी० वी० सुब्बारमैया ने कुछ छोटी कविताएँ बनायी हैं, जो रोचक हैं। उनमें से कुछ एक बालक के सम्बन्ध में हैं। श्री भगवान ने बताया कि ईश्वर बालक का रूप धारण कर लेता है तथा बालक ईश्वर का रूप। इसका अर्थ है कि बालक में अभी संस्कार गुप्त हैं और इस प्रकार उसकी निर्दोषिता पूर्ण है। संस्कारों का निवारण हो जाने पर वयस्क मनुष्य भी एक बार फिर से बालक बन जाता है और इस प्रकार ईश्वर ही रहता है।

लेखक ने कहा : बालक "घर" का वातावरण निर्मित करता है।

श्री भगवान : हाँ। बालक सदैव "घर" में ही हैं। हम भी वहीं हैं, किन्तु हम स्वप्न देख रहे हैं और अनुमान कर रहे हैं कि हम घर से बाहर हैं।

श्री भगवान ने पुनः कहा : मैंने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में 'युवक' (युव) का अनुवाद 'बालक' (बाल) किया है। यह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

पुनर्जन्म लेना अर्थात् पुनः बालक बनना है। ज्ञान प्राप्त करने से पहले जीव का पुनर्जन्म आवश्यक है, अर्थात् सहज अवस्था पुनः प्राप्त करना।

४१५. तमिल—तमिल शब्द कोष की भूमिका से श्री भगवान ने तमिल भाषा की महानता के सम्बन्ध में कुछ छन्द पढ़े तथा सन्दर्भों की अत्यन्त रोचक ढंग से व्याख्या की। जैन मत की अपेक्षा शैव मत को श्रेष्ठ ठहराने के तीन प्रमाणों में प्रथम है, तिरुज्ञानसम्बन्दर का पण्डया राजा के रोग निवारणार्थ उसके राजदरबार में आना। महारानी राजा की अल्प आयु अर्थात् १२ वर्ष का होनेसे चिन्तित थीं। तिरुज्ञानसम्बन्दर ने एक पद्य रच कर महारानी के सारे संशय निर्मूल कर दिये, जिसमें कहा गया है कि सुकुमार होते हुए भी वह असंख्य जैनों के सबल समूह की अपेक्षा अधिक समर्थ है। पद्य का उच्चारण करते हुए श्री भगवान का गला भर आया और वे आगे न बोल सके।

दूसरी परीक्षा थी, तूअर के पत्तों का अग्नि में न जलना तथा तीसरी परीक्षा थी, तूअर के पत्तों का सरिता (तिरुवेदकम्) के प्रवाह की विपरीत दिशा में चलना।

श्री भगवान ने वह कथा भी सुनायी जिसमें एक ही समय में ईश्वर एक वृद्ध के रूप में भिक्षा माँगता है, युवक के रूप में भोजन करता है तथा बालक रूप में भक्त महिला की प्राण-रक्षा करता है।

उन्होंने ज्ञानी की अवस्थाओं का पुनः निर्देश करते हुए बताया कि वे 'बाल, उन्मत्त एवं पिशाचवत् रह' सकते हैं। वहाँ अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा बाल अवस्था को प्राथमिकता दी गयी है।

४१६. श्री भगवान ने बताया कि 'कम्ब रामायण' में १२००० श्लोक हैं, जबकि वाल्मीकि में २४००० हैं। कम्ब की रामायण केवल विद्वानों द्वारा ही समझी जा सकती है, सबके द्वारा नहीं। तुलसीदास ने एक तमिल सन्त द्वारा 'कम्ब रामायण' का हिन्दी में श्रवण करने के पश्चात् अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की।

४१७. 'दि परफेक्ट मास्टर' (The Perfect Master) मेहर बाबा पर लिखी गयी एक पुस्तक है, जिसका प्रकाशन सन् १९३७ में हुआ था। उसमें एक घटना का वर्णन है कि समुद्री जहाज के अधिकारी ने अनिच्छुक आप्रवासन अधिकारी (Immigration Officer) को बाबा तथा उनकी मण्डली को न्यूयार्क, यू० एस० ए०, में उतर जाने देने का निर्देश दिया। जब मण्डली का एक सदस्य उन्हें धन्यवाद देने गया तो उनका कहीं पता नहीं लगा।

घटना का उल्लेख इस आशय से किया गया है कि बाबा के पक्ष में हुए चमत्कार का प्रभाव हो। श्री भगवान को वह अंश पढ़कर सुनाया गया।

उन्होंने कहा : हाँ, हाँ, इससे क्या ?

भक्त : क्या यह चमत्कार है ?

म० : हो सकता है। किन्तु क्या आप्रवासन अधिकारी उस व्यक्ति को अपना उच्च अधिकारी नहीं मानता था, जिसकी आज्ञा-पालन अनिवार्य थी ? यह विषय यहीं समाप्त हो जाता है। यदि बाबा की मण्डली का एक व्यक्ति उन्हें खोजने में असमर्थ रहा तो इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं।

४१८. इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या श्री भगवान ने 'कम्ब रामायण' का अध्ययन किया है, श्री भगवान ने कहा : नहीं। मैंने कुछ भी नहीं पढ़ा है। मेरा सम्पूर्ण अध्ययन मेरे चौदहवें वर्ष से पूर्व तक ही सीमित है। तब से मुझे पढ़ने अथवा जानने की रुचि नहीं रही। लोगों को आश्चर्य होता है कि मैं भगवद्गीता, आदि पर कैसे बोलता हूँ। यह श्रुतमात्र के कारण है। मैंने गीता नहीं पढ़ी है, न उसके भावार्थ हेतु टीकाओं को पढ़ने का कष्ट किया है। जब मैं एक श्लोक सुनता हूँ तो मैं विचार करता हूँ कि उसका अर्थ स्पष्ट है, तथा मैं उसे कह देता हूँ। यही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। मेरे अन्य उद्धरणों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है, वे सहज ही आते हैं। मैं अनुभव करता हूँ कि सत्य, वाणी तथा बुद्धि से परे है। फिर मैं मन को पढ़ने, समझने तथा श्लोकों, आदि की आवृत्ति करने में क्यों लगाऊँ ? उनका लक्ष्य सत्य को जानना है। लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् अध्ययन में संलग्न रहने से कोई लाभ नही है।

किसी एक व्यक्ति ने टिप्पणी की : यदि श्री भगवान की पठन में रुचि होती तो आज एक संत नहीं होता।

म० : सम्भवतया मेरा समस्त अध्ययन पूर्वजन्मों में समाप्त हो गया था और में उससे अतितृप्त हो गया था। इस कारण अब उस दिशा में कोई संस्कार अवशेष नहीं है।

४१९. महापूजा (३ जून, १९३७) से एक सप्ताह पहले अनेक दर्शकों का आगमन हुआ जिनमें श्री भगवान के सम्बन्धी भी हैं। उनमें एक वृद्ध महिला— सुब्बियर की विधवा है जिनके मकान में गृह-त्याग के समय, अगस्त १८९६ में श्री भगवान निवास करते थे। उसे देखकर श्री भगवान की पूर्व स्मृतियाँ फिर से जाग्रत हो गयीं।

उन्हें स्मरण हुआ कि किस प्रकार एक पर्व के अवसर पर उसने उन्हें मोदक बनाने में सहायता करने को कहा था किन्तु वे हिचकिचाये तथा अन्ततः इन्कार कर दिया, क्योंकि उन्हें वस्त्र उतारकर केवल कोपीन धारण करना पड़ता जिसमें उन्हें शर्मीलापन अनुभव हुआ। उनके चाचा तथा इस महिला ने

उनको फटकारा था। चाची ने नम्रतापूर्वक तथा मृदु स्वर में कहा : "यही बात है। कोई आश्चर्य नही कि जिसके भाग्य में इतनी महान् अवस्था लिखी हुई थी वह उन दिनों में ऐसा साधारण कार्य नहीं कर सकता था।"

तब श्री भगवान ने टिप्पणी की, "यदि एक बार मैंने कोपीन धारण करने से इन्कार किया तो अब मुझे उसके दण्डस्वरूप उसे निरन्तर धारण करना पड़ रहा है।"

महिला को अपने मन में यह भी स्मरण हो आया कि किस प्रकार श्री रमण को लगातार कई दिन तक सिर का दर्द कष्ट देता रहा था।

श्री भगवान ने कहा : "हाँ, हाँ! यह मेरे मदुरा छोड़ने से पहले के मास की बात है। वह सिर का दर्द नहीं था, अपितु एक अकथनीय व्यथा थी जिसे मैंने उस समय दबा दिया था; यह केवल बाहरी लक्षण थे, जिनको मैंने कहा था कि सिर-दर्द के कारण हैं। मुझे स्मरण है कि तुम मेरे 'सिर-दर्द' के कारण कितनी चिन्तित थीं। तुम प्रतिदिन मेरे मस्तक पर कोई मरहम मलती थीं। मेरी व्यथा जब तक मैं मदुरा छोड़कर यहाँ न आ गया तब तक बनी रही।

४ जून, १९३७

४२०. कुडलोर के एक वकील ने निम्नलिखित उद्धृत किये : "न वहाँ सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारक, न विद्युत। वहाँ अग्नि किस प्रकार प्रकाशित हो सकती है? यह समस्त प्रकाश ग्रह केवल उसके प्रकाश से ही चमकते हैं। उसके प्रकाश से ये समस्त प्रकाशित होते हैं!" उसने पूछा यहाँ 'उसके प्रकाश से' क्या आशय है? क्या अन्य सब उसके कारण अथवा उसके प्रकाश में प्रकाशित हैं?

श्री भगवान ने कहा : केवल वही है। वह तथा उसका प्रकाश एक ही हैं। अन्य वस्तुओं को अनुभव करने के लिए कोई व्यक्ति नहीं है, क्योंकि दृष्टा तथा दृश्य केवल वही है। सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशित होते हैं। किस प्रकार? क्या वे आकर तुम से कहते हैं कि वे प्रकाशित होते हैं अथवा उनसे कोई पृथक व्यक्ति कहता है कि वे प्रकाशित होते हैं?

भक्त : वास्तव में मैं कहता हूँ कि वे चमकते हैं।

म० : इसलिए वे तुम्हारे कारण प्रकाशित होते हैं फिर यह जानने के लिए कि वे प्रकाशित होते हैं चेतना भी आवश्यक है। वह चेतना तुम्हारी

आत्मा अथवा तुम हो। इस प्रकार तुम अथवा तुम्हारी चेतना एवं वह अथवा उसका प्रकाश एक ही है, जिससे अन्य समस्त प्रकाशित होते हैं।

भक्त : क्या वह प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान है ?

म० : नहीं। सूर्य का प्रकाश जड़ है। तुम्हें इसकी जानकारी है। यह प्रकाश दृश्य पदार्थों को दृष्टिगोचर कराता है तथा अन्धकार को दूर करता है, जबकि चेतना ऐसा प्रकाश है जो न केवल प्रकाश को अपितु अन्धकार को भी दृष्टिगोचर कराता है। सूर्य के प्रकाश के समक्ष अन्धकार नहीं ठहर सकता, किन्तु चेतना के प्रकाश में यह ठहर सकता है। इसी प्रकार यह चेतना शुद्ध ज्ञान है, जिसमें ज्ञान तथा अज्ञान दोनों प्रकाशित होते हैं।

भक्त : यदि ईश्वर ही सब कुछ है तो व्यक्ति को कर्म का फल क्यों भोगना पड़ता है ? क्या कर्म उसके द्वारा प्रेरित नहीं है जिसके लिए जीव को कष्ट भोगना पड़ता है ?

म० : वही जो स्वयं को कर्ता मानता है, कष्ट भी भोगता है।

भक्त : किन्तु कर्मों का प्रेरक तो ईश्वर है तथा जीव केवल उसका यन्त्र है।

म० : यह तर्क केवल तभी ठीक होगा जब वह कष्ट भोगता है न कि तब जबकि वह सुख का अनुभव करता है। यदि यह विश्वास सदैव ही बना रहे तब कभी दुःख भी नहीं होगा।

भक्त : कष्टों का अन्त कब होगा ?

म० : जब तक व्यक्तित्व नष्ट न हो जाय इससे पहले नहीं होगा। यदि अच्छे एवं बुरे कर्म दोनों ही उसके हैं, तो तुमको यह क्यों मानना चाहिए कि सुख तथा दुःख केवल तुम्हारे ही हैं ? जो अच्छा या बुरा करता है वही सुख का आनन्द लेता है अथवा दुःख का कष्ट भोगता है। उसे वहीं छोड़ दो और अपने आप पर कष्ट का बोझा मत लो।

४२१. एक आश्रमवासी भक्त कुंजू स्वामी ने आश्रम में १९२३ में हुई चोरी के बाद श्री महर्षि का कथन वर्णन किया।

कुछ शिष्यों ने जिज्ञासा की थी कि चोरों को साधुओं तक को क्यों सताने दिया जाय तथा साधु स्वयं की तथा अपने आश्रितों की चोरों से रक्षा क्यों न करें ?

श्री भगवान ने कहा : विश्वामित्र जैसे ऋषि हुए हैं, यदि वे चाहते तो दूसरा जगत बना सकते थे। वे रावण के जीवन-काल में हुए, जिसने अन्य लोगों के साथ सीता तथा राम को भी कष्ट दिया। क्या विश्वामित्र अपनी चमत्कारिक शक्तियों से रावण को नष्ट नहीं कर सकते थे ? समर्थ होते हुए

भी वे शान्त रहे। क्यों ? ऋषियों को घटनाएँ मालूम रहती हैं किन्तु उनके मन को प्रभावित किये बिना वह होती रहती हैं। महाप्रलय भी उनको साधारण चीज लगेगी; वे किसी बात की भी चिन्ता नहीं करते।

७ जून, १९३७

४२२. गण्टूर के एक दर्शक डॉ० वैंकटराव ने जिज्ञासा की : एक गुरु अपने शिष्य को नैतिक सिद्धान्तों के विपरीत कार्य करने का आदेश देता है। गुरु-रूप में स्वीकार कर लेने के कारण शिष्य गुरु को प्रसन्न करना चाहता है किन्तु उसकी नैतिकता उसे रोकती है। इन परिस्थितियों में उसे क्या करना चाहिए ?

(कोई उत्तर नहीं)

मैं अपने को स्पष्ट करूँगा। गुरु ने शिष्य को चोरी करने का निर्देश दिया, किन्तु शिष्य ने ऐसा नहीं किया। तदुपरान्त गुरु ने कहा, "मैं परीक्षा कर रहा था कि तुम अपने आप को पूर्णतया समर्पण कर चुके हो अथवा अपने व्यक्तित्व को बनाये हुए हो। अब स्पष्ट है कि यह क्या है।" क्या गुरु का शिष्य को ऐसा आदेश देना ठीक है ?

(अब भी कोई उत्तर नहीं)

अन्य व्यक्ति ने कहा : ऐसे व्यक्ति हैं जिनके विषय में मैं निर्णय करने से इन्कार करता हूँ। तथापि मैं यह अनुभूति किये बिना नहीं रह सकता कि क्या ऐसे व्यक्ति गुरुओं के पद को सुशोभित करने योग्य हैं। वे बनावटी व्यक्ति प्रतीत होते हैं। यदि वे वास्तव में पूज्य हों तो वे शिष्यों को ऐसा निर्देश ही नहीं देंगे।

म० : किन्तु वह व्यक्ति कहता है, "यह परीक्षा के लिए है।"

जिज्ञासु ने फिर कहा : क्या इसका पालन करना आवश्यक है ?

म० : तुम्हारे मूल कथन में तुम्हारे प्रश्न का उत्तर निहित है।

दोनों जिज्ञासुओं ने एक साथ पूछा, कार्य अनुचित है। क्या यह किया जा सकता है ?

म० : जिज्ञासा उसी व्यक्ति से अर्थात् गुरु से ही करना ठीक होगा। उस परिस्थिति के लिए वही उत्तरदायी है।

४२३. एक युवक ने जिज्ञासा की : मैं इच्छा-शक्ति संवर्धित करने का प्रयास करता हूँ, किन्तु सफल नहीं होता। मैं इसे किस प्रकार करूँ ?

(कोई उत्तर नहीं)

भक्त : तीन वर्ष पूर्व मैं यहाँ आया था तब श्री भगवान ने कहा था

कि मन की शक्ति के लिए इच्छा-शक्ति आवश्यक है। तब से मैं इसे संवर्धित करने की इच्छा कर रहा हूँ किन्तु सफलता नहीं मिली।

(कोई उत्तर नहीं)

भक्त : इन वर्षों में मुझे चार अथवा पाँच प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ा। उन्होंने मुझे अत्यधिक परेशान कर दिया। मेरे प्रयासों में असफलता का सदैव ही भय बना रहता है। इसके फलस्वरूप मेरे आत्म-विश्वास के अभाव में मेरे प्रयासों में असफलता पहले से ही निश्चित रहती है। वास्तव में सफल होने के समान कोई सफलता नहीं है; और इसी प्रकार हमारे प्रयासों को असफलता के समान अन्य कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। इसी कारण मेरा प्रश्न है।

(कोई उत्तर नहीं)

भक्त : क्या सफलता के लिए इच्छा-शक्ति आवश्यक नहीं है ? इससे सफलता निश्चित होगी तथा असफलता का निवारण भी होगा।

(कोई उत्तर नहीं)

भक्त : मैं इच्छा-शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयास करता हूँ। इन वर्षों के बाद भी मैं जहाँ का तहाँ हूँ। कोई प्रगति नहीं है।

(कोई उत्तर नहीं)

भक्त : इच्छा-शक्ति प्राप्त करने के क्या साधन हैं ?

म० : इच्छा-शक्ति से तुम्हारा प्रयोजन निश्चित सफलता से है। इच्छा-शक्ति का अर्थ है, वह मानसिक बल जिसके फलस्वरूप मन समता पूर्वक सफलता अथवा विफलता का सामना करने में समर्थ बनता है। इसे निश्चित सफलता का पर्यायवाची मत समझो। किसी के प्रयासों को सदैव ही सफलता क्यों मिले ? सफलता से दम्भ का उदय होता है और इस प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति रुक जाती है। इसके विपरीत असफलता लाभदायक है, जहाँ तक वे उसकी परिमितताओं को दिखाने में मनुष्य की आँखें खोल देती हैं और उसे अपने आप को समर्पण करने को तत्पर करती हैं। आत्मसमर्पण शाश्वत सुख का पर्याय है। इसलिए मनुष्य को समस्त परिस्थितियों में मानसिक साम्य की प्राप्ति की चेष्टा करना चाहिए। यही इच्छा-शक्ति है। फिर सफलता एवं विफलता प्रारब्ध के परिणाम हैं न कि इच्छा-शक्ति के। कोई मनुष्य केवल उत्तम तथा प्रशंसनीय कार्य करते हुए भी असफल हो सकता है। दूसरा व्यक्ति अन्यथा कार्य करके भी एकसा सफल हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि एक व्यक्ति में इच्छा-शक्ति है तथा दूसरे में नहीं है।

भक्त : क्या "सत्य प्रकट किया" (Truth Revealed) पुस्तक में यह नहीं कहा गया है कि जगत मन की उपज है ?

म० : हाँ।

भक्त : क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि मन सशक्त होकर जगत को वश में कर लेता है ?

म० : मन के अपने बाहरी कार्यकलापों से जगत का उदय होता है। इस प्रकार की क्रियाएँ मन की शक्ति को नष्ट कर देती हैं। मन की शक्ति बाह्य क्रियाओं का निरोध कर अपने तक सीमित रहने में ही है।

भक्त : एक मूढ़ है जो दस तक की गणना भी नहीं कर सकता। उसका मन निःसन्देह एक विचारक के मन की भाँति बाहर नहीं जाता। क्या वह मूढ उस विचारक की अपेक्षा अधिक योग्य व्यक्ति है।

म० : यह कौन कहता है कि वह मूढ है ? तुम्हारा भटकता हुआ मन ऐसा कहता है।

भक्त : क्या अपने आपको संकल्पों से वंचित करने से इच्छा-शक्ति प्राप्त होती है ?

म० : वस्तुतः एक ही विचार पर सीमित होने से ऐसा होता है। अन्त में यह भी नहीं रहेगा, केवल शुद्ध चैतन्य शेष रहेगा। इसमें एकाग्रता सहायक होती है।

भक्त : इस प्रकार इसकी प्राप्ति मन का मार्ग निर्देशन करने से तथा उसे एकाग्र करने से होती है। व्यक्ति से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

म० : व्यक्तित्व ही बाहरी क्रियाओं का मूल कारण है। परमार्थ की प्राप्ति के लिए इसका समाप्त होना आवश्यक है।

४२४. एक विद्वान व्यक्ति से वार्तालाप के मध्य जिसने पुरुष तथा प्रकृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, श्री भगवान ने कहा :

पुरुष तथा प्रकृति केवल एक आत्मा के ही दो खण्ड हैं। विद्यार्थी को उसका अनुमान द्वैत भाव में दृढ़ता से स्थित होने के कारण होता है। वही गीता यह भी कहती है कि पुरुषोत्तम, पुरुष तथा प्रकृति से परे है।

भक्त : परा-नाड़ी, सुषुम्ना नाड़ी तथा हृदय क्या हैं ?

म० : परन्तु सुषुम्ना परा में लीन हो जाती है—(सुषुम्नातु परालीना) प्रायः हृदय वक्ष की बायीं ओर स्थित शारीरिक अंग माना जाता है। 'मार्डन सॉइकॉलाजिकल रिव्यू' के अनुसार शारीरिक अंग वाम भाग में तथा हृदय-केन्द्र दाहिने भाग में है। बाइबिल के अनुसार मूर्ख का हृदय वाम

भाग में तथा बुद्धिमान का दायीं ओर होता है। 'योग वाशिष्ठ' के मत से हृदय दो हैं; एक संवित् तथा दूसरा रुधिरवाहिकी (blood-vessel)।

भक्त : अनाहत् क्या है ?

म० : अनाहत् हृदय के पीछे स्थित चक्र है। यह संवित् नहीं है। यह 'ललितासहस्रनाम' में स्थित है, "अनाहत् चक्रस्थयै नमो नमः" तथा अगला मन्त्र "हृत"। अतः यह स्पष्ट है कि अनाहत् तथा हृत एक ही नहीं हैं।

४२५. इच्छा-शक्ति अथवा अन्य वस्तु अभ्यास से प्राप्त होती है।

भक्त : क्या सफलता गुरु के अनुग्रह पर आश्रित नहीं है ?

म० : हाँ, अवश्य है। क्या तुम्हारा अभ्यास ही उस अनुग्रह के कारण नहीं है ? फल अभ्यास का परिणाम है और इसका यन्त्रवत पालन करो। 'कैवल्य' में एक छन्द है जिसका आशय है, "ओ गुरु! आप सदैव ही अनेक पुनर्जन्मों में मेरे साथ रहकर मेरे रक्षक रहे हैं, तथा मेरा मार्ग-निर्देश किया जब तक कि मैं मुक्त न हो गया।" जब अवसर आता है तब आत्मा बाहर गुरु के रूप में प्रकट होता है; अन्यथा वह सदैव अन्दर है और आवश्यक कार्य कर रहा है।

१२ जून, १९३७

४२६. इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री दास : क्या भोजन से जो हम प्रायः लेते हैं, हमारी आध्यात्मिक उन्नति तथा अवनति का कोई सम्बन्ध है अर्थात् क्या इससे आध्यात्मिकता पर अच्छा अथवा बुरा प्रभाव पड़ता है ?

म० : हाँ। सीमित मात्रा में लिया गया सात्विक भोजन आध्यात्मिक उन्नति में सहायक है।

भक्त : एक गृहस्थ के लिए जीवन में किस प्रकार का आचरण उसे आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक सहायता करेगा ?

म० : ध्यान अथवा भक्ति जो एक ही वस्तु हैं।

भक्त : परमात्मा का नाम स्मरण करने का क्या अभिप्राय है ? निम्नलिखित दोनों विचारों का समन्वय किस प्रकार हो ?

बाईबिल का कथन है : "वृथा में ईश्वर का नाम मत लो।" हिन्दू शास्त्रों का निर्देश है कि निरन्तर भगवन्नाम का स्मरण करो।

म० : व्यक्ति को ईश्वर के नाम का उपयोग बिना भावना के ऊपरी तथा कृत्रिम रूप से नहीं करना चाहिए। परमात्मा के नाम-स्मरण में शरणा-

गत हो प्रभु को पुकारे तथा उसके प्रति पूर्णतया समर्पण करे। इस प्रकार के समर्पण के पश्चात् प्रभु का नाम सदा ही उस मनुष्य के पास रहता है।

भक्त : महान् परमार्थनिष्ठ पुरुषों को जानने के लिए कौन-से मूलभूत मापदण्ड हैं, चूँकि कुछ उन्मत्त मनुष्यों का सा आचरण करते हुए सुने जाते हैं।

म० : ज्ञानी का मन केवल ज्ञानी ही जान सकता है। दूसरे ज्ञानी को जानने के लिए स्वयं को भी ज्ञानी ही होना होगा। तथापि सन्त के वायुमण्डल में मन की जो शान्ति प्रवेश करती है केवल उसके माध्यम से ही साधक सन्त की महानता जान सकता है।

उसके शब्द अथवा कार्य अथवा आभास द्वारा उसकी महानता का संकेत नहीं मिलता। क्योंकि वे सामान्यतया सामान्य लोगों की समझ से परे हैं।

भक्त : क्या मनुष्य की कोई स्वतन्त्र इच्छा है, अथवा उसके जीवन में सब कुछ पूर्वनिर्दिष्ट तथा पूर्वनियोजित है ?

म० : स्वतन्त्र-इच्छा व्यक्तित्व के साथ सम्बन्धित है। जब तक व्यक्तित्व है तभी तक स्वतन्त्र-इच्छा है। समस्त शास्त्र इसी तथ्य पर आधारित हैं तथा वे स्वतन्त्र-संकल्प को सही दिशा में संचालन करने का परामर्श देते हैं।

मालूम करो कि स्वतन्त्र-इच्छा अथवा प्रारब्ध किसके लिए महत्त्वपूर्ण हैं। उसी में स्थिर रहो। तब इन दोनों से पार हो जाओगे। इन प्रश्नों पर चर्चा करने का केवल यही अभिप्राय है। ये संशय किसको उत्पन्न हो रहे हैं ? यह जान लो और शान्त रहो।

भक्त : क्या बुद्धि तथा मनोभाव शारीरिक देह की भाँति मनुष्य के जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं ? और क्या यह मृत्यु के साथ ही विलीन हो जाते हैं अथवा मृत्यु के बाद भी रहते हैं ?

म० : मृत्यु के बाद क्या होता है, यह विचार करने से पूर्व तनिक इस पर विचार करो, तुम्हारी सुषुप्ति में क्या होता है। सुषुप्ति केवल दो जाग्रत अवस्थाओं के बीच में अवकाश का समय है। क्या उस अवकाश में वे बचे रहते हैं।

भक्त : हाँ, वे रहते हैं।

म० : मृत्यु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। वे देह-चेतना के परिचायक हैं, और अधिक कुछ नहीं। यदि तुम देह हो तो वे तुमको सदैव ही पकड़े रहेंगे। यदि तुम देह नहीं हो तो वे तुम्हें प्रभावित नहीं करेंगे। जो सुषुप्ति में था, वही अब जाग्रत अवस्था में वार्ता कर रहा है। सुषुप्ति में तुम देह नहीं थे। अब क्या तुम देह हो ? इसे जान लो। तभी सारी समस्या हल हो जाती है।

इसी प्रकार जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अनिवार्य है। जन्म किसका है ? क्या तुम्हारा जन्म हुआ था ? यदि तुम कहो कि तुम्हारा जन्म हुआ तो तुम किसके जन्म की चर्चा कर रहे हो ? जन्म देह का हुआ था और उसी की मृत्यु होगी। जन्म तथा मृत्यु शाश्वत आत्मा को कैसे प्रभावित कर सकते हैं ?

विचार करो और बताओ कि प्रश्न किसको उदय होते हैं। तब तुम जान लोगे।

४२७. **भक्त** : ऐसा कहा जाता है कि जगत, प्रकाश तथा ध्वनि से युक्त है। क्या यह दोनों अंग स्थूल जगत के प्रकाश तथा ध्वनि के समान हैं ? क्या वे शरीर के अंगों—नेत्र तथा कान—से देखे तथा सुने जा सकते हैं ? अथवा उनका अनुभव आत्मनिष्ठा द्वारा ही किया जा सकता है ?

म० : तान्त्रिक शब्दावलि में प्रकाश तथा ध्वनि, नाद तथा बिन्दु के अनुरूप हैं; तथा वेदान्त के अनुसार मन तथा प्राण के अनुरूप हैं। ये स्थूल, सूक्ष्म तथा विकल्पातीत होते हैं। इन्द्रियाँ स्थूल पक्ष को अनुभव कर सकती हैं, अन्य पक्ष इस प्रकार अनुभवगम्य नहीं है। सूक्ष्म का अनुमान सम्भव है तथा विकल्पातीत केवल विकल्पातीत है।

भक्त : हिन्दू-धर्म जीव के पुनर्जन्म को निर्धारित करता है। एक देह की मृत्यु तथा देह के दूसरे जन्म के अवकाश के समय में जीव को क्या होता है ?

म० : इस प्रश्न का समाधान सुषुप्ति की अवस्था पर विचार करने से होगा। तुमको सुषुप्ति में क्या होता है ?

भक्त : मैं नहीं जानता।

म० : तथापि तुम विद्यमान रहते हो। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि अस्तित्व ज्ञान तथा अज्ञान से परे है। यद्यपि तुम्हारे अब के विचार से उस समय केवल अज्ञान व्यापी था तथापि तुमने सुषुप्ति में ऐसा नहीं कहा। तुम्हारा अस्तित्व उस समय भी बराबर था। केवल अज्ञान तुम्हारे अस्तित्व की वास्तविकता को निकाल नहीं देता।

भक्त : क्या ध्यान के अभ्यास में आत्मगत अनुभव के भाव के कोई लक्षण हैं अथवा अन्यथा के, जिनसे साधक के आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में हुई प्रगति का संकेत हो।

म० : जिस मात्रा में अनावश्यक संकल्पों से मुक्ति मिलेगी तथा जिस मात्रा में एक ही संकल्प पर एकाग्रता होगी, वही प्रगति के जानने के मापदण्ड हैं।

भक्त : क्या आत्म-साक्षात्कार हेतु संन्यास ग्रहण करना आवश्यक है ?

म० : अपने व्यक्तित्व का त्याग ही संन्यास है। यह सिर मुड़ाना अथवा गेरुआ वस्त्र जैसा नहीं है। एक मनुष्य गृही हो सकता है, तथापि यदि

वह स्वयं को गृही न माने, वह संन्यासी ही है । इसके विपरीत एक व्यक्ति गेरुआ वस्त्र पहनकर इधर-उधर घूमता है, तथापि यदि वह स्वयं को संन्यासी मानता है तो वह संन्यासी नहीं है । संन्यास का ध्यान करने से उसका अभिप्राय ही विफल हो जाता है ।

श्री भगवान ने टिप्पणी की :

मनुष्य जगत देखते हैं । देखने के लिए द्रष्टा एवं दृश्य का होना आवश्यक है । द्रष्टा से दृश्य असम्बद्ध हैं । द्रष्टा आत्मा होने से अन्तरंग है तथापि वे अपना ध्यान प्रत्यक्ष द्रष्टा की ओर नहीं करते हैं किन्तु बाहरी पदार्थों का विश्लेषण करने के लिए इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं । मन का जितना अधिक विस्तार होगा, वह उतना ही दूरवर्ती होगा तथा आत्म-साक्षात्कार उतना ही कठिन एवं जटिल हो जायगा । मनुष्य को प्रत्यक्ष रीति से द्रष्टा को देखकर आत्म-साक्षात्कार कर लेना चाहिए ।

भक्त : तब फिर इसका आशय यह हुआ कि दृश्य-जगत का समन्वय कर उसके पीछे एकमात्र सत्य को मालूम करना ।

म० : अब भी तुम दृश्य-जगत पर क्यों विचार करते हो ? देखो द्रष्टा कौन है । समन्वय का अभिप्राय मन को अन्य व्यवहारों में संलग्न करना होगा । यह साक्षात्कार का मार्ग नहीं है ।

भक्त : मैं अनात्मा का निरसन करना चाहता हूँ, जिससे कि आत्मा की अनुभूति हो सके । मैं इसे कैसे करूँ ? अनात्मा के क्या लक्षण हैं ?

म० : एक है जो कह रहा है कि अनात्मा का निरसन करना आवश्यक है । वह कौन है ?

भक्त : मेरा आशय इस मनुष्य से है । मैं जब कलकत्ता से मद्रास की यात्रा करता हूँ, मेरे लिये मद्रास की जानकारी आवश्यक है जिससे कि मैं अनभिज्ञता से किसी मध्यवर्ती स्टेशन पर न उतर जाऊँ । मेरी यात्रा में निर्देश करने हेतु सूचना-पट तथा समय-सारणी होते हैं किन्तु आत्मा की खोज में मेरा मार्गदर्शक क्या है ?

म० : यात्रा के लिए तो यह सब ठीक है । तुम जानते हो तुम मद्रास से कितनी दूर हो । क्या तुम मुझे बता सकते हो कि तुम आत्मा से कितनी दूर हो जिससे कि तुम उसे खोज सको ?

भक्त : मैं नहीं जानता ।

म० : क्या तुम कभी भी आत्मा से अलग हो ? क्या अलग होना सम्भव भी है ? क्या यह सब तुमसे पृथक नहीं हैं तथा आत्मा अत्यन्त अन्तरंग नहीं है ? आत्मा की प्राप्ति हेतु तुम्हें कहाँ जाना होगा ?

भक्त : अभी मैं आत्मा से दूर हूँ। उसे पुनः प्राप्त करने के लिए मुझे अपने कदम पीछे ले जाने होंगे।

म० : कितनी दूर हो ? यह कौन कह रहा है कि वह अलग है ? क्या दो आत्माएँ हो सकती हैं ?

भक्त : ऐसा कहते हैं कि जीव आत्मा के विवर्त (रूपान्तर) हैं, जिस प्रकार कि आभूषण स्वर्ण के हैं।

म० : जब मनुष्य आभूषण के वास्तविक तत्त्व स्वर्ण की उपेक्षा कर आभूषणों की बात करता है, तब उसे बताया जाता है कि वे स्वर्ण ही हैं। किन्तु यहाँ मनुष्य चेतन है तथा स्वयं को उसका विवर्त बता रहा है। क्या तुम आत्मा से अलग रहते हो कि तुम अपने आपको उसका विवर्त कह रहे हो ?

भक्त : क्या स्वर्ण यह अनुमान नहीं कर सकता है कि वह आभूषण बन गया है ?

म० : जड़ होने से, वह ऐसा नहीं कहता। किन्तु जीव चेतन है तथा चेतन से पृथक रहकर कार्य नहीं कर सकता। आत्मा शुद्ध चैतन्य है। तथापि मनुष्य अपने आपकी उस देह से तादात्म्यता कर लेता है जो स्वयं जड़ है और जो अपने आप यह नहीं कहता 'मैं देह हूँ'। कोई दूसरा ही ऐसा कहता है। असीमित आत्मा ऐसा नहीं कहता। तब ऐसा कहने वाला कौन है ?

शुद्ध चैतन्य तथा जड़ देह के मध्य एक मिथ्या 'मैं' उदय हो जाता है जो स्वयं को देह से सीमित मानने लगता है। इसकी खोज करोगे तो यह छाया की भाँति नष्ट हो जायगा। अहंकार अथवा मन अथवा व्यक्तित्व ही वह छाया अर्थात् भ्रम है।

समस्त शास्त्र इसी भ्रम के उदय पर आधारित हैं, जिनका निरसन करना ही उनका उद्देश्य है। वर्तमान अवस्था केवल भ्रम है। भ्रम-निवारण ही लक्ष्य है और अधिक कुछ नहीं।

भक्त : मन को संकल्पों का समूह कहा गया है।

म० : चूँकि यह एकमात्र मूल—'मैं'-भाव के कारण कार्य करता है।

''मानसंतु किं मार्गणेकृते नैव मानसं मार्ग आर्जवात्''

इसका कोई वास्तविक पृथक् अस्तित्व नहीं है।

भक्त : क्या संकल्प मन की कपोलकल्पनाएँ नहीं हैं ?

म० : उस अवस्था में मन 'मैं'-भाव अथवा अहंकार का पर्याय माना जाता है।

१५ दिसम्बर, १९३७

४२८. श्री भगवान ने श्री शंकर की विख्यात कृति 'शिवानन्द लहरी' में से दस छन्द चयन किये हैं जिनमें भक्ति का वर्णन है :

(१) भक्ति क्या है ?

जिस प्रकार अंकोल फल वृक्ष से नीचे गिरकर उससे पुनः मिल जाता है अथवा एक लोहे का टुकड़ा चुम्बक की ओर आकर्षित हो जाता है उसी प्रकार संकल्प उदय होकर अपने मूलभूत स्रोत में विलीन हो जाते हैं। यही भक्ति है। संकल्पों का मूल स्रोत ईश्वर के चरण हैं। उनके श्री चरणों में प्रेम ही भक्ति है।

(२) भक्ति का फल :

प्रभु के श्री चरणों के अनुभवातीत आकाश में भक्ति का सघन मेघ उत्पन्न होकर आनन्द की वर्षा करता है तथा मन के सरोवर को लबालब भर देता है। केवल तभी सदैव व्यर्थ के पुनर्जन्मों में जाने वाला जीव अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

(३) भक्ति का उचित स्थान कहाँ है ?

उन देवताओं की भक्ति, जिनका आरम्भ है तथा अन्त है, के फलों का परिणाम भी उसी प्रकार आरम्भ तथा अन्त में होगा। अनन्त आनन्द हेतु भक्ति को उसके स्रोत, अर्थात् शाश्वत आनन्दपूर्ण प्रभु के श्री चरणों में लगाना होगा।

(४) भक्ति केवल अनुभव का विषय है शब्दों का नहीं :

तर्क एवं शास्त्रार्थ वास्तविक उपयोग के कैसे हो सकते हैं ? क्या संकट काल में घट-पट आदि तुम्हारी रक्षा (तर्कशास्त्रियों के प्रिय उदाहरण, जिसका अर्थ है पात्र एवं वस्त्र) कर सकते हैं ? तब फिर इनकी चर्चा एवं चिन्तन करके अपने आपको क्यों नष्ट करते हो ? वाचिक इन्द्रियों को परेशान करना तथा उनको पीड़ा देना बन्द करो। प्रभु के चरणों का चिन्तन कर अमृतपान करो !

(५) भक्ति का फल है अमरत्व :

जिसने प्रभु के चरणों को अपने हृदय में स्थापित कर लिया है, उसके दर्शन मात्र से मृत्यु स्वयं की पूर्व-काल में मार्कण्डेय से हुई दारुण मुठभेड़ को स्मरण कर तुरन्त भाग जाती है।

अन्य समस्त देवता अपने किरीटधारी सिरों को उनके पाद पद्मों में रख कर केवल शिव की उपासना करते हैं। शिव की यह अकाम्य उपासना सहज ही है।

मुक्ति देवी उनकी संगिनी सदैव ही उनका अंग बनकर रहती है।

(६) यदि केवल भक्ति है—तो जीव की परिस्थितियाँ उसे प्रभावित नहीं कर सकती हैं।

देह कितनी भी भिन्न हों, केवल एक मन प्रभु के चरणों में लीन होता है। आनन्द उमड़ता है!

(७) सदैव समर्थ भक्ति :

जहाँ जिस प्रकार भी हो केवल मन को परमात्मा में विलीन करो। यही योग है! यही आनन्द है! अथवा योगी अथवा आनन्द मूर्तिमान है!

(८) कर्मयोग भी भक्ति ही है :

पुष्पों तथा अन्य बाहरी पदार्थों से परमात्मा की उपासना कष्टदायक है। केवल एक पुष्प, हृदय को शिव-चरणों में लगाकर शान्त रहो। इस सरल बात को न जानकर इधर-उधर भटकना! कितनी मूढ़ता है! कितने दुःख की बात है!

(९) यह कर्मयोग जीव के संसार को समाप्त कर देता है :

भक्त किसी भी आश्रम का हो केवल एक बार स्मरण कर लेने से, शिव भक्त के संसार के भार को स्वयं अपने ऊपर लेकर उसे मुक्त कर देते हैं।

(१०) भक्ति ही ज्ञान है :

मन का अपने आप शिव चरणों में नष्ट हो जाना ही भक्ति है! अविद्या लुप्त! ज्ञान! मुक्ति!

१६ दिसम्बर, १९३७

४२९. बंगलौर से कुछ महिलाएँ आयीं थीं। उनमें से एक ने जिज्ञासा की : हमारे दृष्टिकोण से जगत भिन्नताओं से बना है। इन विभेदों से दूर होकर हम समस्त पदार्थों के एकमात्र मूलतत्त्व को कैसे अनुभव करें?

म० : विभेद कर्तृत्व की भावना का फल है। यदि जड़ को नष्ट कर दिया जाय तो फल का नाश हो जायगा। इसलिए कर्तृत्व की भावना का त्याग करो, विभेद नष्ट हो जायेंगे और वास्तविक सत्य स्वयं को प्रकाशित करेगा। कर्तृत्व की भावना का त्याग करने के लिए व्यक्ति का यह खोज करना आवश्यक है कि कर्ता कौन है। अपने अन्दर खोजो, कर्तृत्व की भावना नष्ट हो जायगी। विचार ही पद्धति है।

२२ दिसम्बर, १९३७

४३०. एक मराठी सज्जन ने जिज्ञासा की : मैंने आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ा है; मैं जप, पूजा आदि करता हूँ, पर मुझे किसी से भी समाधान नहीं हुआ। क्या श्री भगवान कृपया मेरा मार्गदर्शन करेंगे?

म० : तुम क्या प्राप्त करना चाहते हो ? हर व्यक्ति आनन्द की खोज में है। प्रतिदिन सुषुप्ति में सबको आनन्द प्राप्त है। वही आनन्द की अवस्था जाग्रत अवस्था में भी लाना है। बस इतना ही है।

भक्त : मैं समझ नहीं पाया। इसे कैसे करें ?

म० : आत्म-विचार ही मार्ग है।

भक्त : ऐसा अति सूक्ष्म होने से ग्रहण करने में अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। यदि मैं इस विचार की पद्धति के लिए अपने को अयोग्य समझूँ तो मैं क्या करूँ ?

म० : मार्गदर्शन तो है। उससे स्वयं लाभ उठाना यह व्यक्तियों पर ही निर्भर है।

२५ दिसम्बर, १९३७

४३१. एक तेलुगु सज्जन ने खड़े होकर प्रश्न किया। मन को तभी शुद्ध कहा गया है जब उसकी समस्त वासनाएँ नष्ट हो जायँ। यही अन्तिमता भी है। जब कुछ वस्तु प्राप्त करनी है, तो क्या यह द्वैत नहीं है ?

म० : पहले मन को शुद्ध कर लो। यदि उसके बाद भी वही प्रश्न उदय हो तो उसका उत्तर पूछा जा सकता है।

२६ दिसम्बर, १९३७

४३२. एक आन्ध्र-दर्शक ने जिज्ञासा की : निद्रा क्या है ?

म० : क्यों, तुम प्रतिदिन इसका अनुभव करते हो।

भक्त : मैं जानना चाहता हूँ कि यह यथार्थतः क्या है, जिससे कि समाधि से इसकी भिन्नता प्रकट हो सके।

म० : जब तुम जाग्रत हो तब सुषुप्ति को कैसे जान सकते हो ? इसका उत्तर है सुषुप्ति में जाओ और मालूम करो यह क्या है।

भक्त : परन्तु मैं इसे इस प्रकार नहीं जान सकता।

म० : यह प्रश्न सुषुप्ति में ही करना चाहिए।

भक्त : परन्तु उस समय मैं यह प्रश्न नहीं कर सकता।

म० : इस प्रकार, वही निद्रा है।

श्री भगवान कुछ क्षणों के लिए बाहर पधारे। वापस आने पर उसी व्यक्ति ने प्रश्न किया :

आत्म-साक्षात्कारी ज्ञानी दूसरे व्यक्तियों की तरह ही भोजन करते तथा कार्य करते देखने में आते हैं। क्या वे स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं का अनुभव भी इसी प्रकार करते हैं।

म० : तुम अन्य व्यक्तियों की अवस्था चाहे वे ज्ञानी हों, क्यों जानना चाहते हो ? अन्य लोगों के सम्बन्ध में जानने से तुम्हें क्या लाभ ? तुम्हें स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप को जानने का अवश्य ही प्रयास करना चाहिए।

क्या तुम विचार करते हो कि तुम कौन हो ? स्पष्टतया, शरीर।

भक्त : हाँ।

म० : इसी प्रकार तुम ज्ञानी को प्रत्यक्ष देह मानकर उस पर क्रियाएँ अध्यारोपित कर देते हो। इसी से तुम इन प्रश्नों को पूछते हो। स्वयं ज्ञानी नहीं पूछता कि क्या उसे स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्था होती है। उसे स्वयं कोई संशय नहीं हैं। संशय तुम में हैं। इससे तुमको अपने मिथ्या आधार-वाक्यों का निश्चय हो जाना चाहिए। ज्ञानी देह नहीं है। ज्ञानी सबका आत्मा है। सुषुप्ति, स्वप्न, समाधि आदि सब अवस्थाएँ अज्ञानियों की हैं। आत्मा इन सबसे मुक्त है। तुम्हारे पहले प्रश्न का भी यही उत्तर है।

भक्त : मैं स्थित-प्रज्ञता की अवस्था को जानना चाहता था।

म० : शास्त्र ज्ञानी के लिए नहीं है। उसे कोई संशय नहीं है जिनका स्पष्टीकरण होना है। पेचीदा बातें केवल अज्ञानियों के लिए हैं। शास्त्र भी केवल एक उन्हीं के लिए हैं।

भक्त : सुषुप्ति अज्ञान की अवस्था है, और समाधि के लिए भी ऐसा ही कहा जाता है।

म० : ज्ञान विद्या तथा अविद्या से परे है। उस अवस्था के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं हो सकते। वह आत्मा है।

४३३. ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर श्री टॉमस ने त्रिवेन्द्रम में प्राच्य सम्मेलन की अध्यक्षता की थी और वहाँ से कलकत्ता जाते हुए वे श्री भगवान के दर्शनार्थ आये। वे आयु में अधिक, विस्तृत ललाट वाले तथा शान्त स्वभाव के भद्र पुरुष हैं। वे कोमल स्वर में धीरे-धीरे बोलते हैं। उन्हें प्राच्य साहित्य में अत्यधिक अभिरुचि है, विशेषतया संस्कृत में। उन्होंने तमिल भाषा की समृद्धि के बारे में सुना था। वे जानना चाहते थे कि श्रीमद्‌भगवदगीता का कौन-सा अंग्रेजी अनुवाद सर्वश्रेष्ठ है। कक्ष भरा हुआ था और उनमें से कुछ ने अपने मत सहित, थिबाट, महादेव शास्त्री, तेलंग आदि का उल्लेख किया। श्री भगवान ने एफ० टी० ब्रुक्स का उल्लेख किया। श्री टॉमस छंदोबद्ध संस्करण चाहते हैं क्योंकि वही रस का उपयुक्त माध्यम है जो उसमें है। उन्होंने कहा रस शान्ति भी है।

म० : हाँ, ब्रह्म केवल रस है।

भक्त : रस आनन्द भी है ।

म० : रस, आनन्द, शान्ति एक ही आनन्द के अनेक नाम हैं ।

प्रोफेसर टॉमस को पेरिस में हुए दार्शनिक सम्मेलन में श्री ग्राण्ट डफ द्वारा दिया गया भाषण दिखाया गया। बाद में उनके हाथों में डाक्टर जी० एच० मीस की पुस्तक 'धर्म' रखी गयी, जिसे देखकर उन्होंने पूछा श्री भगवान जातियों के सम्बन्ध में क्या सोचते हैं ।

म० : जातियों का सम्बन्ध शरीरों से है, आत्मा से नहीं । आत्मा आनन्द है । जीव आनन्द की अनुभूति के लिए आत्मा की अनुभूति करता है । अपने आपको जाति, आदि के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है ।

भक्त : अहंकार को भी आत्मा कहा गया है ।

म० : अहंकार सीमित है, जबकि आत्मा उससे परे है ।

भक्त : अंग्रेजी भाषा में पूर्वीय दर्शन तथा धर्म सम्बन्धी प्रचुर साहित्य है । उनके भिन्न भाष्यकार हैं । रामानुज के दर्शन को भलीभाँति प्रस्तुत किया गया है । प्रो० राधाकृष्णन ने अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या की है । वे प्रमाण की अपेक्षा अनुभव को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं । शंकर के ग्रन्थों से उनके महान् विकसित मस्तिष्क का परिचय मिलता है ।

इसके पश्चात् प्रत्यक्ष अनुभूति पर विचार-विमर्श होता रहा। उक्त प्रोफेसर ने मानसिक अनुभूति को इन्द्रियानुभूति से भिन्न भी बताया ।

म० : अपने अस्तित्व का निर्णय करने के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । अहंकार से उत्पन्न इन्द्रिय तथा मन आत्मा को प्रमाणित करने में समर्थ नहीं हो सकते । आत्मा ही उनका आधार है । आत्मा से स्वतन्त्र उनका अस्तित्व नहीं है । अपने स्वयं का अस्तित्व प्रत्यक्ष है । आनन्द ही आत्मा है । केवल आत्मा के प्रेम के कारण ही सब प्रिय हो जाते हैं ।

भक्त : प्रेम द्वैत का सूचक है । आत्मा प्रेम का पदार्थ कैसे हो सकता है ?

म० : प्रेम आत्मा से भिन्न नहीं है । किसी दृष्य-वस्तु के प्रति प्रेम निम्न-कोटि का है, और टिक नहीं सकता । जबकि आत्मा प्रेम है, दूसरे शब्दों में; ईश्वर प्रेम है ।

भक्त : ईसाई मत भी यही है ।

उन्होंने श्री भगवान से यह भी पूछा कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम पद्धति कौन-सी है ? क्या पातंजलि की पद्धति सर्वश्रेष्ठ नहीं है ?

म० : योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः —योग से मन की अस्थिरता पर नियन्त्रण किया जाता है—जो सबको मान्य है। वही सबका लक्ष्य भी है। अपनी स्वयं की पात्रता के अनुसार पद्धति पसन्द कर ली जाती है। लक्ष्य सबका एक ही है। तथापि लक्ष्य की प्राप्ति की प्रारम्भिक प्रक्रिया के अनुरूप लक्ष्य को भी अनेक नाम दिये जाते हैं। भक्ति, योग, ज्ञान सब एक ही हैं। स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते (आत्मा के ध्यान को भक्ति कहते हैं।)

भक्त : क्या श्री भगवान अद्वैत का समर्थन करते हैं ?

म० : द्वैत तथा अद्वैत सापेक्ष शब्द हैं। ये द्वैत की भावना पर आधारित हैं। आत्मा है जैसा है। वहाँ न द्वैत है, न अद्वैत। 'अस्तित्व ही मैं हूँ'। अस्तित्व ही आत्मा है।

भक्त : यह मायावाद नहीं है।

म० : मन ही माया है। सत्य मन से परे है। जब तक मन क्रियाशील है तब तक द्वैत, माया आदि है। एक बार इससे परे होते ही सत्य प्रकाशित होता है। यद्यपि यह कहा जाता है कि यह प्रकाशित होता है, आत्मा स्वप्रकाशित है।

भक्त : यह सत्-चित्-आनन्द है।

म० : सत्-चित्-आनन्द यह प्रकट करता है कि परमात्मा असत् नहीं है, जड़ नहीं है, दुःख नहीं है। चूँकि हम दृश्य-जगत में रहते हैं, हम आत्मा को सच्चिदानन्द कहते हैं।

भक्त : अहम् 'मैं' का प्रयोग व्यक्ति तथा ब्रह्म दोनों के लिए ही होता है। यह एक प्रकार से दुर्भाग्यपूर्ण है।

म० : यह उपाधि भेद है। शारीरिक परिमितताएँ जीव के 'अहम्' के सन्दर्भ में हैं। जबकि विश्वव्यापी परिमितताएँ ब्रह्म के 'अहम्' के सन्दर्भ में हैं। उपाधि को दूर कर दो; 'मैं' (अहम्) शुद्ध तथा केवल है।

भक्त : क्या भगवान दीक्षा देते हैं ?

म० : मौन सर्वोत्तम एवं परम शक्तिशाली दीक्षा है। श्री दक्षिणामूर्ति ने इसी का आचरण किया। स्पर्श, देखना, आदि निम्न-स्तर की हैं। मौन दीक्षा सबके हृदयों का परिवर्तन कर देती हैं। वहाँ न गुरु है, न शिष्य। अज्ञानी अपनी देह को आत्मा से मिला देता है और इस प्रकार अन्य देह को गुरु मान लेता है। परन्तु क्या गुरु अपनी देह को आत्मा मानता है ? वह देह से परे हो चुका है। उसके लिए भेद नहीं हैं। इस प्रकार अज्ञानी गुरु और शिष्य के दृष्टि-बिन्दु की अनुभूति नहीं कर सकता है।

भक्त : तब क्या इन दोनों में कोई भेद नहीं है ?

म० : दृष्य-जगत के दृष्टि-बिन्दु से भेद हैं, किन्तु सत्य के दृष्टि-बिन्दु से नहीं हैं।

प्रोफेसर कृतज्ञ थे। उन्होंने आशा प्रकट की कि उनके दर्शन एवं उनसे वार्ता करने के उपरान्त वे श्री भगवान द्वारा रचित ग्रन्थों का रसास्वाद भलीभाँति कर सकेंगे।

वार्ता के मध्य श्री भगवान ने बताया कि जब तक मन है तभी तक उपासना तथा ध्यान सम्भव है; मन के समाप्त होते ही उनका भी अन्त हो जायगा। ये अन्ततः संकल्पों का उन्मूलन तथा मन की शान्ति होने तक की केवल प्रारम्भिक व्यवस्थाएँ हैं।

भक्त : शैव सिद्धान्त तीन मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करता है कि वे शाश्वत हैं। क्या यह वेदान्त-विरोधी है ?

म० : तीन विद्यमान वस्तुएँ जीव, ईश्वर तथा बन्धन हैं। इस प्रकार की त्रिपुटी सभी धर्मों में समान हैं। जब तक मन क्रियात्मक है, वे सत्य हैं। यह सब केवल मन की सृष्टि हैं। जीव ईश्वर की मूल-कल्पना केवल मन के उदय होने के बाद ही कर सकता है। ईश्वर आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा ईश्वर के रूप में मूर्तिमान है। इसी प्रकार गुरु के रूप में।

संध्या समय प्रोफेसर वापस आये तथा शुभ-कर्मों के सम्बन्ध में कुछ जिज्ञासा की। उन्हें इस बात का आश्चर्य था कि ब्रह्म को सच्चिदानन्द क्यों कहते हैं, ईश्वर क्यों नहीं कहते।

म० : सत् का अभिप्राय है सत् एवं असत् से परे होना;
चित् का अभिप्राय है चित् तथा अचित् से परे होना;
आनन्द का अभिप्राय है, सुख तथा दुःख से परे होना।

तब यह क्या है ? यदि सत् भी नहीं है और न असत् तो इसे केवल सत् ही स्वीकार करना होगा। ज्ञान शब्द की तुलना करो। यह अवस्था विद्या एवं अविद्या से परे है। तथापि ज्ञान अविद्या नहीं है किन्तु विद्या ही है। सत्-चित्-आनन्द के साथ भी इसी प्रकार है।

भक्त : यह एक पक्ष का अनुमोदन करता है।

आत्म-विचार पर संक्षिप्त चर्चा कर प्रोफेसर ने यह निवेदन करते हुए विदा ली कि यद्यपि उन्हें अभी भी स्पष्ट करने के लिए अनेक संशय थे, वे श्री महर्षि को और अधिक कष्ट नहीं देंगे; उन्होंने अब तक जो कुछ श्रवण किया है उसी का निदिध्यासन करने की इच्छा है।

मैसूर के एक जज ने प्रश्न किया : ऐसा कहते हैं कि उपासना तथा ध्यान मन की सक्रियता के कारण होते हैं। कार्यों की समाप्ति को साक्षात्कार भी कहते हैं। अब बिना उपासना तथा ध्यान के साक्षात्कार कैसे करें ?

म० : वे प्रारम्भिक व्यवस्थाएँ हैं। ऐसा करने का परिणाम वांछित अकर्म होगा।

भक्त : ऐसा कहा जाता है कि हृदय का अनुभव दायीं ओर होता है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से यह बायीं ओर है।

म० : आध्यात्मिक अनुभव बताया गया है।

भक्त : क्या यह आत्मिक हृदय है?

म० : हाँ।

भक्त : यह कैसे जानें कि यह दायीं ओर है?

म० : अनुभव द्वारा।

भक्त : क्या इस प्रकार का कोई संकेत है?

म० : स्वयं अपनी ओर संकेत करो और देखो।

२८ दिसम्बर, १९३७

४३४. बड़े दिन की छुट्टियाँ होने से, समीप तथा दूर के दर्शकों का बड़ी संख्या में आगमन हो रहा है। उनमें से एक समूह बैठ गया तथा उनमें से दो ने निम्नलिखित प्रश्न किये :

भक्त : क्या आप अंग्रेजी जानते हैं?

प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित किये जाने पर उसने आगे कहा :

भक्त : क्या आप अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर चुके हैं?

श्री भगवान मुस्कराये और बोले, "आगे चलो; जारी रखो"

भक्त : क्या आपने निर्विकल्प समाधि का अनुभव किया है?

उसे अपने प्रश्न समाप्त करने को कहा गया।

भक्त : क्या आप अपनी इच्छा से निर्विकल्प समाधि में प्रवेश कर सकते हैं? क्या यह आवश्यक नहीं कि ज्ञानी अपने आसपास के वातावरण को प्रभावित करें?

एक अन्य व्यक्ति ने प्रश्न किया :

क्या श्री भगवान हमें सत्य के साक्षात् करने में सहायता प्रदान कर सकते हैं?

म० : सहायता सदैव ही है।

भक्त : तब प्रश्नों के पूछने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। मुझे सदैव विद्यमान सहायता का अनुभव नहीं होता।

म० : समर्पण करो और तुम्हें इसकी प्राप्ति होगी।

भक्त : मैं सदैव ही आपके श्री चरणों में हूँ। क्या श्री भगवान हमें

अनुकरण हेतु कुछ उपदेश देंगे ? अन्यथा मैं ६०० मील दूर रहकर किस प्रकार सहायता प्राप्त कर सकूँगा ?

म० : वह सद्गुरु अन्दर है ।

भक्त : उसे समझने हेतु मेरे मार्गदर्शन के लिए सद्गुरु आवश्यक है ।

म० : वह सद्गुरु अन्दर है ।

भक्त : मैं मूर्तिमान गुरु चाहता हूँ ।

म० : वह मूर्तिमान गुरु कह रहा है कि वह अन्दर है ।

भक्त : क्या मैं अपने को गुरु की शरण में समर्पित कर दूँ ।

म० : हाँ । निर्देशन तभी तक आवश्यक हैं, जब तक कि किसी ने अपने आपको समर्पण नहीं कर दिया है ।

भक्त : क्या ध्यान के लिए कोई विशेष समय आवश्यक नहीं है ?

म० : ध्यान मन के बल पर निर्भर करता है । वह निरन्तर होना चाहिए, जबकि वह कार्य में संलग्न है तब भी । विशेष समय नये साधकों के लिए है ।

भक्त : क्या सद्गुरु मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे अपनी सहायता का आश्वासन देंगे ? मुझे आश्वासन हो जायगा कि उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी ।

म० : अगली आवश्यकता होगी प्रतिज्ञा-पत्र की तथा तुमको सहायता होती प्रतीत न होने पर दावा किया जायगा (हास्य) ।

भक्त : महाशय, क्या मैं (आशीर्वाद हेतु) आपके समीप आ सकता हूँ ?

म० : तुममें इस प्रकार के संशय उत्पन्न नहीं होने चाहिए । इनसे तुम्हारे समर्पण कर देने की बात का खण्डन होता है । सद्गुरु सदैव ही तुम्हारे ऊपर है ।

भक्त : समर्पण प्रयास करने के बाद होता है ।

म० : हाँ, यह समय आने पर सम्पन्न हो जाता है ।

भक्त : क्या निर्देशन हेतु गुरु आवश्यक है ?

म० : हाँ, यदि तुम किसी नवीन वस्तु को जानना चाहते हो । किन्तु यहाँ तुमको भुला देना है ।

भक्त : तथापि गुरु की आवश्यकता है ।

म० : जिसकी तुम अन्यत्र खोज करते हो, वह तुम्हारे पास पहले से ही है । अतः किसी गुरु की आवश्यकता नहीं है ।

भक्त : क्या साधक के लिए साक्षात्कार किये हुए व्यक्ति का कोई उपयोग है ?

म० : हाँ । वह तुम्हारी इस भ्रान्ति का निवारण करने में तुम्हारी सहायता करता है कि तुम साक्षात्कार किए हुए नहीं हो ।

भक्त : मुझे बताइए ऐसा कैसे हो ।

म० : सारे पन्थ व्यक्ति को केवल उसकी मोह निद्रा से सचेत करने के लिए हैं ।

भक्त : मुझे मोह निद्रा से सचेत करें । मुझे बतायें कौन-सी पद्धति का अनुकरण करूँ ।

म० : अभी तुम कहाँ हो ? तुम्हें कहाँ जाना चाहिए ?

भक्त : मैं जानता हूँ 'मैं हूँ'; किन्तु मैं नहीं जानता मैं क्या हूँ ।

म० : तब क्या दो 'मैं' हैं ?

भक्त : जो सिद्ध करना है उसे पहले से ही मानकर चलना ।

म० : यह कौन कहता है ? क्या यह वह कहता है जो है, अथवा यह वह दूसरा है जो नहीं जानता है कि वह क्या है ?

भक्त : मैं हूँ, किन्तु नहीं जानता क्या अथवा कैसे ?

म० : 'मैं' सदैव ही है ।

भक्त : क्या 'मैं' का कोई रूपान्तर होता है, जैसे मृत्यु में ।

म० : रूपान्तर का साक्षी कौन है ?

भक्त : ऐसा प्रतीत होता है कि आप ज्ञान-योग बता रहे हैं । यह ज्ञान-योग है ।

म० : हाँ, यह है ।

भक्त : किन्तु समर्पण भक्ति-योग है ।

म० : दोनों एक ही हैं ।

कुछ समय के पश्चात् उस व्यक्ति ने पुनः कहना आरम्भ किया :

तब मैं इस निष्कर्ष पर आता हूँ कि मैं चैतन्य हूँ तथा मेरी उपस्थिति के बिना कुछ भी नहीं होता है ।

म० : तर्क से यह निष्कर्ष निकालना एक बात है और निश्चय होना दूसरी बात है ।

अन्य व्यक्ति ने पुनः कहना आरम्भ किया :

मैं तीन मास तक प्रतीक्षा करूँगा और देखूँगा कि क्या भविष्य में सहायता मिल रही है । क्या अब मुझे आश्वासन मिल सकेगा ?

म० : क्या यह वह व्यक्ति पूछ रहा है जिसने समर्पण कर दिया है ?

चार दर्शक वापस गये । वही व्यक्ति पुनः कहने लगा, "अपनी प्रतिज्ञा को पूरा कीजिए ।" (हँसी)

उसने यह भी कहा :

ईश्वर ने मुझे जीविका हेतु पर्याप्त दिया है तथा मैं सुखी हूँ। इसके अतिरिक्त मैं मन की शान्ति चाहता हूँ। इसलिए यह प्रार्थना।

२९ दिसम्बर, १९३७

४३५. श्रीलंका से दो महिलाओं तथा दो पुरुषों का आगमन हुआ।

भक्त : क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है? यदि कर लिया है तो किस आकार में?

म० : वहाँ ईश्वर का दर्शन करने के लिए कौन रहता है? प्रश्न यह होना चाहिए कि क्या किसी ने अपने आपको जान लिया है।

भक्त : मैंने अपने आपको जान लिया है।

म० : क्या 'मैं' आत्मा से भिन्न है कि तुम कहते हो तुमने आत्मा को जान लिया है।

भक्त : मैं आत्मा को देह के समान ही जानता हूँ। यदि आत्मा देह से भिन्न है तो श्री भगवान मुझे बतायें आत्मा को देह से पृथक कैसे देखा जाये। उन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार कर लिया है। वे मुझे बोध दे सकते हैं।

म० : आत्मा को देह से पृथक क्यों किया जाय? देह को जैसे है वैसे ही रहने दो।

भक्त : जब आत्मा देह-रहित हो जाता है तब सभी शरीरों के माध्यम से देख सकता है।

म० : तब क्या अन्य भी हैं? अथवा क्या तुम्हारी अपनी देह भी है? अपनी सुषुप्ति पर विचार करो—तब तुम्हें अपनी देह का ज्ञान नहीं होता। तथापि तुम वहाँ बराबर रहते हो। क्या उस समय तुमने जगत की अनुभूति इस अथवा अन्य देहों द्वारा की थी? तथापि, तुम तब अपने अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते। जगत को देखने हेतु द्दष्टा का होना आवश्यक है एवं द्दष्टा भी सीमित ही होना चाहिए। यदि असीमित हुआ तो असीमित आत्मा के अतिरिक्त अन्य कैसे हो सकते हैं?

भक्त : क्या ईश्वर की कोई सीमाएँ हैं?

म० : ईश्वर को अलग छोड़ो। तुम्हारी सुषुप्ति में तुम्हारी आत्मा की कौन-सी सीमाएँ थीं?

भक्त : तब मृत्यु ही सर्वोच्च अवस्था होनी चाहिए।

म० : हाँ। अब हम मृत्यु में ही रह रहे हैं। जिन्होंने असीमित

आत्मा को सीमित कर दिया है उन्होंने इस प्रकार की सीमाएँ बनाकर आत्महत्या ही की है ।

भक्त : आप कहते हैं, आत्मा पर एकाग्र होओ । इसे कैसे करें ?

म० : यदि यह हल हो जाय तो अन्य सब कुछ हल किया हुआ है ।

भक्त : आप कहते हैं, अपनी आत्मा को जानो । आत्मा को कैसे जानें ?

म० : अभी तुम जानते हो कि तुम देह हो ।

भक्त : राज-योग शरीर, इन्द्रियों आदि के माध्यम से साक्षात्कार करता है और श्री भगवान चिन्तन के माध्यम से साक्षात्कार करने का परामर्श देते हैं । यह ज्ञान-योग है ।

म० : बिना शरीर के तुम विचार कैसे कर सकते हो ?

भक्त : क्या ईश्वर विचार नहीं करता ?

म० : फिर तुमने आरम्भ में यह कैसे पूछा, "आपने ईश्वर का दर्शन किस रूप में किया ?"

भक्त : ईश्वर की अनुभूति इन्द्रियों द्वारा होनी चाहिए ।

म० : क्या तुम इस समय ईश्वर की अनुभूति नहीं कर रहे हो ?

भक्त : क्या प्रत्येक व्यक्ति सदैव ही ईश्वर की अनुभूति कर रहा है ?

म० : हाँ ।

भक्त : तब साक्षात्कार क्या है ?

म० : साक्षात्कार इस भ्रान्ति से मुक्त होना है कि तुमने साक्षात्कार नहीं किया है ।

भक्त : मैं विषय को समझ नहीं पा रहा हूँ ।

वे कैमरे से महर्षि का चित्र लेकर विदा हुए ।

४३६. **भक्त** : विश्व-रूप क्या है ?

म० : यह जगत को ईश्वर के रूप में देखना है । भगवद्गीता में अनेक वस्तुओं तथा जीवों को तथा समस्त जगत को परमात्मा बताया गया है । उसका इस प्रकार साक्षात् अथवा दर्शन कैसे हो ? क्या अपनी आत्मा को कोई देख सकता है ? यद्यपि दीखता नहीं, तथापि क्या आत्मा से इन्कार किया जा सकता है ? सत्य क्या है ?

भक्त : तब क्या यह कहना मिथ्या है कि कुछ ने इसका दर्शन किया है ?

म० : यह उसी मात्रा में सत्य है जैसे तुम्हारा होना । आरम्भ में ही गीता में कहा गया है किसी का भी जन्म नहीं हुआ था; चतुर्थ अध्याय में

कहा गया है, "तुम्हारे तथा मेरे अनेक जन्म हुए हैं; मैं उन्हें जानता हूँ, परन्तु तुम नहीं।" इन दोनों वक्तव्यों में से कौनसा सत्य है ? श्रोता की समझ के अनुसार निर्देश होता है। यदि द्वितीय अध्याय में ही सम्पूर्ण सत्य समाविष्ट है तो फिर उसके बाद इतने अधिक अध्यायों की क्या आवश्यकता थी ?

बाइबिल में ईश्वर का कथन है "मैं अब्राहम से पहले हूँ।" वे ऐसा नहीं कहते "मैं था" किन्तु "मैं हूँ"।

४३७. **म० :** लोगों ने पढ़ा है कि विवेकानन्द ने श्री रामकृष्ण से पूछा था, "क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" और अब उनकी नकल करते हैं। वे यह भी पूछते हैं, "क्या आपने ईश्वर का साक्षात् किया है ?"

मैं पूछता हूँ साक्षात्कार क्या है।

साक्षात्कार से अभिप्राय है 'पूर्णता'। जब तुम सीमित हो तो तुम्हारी अनुभूति भी सीमित है। इस प्रकार तुम्हारा ज्ञान अपूर्ण है। ऐसे अपूर्ण ज्ञान का क्या मूल्य है ?

विश्व-रूप दर्शन में अर्जुन को जो कुछ भी वह देखना चाहे वह देखने को कहा गया, न कि जैसा उसके सामने प्रस्तुत किया गया। ऐसा दर्शन कैसे सत्य हो सकता है ?

३० दिसम्बर, १९३७

४३८. एक दर्शक ने पूछा : मेरे जैसे आरम्भकर्ता के लिए कौन अत्यधिक उपयुक्त है :

सीमित ईश्वर की उपासना अथवा "मैं ब्रह्म हूँ" का मनन ?

म० : उत्तर प्रश्न में ही समाविष्ट है। स्वयं प्रश्न ही सीमित ईश्वर की उपासना व्यक्त करता है।

भक्त : 'मैं' की अनुभूति जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थाओं में होती है किन्तु गहन निद्रा में नहीं। ऐसा क्यों ?

म० : यदि ऐसा है तो क्या गहन निद्रा में उसका अस्तित्व नहीं है ?

भक्त : चूँकि इन दोनों अवस्थाओं में मानसिक वृत्तियाँ हैं तथा दूसरी में ऐसी कोई वृत्ति नहीं है।